DURGA SAH MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL
दुर्गा साह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class no. 891.3
Book no. R14R
Reg no. 836

राम-रहीम

राम-रहीम

प्रथम खंड

बेला

ग्राम रहीम

प्रथम परिच्छेद

बेला एक साधारण ब्राह्मण-गृहस्थ की लड़की है—गोरी और भोरी। बचपन की नादानियाँ अभी छुटी न थीं कि नई दुलहिन बनकर, लम्बे घूँघट की मर्यादा का सबक़ लेकर, वह संकीर्ण ससुराल के शृंखलाबद्ध विधि-निषेधों के दायरे में जा पड़ी। शैशव के कंधों पर सुहाग का हार—भार है। ज्ञान और लज्जा के प्रथम आभास से अङ्गों में—प्राणों में—एक नवीन सिहरन का सञ्चार शुरू ही हुआ था कि अचानक मातृत्व के सङ्कट ने आ घेरा। किशोरी, युवती होने के पहले, जननी हो गई! हाथ का गुड्डा उतरते-उतरते गोद में एक जीवन्त गुड्डा बन गया। इस पद के दायित्वपूर्ण गौरव का अभी अन्दाज़ भी न हो पाया था कि अचानक पुत्र-वियोग के उत्कट आघात से वह चकरा गई। लड़कपन के खेल अभी भूले भी न होंगे कि जान पर खेलने के दिन आ टपके।

माँ-बाप ने गौरी-प्रदान का अक्षय्य पुण्य लूटने की ग़रज़ से उस मासूम मेमने को विवाहोत्सव की तड़क-भड़क दिखाकर अकाल मातृत्व की बलिवेदी पर दे पटका था। आज किसी तरह जान के बदले जान देकर जान बची!

इतने ही तक अगर ख़ैरियत होती, तो एक बात थी। उसके सर के ऊपर विपत्ति के बादल उमड़ रहे थे। जिस साये के सहारे इस देश की नई वधू ससुराल के कुटिल भ्रू-कुञ्चन और कठिनाइयों के आगे सीना भिड़ाती है, वह सुहाग का सहारा भी डावाँडोल हो चला। छः महीने तक महेशदत्त, ज्वर और खाँसी से पीड़ित, बहरधरे की एक संकीर्ण कोठरी के कोने में, चारपाई पर पड़े-पड़े, सुबह से शाम और शाम से सुबह, दिन गिन रहे थे।

कुछ दिनों तक मुहल्ले के रामू महतो की जड़ी-बूटी की परिपाटी चली। माता ने प्रत्येक मंगल और रविवार को दो मील की पगडंडी नापकर, गर्दन में आँचल बाँधे, झंडू कलवार की जाग्रत देवी के चौरे पर अपनी नथमरी नाक के पुट को रगड़-रगड़कर चौड़ी कर डाला; मोहन मिश्र शनि और राहु के जपदान के सिलसिले में—पाँच लाख महा-मृत्युञ्जय की माला फेरने के एवज़ में—भरे हुए धान की कोठी का तीन हिस्सा बैलों पर लादकर अपने घर ले गये; गाँव के प्रमुख और मान्य गुनी सामू धोबी और कोला कहार ने झाल बजाकर, पचरे गाकर, नाच-कूदकर, देशी शराब की बोतलों और सैकड़ों चिलम गाँजे के ज़ोर पर, महीनों तक, आक्रमणकारी बलिष्ठ भूत-बैताल को पछाड़ने की जी-तोड़ कोशिश

की; शिवशर्मा वैद्य ने मृत-सञ्जीवनीसुरा और ज्वराङ्कुश की कितनी ही शीशियाँ, श्वासकुठार की हज़ारों वटिकाएँ, सोने और मोती के मूल्यवान् भस्म खिला-खिलाकर, और दर्जनों कुप्पे महालाक्षादि तैल की मालिशें करा-कराकर, बिचारे रोगी के धर्मप्राण पिता के तीन बीघे डीह के उपजाऊ खेत पर मक़फूली तमस्सुक का माहदनामा लिखवा लिया और कुल चौदह साल की किशोरी बेला ने गोद के बच्चे की मृत्यु को भूलकर, व्रत और उपवास से शीर्ण उँगलियों से प्रतिदिन हज़ारों बिल्वपत्र पर चन्दन से रामनाम लिख-लिखकर, घर के पिछवाड़े के दो सघन बेल के गाछों को बिलकुल उजाड़ डाला।

किन्तु—'विधि-विधान को मेटनहारा!' उसकी माँग उजड़ ही गई। विधि का विधान अटल रहा। किसी देवता की पलकें नहीं पसीजीं।

उधर आकाश में सूरज डूब रहा था, इधर बेला का सौभाग्य-सूर्य डूब चला। उधर पति का प्राण-पखेरू अपने चिरन्तन बसेरे पर उड़ गया, इधर बेला के सीमन्त का सिन्दूर घुलकर आसमान पर फैल गया।

बेला विधवा हो गई! एक अबोध अबला की जीवन-तरी इस प्रलय-विप्लव के चपेट से अथाह संसार-भँवर में जा पड़ी। वह बिचारी पछाड़ खाकर कुल-देवता के घर की चौखट पर जा गिरी। राम-नाम की छाप लिये हुए बिल्वपत्रों की थाली झन्न-से ज़मीन पर गिर पड़ी।

इतने दिनों की अश्रुसिक्त प्रार्थनाएँ व्यर्थ हो गईं। पास के मन्दिर से सायंकाल की आरती की घंटा-ध्वनि वज्र-टङ्कार की तरह उसके हृदय-पञ्जरों को तोड़ती हुई हवा में विलीन हो गई।

'इस कलमुँही राँड़ ने मेरे भरे घर को उजाड़ डाला'—छाती पीट-पीटकर रोती हुई सास ने आकर उसके हाथ की चूड़ियों को पत्थर की चोट से तोड़ डाला, शरीर के एक-एक ज़ेवर को उतार डाला, और साथ-साथ लहरी चुनरियों की पिटारी अपने कमरे में उठा ले गई!

बेला के जीवन की फुलवारी में बसंत की एक हल्की लपट आते-आते न जाने कहाँ रह गई थी, और इधर भगवान् जाने किस अभिशाप से इस चमन का एक-एक फूल सूखकर काँटा हो गया। दसवें साल उसने भाँवरी भरी थी; चौदहवें तक आते-आते वह संसार के विविध सुख-दुःख की गंभीर अनुभूति लेकर सयानी हो गई। बचपन में दुलहिन बनकर नये-नये भड़कीले गहनों और कपड़ों की चामचुम पर इठलाती फिरी; किशोरी होते-होते मातृत्व की महिमा ने उसके सारे चुलबुलापन का गला टीप दिया; और पूर्ण युवती होने के पहले ही अचानक पुत्र-वियोग और वैधव्य की भीषण यन्त्रणा से प्रातःकाल की शेफालिका की तरह धूल में चू पड़ी!

धर्म-ईन्धन से प्रज्वलित समाज के कराल कुंड में किसी निरपराध जीवन की एक और आहुति पड़ी!

मगर हसरत है जवानी के उस निखार पर जो बहार के दिन, आँखों से आँसू बनकर वह चला!

द्वितीय परिच्छेद

अब बँधा निदारुण अत्याचार का ताँता। रोज़ एक नई इल्लत, रोज़ एक नई शिकायत। बिचारी बेला ऊब गई। कभी चुड़ैल, कभी हरामज़ादी कभी कलमुँही—यही सब विष-भरी बौछार बात-बात पर सुननी पड़ती थी। वह भागकर जाती तो कहाँ जाती! इतने बड़े संसार में इस अबला के लिए एक बालिश्त भी निरापद स्थान कहाँ था? माँ-बाप तो गौरी-दान के पुण्य का बुकचा पीठ पर बाँधकर परलोक को निकल गये थे! भाई-भौजाई ने बेला की बला को अपने परिवार में जगह देना मुनासिब न समझा। अब दूसरा आश्रय कहाँ रहा? सास और ननद की झिड़कियों और तेवर को जी मसोसकर सह लेती थी। इसी सिन में लहू के घूँट को शरबत के घूँट करार देकर पीना पड़ा। साथ-साथ, सुबह से शाम तक लहू-पानी एक किये बिना गुज़र नहीं थी। आख़िर करती क्या?

मैली साड़ी रहती, तो गंदी रहने की लांछना; अगर धोई धोती होती, तो विधवा के फ़ैशन की कुत्सा; मकान के पिछवाड़े की बावली से पानी लाने गई, तो यह ताना कि आँखें मिलाने जाती है; पानी न लाई, तो यह फबती कि रानी बनी बैठी है!

किसी से उसे क्षण-भर सान्त्वना नहीं मिलती। किसी ने अपने आँचल से उसके उमड़ते आँसुओं को नहीं पोंछा। किसी ने भूलकर भी उसके सर पर हाथ नहीं रखा। वह सिर थामकर बैठ गई। सिर पीटते-पीटते सिर नहीं फिरा, यही आश्चर्य था।

जब से वह ससुराल आई, तभी से छोटी ननद गौरी से उसकी ख़ूब पटती थी। साथ खाती-पीती, साथ हँसती-खेलती। हमजोली थी; सहेली थी। लेकिन जब दैव प्रतिकूल होता है, तब इस दुःखमय संसार में कौन किस का साथ देता है! आज बेला जब घर-भर की आँखों की किरकिरी हो गई, तब गौरी की आँखों से भी गिर गई! अब वह भी सब की देखा-देखी फबतियाँ कसने में साथ देती; बेवजह चिढ़कर रूठ जाती; भवें सिकोड़ती, मुँह बनाती, बात तराशती और बाल की खाल खींचती। शायद बेला के अंग-अंग पर यौवन का निखार उसके कलेजे पर साँप-सा लोट जाता। उसके चेहरे की करुण कमनीय कान्ति गौरी की आँखों में आग की लहर-सी लगती। बेला का सीधा-सादा स्वभाव, राम-यश-कथा की ओर झुकाव, उसे एक क्षण भी नहीं भाता था। बेला उसे ज्यों-ज्यों मिलाने की कोशिश करती, त्यों-त्यों झमककर वह दूर सरक जाती।

बेला बिलकुल अकेली पड़ गई। उसकी आँखों के आँसू तक सूख

चले। बिचारी बेबसी में पिस गई। क्या करती? किसे अपनी राम-कहनी सुनाती? जहाँ हाथ बढ़ाती, वहीं शून्यता, वहीं अँधेरा। तबतक एक नये कोन से सहानुभूति की एक पतली किरण-सी नज़र आई। धीरे-धीरे वह स्पष्ट हो चली। बेला को क्या मालूम कि उसके जीवनाकाश पर नया धूमकेतु उदित हुआ। उसने तो इसे देवता का दान समझा।

बेला ने देखा कि उसके देवर 'दिनेश' के भाव कुछ दिनों से मुलायम होने लगे हैं। पहले तो वह बिलकुल तटस्थ रहता था। अब वह कभी-कभी लुक-छिपकर बेला की खोज-खबर लेने लगा। उसके व्यवहार में सौहार्द्र का आभास था—बातों में ममता की मिठास। जब दिन के काम-काज से तीसरे पहर उसे क्षण-भर छुट्टी मिलती और वह सूखी रोटी लेकर नमक या गुड़ की डली के साथ चौके के एक कोने में खाने बैठती, तब दिनेश अचानक किसी ज़रूरत से उस घर में आ जाता और किसी पत्ते में बँधे हुए दही-बड़े या कचालू के टुकड़े हँसते-हँसते उसकी थाली में डाल देता। कभी चुपके एकाध पका आम या एकाध पका अमरूद सोई हुई बेला के सिरहाने रख जाता। बेला ने इस स्नेह के आश्रय को धन्य समझा। वह इस अयाचित करुणा की चाशनी में घुल पड़ी।

हाय री भोरी! पुरुष-जाति से निष्काम प्रेम की आशा जलते हुए शोले से शीतलता की तलाश से कुछ कम नहीं।

दिनेश अब दिन-दिन ढीठ होने लगा। वह आँखें बचा-बचाकर आँखें मिलाता। कभी कुछ लेने ही के हीले से, कभी कुछ देने ही के हीले से, उसकी उँगलियों को टुकराकर हँस देता। बेला कभी कुछ

समझती, कभी नहीं भी समझती—'भला ऐसा भी हो सकता है ? हर्गिज़ नहीं। मेरी भूल होगी। इस सहज स्नेह-रस में कभी विष नहीं, इस हास-कुसुम में कोई कीट नहीं।'

वह फिर रामायण उठाकर पढ़ती। लक्ष्मण का चरित्र पढ़कर उसे ढाढ़स बँधता। फिर घर के काम-काज में भूल जाती।

दिनेश अपनी बहन और भावज को पास के मन्दिर में कभी रास दिखाने ले जाता। लौटते वक्त वह घुँघरू बाँधकर नाचनेवाली गोपियों की भाव-भंगिमा पर सरस व्याख्या करता, और गोपाल की मुरली की तान पर व्रज में सत और पत की जो क़ुर्बानी हुई थी उसकी एक मनचीती मीमांसा देकर बेला के चेहरे के रंग को ग़ौर से देखता। बेला सर झुकाये चुपचाप चली आती।

गर्मी के मौसम में पौ फटते ही पिछवाड़े की निर्जन बावली से जब बेला नहा-धोकर गीले कपड़े में जल्दी-जल्दी घर की ओर लौटती, तब क्या देखती कि पगडंडी के बिलकुल निकट, बड़ के नीचे, दिनेश महज़ एक लँगोट बाँधे पसीने और धूल से लतपत, दंड पेल रहा है या जोड़ियाँ फेर रहा है; और उसकी बलिष्ठ भुजाओं की पेशियाँ उभड़ी हुई नाच रही हैं। वह सरककर घर चली जाती।

देहात की होली के दिनों में जब लिहाज़ और विचार की सनातन ग्रंथियाँ शिथिल हो जाती हैं, और बूढ़े भी जोश में आकर गंदे गाली-गलौज और नोक-झोंक में जवानों की नाक तराशते हैं, तब दिनेश उस अनुकूल वातावरण का सहारा लेकर ढीठ बन जाता। जब आँगन में घुँघरू और

तबले की धूम मची रहती, रंग और अबीर की बौछार के साथ-साथ मस्ती की एक तरंग उमड़ आती, तब वह भंग और रंग के नशे में शराबोर, 'फागुन मस्त महीने की होरी' गुनगुनाता हुआ, बिचारी बिललाती बेला के गालों पर लपककर गुलाल मलने को दौड़ता, और इस छीना-झपटी के दृश्य को घर के सभी बूढ़े-बच्चे देवर-भावज की सहज होली-लीला समझकर चुप रह जाते।

संक्रान्ति और ग्रहण के समय गंगा-नहान का मेला गाँवों में एक उत्सव का मुहूर्त है। देहातियों के कर्ममय जीवन में यह एक विलक्षण दिन है। दिनेश भी छाजनवाली बैलगाड़ी के भीतर अपने कुल परिवार को लेकर, बैलों को सरपट दौड़ाता हुआ, भोर होते-होते, चार मील दूर गंगा-तट पर जा पहुँचता और झटपट काछा बाँधकर, कमर तक पानी में पैठ, दोनों बलिष्ठ भुजाओं से भीड़ को चीरता हुआ, एक-एक व्यक्ति को हाथ का सहारा दे-देकर, नहला देता था। जब लाज और लिहाज़ से सिकुड़ी हुई बेला उस प्रसन्न पुण्य-सलिला में डुबकियाँ देकर ऊपर उठती और चारों ओर की बरसती कुतूहली नज़रों की गोलाबारी से परीशान होती हुई किसी निरापद स्थान को ढूँढकर धोती बदलती, तब दिनेश ऊपर आकर गीले कपड़े से प्रस्फुटित भाभी के अंगों की लावण्य-लीला को एक-टक हेरता और फिर दूसरे ही क्षण, धम से भरी गंगा में कूद, तैरने की विविध भंगिमा दिखा-दिखाकर, अपने अतुल कौशल और पराक्रम का परिचय देता था।

बेला एक क्षण इस तमाशे को देखती और फिर मुँह फेरकर ससुर

की पूजा के आयोजन में हाथ बँटाती थी। बेला की आँखों की पहुँच अगर देवर के दिल तक होती, तो वह समझ पाती कि दिनेश के इस जीवट के खेल के भीतर कहाँ तक उसकी अपनी निगाहों का हाथ था।

तृतीय परिच्छेद

यों ही कुछ दिन और कटते हैं। इसी बीच में बेला ने दो-तीन कांड रामायण पढ़ डाली। उसके धर्मप्राण ससुर बाहर ही रहकर साधु-सन्तों के संग में जीवन बसर करते थे। उनकी गर्दन से न तुलसी उतरती थी, न हाथ से सुमिरनी। जब से बड़ा लड़का उठ गया था, तब से परिवार के साथ उन्हें महज़ दो मुट्ठी चावल का संसर्ग था। दिन-रात में कुल एक बार भीतर आकर देव-दर्शन कर जाते, आरती उतारते, चरणामृत लेते और बेला को रामायण की कथा सुनाते। पूजा का कुल भार बेला के सर पर था।

बेला पढ़ने में तेज थी, और जब वह मीठे स्वर से रामायण की चौपाइयों को गाकर सुनाती, तब बूढ़े मुकुन्द पंडित की आँखों से मन्दाकिनी उमड़ आती। बेला की असाधारण प्रतिभा का परिचय पाकर वह दाँतों-तले उँगली काटते।

हाय ! विधाता को जब इसके सर पर कोयला दलना मंजूर था, तब उस सर के भीतर सरस्वती का आसन क्यों प्रतिष्ठित किया ? क्या उनको 'मीरा' की तरह इसे एक तपस्विनी बनाना मंजूर है ?

उस दिन सत्यनारायण की कथा थी। पौ फटते ही बेला को आस्तीन चढ़ाकर कड़ाही चढ़ा देनी पड़ी। पूआ-पूरी पकाने का भार उस पर था। पुरोहितानी के ज़िम्मे पञ्चामृत और पञ्जीरी थी। सास को तो पलँग तोड़ने से फ़ुरसत न थी।

रही गौरी। उसकी नसें घंटे-भर की मिहनत में ढीली हो चलीं। उसके तो भाभी की तरह घट्टा पड़ा न था। और पड़े क्यों ? बेला को तो जीवन-भर पापड़ ही बेलना है, वह बेला करे। गौरी क्यों इस बला की ओखली में सर देती फिरे ? वह पल्ला छुड़ाकर मुहल्ले में फुलैरी लेने चल दी।

बेला बिना मुँह-हाथ धोये, कमर में आँचल बाँधे, बारह बजे तक डटी रही। मुहल्ले की नाइनें, बारिन, दिन चढ़े चेहरा दिखाने आईं। मालकिन का मुलाहज़ा बारह बजे के बाद शुरू हुआ। बाल की खाल खींचने में आप लाखों में एक थीं। टीका-टिप्पणी चली। गौरी ने माता की बात-बात पर दाद दी। घी का ख़र्च देखकर मालकिन का तलवा चटका --"क्यों री निगोड़ी, तू ने तो घी का कुप्पा लुढ़का दिया ! यही शऊर है तुझे ! तमाम घी को पतीलीं के पूत्रों ने पी डाला ! तेरे बाप के घर से घी आया है ! सच है, तेरा पैर इस घर में तबाह करने के लिए ही पड़ा है।"

बात-बात में बाप की मरम्मत और माता की मलामत एक आम बात थी। बेला तो बोल सकती नहीं थी! सास की मर्यादा को अक्षुण्ण रखना था। और, उसकी समालोचना पर प्रत्यालोचना करे, ऐसी ज़ुर्रत बिचारी की नसों में कहाँ थी!

इस देश में सूनी गोदवाली विधवा बहू घर में भींगी बिल्ली बनी रहती है। जो ही दुलत्ती झाड़ दे, उसे सर झुकाकर सह लेना है; मजाल नहीं कि चूँ कर सके।

बेला घूँघट काढ़े चुप खड़ी रही। फिर उसने हिम्मत बाँधकर इशारे से पूरियों से भरे थाल को दिखा दिया।

"देखती तो हूँ। तूने पूरियों ही में घी खपा डाला और यही एक पतीली पूआ बनाया। अभी भर कठौत लोर घोलकर रखा है। उसे अपनी छाती के लहू से पकायेगी?"

बिचारी वर्षों से तो छाती फाड़कर कमा रही थी; उस छाती में लहू कहाँ था!

बेला सर झुकाये चुप खड़ी रही। दिल का धुआँ उठकर आँखों में आंसू हो गया।

"तुझे अन्दाज़ नहीं आया, तो मुझे क्यों न बुला लाई?"

बेला जानती थी कि वह बुलाने जाती तो मुँह झौंसवाकर आती, और अबतक चीजें तैयार न होतीं तो पीठ की खाल उधेड़ी जाती। उसने गौरी से सुबह ही कह दिया था कि इतने घी में तमाम चीजें तैयार करना चिड़िया से दूध तलब करना है। अगर आटे में चौरेठा फेंट देती, तो

शायद किसी तरह निभ भी जाता; मगर सास की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ उस घर में एक पत्ता भी खरकना ग़ैरमुमकीन था। गौरी अपने सर पर ज़िम्मेवारी लेने को तैयार नहीं थी—बात टालकर लापता हो गई।

मालकिन दस मिनट तक झल्लाती रहीं और बेला की सात पुश्तों को वैतरणी के कछार में घसीट, कल्ला दबा-दबाकर, डुबोती गईं। आख़िर तेल में पूआ पकाने का आर्डर देकर मट्ठा और गुड़ से खराई मिटाने को चम्पत हो गईं। बेला को फिर भिड़ना पड़ा, और दो बजे तक यही सिलसिला जारी रहा। दिनेश ने आकर, एक अलग कोठरी में तमाम पकवान को ताले में बंद कर दिया।

देहातों में स्त्रियाँ तरह-तरह के पकवान तैयार करती हैं, पर ख़ुद खाने नहीं पातीं! किसी प्रयोजन का तमाम सामान मुहय्या कर दिया, और फिर हाथ समेटकर अलग हो गईं। उनकी क़िस्मत में वही बाजरे की सूखी रोटी और चने का साग! ब्राह्मण-भोजन के बाद बायन का सिलसिला है, नेगी-नेगिनों को देने का रिवाज है। कौड़ी-कौड़ी जोड़कर पूरी तैयार होती है, ताकि ख़र्च के वक़्त कौड़ी का भी बल न पड़े। अगर इत्तफ़ाक़ से कभी कुछ बच गया, तो वही बासी-बासी सबके पीछे घर की स्त्रियों को नसीब हुई। नहीं तो बिचारी घी सूँघकर रह गईं!

यह नादिरशाही आज भी सम्पन्न घरों तक प्रचलित है। और, विधवा बहू के लिए तो घी का तर माल चखना परलोक की जड़ में कुल्हाड़ी मारना है। उसकी ज़बान को न घी से भेंट होती है, न सर को कभी तेल से! मगर उस सर पर तमाम ज़माने का ठीकरा

फोड़ना हर्गिज़ दस्तूर के ख़िलाफ नहीं है। जिस छाती पर मूँग दलना नित की बात है, वह छाती अगर पत्थर की न हुई तो बशीर फ़टे निभ नहीं सकती।

दिनेश ने बड़े मुलायम और मीठे स्वर से पूछा—"भाभी, तुमने अभी तक हाथ-मुँह भी नहीं धोया? आधी रात से खट रही हो। गौरी कहाँ है?"

दिनेश की ज़बान से फूल झड़ रहे थे। बेला आँचल को सर पर सरकाकर, निगाह नीची करती हुई, बोली—"मुंह धोने जा रही हूँ।"

"अकेली पहाड़ तोड़ रही हो न?"

बेला चुप रही।

"घर-भर खा-पीकर खर्राटे भर रहा है, और तुम्हारी आज भी एकादशी है! इस ज़ुल्म को भी कोई हद है? आख़िर भाड़े का टट्टू भी तो दाना नहीं तो घास तो पाता है!"

बेला बुत बनी रही। जवाब क्या देती?

दिनेश की आँखें बेला के भरे हुए अंगों के उभार को कटाक्ष की नोक से कुरेद रही थीं। उसकी प्यासी चितवन घूँघट के छनते हुए चेहरे के मीठे पानी को होंठ डुबो-डुबो कर पीती।

हाय! यह सौन्दर्य-सरोवर की राजहंसी किस गाढ़ के गड्ढे में आ पड़ी! यह बहार की परी कहाँ इस ऊसर मरू में मरने आई!

"भाभी, जब तुम्हें मैं देखता हूँ, सच मानो, मेरी ज़बान से वाह भी आह बनकर निकलता है। यह रूप और यह स्वरूप; यह जमाल

और यह हाल; यह तबीयत और यह क़िस्मत! मैं विधाता के इन्साफ़ पर दंग हूँ।"

बेला ने देखा, दिनेश की ज़बान का पहलू बदल रहा है। वह झट मुड़कर जाने लगी।

"ठहरो, एकाध पूआ तो लेती जाओ।"

दिनेश ने एक घी का मालपुआ उसकी ओर बढ़ाया। बेला ने सर हिलाकर इनकार किया। घी का पूआ—मालपुआ! यह तर माल का जमाल! उसे क्या कुत्ते ने काट खाया था कि वह इसे हाथ से छूने चलेगी? बेला के सर पर एक बाल भी साबूत बच सकेगा?

"नहीं? क्यों? आख़िर तो यह कौड़ी कोस की दौड़ ठहरी। आधी रात से खट रही हो, एक पूए पर किसको एतराज़ होगा? कुछ हवा पीकर तो जी नहीं सकतीं!"

"अभी किसी ने खाया नहीं, न कथा हुई। मैं ही सबसे पहले·····"

"ख़ैर, रख तो लो, बाद ही खाना।"

"नहीं-नहीं; अभी नहीं।"

बेला की ज़बान रुक गई और उसने कोठरी से बाहर आँगन में पाँव रखा—

कि दिनेश ने लपककर उसका आँचल थाम लिया। साड़ी का छोर सरककर दिनेश के हाथों में आ गया, और बेला का तमाम चेहरा—बादल के अवगुंठन से निकले चाँद की तरह—दिनेश के दृष्टिपथ पर चमक उठा। उस सूरत की क़ुदरत में आँखें रत न होंगी तो इस विश्व

में और कहाँ होंगी ? एक बिजली-सी चमकी, एक तीर-सा लगा। एक ही क्षण में तीनों लोक नज़र आ गया।

बेला वहीं ठिठककर झुक गई। दिनेश ने आँचल के खूँट में उस पूए को बाँध डाला, और—'भाभी, मेरा क़सूर माफ़ रहे'—हँसकर कहता बाहर निकल गया।

बेला तो सन्न हो गई थी। काटो तो ख़ून नहीं। दिनेश की यह धृष्टता केवल एक आग्रह का आवेग था, या इस उन्माद के भीतर काम का आवेश भी ?—बेला चुपचाप सिर चीरती रही। वह क्या करे ?

दिनेश तो, जिस नीयत से हो, भेंट देकर चल दिया। अब बेला इस कलङ्क को कहाँ तक चुराकर रखे ? पेट में डाल दे, और कोई खाते देख ले, तब तो मालकिन उसे छठी का दूध याद करा देंगी। और, अगर वह इसे फेंक भी दे, तो कहाँ फेंके, जहाँ किसी की नज़र न पड़े ! अगर किसी की निगाह पड़ गई, तो बेला के सर भूत उतर जायगा।

वह आँचल में बँधा पूआ बेला की पीठ पर जल उठा। वह उस शोले को कहाँ बाँधे ढोती फिरेगी ! उसके देवता कूच कर गये।

वह डूबती-उतराती आँगन में आई, और भीतरी दरवाज़ा खोलकर पिछवाड़े की बावली की ओर क़दम बढ़ा चुकी थी कि कहीं से आँधी की तरह गौरी आ पहुँची ! बेला ने उस पोटली को पीठ पर से सरका लेना चाहा; पर उसके हाथ की थर्राहट ने सारी पोल खोल दी।

गौरी ने छूटते ही पूछा—"कहाँ जा रही हो भाभी ?"

"मुँह-हाथ धोने। अभी फ़ुरसत हुई है।"

"यह तुम्हारे आँचल के खूँट में क्या है ?"

"कुछ तो नहीं। अभी आती हूँ।"

बेला को बात उड़ाने की भी तरकीब न आई !.

"देखूँ तो सही !"—कहती हुई गौरी आगे बढ़ी—चट आँचल थाम लिया—बात-की-बात में माल बरामद कर लिया !

"मुझसे ही उड़ रही हो ? यह मालपुआ कहाँ बाँधे जा रही हो ?"

वह दूध का ख़ासा सरस मालपुआ था। गरी और बादाम की छालियाँ उसकी पपड़ियों में लहालोट थीं। दिनेश ने चुनकर एक काफ़ी गुलगुला मालपुआ उसे भेंट किया था। ऐसे मालपुए तो महज़ दो दर्ज़न बने थे—ख़ासुलख़ास ख़र्च के लिए।

गौरी की आँखों में लहू उतर आया और मुंह में पानी। वह तमाम घर की लाड़ली थी; पर उसे भी कभी यह रसाल—आलय नसीब न था, और उसी रस-खान को यह भीगी बिल्ली बेला लिये जा रही है !

वह टेढ़ी आँखों से बेला को देखने लगी और ज़रा बुलन्द आवाज़ से बोली—"भाभी, भर-सक तुम्हें चूल्हे की आँच नहीं लगती ! मुझमें भी यह अक्ल रहती तो मैं भी तुम्हारी तरह खटती।"

बेला बिचारी जवाब क्या दे ? अगर वह यह कहे कि दिनेश ने उसके आँचल में ज़बरदस्ती बाँध दिया है, तो उसकी उलझनें और भी तरक्की कर जातीं। उस बदहवासी में उसे और तो कुछ सूझा नहीं, वह उस पूए को गौरी को देने लगी।

"तुम्हीं रखो गौरी, तुम्हारे ही लिए·····"

"मेरे लिए ?"—गौरी बात काटकर बोली—"क्यों बात बनाती हो भाभी ? मैं कब की चटोरी थी ? तुम्हीं क़सम खाकर कहो, मेरी राल कब टपकी है ? मेरी यह लत रहती तो भाई से माँग न लेती ?"

"क्या बात है गौरी ?"—बरामदे से मालकिन की आवाज़ आई। गौरी के गले की गुर्राहट पर आप ख्वाब से बेदार हो गईं और पिनपिनाती हुई आँगन में निकल आईं।

"बात क्या है माँ, भाभी यही पूआ लिये बाहर निकली जा रही थीं"—गौरी ने उस रस-भरे पूए को दिखाकर कहा।

"पूआ ?"

"दूधवाला मालपुआ !"

"हूं !"

एक गम्भीर हुंकार आँगन में भर गया। वह गर्जन-ध्वनि दरो-दीवार पर टकस गई। फिर एक मिनट तक सन्नाटे का आलम रहा। मालकिन की भवें तन गईं; नथने फड़क उठे। उन्होंने तड़पकर चूल्हे से एक चैली उठा ली और पैंतरे पर पकड़ कर बेला की पीठ पर पटे का हाथ मारा।

ख़ैरियत हुई, वार ओछा पड़ा, चूंकि बेला खुले किवाड़ की आड़ में दबक गई थी, और चैली की जलती हुई नोक पल्ले के अन्तराल पर रुककर उसकी पीठ तक जा न सकी। लकड़ी तड़ाक-से किवाड़ की कोर पर पड़ी और चन्न से चूड़ियाँ टूट गईं।

बेला की पीठ तो एक धमक खाकर बच गई; पर उसके ख़ादामन

के हाथ की उँगलियाँ काठ की चोट से भिन्ना गईं, और कलाई के इर्द-गिर्द टूटी हुई चूड़ियों की नोकें धँस गईं।

पंडितानी के मुँह से एक चीख़ निकली, और हाथ की चैली झन्न-से ज़मीन पर जा पड़ी। उनका चेहरा रंज और मलाल से लाल हो गया, और वे ग़ुस्से के जोश में लपककर बेला को बोटी-बोटी फाड़ डालतीं—अगर बूढ़े मालिक और पुरोहित उसी वक़्त हाथ में गंगाजल का मटका लिये आँगन में दाख़िल न हो जाते।

पंडितानी लहू के घूंट पीती हुई मुड़कर आँगन में चली आईं, और बेला सैयाद के पंजे से छूटकर बाहर निकल गई। वह निकल तो आई, पर जी की धुकधुकी गई नहीं। जो होना था, वह आज ही हो जाता! अब तो डर यह है कि मालकिन महीनों कौड़ी-कौड़ी सूद जोड़कर वसूल करेंगी और मर-जीकर उसे चुकाना ही पड़ेगा! आख़िर वह कहाँ तक लहू के आँसू पीती रहेगी!

बेला ने मन-ही-मन सीतापति राम के चरणों में, राम जाने क्या-क्या, दुआएँ माँगी, और सिसकती हुई पिछवाड़े के तालाब पर चली गई। मुँह-हाथ क्या ख़ाक धोती! उसे तो आँसुओं से मुँह धोना बदा था! उसे न भूख थी, न प्यास। सीने में सिर्फ़ एक आह थी, जो रह-रहकर कलेजे से उठ रही थी।

बेला दस मिनट तक सर झुकाये घाट पर बैठी रही। किसी तरह उसने दिल को समझाया। आख़िर क्या करना होगा? डूबकर जान दे देना तो आसान है; पर फिर राम के भजने का ज़रिया भी तो हाथों

से छूट जायगा ! अगर वह ऊबकर डूब जाती है, तो फिर वह हर लिहाज़ से डूब जाती है—लुटिया ही डूब जाती है।

निस्तब्ध अपराह्न—शान्त, उदास, निर्जन। पत्थर के घाट तक झुकी हुई मौलसिरी की डालियाँ तालाब के जल में अपनी छाया देख-देखकर इतरा रही हैं।

बेला सीढ़ियों से उतरती हुई छाती-भर पानी में चली गई। सर धोया, हाथ धोया, चुभकियाँ लीं, ठंढे पानी में छप-छप की। अचानक पत्ता खरकने की आवाज़ कानों पर पड़ी। पीछे मुड़कर देखा। आँखें चार हो गईं !

मौलसिरी की एक टूटी डाल पर पैर रखकर, हाथों से टहनियों को हटाता हुआ, दिनेश खड़ा-खड़ा उसको एक-टक देख रहा है। आरती की जलती हुई लौ की तरह उसकी आँखों में दीप्त कामना की शिखा जल रही है।

बेला सन्न हो गई। अब वह भोरी न थी। दुनिया के हाव-भाव का उसे काफ़ी अनुभव हो चुका था। शिकारियों की मचान के नीचे रस्सी से बँधा हुआ भैंस का पाड़ा अचानक अपने सामने भूखे शेर की प्रज्वलित आँखों को देख जैसे चौंककर सूख जाता है, कुछ वैसी दशा बिचारी बेला की हुई। इतने दिनों का रहस्य-तुषार आज अचानक फट गया। पल्लवान्तराल से आँखों की इस तीव्र ज्योति ने अतीत की तमाम संशयाच्छन्न घटनाओं को उद्भासित कर डाला। दिनेश की बनावटी सहानुभूति की पोल खुल गई।

बेला भीगी हुई साड़ी को सँभालती हुई, सर झुकाये, मकान के भीतर चली गई। घंटों सिसक-सिसक कर रोती रही। कहे तो किससे कहे—पनाह माँगे तो किससे माँगे! वह पीठ की चोट इस दिल की चोट के आगे कौड़ी के मोल की हो गई!

चतुर्थ परिच्छेद

दिनेश का ब्याह हो चुका था। पहली स्त्री मर चुकी थी; दूसरी दूध-पीती बच्ची थी—कभी पिता के घर रहती, कभी पति के—कुल दो मील का फ़ासला था।

बेला अशरण-शरण जगत्-पति से बार-बार याचना करती—"नाथ! मेरे इस व्यर्थ यौवन को उमा को देकर इसे सार्थक करो। मुझे अपनी शरण में जगह दो।"

आदमी सिर चीरते-चीरते बे-सिर-पैर की बातें सोचता है। बेला पगली-सी हो गई। काम करते-करते वह अनमनी-सी हो जाती थी। तवे पर रोटी पड़ी-पड़ी जलती रहती और वह उसे उलटना भूल जाती। दूध उफान लेकर आँच में छन्न-से गिर जाता, धुआँ उठता और वह बैठी-

बैठी चींटियों की क्रीड़ा देखा करती। सास की कर्कश झिड़कियाँ जब कानों पर आकर ठोकरें देतीं, तब वह चौंक कर सामने की दुनिया में लौट आती।

दिनेश की तो छाया से भी वह डर उठती। अब सास की बात और लात भी इस भयंकर आशंका के आगे एक फूल-झरी-सी हो गई। लाख शोर-गुल में भी दिनेश के पैरों की आहट को उसके कान झट ताड़ लेते; फिर हृत्स्पन्दन अकस्मात् रुक जाता—दुगदुगी में दम हो जाता।

दिनेश जब आकर कभी कुछ उससे माँगता, या कभी कुछ उसे देता, तब वह एक निर्विकल्प आशङ्का से काँप उठती। न देते बनता, न लेते बनता।

बेला की साड़ी फटी-पुरानी थी। माता की मर्ज़ी के ख़िलाफ़ दिनेश उसके लिए एक चौड़े किनारे की साड़ी ख़रीद लाया। बेला ने उठाकर उसे गौरी को दे डाला। दिनेश बहुत झुँझलाया, और उसे वापस ले लेने के लिए बेला से आग्रह किया।

बेला के लिए साल में एक जोड़ी मारकीन की मोटी धोती नियत थी, और वह नियति की तरह अटल थी। पारसाल से ससुर के इसरार पर पूजा-घर के लिए एक अलग धोती मिली थी। उसके तन पर साड़ी क्या थी, पैवन्दों की परिपाटी थी। शायद ज़ाब्ते की पाबन्दी की वजह से पैवन्दों पर घर-भर की नज़र ओछी पड़ती थी। आख़िर विधवा को धोई धोती से मतलब! उसके लिए सफ़ाई तो जहन्नुम की ख़ुदाई है!

मगर सर पर सिन्दूर के संहार से सौन्दर्य का शृंगार तो नहीं छूटता!

मोटे मारकीन के अन्तराल से कुछ यौवन का जमाल तो नहीं रुकता ! यहाँ तो सीवनों की तह से सोने का गह-गह रंग फूटा पड़ता था ! उस निखार पर न सास की फिटकार का असर था, न गौरी के दिल के गुबार का।

"तुम्हारी साड़ी पैवन्दों से भर गई है। क्या इस घर पर तुम्हारा हक़ नहीं है ? यहाँ क्या बेगार ढो रही हो ?"—दिनेश ने ज़रा तिनककर कहा।

"नहीं-नहीं, मेरे लिए यह किनारदार धोती नहीं है।"

"क्यों ? क्या इसपर सोने का रंग खुल नहीं सकता ?"—दिनेश ने मज़ाक छेड़ा।

"यह सोना नहीं—सूना है ! यहाँ रंग कैसा ?"—बेला सर झुकाकर ज़रा आहत स्वर से बोली।

"रंग कैसा ! क्या इस सुनसान में बहार का दौर नहीं फिरा, यौवन का रंग नहीं फूटा ? ज़रा इस साड़ी को पहनो और आइने में जाकर रंग की रँगरली ..... कहाँ जाती हो ..... ?"

बेला लजा गई। वहाँ से चुपचाप टल गई।

दिनेश की यह सहृदयता उसके कलेजे में तमञ्चे की चोट की तरह लगी ; उसकी आँखों की कोमलता लोहे की तप्त शलाका हो गई। लेकिन वह कहे तो क्या कहे ! हाथ-पैर बँधे पड़े थे। नीची आँखें किये सर झुकाकर आँचल को मुँह तक सरका लेने के अतिरिक्त, और बचाव ही क्या था ? और, उधर यह लजाने की चेष्टा दिनेश की आँखों पर बिजली-सी कौंधती थी।

लजा-लजाकर आँखों ने कितने लाज और लिहाज़ के मोरचों को तोड़ डाला, इसे लजाशीला बेला कहाँ तक समझ पाती ? उसका तो यह सहज स्वभाव था। वह इसी आदर्श पर पली थी।

यदि यौवन और सौन्दर्य की चिरन्तन सहचरी लज्जा न होकर शोखी होती, तो शायद मानव-जीवन का इतिहास इस क़दर रोमान्स के छींटों से न रँगता।

शाम का वक्त है। घर में दीये जल चुके हैं। आसमान पर बादल छाये हैं। चैत के महीने में सावन की-सी फुही। हवा में हल्की खुनकी।

गौरी चौके में, चूल्हे के पास, बैठी रोटियाँ बेल रही है। बेला उन्हें उपलों की मीठी आँच पर सेंक-सेंककर दिनेश की थाली में देती जाती है। सामने मिट्टी की दीवट पर चिराग़ टिमटिमा रहा है। दिनेश कम्बल पर बैठा रोटियों पर हाथ साफ़ कर रहा है। कभी-कभी बीच-बीच में भावज की पकाई हुई चने की कढ़ी पर कुछ सरस आलोचना भी छेड़ बैठता है। कभी आँखें उठाकर तपाये हुए सोने की तरह आग की लौ से लोहित बेला के मुख-मंडल को देखता है।

"भाभी, आज की कढ़ी तो ज़बान से नहीं छूटती ! तुम्हारा कमाल का अन्दाज़ है।"

"गौरी ने बनाई है"—बेला ने दबी ज़बान से कहा।

"मैंने कहाँ बनाई ? मैं तो अख़ीर में आई। सिर्फ़ दही डालकर उतार लिया।"

"जो हो, खटमीठी चटनी भी मात है। तुमने मिर्च में मिसरी घोल दी है।"

जब भाभी के मीठे इसरार पर दसवीं रोटी थाल में आ चुकी, तब दिनेश ने गौरी को पान और लवङ्ग की डली लाने के लिए बाहर भेजा। उधर गौरी गई, इधर वह खुद उठकर आँगन में हाथ धोने चला।

बेला ने आँचल को सर पर सरकाया और जल का लोटा लिये आँचवाने को नज़दीक चली आई। पानी पड़ने से आँगन में फिसलन हो चली थी, या जो बात हो, दिनेश की खड़ाऊँ अचानक फिसल पड़ी और वह धड़ाम से झुकी हुई बेला पर जा पड़ा।

बिचारी बेला इस अनायास धक्के को कहाँ तक सँभालती? वहीं चित गिरी और उसकी छाती पर दिनेश आ धमका। दिनेश को शायद कमर में चोट लगी; क्योंकि वह उसे थामकर उठ न सका। और क्यों न हो, आख़िर वह गिरा भी तो था किसी युवती के कठोर वक्षस्थल पर!

बेला को चोट कहाँ थी, यह वही जानती होगी या उसका अन्तर्यामी। जब वह साड़ी समेटकर उठ खड़ी हुई, तब उसके चेहरे का रंग सुफ़ेद था और आँखें वेदना से जल रही थीं।

इधर आवाज़ पाकर गौरी और उसकी माता दौड़ आईं।

"कल ही इस आँगन की काई साफ़ करा देना; नहीं तो पैर फिसलकर किसी का सर टूट जायगा"—यह कहता हुआ दिनेश बाहर निकल गया।

बेला सिटपिटाती हुई चौके में घुस गई।

पञ्चम परिच्छेद

उस दिन कहीं बिरादरी में शादी थी। सुबह ही तैयार होकर दो मील दक्खिन जाना था। तड़के उठकर घर की स्त्रियों ने जूड़ा बाँधा, माथे पर चटकीली टिकली दी, गोटा-पट्टा-चढ़े लहँगे पहने, रंगीन दुपट्टे डाले, और ज़ेवरों के मधुर शिञ्जन से मुहल्लेवालों के दिल-दिमाग़ को डावाँडोल करती बैलगाड़ी में जा बैठीं।

बेला को साथ ले जाने का तो कोई सवाल न था! उसका शुमार तो आदमियों में था नहीं।

सोलह साल की विधवा के दिल में भी कुतूहल उठ सकता है, लालसा सुलग सकती है, या अरमान उमड़ सकता है—समाज के दायरे में इस असम्भव कल्पना के लिए जगह नहीं है। उसके लिए तो शम-

दम, जप-तप, ध्यान-पूजन, व्रत-उपवास आदि-आदि दिल बहलाने के हज़ारों सरञ्जाम शास्त्रों ने मुहय्या कर ही दिये हैं। तब उसे सधवाओं की साधकी चीज़ों में दख़ल देने की क्या पड़ी है? उसे तो अपनी साध का श्राद्ध करना है! उसका जीवन शून्य तो है नहीं; और अगर वह उसे शून्य मानती हो, तो वह पूर्ण भी तो नहीं हो सकता! विधि ने जो कुछ ललाट में लिख दिया है, वह लेख शिलालेख है; उस पर चुना-चुनी करने का प्रश्न ही नहीं उठता। यही दैव है!

जहाँ जीवन के हर पहलू में दैव का दबदबा है, वहाँ जीवट का ज़ोर कभी उठ नहीं सकता। हम सर झुकाते-झुकाते सर उठाना तक भूल जाते हैं। दैव के पाले पड़कर विवेक के लाले पड़ जाते हैं!

जो हो, बेला बिचारी अलग रही। इस सिंगार-पटार के सिलसिले में उसका नमूदार होना बेमौक़ा होता। वह कुलच्छनी हाथ बढ़ाती, तो चारों ओर से फिटकार पाती। ननद के ताने का तमञ्चा चढ़ा तैयार था। बेला सामने आई नहीं, निशाना मिला नहीं, लबलबी दबी नहीं।

दिनेश ने लाकर बैलों को सानी-पानी दी, खली खिलाई, गाड़ी तैयार की, और सूरज निकलते-निकलते सबको लेकर चल दिया। रात के किसी वक्त लौटने की बात थी। बूढ़े सरकार अकेली बेला की निगरानी के लिए रह गये। उनकी गाँठ-गाँठ में दर्द था। चलने-फिरने से मजबूर भी थे। बाहर की बैठक में बने रहे; रुद्राक्ष के दाने गिनते रहे।

बेला ने नहा-धोकर धोती बदली, सीतापति की आरती उतारी,

रामायण के सुन्दरकांड का पाठ पढ़ा, बताशों का प्रसाद पाया, ससुर के लिए दूध गरम किया, रात का भिंगोया हुआ भात खाया, और सूनी कोठरी में जाकर न जाने किस आशङ्का से कातर चुपचाप लेट रही। नींद तो आती न थी; सोती-जागती थी।

जेठ की दुपहरिया है। आसमान से शोले बरस रहे हैं। हवा में आग लगी है। गर्मी से बदन झुलस रहा है। आसमान से ज़मीन तक भी दुन्द बाँधती हुई आँधी है।

बेला चटाई पर आँखें बन्द किये अपने सुख-दुःख की कहानी दुहरा रही है। उसके जीवन के ताप के आगे यह जेठ का ताप क्या था! उसके हृदय के हाहाकार के आगे लू का हहास क्या था? उसे जीवन-भर उसाँसों का भार ढोना है—यही प्रश्न, सोते-जागते, निरन्तर उसके सामने था। आज भी शायद मन-ही-मन वह इन्हीं साँसों की माला फेरती होगी।

तबतक अचानक किसी तीव्र गन्ध से उसका मस्तिष्क चकरा उठा। उसने उठकर देखा, तो सामने बरामदे में दिनेश को बैठा पाया। उसके हाथ में गाँजे की चिलम थी और मुँह में धुएँ का अम्बार। आँखें गुलाला हो रही थीं। उसकी चितवन से हिंसा के शरारे बरस रहे थे। उसके चेहरे पर क्रूरता का उल्लास था।

पर-कटी कबूतरी के सामने बाज है; घेरे में पड़ी हरिणी के सामने बाघ है—बेला के सामने दिनेश है!

दिनेश हँसता हुआ उठा और कमरे में पैर रखा। बेला चिल्लाई

और तीर की तरह भागी। बाहर आते-आते चौखट से ठोकर खा, तिलमिला कर, ज़मीन पर जा पड़ी। कुल्हे में चोट पाकर वह सन्न हो गई।

दिनेश ने नज़दीक आकर उसके सर पर हाथ फेरा, कान में झुककर न जाने क्या कहा और फिर ज़ोर से एक क़हक़हा लगाया। वह हँसी की आवाज़, हहास बाँधती हुई आँधी के अट्टहास में, विलीन हो गई।

दिनेश ने ला-परवाह उसे हाथों से उठा लिया। जल्लाद की आँखों में करुणा की एक कण भी न थी; उसके दिल के पहलू में लिहाज़ की एक रेखा भी न थी।

दीवार खसी नहीं, ज़मीन धँसी नहीं। तारा टूटा नहीं, आसमान फटा नहीं। मगर हाय! एक अबला के जीवन-पारिजात का अमूल्य सौरभ लुट गया!!

अब बाक़ी ही क्या रहा? जब बाँध ही टूट पड़ा, तब बाढ़ के रेलने में दिक़्क़त ही क्या थी? वह बिचारी लाख रोती-छटपटाती, हाथ जोड़ती, पैरों पड़ती; लेकिन पत्थर पसीजा नहीं—शैतान का पंजा कभी ढीला न पड़ा!

आख़िर बेला दलदल में जा फँसी। उसके पैर भारी हो चले। बात फूट गई! कानों-कान किसी को ख़बर न हो; घरवाले परीशान हो उठे। बेला को किसी तरह कहीं खपा देना ही मुनासिब समझा गया! सबकी आँखों में वही मुजरिम थी। दूसरे की हो जाने की तो गुंजाइश थी नहीं!

दिनेश के चेहरे पर तो एक शिकन भी न थी। उसकी मूँछों की ऐंठ बराबर बनी रही।

वेला ने सब कुछ सुना; सब कुछ समझा। बिचारी करती क्या? जान देने में एक निर्दोष की जान लेनी है, इसलिए आत्मघात से खिंच गई। मानसिक वेदना की अन्तिम सीमा पर पहुँचकर उसे अपना कर्त्तव्य सूझ गया।

आधी रात बीतते-बीतते लापता हो गई। मुहल्लेवालों ने दो-चार दिन तक कुछ कानाफूसी की। घरवालों ने तो ख़ुशियाँ मनाईं!

दिनेश की गाँठ में पैसे थे। घर की कोठियों में अनाज भरा था। फिर भला उसकी आँखें किसी के सामने क्यों झिपतीं?

प्रथम खंड

बिजली

प्रथम परिच्छेद

रायसाहब मानचन्द्र हमारे शहर के एक नामी-गरामी रईस हैं। रईस क्या, रईस-आज़म हैं। गोल-मटोल, गुलथुल बदन, मयाना क़द, गाढ़ा साँवला रंग, खिचड़ी बाल, आम की फाँक-सी आँखें, आँखों पर चश्मा, चेहरे पर चेचक के दाग़, मूँछें सफ़ाचट; एक ख़ासे जेंटिलमैन।

आपको शकील क़रार देना ख़ुशामद में दाख़िल है और बदशक्ल कहना एक शरीफ़ की शिकायत है। पिता से आपको एक काफ़ी मोटी रक़म हाथ लगी थी। बैंकों से सूद की ख़ासी आमदनी थी। पचीस हज़ार मुनाफ़े की ज़मींदारी। कोई ख़ास धन्धा नहीं; मगर कभी-कभी शेयर-मारकेट की उलट-फेर में दिलचस्पी ज़रूर थी। आपके दिमाग़ में उपजाऊ स्कीमों की कमी न थी; मगर जमकर किसी काम में डट जाने

की न हिम्मत थी, न आदत। आप हर साल डरबी की लाटरी में अपनी क़िस्मत की आज़माइश करते ; हर साल बड़े दिन की तातील में कलकत्ते जाकर कप-रेस में बाज़ी खेलते। कभी कुछ हारते, कभी कुछ जीतते।

व्यवहार में समझौते की नरम नीति आपकी सहचरी है। मगर कभी शान के उफान में क़दमों का दायरे के बाहर भी फिसल पड़ना नामुमकिन न था। यह तय है कि आप किसी तबक़े की क्रान्ति को दूर ही से प्रणाम करते थे ; मगर साथ-साथ लकीर के फ़क़ीर बनकर परम्परा का दामन थामे चलना भी आपको बिलकुल नापसन्द था। इसलिए आप ख़ुद 'श्याम और कुल' दोनों को निबाहकर चलते थे।

कभी पर्व-त्योहार के दिन सुबह ही उठकर मोटर से गंगा नहा आते, ललाट पर रोली और चन्दन का तिलक देते, और लौटते वक़्त अपने पूर्वजों के मन्दिर में मिसरी और मुनक्के का प्रसाद पाते ; फिर शाम होते-होते रैनकीन के सिले हुए चेक-सूट पहन—दो-चार मनचले मित्रों की कम्पनी में—क्लब में जाकर चुरुट, चाय, पेग और ब्रिज की चकल्लसबाज़ी का भी मज़ा लूटते थे।

इधर पंडितों के इसरार पर, सत्यनारायण की पूजा के दिन, पत्नी के आँचल से गाँठ बाँधे, भूखे-प्यासे रहकर, कलावती कन्या की दास्तान सुनने में, या पूजा के अनन्तर पञ्चामृत और पञ्जीरी का प्रसाद पाने में, आपको लज्जा न थी। और, उधर हम-निवाले हम-प्याले मुस्लिम दोस्तों के घर फ़रमाइशी मुर्ग़-मुसल्लम, पुलाव और क़ोरमे की सरस उपासना में

कमी द्विधा न थी। होटलों के प्राइवेट कक्षों में जाकर, करंटे साहबों की गोरी मिसों के साथ, डिनर और लंच की लपेट में, विलायती बोतलों के विलास में भी कोई बाधा न थी। कभी सरकारी अफ़सरों को शैम्पेन-पार्टी देकर साहबों और मेमों की गर्दन में बनारसी गोटे की माला डालते, कभी खद्दरधारी लीडरों के साथ, स्वदेशी नुमाइश की कार्यकारिणी कमिटी के मेम्बर बनकर, दुन्द बाँधे ढिंढोरा पीट-पीट देशी शिल्पों के आयोजन में एक हद तक सहयोग देते थे।

हमने आपको एक दिन सुबह में सङ्कीर्त्तन-सम्मेलन के सभापति की गद्दी पर बैठे-बैठे वैष्णव भक्तों के करुण कीर्त्तन पर तल्लीन होकर आँसू बहाते देखा है; तीसरे पहर आर्य-समाज के मन्दिर में, स्वामी सत्यानन्द की रोमाञ्चप्रद स्पीच पर मुग्ध होकर, शुद्धि और अछूतोद्धार के प्रस्ताव पर हाथ उठाते देखा है। फिर उसी दिन, सायंकाल के बाद, लाला श्यामलाल की प्राइवेट महफ़िल में, तबले की थाप पर ठुमकती हुई केसरबाई की ठुमरी—'पिया के सँदेसा लेके आई हैं बदरियाँ'—पर, ब्रांडी का प्याला हाथ में लेकर, मस्त झूमते भी देखा है।

रायसाहब की गिनती इने-गिने लोगों में थी। गिनती अमूमन रुपये से ही होती है, और उस मद की आपको कमी न थी। मैट्रिकुलेशन तो आप ज़रूर पास थे; पर कालिज में दो बरस रहकर आपने फ़ैशन की ही तालीम ली थी। शीन और क़ाफ़ तो दुरुस्त न हुए, मगर लाम-क़ाफ़ काफ़ी आ गया, और लिफ़ाफ़ा बदल डाला!

'अरबी न फ़ारसी, भैयाजी बनारसी' वाला मज़मून था। साहबों

की सोहबत में साहबियत की तरक्की होती रही। अगर सर पर कहीं डिग्री का तुर्रा रहता, तो शायद आप तमाम ज़माने के सर पर क़दम रखते! आपके आचार-विचार क्या थे, आपकी आस्था कहाँ थी, आपका विश्वास क्या था, आप किस धुन के धुनी थे—शायद आज तक इसका पूरा पता किसी को न चल सका। जिधर की हवा होती, उसीके अनुकूल आपकी जीवन-तरी आप-से-आप बहती रहती। दस की ज़बान पर आपका नाम हो, दस के आगे आपका मान हो, यही तमन्ना आपकी छाती में धक-धक जलती रहती।

आपके मिज़ाज में मक्खन भी काफ़ी था, मगर जबतक ख़ुशामद की मथनी न होती, तबतक नमूदार न होता। जुड़ी हुई करतालियों की आज़िज़ी, झुकी हुई गर्दनों की ख़ाकसारी और दरबारियों की शीरीं ज़बान की चाशनी आपके प्राणों में अमृत उँड़ेल देती; और इसी कुहुक-कूजन—इसी कपोल-कीर्त्तन—में मस्त आप फूले न समाते थे।

दुनिया में ख़ुशामद-सी नशीली कोई मदिरा नहीं है, और जिसने इसके दो घूँट भी पी लिये, उसपर और सुरूर कोई क्या होगा?

रायसाहब की सारी सार्वजनिक चेष्टाओं की यही भित्ति थी। उनके आचार-विचार, व्यवहार-व्यापार, हर बात में इसकी गंध थी।

मान और शान का परिणय, विना चरित्र-बल के, इस ज़माने में नामुमकिन है; इस सत्य को पहचानने का उनमें संस्कार न था।

मनुष्यत्व का सच्चा द्योतक चरित्र है। प्रतिभा की सतेज दीप्ति भी शील और चरित्र के सौम्य प्रकाश के सामनें धुँधली है। स्पर्द्धा की

आँच तो काँच की माया-रश्मि है, जो महज़ मोह और स्वार्थ के अँधेरे में क्षण-भर चमक पाती है।

शायद रायसाहब की सार्वजनिक चहल-पहल कुछ आन्तरिक नहीं थी; वह हाथी के दिखावे के दाँत-सी थी। खाने के दाँत तो हाकिमों और अफ़सरों की ख़ुशामद थी, और उसी खुशामद के ज़रिये स्वार्थ-सिद्धि या उपाधि-प्राप्ति।

हमारे रायसाहब ज़बरदस्त हुक्कामरस थे। साहबों की दिलजोई और मेमों की मुसकानजोई आपके लिए मनुष्य-तन पाने का चरम लक्ष्य थी। नीले नैन की मुसकान-भरी चितवन तो आपके जीवन की सुधा-सञ्जीवनी थी। आपके कमरे की दीवारों पर दर्जे-ब-दर्जे अफ़सरों और लेडियों के दिलफ़रेब फ़ोटो की भरमार थी। आपके हाथी-दाँत के कलमदान में गौराङ्ग-देव-देवियों की कर-कमलाङ्कित—गुलाबी रेशमी रिबन में बँधी हुई—सैकड़ों थैंक्स की चिट्ठियाँ भरी पड़ी थीं। बड़े-बड़े अफ़सरों के घर से लंच और डिनर के नवेद की जितनी भीनी-भीनी रंगीन चिट्ठियाँ आपको मिली थीं, सब-की-सब क़रीने से सजाई रखी थीं। गवर्नमेंट-हाउस की मुहर लगी हुई थैंक्स की चिट्ठियाँ तो आपके वालिद-माजिद के वक्त ही से, ख़ानदानी तबर्रुक की तरह, दस्तावेज़ों के सन्दूक़ में, अलग हिफ़ाज़त से, बाक़ायदे तह लगाकर, रखी थीं और, रायसाहब, बातों के सिलसिले में, उन्हें आहिस्ते से मँगवा कर, प्रत्येक हिन्दुस्तानी और विलायती आगन्तुक के सामने, बड़े तपाक की आज़िज़ी से इतराते हुए, पेश किया करते थे। आपकी रायसाहबी के ख़िताब का फ़रमान, सुनहरें

फूलदार फ्रेम में मढ़ा, ड्राइङ्ग-रूम की गोल मेज़ पर बराबर सुसज्जित रहता था।

आपके हृदय की आकाशचुम्बी राजभक्ति के साये में एक थोड़ी सी जगह पितृ-भक्ति के लिए भी ज़रूर थी। बाईं ओर की दीवार के एक कोने में, साहब-बहादुरों के फ़ोटों की फ़ौज की छत्रछाया में, बन्ददार चोग़े और समले में, सर झुकाये, जिन महानुभाव की तसवीर थी, वे आपके पूज्य पिताजी थे! यह कोई मामूली फ़ख्र की बात नहीं कि एक ज़माने के रेलवे के ठेकेदार लाला ईश्वरचन्द्र को, विलायती असबाब से सुशोभित इस ड्राइङ्ग-रूम की दीवार पर, बड़े-बड़े भूदेवों की पांत में खड़े होने की जगह मिल गई थी। जिन भूदेवों के सामने जीते-जी उन्होंने भूलकर भी कभी नज़र तक न उठाई होगी, आज मरने के बाद उन्हीं नर-कुञ्जरों के चित्र-चकले में उनकी रसाई हो गई—इसे प्रारब्धन हीं कहते, तो और किसे कहते हैं? साहबों के पद-प्रान्त पर सर झुकाते-झुकाते उनकी कमर तक भी झुक गई थी, पर इस झुकाव के जरिये जिस मोटी रक़म को उन्होंने बंगाल-बैंक में ठेल दिया था, उसके दबदबे के आगे आज कौन सर उठा सकता है?

यद्यपि मानचन्द्र के ख़ून में साहबों की ख़ुशामद का माद्दा बपौती देन था; तथापि आप इस मद में बाप के भी चचा निकले! यों तो, आपके यहाँ से आम के मौसिम में आम की डाली, फूलों के मौसिम में फूलों के तोहफ़े, परिन्दों के मौसिम में परिन्दों की नज़रें—तीतर, बटेर, टील और मुर्ग़ाबियाँ—अफ़सरों के घर बराबर जाया ही करती थीं; मगर

बड़े दिन और नव वर्ष की शुभ-कामना के अवसर पर फूलदार कार्डों के साथ-साथ फूल और फलहरी, केक और पेस्टरी, मुर्ग़ा और टरकी, शैम्पेन और शेरी की डालियाँ, जिस इन्तज़ाम के साथ बड़े-बड़े तश्तों में सजाकर, नई वर्दी पहने दरवानों के सर पर, प्रत्येक छोटे और बड़े साहब के बँगले पर पहुँचाई जाती थी, उसका बयान रायसाहब ही कर सकते हैं; दूसरे से तो कभी मुमकिन नहीं।

रायसाहब मौक़े-बे-मौक़े ख़र्राच भी थे। पारसाल ख़िताब के जल्से में विलायती बोतलों के पर्वत से आपने जो दरिया बहाया था, उसपर तारीफ़ के पुल बाँधनेवाले आज भी शहर में घर-घर मौजूद हैं!

रायसाहब ने साहबों के सामने सर झुकाने में जो मश्शाक़ी हासिल की हो, पर अपने देश-भाइयों के सामने तो कभी आपके सर में बल तक न आने पाता था। उधर आज़िज़ी, इधर हेंकड़ी; यही शान थी। और, उस शान की कमी आपकी जाँकनी थी।

मुहल्ले के वीरेश्वर बाबू की बड़ी लड़की जिस दिन बी० ए० की डिग्री लेकर ट्रेन से उतरी, और स्टेशन पर दस-पाँच मित्रों के साथ आपको भी अभ्यर्थना के निमित्त जाना पड़ा, और वहाँ इकट्ठे मनुष्यों के दृष्टि पथ पर आपने विदुषी कन्या के पिता के गौरव मंडित प्रसन्न मुख को देखा, उसी दिन आपके मन में यह भावना दृढ़ हो गई कि अपनी कन्या 'बिजली' को भी ग्रेजुएट बनाकर किसी सिविलियन के हाथों में अर्पित करें।

आप भला किसी से कम क्यों होंगे? इरादा हुआ कि बिरादरी

के किसी मेधावी छात्र को चुनकर अपने खर्च से विलायत भेज दें, ताकि वह एक दिन हमारी कन्या का योग्य पात्र हो सके। उसी रोज़, रात को, ब्रिज की बैठक पर, आपके इने गिने-मित्रों ने, आपकी प्राइवेट गोष्ठी के दरबारियों ने, खुले दिल से, इस बात की दाद भी दी।

दूसरे दिन, सुबह में, ग्यारह साल की किशोरी 'बिजली', मिशन स्कूल में भरती हो गई। बिल्ली के भाग्य से छीका ही टूट पड़ा! बिजली भी तो यही चाह रही थी। काली क्रिश्चियन मिसों के झुरमुट में बिजली बिजली-सी खुल पड़ी।

राय मानचन्द्र की धर्मपत्नी 'विमला' को ऐसी शिक्षा—ऐसी बे-पर्दगी—ज़रा भी पसन्द न थी; लेकिन मन के भाव मन की घाटी में घूमकर रह गये—ज़बान तक आते-आते काफ़ूर हो गये। पति के सामने मुँह खोलकर कहने की हिम्मत न हुई।

इसका भी एक कारण है। वह जानती थी कि रायसाहब के दिल पर उसके इसरार का कोई असर होने को न था।

वह बिचारी ग़रीब घर की लड़की थी। कुछ पढ़ी-लिखी न थी। रायसाहब के घर में आकर उनके बच्चों की जननी बन सकी, यही उसके भाग्य की चरम गरिमा थी!

रानी हो गई, यही बहुत है; अब हुक्मरानी भी हो, यह असंभव आकांक्षा थी! यह क्या कम सौभाग्य था कि बाध की टूटी खाट के बदले वह लेज़रस की दूकान के बने स्प्रिङ्गदार पलँग पर अब करवटें बदलती थी, चना-चबेने के बदले आज दही की छालियों और करैले

की कलौंजियों से ज़बान की चाट मिटाती थी ?

गाँव के रँगरेज़ के घर की रँगी हुई गुलेनार धोती जिसके जीवन में भवानी की करुणा थी, वही विमला सोलहवें साल में क़ीमती इन्दौर-बॉर्डर-चढ़ी क्रीप डी-शीन की भुवन-मोहनी साड़ी पहनकर नन्दन-चमन की दुलहिन बन गई, यह क्या नसीबों में नसीब नहीं था ?

जबतक उसके शरीर पर वसन्त की लपट थी, तबतक तो मानचन्द्र निरन्तर सुहाग बरसाते रहे, लेकिन जब साल-ब-साल हमल के हमलों से वह पामाल हो चली और उसके गुलाबी गालों का जमाल म्लान हो गया, तब फूल के परिमल का पागल भौंरा उस चमन की क्यारी से दूर सरक गया !

विमला के रूप-रंग में अब कोई उद्दीपना बाक़ी न रही, और राय-साहब बग़ैर किसी कशिश के कब टिकनेवाले थे ? अब तो महज़ एक कर्त्तव्य का बन्धन रहा !

दुनिया में बिना किसी मोह या कशिश के न हृदय का मन्थन संभव है, न आवेश का स्फुरण। और, कर्त्तव्य की प्रेरणा तो बुद्धि से उठती है, कुछ हृदय से नहीं !

जीवन के अपराह्न-काल के समीप आते-आते जब विमला बिलकुल हड्डियों का ढाँचा रह गई, और पति-प्रेम की संजीवनी जब हाथ पसारने पर भी नसीब न थी, तब वह सुबह-शाम तुलसी के चबूतरे पर मिट्टी के छोटे-छोटे दीपकों को जलाकर यही करबद्ध कामना करती कि बिजली की माँग पर सिन्दूर और गोद में एक छोटा-सा लाड़ला देखकर वह पति

के हाथ से आग पाती। बस, यही अब उसकी अन्तिम कामना थी।

मानचन्द्र जब कभी भूले-भटके भीतर आ जाते, उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी बँध जाती। कहीं वह उनके कंधों पर सर रखकर उनके क़ीमती सूट पर आँसू के धब्बे न डाल दे, इसी आशंका से कातर वे अलग ही से उसके आँचल से उसके आँसुओं को पोंछ देते, और जाड़े के दिनों में सर्दी से बचने तथा गर्मी के दिनों में तपिश से दूर रहने की ताकीद कर जाते।

विमला दस बच्चों की जननी हो चुकी थी, लेकिन जीवित थे कुल तीन ही। बिजली सबसे बड़ी थी। दो लड़के बिलकुल बच्चे थे, और एक गोरी विलायती नर्स के चार्ज में पल रहे थे।

बिजली पहले अपनी माता की देख-रेख में रहती थी, और हिन्दी-उर्दू की तालीम पा रही थी। लेकिन जब से वह स्कूल में भरती हो गई और उसके लिए एक अलग कमरा—कुर्सी, टेबुल, कार्पेट, पियानो, आलमारी वग़ैरह से सुसज्जित करके—निर्दिष्ट कर दिया गया, तब से वह बिलकुल बाहर ही रहने लगी। वह भीतर ही से बाहर न आई, क़ाबू से भी बाहर हो चली। जो बूढ़े पंडित उसे संस्कृत और हिन्दी पढ़ा रहे थे, वे अब उसका रुख़ देखकर तो इस विलायती बच्चे के कमरे के बाहर ही अपना जोड़ा उतारते!

रायसाहब ने स्कूल के दो मैट्रन को उसे घर पर पढ़ाने के लिए भी नियुक्त कर दिया—एक अँगरेजी बोलचाल की शिक्षा देती, दूसरी गाने-बजाने की तालीम। वह पढ़ने में तो तेज़ थी ही, गाने-बजाने में भी

फ़र्द निकली। उसने चटपट गले के स्वर में सुर भर दिया, और दो ही दिनों में पियानो की पटरियों पर उँगलियों ने रूह फूंक दी।

बस, बारहवें साल से अँगरेज़ी तालीम का सिलसिला शुरू हुआ, और भीतर सोने के कमरे में ताक़ पर रखी रामायण और शाहनामा की पुस्तकें पड़ी-पड़ी काग़ज़ के कीड़ों की क्षुधा मिटाने लगीं। मगर हिन्दी और उर्दू के रस-साहित्य की ओर जो रुझान उसकी प्रकृति के पर्दे में बीज ले चुकी थी, वह अँगरेज़ियत की आबोहवा में भी जड़ पकड़ती चली गई।

द्वितीय परिच्छेद

बिजली बाप की बेटी थी। बिजली बिजली ही थी; तेज़ और चंचल। वह शहरी आबोहवा में पनप रही थी। छरहरा बदन, साफ़ गन्दुमी रंग, चेहरे पर नमक, चितवन में ज़हर की मीठी चाशनी, कटाक्षों की तीरन्दाज़ी, लज्जा और शोख़ी की आँख-मिचौनी, एक-एक अङ्ग पर कमाल की स्फूर्त्ति और बेताबी; सब मिल-जुलकर एक बड़ी मन-मोहिनी छटा थी।

बचपन ही से उसे चटकीली चीजों की चाट थी। वह तड़क भड़क की पुतली थी, प्याले की उफनाती अंगूरी-सी छलकती रहती। अपने को दिखाने का—सब पर रंग जमाने का—भाव हर घड़ी मौज पर रहता। जब दत्त की मुग्ध विनीत चितवन उसके रूप की आरती

उतारती—दस की ख़ुशामदी गुंजन की काकली उसके अन्तर में रस बरसाती, तब अचानक उसके दिल में एक ऐसा प्रवाह-सा उठता कि वह चरण-प्रान्त पर लुंठित भक्तों को 'वरंग्रहि' कहकर कंटकित कर देती—अपने-आपको लुटाकर निःस्व कर देती, और यह निखिल विश्व इस अमूल्य दान को पाकर धन्य-धन्य हो जाता। सभी की दृष्टि में उसीकी मूर्त्ति हो—सभी की वाणी में उसीकी स्तुति हो—यही उसकी कल्पना की धारा थी।

मख़मली किनारे की साड़ी पहनकर, माथे पर रोली की एक नन्हीं-सी बिन्दी जगाकर, लाल रिबन से बँधी चोटी को पीठ पर नचाकर, जब वह हँसती-खेलती स्कूल जानेवाली 'बस' में जा बैठती; और जब साथ जानेवाली सखी-सहेलियों की—'वाह बिजली! आज तो तू फूल की तरह खिली है!·····यह साड़ी तो तुझपर कमाल की खुलती है!'—गुंजन-ध्वनि उसके मन को उभारती, तब वह जामे से बाहर होकर, पाकेट में भरी हुई लेमन-जूस और चाकलेट की गोलियाँ, गाड़ी में बैठी लड़कियों में, फ़ौरन वितरण कर देती, और लाख मना करने पर भी, अपने लिए एक भी न रख छोड़ती थी।

जब वह ख़ुश होती, तब ओसारे और आँगन में, बाहर मैदान और लॉन में, बे-वजह अङ्गों को तोड़ती हुई थिरकती फिरती, और छुटपन की दिल-फ़रेब नादानियों और नख़रों से हर-एक छोटे-बड़े के दिल को बरबस खींच लेती थी। मगर कहीं किसी बात पर रूठ जाती, तब तो बिचारी घंटों सिसकती, हाथ-पैर फेंकती, साड़ी की धज्जियाँ उड़ाती और

जो कुछ सामने पाती उसे तोड़-मरोड़कर चकनाचूर कर डालती थी।

जिस धुन में आती, उसीमें तूफ़ान उठा देती—यही उसकी प्रकृति थी। और, कब वह किस धुन में आ जायगी, इसका अन्दाज़ आज तक किसी को न चला।

जब वह सयानी हो चली और यौवन ने उसके बचपन की चपलता पर वसन्त-चाञ्चल्य की सजीवता—उसके शैशव के सहज सलोने रूप पर एक नये सौरभ, एक नये रंग—का सञ्चार शुरू कर डाला; तब उसके प्राणों में एक विचित्र अज्ञात मधुर वेदना की अनुभूति, एक नवीन सिहरन का हिल्लोल धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा। उसने ज़माने के हाव-भाव में एक नये रस का स्वाद पाया, एक अपरूप छटा का प्रकाश देखा। उसकी दृष्टि में अब सौन्दर्य और शृंगार की क़ीमत दूनी हो गई। विलासप्रियता के सुषुप्त अङ्कुर इस मलयस्पर्श से पल्लवित हो उठे।

अब स्कूल की सहेलियों की परिचित ख़ुशामदी बातों से उसके जी का अरमान नहीं मिटता; उनकी विनीत वन्दना में वह एक व्यंग्य की रचना देखती। वह बे-वजह चिढ़ जाती और सरककर दूर चली जाती। अब वह घण्टों सँवरती, बदन तोड़ती, अलसाती, सहज-सुन्दर रंग पर पाउडर और क्रीम की पालिश देती, चिकने काले बालों में नई-नई पत्तियाँ काटती, दिन में तीन बार साड़ी और ब्लाउज़ बदलती, फिर छत पर खड़ी होकर जन-प्रवाह को एकटक देखने लगती। गालों पर सुर्ख़ी दौड़ गई; आँखों के कटाक्ष में बिजली कौंध उठी।

साल-दो-साल में बिजली ने अँगरेजी में कटर-मटर करना सीख लिया। स्कूल की किरिस्तान छोकरियों के साथ खेलते-खुनते, पढ़ते-लिखते, उसने और क्या-क्या सीखा या समझा—तथा आज़ादी की आबोहवा में स्वच्छन्द विचरते उसके विचार में, उसकी चाल-चलन और रहन-सहन में, कौन-सा अन्तर पड़ा, इसे जानने की रायसाहब को न तो फ़ुर्सत थी, न प्रवृत्ति।

जब बिजली किरण डूबते-डूबते चाय पीकर कपड़े बदलती और मोटर पर सवार क्लब जाते हुए पिता से— "Daddy dear, won't you take me to the Cinema?" कहकर सामने खड़ी हो जाती, तब रायसाहब अपनी बारह बरस की किशोर कन्या के मुख से अँगरेज़ी के ये अलफ़ाज़ सुनकर पुलकित हो उठते; उनकी मानस-दृष्टि के सामने एक उज्ज्वल भविष्य का मनोहर दृश्य फूट उठता।

विमला ने अपनी युवती कन्या के मस्त चाञ्चल्य को देखा। उसके उच्छृङ्खल हाव-भाव को, उसके स्वाधीन रंग-ढंग को, देखकर सहम गई। अब, इस सिन में, बिना किसी संरक्षण के, बाहर विचरना उसकी आँखों में काँटों की तरह चुभता था। लेकिन कहे तो किससे कहे? राय-साहब किसीकी सुननेवाले कब थे? और, किसके जान के लाले पड़े थे जो उनके सामने किसी अप्रिय आशंका को ज़बान पर ला सके?

हाँ-में-हाँ मिलानेवाले सरकार के रुख़ के अनुकूल नुमाइशी बातें करते हैं—यही उनकी रोटी है। उन्हें क्या कुत्ते ने काट खाया था जो वे बाल-बच्चों की रोटी-दाल को जवाल में डालते?

जूतियाँ सीधी करनेवालों की कभी छाती सीधी नहीं होती--न चितवन ही बराबर होती है।

आख़िर विमला ने हिम्मत बाँधी, और एक दिन बड़ी चालाकी से इस बात को छेड़ा।

"देखो, अब मुझे ज़्यादा दिन जीना नहीं है। सूखकर काँटा हो गई हूँ। बिजली के सर पर सिन्दूर देख लेती, इसी पर जान अटकी हुई है। अब देर मत करो, उसकी शादी कर डालो!"

"क्या पागल की तरह बकती हो?—जान अटकी हुई है! अगर सचमुच उसी पर अटकी है, फिर तो बिजली की शादी में जितनी ही देर हो, ख़ैरियत है! तुम्हारी ही ज़िन्दगी से तो सबका कल्याण है!"

पति के इस 'कल्याण'-वाले कलाम को सुनकर विमला के ओष्ठ-प्रान्त पर एक हल्की-सी हास्य-रेखा खिंच गई। वह फिर जी बटोरकर बोली—"बिजली सोलह साल की हो चली। बेटी की बाढ़ बरसाती बाढ़ से कम नहीं। अबतक तो गोद में बच्चा होता!....."

"बच्चा होता! अभी तो बिचारी ख़ुद ही बच्ची है; छुटपन की नादानियाँ तक छुटीं नहीं। तुम्हारा बस चलता, तो तुम बचपन ही में इसे सूली पर चढ़ा देती और यह बारहवें में बच्चे की माँ बनकर जान से हाथ धो बैठती। और, अगर किसी तरह बच भी जाती, तो बीस तक आते-आते आधे दर्ज़न बच्चों की देख-रेख में बताशे-सी घुल जाती। अपनी ही हालत क्यों नहीं देखतीं?"

"तो क्या उम्र-भर पढ़ाते ही रहोगे ? कुछ उसे मास्टरी करके पेट पालना है ?"

"तुम क्या समझोगी ? यह कुछ कनकौए उड़ाना नहीं है ! उसकी तालीम तो देर से शुरू ही हुई। अभी तो इस साल वह मैट्रिकुलेशन में आयेगी। मेरा इरादा उसे बी० ए० तक पढ़ाने का है। और, फिर किसी सिविलियन से शादी·····"

"जो जी चाहे, करो। मुझे इतनी पढ़ाई-लिखाई—ऐसी बेह-याई—नहीं सुहाती। बिरादरी में जो हँसी होती है, उसकी ख़बर तुमको·····"

"बिरादरी !"—रायसाहब तमतमा उठे—"किसी बेहूदे के हँसने के डर से मैं अपनी लड़की की क़ुर्बानी में शरीक होऊँ ? और बिरादरी ! जबतक हमारी मुट्ठी में मुहरों की झनकार है, तबतक यह निगोड़ी सर के बल नाचती रहेगी।"

"तुम्हें बिरादरी की परवा न हो, न सही; पर बेटी से तो बेपरवाह नहीं हो सकते।"—विमला ने बात का पहलू बदलकर कहा—"और नहीं तो, मुझे भी बाहर ही साथ रहने दो। कम-से-कम उसपर एक आँख तो रखूँगी।"

"आँख रखने के लिए आँख चाहिये, विमला ! तुम्हें क्या तमीज़ है ? मैंने चुनकर एक लाजवाब गार्जियन रख दिया है। तुम्हें झाँखने की ज़रूरत नहीं !"

"कौन ? वही हिन्दुस्तानी मेम ?"

"और क्या, मिस नैन्सी ! तुम उन्हें ख़ाक समझोगी ?"

"वही बिजली को तुम्हारे घर के क़ायदे बता सकेगी ?"

"जिस घर में उसे जाना है, उस घर के क़ायदे वे ही बता सकेंगी, तुम नहीं। और भला तुम बाहर कैसे निकलोगी ?"

"वाह ! सयानी बेटी के लिए तो परदा नहीं है, मेरे लिए है !"

"वह बेटी है, तुम बहू हो। तुम्हें इस बड़े घर के क़ायदे पर चलना होगा। तुम्हारे बाप ने तुम्हें रोटियाँ सेंकने की तालीम दी, उसका बाप उसे ज़माने की तालीम दे रहा है। तुम्हारी तरह उसे अंडा तो सेना नहीं है !"

"बाप ने न दी, तो तुम क्यों नहीं देते ?"—विमला ने आँसू रोककर कहा।

"अब देकर क्या होगा ? आजकल बग़ैर अँगरेज़ियत की बुकनी के रंग नहीं जमता। अब तुम पर क्या ख़ाक रंग चढ़ेगा ? हिन्दी भी तो नहीं जानती। बुढ़िया सुग्गी भी कहीं पोस मानती है ? तुम्हें सोसाइटी के सलीक़े समझाना दिमाग़ ख़ाली करना है। तुम्हें न चाय पीना आता है, न ब्रिज खेलना। तुम किसीसे न आँख मिला सकती हो, न हाथ। तुम्हें न ताज़ीम की तालीम है, न अँगरेज़ी बोलचाल की तमीज़। आदमी की शक्ल होने ही से किसी को आदमी की अक़्ल नहीं होती। तुम्हें परदे से बाहर करना तुम्हारी सज़ा होगी, मेरा भद्द होगा।"

"बच्चों को भी तो तुमने अलग ही कर दिया !"—विमला एक क्षण चुप रहकर बिलबिलाती हुई बोली।

"अलग करना ज़रूरी जान पड़ा। तुमसे उनकी देख-रेख नहीं हो सकती।"

"एक-आध घड़ी भी तो आने नहीं पाते!"

"यहाँ आने से फ़ायदा? उन्हें अभी से अँगरेज़ी बोलचाल की लत देनी है। मेम-नर्स की निगरानी में पल रहे हैं। उन्हें साल-दो-साल में इंगलैंड भेजकर 'हैरो' या 'इटन' में भरती कराना होगा।"

"जब मैं किसी लायक़ ही नहीं, तब मुझे बाप के घर भेज दो। यहाँ तो पड़े-पड़े कौए उड़ाना है।"

"बाप के घर जाकर तो जाने क्या कर लोगी? वहाँ कुछ सोने की फ़सल नहीं होती जो जाकर निहाल हो जाओगी। क्यों भूल रही हो विमला? तुम एक दिन क्या थी, और आज क्या हो? तुम्हारे बदन पर और नहीं तो दस हज़ार के ज़ेवर इस वक्त भी मौजूद हैं!"

"इन ज़ेवरों को उतरवा लो। हाय! मैं सोने की हाट में लुट गई!"—विमला का गला रुँध गया।

"ज़्यादा चीं-चपड़ करोगी, तो दाना-पानी भी बन्द करवा दूँगा!"—रायसाहब उबल पड़े। फिर हाथ की छड़ी घुमाते चल दिये।

सोने का पिंजड़ा भी पिंजड़ा ही है। हाथी-दाँत की तीलियाँ भी तीलियाँ ही हैं। सोने से अंग भरता है, मन नहीं भरता— रंग खुलता है, दिल नहीं खुलता।

वह बिचारी सीकचों पर पंख पीटकर थक चली थी। अब उन सीकचों की मीनाकारी में कोई कशिश बाक़ी न थी।

रायसाहब ख़ुद आबनूस का कुन्दा थे; इसलिए वे देख-भाल कर बिरादरी की एक विलायती रंगवाली लड़की मोल ले आये थे, ताकि ख़ानदान का रंग तबदील हो, उनके बच्चे नर्सों की गोद में अँगरेज़ों के बच्चे नज़र आयें और सयाने होकर कोट-बूट में लैस अँगरेज़ों के रंग में रंग मिला सकें।

विमला ख़ानदान में रंग भरने आई थी; रंग भर चुकी। उस कुल-कालिन्दी के कालापन को गोरी गंगा की लहर बहा ले गई। जब तक उसमें गुलाब का रंग था, तबतक उस घर में उसका रंग जमा रहा। अब तो उसमें न रंग ही रहा, न रंग भरने की ज़रूरत ही रही। आख़िर रायसाहब ने रंग बदला, तो उसने बड़े घर में आने का—ज़माने का—रंग समझा।

जब पति ईद का चाँद हो गये और उसके बच्चे बाहर मेम के सुपुर्द हो गये, तब वह बूढ़ी गाय की तरह घर में निकम्मी हो गई। अब तो न पति का प्यार रहा, न बच्चों पर अख़्तियार और न दुनिया से सरोकार। बस, रह गई ज़ेवरों की झनकार, और आँगन की तुलसी के गाछ के आगे फूल-चन्दन के उपचार।

वह कहलाती तो थी घर की मालकिन, मगर बन गई पिंजड़े की बन्दिनी! उस आँगन की चहार-दीवारी के बाहर जो विराट् विचित्र विश्व था, उसकी उसे ख़बर तक न रही। उसकी मुसकान की दुनिया मर्यादा की मौज में डूब गई। एक तो रायसाहब का बँगला अलग शहर के दामन पर था, दूसरे कभी बिरादरी से कोई आमद-रफ़्त तक न थी।

क़ौम में बड़ा होना भी मामूली बखेड़ा नहीं होता। हम सबके बड़े होकर सबकी आँखों पर चढ़े रहते हैं। हम सबसे अलग रह कर सबके दिल से अलग हो जाते हैं।

रायसाहब को तो क्लबबाज़ी थी और दोस्त-दरबारियों की चापलूसी। विमला को सुबह की शाम करना एक आफ़त का सामना करना था। वह भरी माँग और भरी गोद लिये बड़े घर के बड़प्पन के निदारुण वायुमंडल में सूख चली। उस शीश-महल की आसाइशों की तपिश में पल-पल घुलने लगी।

सूखे होठों में रस-भरी जलेबियाँ भी फीकी लगती हैं। सूनी सेज पर मख़मली चादर काँटों की तरह चुभती है।

छोटी बहन ग़रीब के घर पड़ी थी, पर सुख-स्वाच्छन्द्य के राज्य की रानी थी; और यह जो राजा की रानी बनने आई थी, आख़िर होकर रही क़ैद की दीवानी! वे ज़री-इन्दौर-बार्डर-चढ़ी क्रीप-डी-शीन की साड़ियाँ अंगों पर अट्टहास भर रही थीं। वे हैमिल्टन की दूकान की बनी हीरे-पन्नों में पगी सतलरी और चूड़ियाँ गर्दन और हाथ की बेड़ियाँ बन गईं।

वह ज़ेवरों की ज़ंजीरों की झङ्कार सुनती, किवाड़ पर कान देकर बाहर मचलते हुए बच्चों पर मेम-नर्स की फिटकार सुनती और वहीं कलेजा थामकर आँगन में बैठ जाती। उसकी बाँदी आकर नौकरों से बाहर सुनी हुई रायसाहब की शानोशौक़त की—उनकी महफ़िल-मजलिसों की—दिलफ़रेब कहानियाँ नाक-भौं मटका-मटकाकर उसको सुनाती रहती और

वह रेशमी साड़ी के आँचल को ऊँगलियों में लपेटती हुई सोचती जाती कि शायद भगवान् जहाँ धन देता है, वहाँ मन नहीं देता—जहाँ मोती की खेती होती है, वहाँ नेह की हरियाली नहीं रहती। क्या संगमरमर की पटियों के साये में संगदिली ही घर बनाती है? सुहाग से भरे घर में दिल की कसक पर सिसकना भी उसके लिए गुनाह में दाख़िल था!

जब फूस की झोपड़ी की दुखिया रोती है, तब उसकी कराहों की चीख़ मुहल्ले-टोलेवालों के कानों पर टकराती है—शायद कलेजे तक भी काँपा जाती है। मगर जब महल की रानी रोती है, तब जान अन्दर-ही-अन्दर घुलती रहती है, उस छिदी हुई छाती के चीत्कार को फ़िरिश्ते भी नहीं सुन पाते। तिनकों के फाँक से कुटिया के कोने के कङ्काल पर किसीकी आँख पड़ जाना कोई कमाल नहीं; मगर अट्टालिका के कंगूरे देखनेवाले—इठलाते संगमरमर के अट्टहास के अन्तराल में संचित—उसाँसों की अट्टालिका नहीं देख पाते।

भला दुनिया को क्या पड़ी है जो दौलत के दिल के दर्द को टटोले! उसकी दलील साफ़ है। जब ज़माने की हँसी छीनकर महल की माया हँसती है, तब फिर उसकी आँख के आँसू कौन पोंछे! जिस सुनहली दीवार की गँथनी में हजारों का लहू-पानी एक होकर लगा है, उसकी फटती दरार को कौन भरे! जिस दर पर नौबत के दमामे का रोल कितनी सिसक—कितनी फ़रियाद—की आवाज़ को आठों पहर पचा डालता है, भला उस घर की छाती की चीख़ कौन सुने—उस बेदर्द के

कलेजे की पीर को कौन समझे! शायद जिसकी हँसी आकाश चूमती है, उसके आँसू पाताल में ही पनाह पाते हैं!

हमारे होठों पर घी की चिकनाहट से कहीं ज्यादा ज़रूरी जी की चिकनाहट है। हमारे चेहरे पर अगर आत्मा की प्रसन्नता न रही, तो फिर हीरे-मोती की चन्द्रिका रही या न रही, दोनों बराबर हैं। सुहाग के फूल में अगर प्रेम का पराग न रहा, तो वह खिला या कुम्हलाया, दोनों एक-सा है।

बड़ा घर कोई ज़रूरी नहीं कि सुख का घर भी हो; बड़ा आदमी कोई ज़रूरी नहीं कि दिल का भी बड़ा हो। अक्सर बड़े घरों के भीतर क्षुद्रता बढ़ी रहती है; अक्सर भरे घरों के भीतर शून्यता भरी रहती है। राजा होने से कहीं ज़्यादा ज़रूरी बन्दा होना है। सर पर ताज की तलाश से कहीं ज़्यादा ज़रूरी आदमी के लिबास की तलाश है।

मानचन्द्र के सर पर रायसाहबी की कलँगी उनकी शान के लिए ज़रूरी थी। पर, अगर सर पर आदमीयत की पगड़ी भी रहती, तो उस तुर्रे का तुर्रा होता।

आदमी की शक्ल किंवा आदमी की अक्ल होने ही से किसी की आदमी में गिनती नहीं होती। आदमी की पहचान आदमीयत है, दूसरी नहीं। सर पर सुरख़ाब का पर बाँधने से कोई ग़रीब-परवर का नाम नहीं पाता। ऊँची टोपी से हमारी नाक ऊँची जो हो, उससे हाथ और दिल ऊँचे नहीं होते; और न गांधी-टोपी की सादगी से किसी में गांधी की ख़ाकसारी आती है, न गांधी की बुलन्दी। गांधी-टोपी की उमंग और है, गांधीत्व की गंध और।

तृतीय परिच्छेद

उसी मुहल्ले में रायसाहब के मकान के आस-पास पेंशनयाफ़्ता डिप्टी-कलक्टर मुन्शी माजिद अली की कोठी थी। मुन्शीजी ने बड़ी रंगीन तबीयत पाई थी। मिज़ाज में नरमी थी, ज़बान में मिसरी। वे लोकप्रिय भी थे और व्यवहार-चतुर भी। साहेबों को हाथ में रखना कोई उनसे सीखता। ख़ुशामद का उन्हें ख़ास माद्दा था।

रायसाहब तो उनके हाथ में बिलकुल मोम थे। मगर मुन्शीजी इस हाथ की कठपुतली के आगे हाथ बाँधे खड़े रहते थे, ताकि मानचन्द्र की शान का पारा सातवें तबक़ पर बराबर ठहरा रहे। वे बात-की-बात में

रायसाहब को चंग पर चढ़ा देते और फिर चंगुल में खींचकर चुटकियों पर नचाते रहते !

रायसाहब की मोटर शाम के पाँच बजते-बजते मुन्शीजी के बँगले की बरसाती में आकर खड़ी हो जाती; फिर दोनों दोस्त साथ-साथ क्लब जाते और साथ-साथ घर लौटते थे।

उन्हीं की सलाह से रायसाहब ने बिजली को मिशन-स्कूल में भरती कराया था। उन्हीं की राय से, उस स्कूल की हेडमिस्ट्रेस मिस नैन्सी अहमद, बिजली की देख-रेख के लिए, नियुक्त हुई थीं।

मिस साहबा की उम्र लगभग चालीस की होगी। पारसी वज़ा में रहती थीं। आपके पिता मिस्टर अहमद ने चमड़े के कारबार में एक ख़ासी रक़म पैदा की थी और विलायत की सैर में जाकर अपनी लैंड-लेडी की भतीजी के साथ, बेगमों के सौभाग्य का चकमा देकर, शादी कर ली थी। उनकी ही एक सन्तान हमारी मिस नैन्सी अहमद हैं।

विलायत की कर्म-कुशलता, भारत की भाव-प्रवणता—उस पार की विलास-प्रियता, इस पार की लज्जा-शीलता—वहाँ की निर्भीकता, यहाँ की कोमलता—इन दो विरोधी भावों के संघर्षण से मिस अहमद की धमनी का रक्त निरन्तर चंचल रहता था। और, इस भीतरी घात-प्रतिघात का असर आपकी प्रकृति पर भी पड़ा था। आपमें शोख़ी थी, तो लज्जा भी थी। काम करने का अदम्य उत्साह भी था और कभी घंटों किसी मधुर आवेश में विभोर रहकर सुख-स्वप्न जोहने का अवकाश भी था।

आपकी मिठास तो पैवन्दी की लज़्ज़त-भरी मिठास थी; भला देशी बीज में यह लुत्फ़ कहाँ तक मुमकिन था !

आपने कभी शादी की या नहीं—इसकी तहक़ीक़ ख़बर किसी को न थी। बेशर्म पब्लिक की कुतूहली प्रवृत्ति ने आपके अतीत को कुरेद-कुरेदकर कितने ही गड़े मुर्दों को उखाड़ डाला था; और यही वजह थी कि समाज की नाक में आज भी उनकी दुर्गन्ध मौजूद थी।

लेकिन आपकी ज़बान में, मुस्कान में, अंगों के मरोड़ में तथा चितवन की कोर में कुछ ऐसा जादू था कि सामने सर उठानेवालों के सर चढ़कर बोलता था। शरीफ़ों के महलों के भीतर भी बेखटके आपका गुज़र हो जाता था। एक बार अवरोध के प्राचीर को तोड़कर आप अन्तःपुर में जा पहुँचतीं, फिर तो अपनी ख़ुश-मिज़ाज़ी से—अपनी आज़िज़ी से—बच्ची, युवती, बूढ़ी, सभी के दिल पर क़ब्ज़ा कर लेतीं; मख़मली शिकंजों में बाँधकर उँगलियों पर नचाती रहतीं।

छोटी-छोटी लड़कियों के बाल बढ़ाने का मसाला बराबर आपके पास था; विवाह-योग्य तरुणी के चेहरे से मुहाँसे दूर करने का मरहम आपके हैंड-बेग में मौजूद था; प्रेम-पीड़िता नववधू के कान में झुककर दर्दे-दिल की दवा बता देना आपकी कुशलता का द्योतक था; ख़ुशरंग साड़ी से मैच करता हुआ सस्ते बॉर्डर का पता आपकी ज़बान पर था; नये फ़ैशन की खुली गर्दन का ज़म्पर 'फिदा दर्ज़ी' की दूकान से दो घंटे में सिला देना आप ही का काम था; और बूढ़ी मालकिन की रीढ़ से दर्द को मुलायम उँगलियों की मालिश से काफ़ूर कर देना आपके बाएँ हाथ का खेल था।

मुन्शी माजिद अली से मिस साहबा की बरसों की मुलाक़ात थी। मुन्शीजी की सिफ़ारिश से रायसाहब के घर उनकी रसाई हुई और दो ही दिनों में मानचन्द्र पर सिक्का जम गया। बिजली उनको सौंप दी गई। फिर क्या था? सोने में सुगन्ध का मेल हुआ! नई रोशनी की तालीम का सिलसिला जारी हुआ।

पहला सबक़ बिजली ने फ़ैशन में लिया। कानों में नई काट के मोतियों के झुमके लटके; गर्दन में एक पतली सोने की चेन पड़ी, रेशमी पेटी-कोट के ऊपर उसने नये ढंग के साड़ी पहनी; बॉडिस के ऊपर खुश-रंग वॉयल के नये डिज़ाइन का ज़म्पर खिल उठा।

अब वह सामने की माँग को किनारे पर सरका ले गई। कलाई पर फ़ैंसी सोने की घड़ी जा पड़ी। हाथों में कभी-कभी रेशमी चूड़ियाँ चमकतीं; गले में स्वस्तिका-लॉकेट लटकती। छाती पर एक-से-एक इनैमिल-ब्रूच आये।

दूसरा सबक़ उसने दुनिया की अभिज्ञता का लिया। आँखें उठाकर उसने जगत् की विचित्रता देखी; उसकी समग्र चेतना चंचल हो उठी। उत्तेजित कल्पना ने संसार के रंग-रूप में एक नई लज़्ज़त, एक नई चाहत, एक नवीन नन्दन, एक अनजान स्पन्दन का पता बताया। विश्व ने उसकी आँखों के सामने लावण्य और लीला की डाली ला रखी।

अब वह बेरोक-टोक स्कूल जाती, लॉन के सब्ज़ फ़रश पर बैठकर बोर्डिङ्ग-हाउस की मिसों के साथ 'सेक्स' के सरस प्रश्नों पर घंटों आलो-

चना करती; हिन्दी और उर्दू के रस-भरे नाविलों का अर्क़ निचोड़कर मन-ही-मन पीती रहती; दूकानों में जाकर नये-नये पैटर्न की साड़ियाँ देखती—क्रीम और सेंट की शीशियाँ ख़रीदती। कभी मिस अहमद के साथ म्युनिसिपल पार्क में जा टेनिस और हॉकी खेलकर लौटते हुए, कालिजों के लड़कों की अठखेलियाँ देखती; फिर सिनेमा के परदे पर नई रोशनी के, नायाब तरीक़े के साथ नाचती-गाती तस्वीरों के, प्रेमालिंगन और मस्त चुम्बन की स्पष्ट जोशीली सीनों को, आँखों में प्राण भरकर, एक टक हेरती।

कमसिनी को तबाह करनेवाले इन नज़ारों को देख-देखकर उसकी धमनी का रक्त-प्रवाह न जाने किस आवेग से चंचल हो चला और साथ-साथ एक नई आकांक्षा—एक तीव्र बुभुक्षा—जग उठी।

रायसाहब ने बिजली की नई साज-सजा को देखकर उसकी रुचि की प्रगति समझी; उसके अँगरेज़ी बोलचाल के दो-चार सलीक़ों को देखकर उसमें प्रतिभा का प्रकाश पाया।

मिस साहबा ने रायसाहब की नब्ज़ काफ़ी पहचान ली थी। दो दिन में उनका जी भर दिया। आतिशबाज़ी की फुलझरियाँ बेकार न गईं। रायसाहब उस चमक के चकमे में आ गये।

अब वे बिजली को कभी-कभी पार्टियों में ले जाकर अपनी नुमायशी प्रगति-शीलता का इज़हार करते और ज़िलाधीश की बीबी के मुंह से बिजली की निस्बत भद्रता-सूचक प्रशंसा सुनकर आत्म-गरिमा से फूल उठते थे। अब बिजली के ज़रिये उनकी बड़े-बड़े अफसरों के घर लंच

और डिनर पर रसाई हो गई। जहाँ-जहाँ वे अकेला मैदान लेने में हिचक रहे थे, वहाँ-वहाँ बिजली की मदद से उन्हें काफ़ी सुगमता मिल गई। फिर क्या था, रायसाहब ने बिजली को सर पर रखा, और उड़ चले!

रायसाहब आँख रखते हुए भी अपनी आँख की पुतली को नहीं देख पाते। उनकी आँखों में स्नेह की चर्बी तो थी ही—शान की गर्मी भी थी। उनकी आँखों का तारा उनकी आँखों पर छा गया। वे न आठों पहर उसे आँखों पर बिठाते न यों आँखें बैठतीं।

शिक्षा का अर्थ चरित्र का गठन है, किसी भाषा का मनन नहीं। सच्ची तालीम से स्वच्छन्दता नहीं आती, आत्म-निर्भरता आती है। फिर, आत्म-निर्भरता और स्वच्छन्दता में आकाश-पाताल का अन्तर है। शिक्षा नारी-सुलभ लज्जा को नहीं तोड़ती, वरञ्च लज्जा की लज्जा को तोड़ती है। युनिवर्सिटी की डिग्रियाँ किसी की शिक्षा की सूचना नहीं देतीं, महज़ उसके मस्तिष्क की क्षमता—उसकी प्रतिभा की सूचना है।

ज्ञान और अर्थ का सञ्चय शिक्षा का विकास नहीं है। संयम और त्याग का सञ्चय सच्चा आदर्श है।

विदुषी होने ही से कोई शिक्षिता नहीं होती। बाहर की साज-सजा—बाहर की सफ़ाई-चिकनाई—से किसी के अन्तर की कलुषता नहीं जाती। स्त्रियों की शिक्षा उनके अन्तर की महत्ता है; सेवा और संयम की क्षमता।

रायसाहब ने मुलम्मे को असली रंग समझ लिया, और इसी मुग़ालते

को दिखाकर मिस साहबा ने अपना उल्लू सीधा कर लिया।

लगाम कड़ी कर खींचने से घोड़ों के पैर उखड़ जाते हैं; लेकिन रास बिलकुल ढीली कर देने से ठोकरें खाकर गिरने का डर कुछ कम संकट-प्रद नहीं है। परदा तोड़ना कुछ बुरा नहीं। परदे के भीतर, महलों और अटारियों के अन्दर, अत्याचार और फिटकार बेशुमार हैं; लेकिन परदे से बाहर जाने का अंजाम बेपर्दगी नहीं है। घूँघट को सर पर सरका लेने का मतलब बेहयाई नहीं है। स्वाधीनता का विकास स्वेच्छाचारिता नहीं है। स्वराज्य का मतलब अराजकता नहीं होता।

बिजली संकीर्णता के पञ्जे से छूटकर उलङ्ग विलासिता के पाले जा पड़ी। एक तो स्वभाव से ही उसे आन-बान पसन्द था; जन्म से ही उसने रंगीन तबीयत पाई थी। अब सोहबत और तालीम भी मिज़ाज के अनुकूल ही मिली। वह परदे की गंडी से तो बाहर आ गई, लेकिन उसकी समझ पर परदा पड़ा ही रह गया। परदे के बाहर ही परदे की निरन्तर ज़रूरत है, इस सत्य को वह नहीं समझ सकी।

स्त्रियों का परदा उनका स्वभाव है। उनकी चेष्टा है—कुछ घूँघट नहीं, किवाड़ का पट नहीं। और, यह सहज परदा तो बराबर रहना है, परदे के बाहर हो या परदे के भीतर।

बिजली कुएँ से निकलकर एकबारगी समुन्दर में जा पड़ी!

चतुर्थ परिच्छेद

शाम का वक़्त है। आसमानी क़िले पर बादलों ने धावा बोल दिया है। बूँदें टपाटप पड़ रही हैं। सर्द हवा के झोंके किवाड़ से टकराते हैं। रह-रहकर बिजलियाँ कड़क उठती हैं। कलेजा काँप उठता है। आँखें चौंधिया जाती हैं।

रायसाहब की मोटर मुन्शी माजिद अली की कोठी में दाख़िल हुई। बिजली, ड्राइवर की सीट पर, फ़र-कोट में सिमटी बैठी थी। दोनों हाथ 'व्हील' पर थे।

मोटर की 'हॉर्न' की आवाज़ पाकर मिस नैन्सी अहमद बाहर निकल आईं। बिजली मोटर पर बैठी हुई बोली—"मैं आपको तलाशती हुई यहाँ आई। चलिये, वक़्त हो गया है। ठीक छः बजे तमाशा शुरू हो

जाता है। ड्राइवर आना ही चाहता है। मैं चुपके-से मोटर लेकर चम्पत हो गई।"

"क्या ग़ज़ब करती हो! आज कहीं बाहर जाने का दिन है? मैं तो घंटों से यहाँ रुकी पड़ी हूँ। कमरे में अँगीठी जल रही है। भीतर आकर हाथों को सेंकती जाओ।"

"पानी रुकने में देर नहीं। मैंने लाला से-डैडी से, इजाज़त ले ली है। सिनेमा-हॉल में तो सर्दी का गुज़र नहीं।"

बिजली अपने पिता को बचपन से 'लाला' कहकर पुकारती चली आई; 'डैडी' और 'पापा' नवीन संस्करण हैं!!

"तुम्हारे ख़ून में नई गर्मी है, नई तमन्ना है। मैं अब बूढ़ी हो चली। मुझे क्यों घसीटती हो? फिर किसी दिन चलूँगी। मैं तो यहाँ मुन्शीजी की छोटी बच्ची रज़िया को देखने आई थी। कल उसे स्कूल में दाख़िल करूँगी।"

मुन्शी माजिद अली की ग्यारह साल की रज़िया, नाम सुनते ही, बाहर चली आई। वह बिजली को दीदी कहती थी। एक बार आँखें नचाकर 'कार' को देखा, फिर बिजली से पूछ बैठी—"कौन 'कार' है दीदी? नये मॉडल का फ़ोर्ड है न?"

"नहीं, "विलीज़ नाइट' है। चलो, मैदान में तुम्हें एक चक्कर दिला दूँ।"

"आज नहीं, कल चलूँगी। इतनी सख़्त सर्दी है; ऐसी हवा में हवाख़ोरी करना न्यूमोनिया को न्योता देना है।"

"क्यों बिजली! तुमने सुना है? मुन्शीजी का भांजा सलीम भी यहीं आ गया! अब यहीं कॉलिज में भरती होगा। क्रिकेट और टेनिस का शैम्पियन है!"—मिस साहबा ने आँखें मटका कर कहा, और ज़ोर से आवाज़ दी—"सलीम! सलीम!"

सलीम बाहर आया। लम्बा क़द, कसरती गठन, चौड़ी छाती, गुलाब-सा रंग, बड़ी-बड़ी भाव-विह्वल आँखें, ऊँची नाक, प्रशस्त ललाट; वह जवानों में भी जवान है। गर्दन में सफ़ेद पशमीने का मफ़लर, स्कौच ट्वीड का भूरा कोट, कमर में बेल्ट, घुटने तक ख़ाकी शर्ट, कोट से मैच करता हुआ होज़, कानवस का जूता और हाथ में चमड़े का स्ट्रैप दिया हुआ पतला बेंत—सब उसके फ़ैशन और रुचि का इज़हार कर रहे थे। उसके स्वस्थ सुन्दर सुडौल शरीर पर ख़ूबसूरत सिले हुए कपड़े फूल की तरह खिलते थे।

बिजली ने मुड़कर देखा; आँखें चार हुईं।

ठीक उसी पल सर के ऊपर कड़ाके की बिजली चमकी और एक प्रलयी प्रचंड हुङ्कार के साथ आसमान को चीरती हुई न जाने कहाँ विलीन हो गई। कौन कहे, किसके सर पर गिरी?

बिजली सीट के एक कोने में सहमी हुई दबक गई। मिस साहबा तो 'Oh! Heaven' चिल्लाकर ज़मीन पर जा पड़ीं। रज़िया बिचारी बरसाती का खम्भा थामकर थर-थर काँपने लगी। सलीम हाथ का बेंत हिलाता हुआ निःशङ्क खड़ा रह गया। बिजली इस कमाल की निर्भीकता पर लुट गई!

मिस साहबा दामन झाड़कर खड़ी हुईं। अभी उनके चेहरे पर त्रास के चिह्न मौजूद थे। उनके हाथ का मख़मली हैंडबैग बरामदे के नीचे जा पड़ा था। रज़िया ने उसे उठाकर जब उनके हाथ में रखा, तब उनको होश हुआ। जान में जान पड़ी; ज़बान में जान पड़ी।

"शुक्र है, जान बच गई; बाल-बाल बच गई। ख़ुदा जाने कहाँ बिजली गिरी है।"

जहाँ गिरने को थी वहाँ गिर चुकी होगी; मिस साहबा को भले ही पता न हो!

आसमान जब फटता है, कहीं नोटिस देकर नहीं फटता।

"वाह, तुम यहीं खड़े हो? आओ, तुम्हें बिजली से मिला दूँ!"—मिस साहबा ने सलीम की ओर झुककर कहा।

सलीम मोटर के समीप आ गया और 'How do you do?' कहकर हाथ बढ़ा दिया।

बिजली एकबारगी लजा गई। आँखें शर्म से झिप गईं; दोनों गाल गुलेनार हो गये।

क्या ख़ूब! हज़ारों में जिसकी आँखें कभी झिपती न थीं, उसे आज यह झेंप कैसी? जिसे लजाना भूल-सा गया था, उसे आज यह लाज कैसी? आख़िर तो नारी! बाहर का लाख आचार क्यों न हो, अन्दर का संस्कार तो छूटता नहीं!

जो हो, शायद उसके जीवन में लजाने का यह पहला अनुभव था।

बिजली ने आँखें उठाकर सलीम को देखा।

नारी ने प्रथम-प्रथम पुरुष को देखा, पुरुष ने नारी को। आँखों ने आँखों में क्या देखा, आँखें जानें। आँखों ने आँखों से क्या कहा, आँखें समझें। इस देखादेखी के परदे में दिल की शिरकत कहाँ तक थी, इसका जवाब कौन दे? यह रहस्य तो जीवन का चरम रहस्य है।

शायद इन आँखों की भाषा से मिस साहबा परिचित थीं; नहीं तो उनकी भाव-प्रवण चितवन के कोने में बिजली की-सी एक झलक कहाँ से झाँक गई?

वह स्वप्न-तुषार कट गया। फ़ौरन ही बिजली संयत हो गई। उसने दाहिने हाथ को बढ़ा दिया। सलीम ने झुककर, बड़े अन्दाज़ से, हाथ मिलाया। एक क्षण के लिये उँगलियों में उँगलियाँ चिपक गईं!

सभ्य समाज के हैंड-शेक से बिजली परिचित थी। कभी पिता के साथ पार्टियों में जाकर वह कितने परिचित किंवा अपरिचित के साथ हाथ मिला चुकी थी; लेकिन आज का स्पर्श तो अतीत के चिर-परिचित कर-स्पर्श का सहोदर नहीं था! इस कर-स्पर्श में तो एक अज्ञात पुलक की नवीनता थी—शायद प्राण-स्पर्श की सूचना थी; नहीं तो अकस्मात् उसकी धमनी की रक्त-लहरी चञ्चल क्यों हो उठती? यह प्रथम स्पर्श—यह प्रथम सिहरन—तो जीवन का एक अनन्त मुहूर्त्त है।

'Good Heavens! your fingers are cold!"—सलीम ने आँखों से मुसकराकर कहा।

"Never mind, her heart is warm !"—कहकर मिस साहबा ने हँस दिया।

बिजली बिचारी कुछ जबाब न दे सकी। उसने उँगलियों को अपने गाल पर रखा, ललाट पर रखा। वहाँ भी शायद उसे काफ़ी गर्मी न मिली; तब झट कोट के भीतर घुसेड़ दिया। वह ज़रा परीशान-सी हो गई। मोटर से उतरने की कोशिश की। हैंडिल को घुमाने लगी, ज़ोर भी लगाया; मगर घुमा न सकी—दरवाज़ा खुला नहीं! वह फिर लजा गई। उसकी पेशानी पर पसीने के क़तरे निकल आये।

सलीम वहीं खड़ा था; एक झटके में दरवाज़ा खोल दिया। वह फिर उतरने को आगे झुकी। हवा के एक झोंके ने आकर उसके फ़र-कोट को सामने से उड़ा डाला। फ़िरोज़ी साड़ी की एक झलक नज़र आ गई। उसके चेहरे पर बाल बिखर पड़े—आँखों पर फरफरा उठे। वह घबरा-सी गई। एक हाथ से उन उद्दाम लटों को सँभालती, दूसरे से कोट के बटन लगाती—लगा न सकी।

मिस साहबा ने शायद उसके चाञ्चल्य को देखा, और मोटर पर सवार होती हुई बोलीं—"नहीं-नहीं, उतरो नहीं। चलो, मुझे घर पहुँचा दो। पानी तो रुकनेवाला नज़र नहीं आता; मैं कब तक यहाँ पड़ी रहूँगी!"

मिस साहबा बग़ल में जाकर बैठ गईं। बिजली ने सेल्फ़स्टार्टर पर हाथ रखा। मोटर सन्-से चल पड़ी—तीर की तरह निकली। बिजली को अचानक ख़याल हो आया, वह सँभाल न सकेगी। उसने

ब्रेक को ज़ोर से दबा दिया। बाहर के फाटक से टकराते-टकराते मोटर रुक गई। उसका कलेजा धक्-कर गया।

आख़िर बात क्या है? बिजली और ऐसी 'नर्वस'? वह तो ढीठ थी, दिलेर थी। उसके दोनों हाथ व्हील पर विवश हो गये, आँखें झिप पड़ीं। उसके अंगों की वह सहज सजीवता कहाँ गई? उसकी दृष्टि की चपल तेजस्विता कहाँ रही? अभी तो उसी दिन, जब वह अपने पिता के साथ मिस्टर बोस की पार्टी से लौट रही थी, और ड्राइवर की भूल से उसकी मोटर सड़क की पटरी से लुढ़ककर दलदल में जा पड़ी, उसने अपने भीत पिता को तसल्ली देकर 'स्टीयरिंग व्हील' को अपने हाथों में थामा और हँसते-हँसते किस युक्ति से—किस ख़ूबी से—गाड़ी को सूखी ज़मीन पर ला रखा। अपनी कन्या की इस कुशलता को देखकर राय-साहब के कोट के बटन टूट पड़े थे! और, आज वही ख़ुद न समझ सकी, उसकी बेबसी क्यों है?

उसने अपने हृदय को सुलझाने की—समझाने की—लाख कोशिशें कीं; लेकिन हृदय के न जाने किस निगूढ़ अव्यक्त अन्तस्तल से एक मोहमयी लज्जा—एक अभावनीय आकुलता—खड़ी हो गई कि उसकी इतने दिनों की सञ्चित स्फूर्ति—उसकी चेष्टा की एक-एक सतेज दीप्ति—वर्षा के प्रचंड प्लावन के आगे बालू की भित्ति के समान एक-बारगी विलीन हो गई! वह मिट्टी की प्रतिमा बन गई। भगवन्! आज किस पौरुष के सामने वह अबला हो गई? ऐसी किरकिरी तो उसकी कभी न हुई थी!

सलीम पानी में भींगता हुआ दौड़कर आ गया और मोटर को खींचकर रास्ते पर लाया। बिजली ने उसकी मोटर खींचने की निपुणता देखी—उसकी भुजाओं का सतेज सञ्चालन देखा। उसके चेहरे पर, सर पर, बूँदें टपक रही थीं—उस सुन्दर बरसाती छटा को देखा। ज़ोर लगाने से उसके उज्ज्वल मुखमंडल पर जो सुर्ख़ी दौड़ आई थी, उस अनुपम प्रभा को देखा। हवा के झोंके से उसके मफ़लर का एक हिस्सा उसकी पीठ पर आकर थिरक रहा था—उस संक्रीडन को देखा। फिर, सलीम का इस तरह भींगना देखकर ख़ुद काँप उठी, और फ़र-कोट को चारों ओर से समेट लिया।

"वाह! तुमने मोटर रोक क्यों दी?"—मिस साहबा ने ज़रा तपाक से पूछा।

"मैं तो इसे शहर के भीतर ले नहीं जा सकती। लाइसेंस का सवाल है!"—बिजली बोली।

ख़ैरियत हुई, ड्राइवर आ धमका। बिजली ने हाथ बढ़ाकर उसका छाता ले लिया, ख़ुद मोटर से उतर गई, और हुक्म दिया—"शामसिंह! जाओ, मिस साहबा को पहुँचा आओ। मैं घर वापस जाती हूँ।"

आज की आकस्मिक विवशता उसे काँटे की तरह चुभ रही थी। उसे लगा कि वह पीठ दिखाकर भागी जा रही है। उसके चेहरे पर पराजय की छाया थी।

"आज पढ़ोगी नहीं? ख़ैर, रहने दो; आज पढ़ना भी नामुमकिन

है। अँगीठी जलाकर घर में बन्द रहने का दिन है। वक्त क्या होगा? पाँच बजते ही होंगे। हाँ, एक बात सुनती जाओ। तुम एक टेनिस-रैकेट ख़रीद लेना। कल शाम से टेनिस की कसरत रहेगी। सलीम भी साथ देगा।"

मिस साहबा चलने को हुईं।

मोटर चल दी; आँखों से ओझल हो गई।

बिजली अपने मकान की ओर लपकी। बरामदे के पास आकर, अचानक मुड़कर, पीछे फिरी। सलीम अपने मामू के ख़ानेबाग़ के फाटक के पास चुप खड़ा था और एक-टक उसी को देख रहा था।

सलीम के चेहरे की बुलबुली पर पानी की बूँदें मुसलसल टपक रही थीं। उसके कोट के कॉलर और कफ़ पानी से भींग कर सिकुड़े हुए दीख पड़ते थे। मफ़लर का एक छोर अभी तक हवा के इशारों पर नाच रहा था। तमतमाए चेहरे पर हसरत बरस रही थी।

प्रलयी तूफ़ान के सर्द झोंकों को अकातर सहते हुए सलीम की प्राणमयी चितवन बिजली के एक-एक पद-विक्षेप का अनुसरण कर रही थी। सलीम के इस मोहावेश को देखकर बिजली के हृदय में एक उच्छ्वास उमड़ आया।

पुरुष की आँखों की विनीत आरती उसके प्राणों को मकरध्वज की बटी थी। वह जो पहले विस्मय-विमूढ हो गई थी, अब बिलकुल स्वस्थ-संयत हो गई। फिर क्या था, उसने फ़ौरन् गांडीव सँभाला।

चौड़े बरामदे पर टहल-टहलकर, चिक़ों की ओट से, उसने तीव्र तीरन्दाज़ी शुरू की। मुसक्कान पर सान दे-देकर तिरछी नज़रों के चुटीले तीर निशाने पर निःशङ्क बरसते थे। प्रत्यञ्चा पर एक-एक शर को उसने मर्म-भेदी रखा; एक दिल के टुकड़े करता—दूसरा जिगर के पार होता था।

रणधीर सलीम भी मैदान में डटा रहा। उसके तरकस के तीर भी कुछ कम चोखे न थे। वह भी कमान चढ़ाकर सामने आ गया।

बारिश की बूँदें थम चलीं; तूफ़ान का ज़ोर पट पड़ चला। प्रकृति भी निस्तब्ध होकर इन रण-बाँकुरों का युद्ध-कौशल देखने लगी।

ख़ानेबाग़ की गुलाब की क्यारियों को एक छलाँग में उचक कर सलीम वहीं कचनार के पेड़ के साये में आ गया। उसने उँगलियों के झटके से जुल्फ़ों की फुनगियों से टपकती हुई बूँदों को झाड़ा, रूमाल से जलसिक्त चेहरे को पोंछ डाला, भींगे कोट को उतारकर मेहँदी की टट्टी पर रखा, कमीज़ की आस्तीन को मोड़कर ऊपर चढ़ा डाला, और विलायती लता-वितान के भीतर से, जवानी की तपिश में तपी हुई तीखी कनखियों की बौछार शुरू की।

सामने ही, सड़क के उस पार, बरामदे पर खड़ी-खड़ी वह चपल रणरंगिणी ग़ज़ब ढा रही थी। उसने किसी भी अस्त्र को उठा न रखा। वह सोलहों कला से लड़ी। अँगड़ाती-अलसाती, बलखाती-बदन तोड़ती, मुसकाती-लजाती, चंचल लटों को सुलझाती, सीने से आँचल सरकाती, टेबुल के तख़्ते पर जा बैठती, उचककर नीचे आती, ठुमककर चलती, चिक़ों की ओट से झमककर झाँकती, खिल-खिल

हँसती, आलमारी से छिप जाती, और कभी झम-से आकर आँखें मिला बिजली की तरह चमककर विलीन हो जाती !

दोनों ओर से इशारे के पैंतरे—निगाहों के दाव-पेंच—कटाक्षों के वार-काट लगातार चलते रहे।

जब धीरे-धीरे दिन की आभा म्लान हो गई और विश्व जगत् पर एक करुण श्यामल यवनिका सघन हो चली, तब दोनों धनुर्द्धरों को विवश होकर विराम लेना पड़ा; चूँकि अन्धकार ने आकर उनके बीच में एक विराट् व्यवधान खड़ा कर दिया। दोनों वीर घायल-बिस्मिल होकर कमरे के अन्दर चल दिये। इस युद्ध की स्मृति साथ गई और हृदय की पोर-पोर में बिँधे हुए—टूटे हुए—तीरों की अनी एक मधुर वेदना से चुभती रही।

आख़िर बिजली ने ऐसी तीरन्दाज़ी कहाँ सीखी ? वह तो शहर के एक ख़ानदानी रईस की लड़की थी; भद्रता की आबोहवा में पली थी। उसने इस कटाक्ष-कौशल की शिक्षा कहाँ पाई—इस नाज़ो-अन्दाज़ को किससे पढ़ा ? यह क्या बात है कि इस अपरिचित युवक को पाकर उसकी बोटी-बोटी फड़क उठी ! उसकी पोर-पोर में कौन-सी शक्ति समा गई ? उसकी निगाहों के नख़रे—उसके अंगों की लीलायित अठखेलियाँ क़यामत के तमाशे दिखा गईं !

यह माया, यह चपलता तो साधारण नहीं है ! ये कमाल के बारीक करिश्मे, ये चुहचुहाते चोचले तो कुछ घर में नहीं पनपते। चितवन की कटारी तो बाज़ार में बिकती है। चेहरे पर मीनाकारी तो पेट के लिए

होती है। अभिनय की निपुण भङ्गिमा तो आसमान से नहीं बरसती, बरञ्च बरसों की तालीम और तजरबे से प्रस्फुटित होती है।

बिजली तो अनुभवी अभिनेत्री की नाक तराशती है! यह जादूनज़री तो कुछ देवता का आशीर्वाद नहीं थी।

जो हो, सौ बात की एक बात यह है कि ये नाज़ो-अन्दाज़ की बारीकियाँ कुछ गणित के फ़ारमूले नहीं हैं, जिन्हें कोई मास्टर बोर्ड पर लिखकर समझा दे—और न ये पाणिनि के सूत्र हैं, जिन्हें कोई आचार्य दस बार रटाकर गले के नीचे उतार दे। मेरी समझ में तो इस रहस्य का एक ही पता है—नारी की सहज प्रकृति और उस प्रकृति का विकास।

ज्ञान भी तो बिना संस्कार के नहीं मिलता; विद्या भी तो बिना प्रतिभा के नहीं खुलती। तालीम तो महज़ एक पॉलिश है, मुलम्मा है।

विश्व की रचना देखिये! प्रकृति जड़ है, अव्यक्त है, सूक्ष्म है; लेकिन गुणों का आलय है और उसके गर्भ के भीतर निखिल विश्व का मूल तत्त्व है। जो हो, अकेली तो वह कुछ कर नहीं सकती; लेकिन पुरुष के सामने आते ही वह अनुप्राणित होकर अपना ताना-बाना फैलाने लगती है। उसके प्राणों से रूप, रस, गन्ध के करोड़ों किरिश्मे प्रकट हो जाते हैं। फिर तो अपनी माया के मोह-पाश में वह इस ख़ूबी से बाँध रखती है कि जीव का नजात पाना मुहाल हो जाता है।

कुछ इसी तरह नारी के अन्तर में हाव-भाव के सूक्ष्म परमाणु, सत-गुनी लज्जा के बराबर मेल से, साम्यावस्था में निरंतर मौजूद रहते हैं। लेकिन जिस घड़ी वह सचमुच पुरुष को देखती है, फिर तो जैसे अक्षर-

अव्यक्त से निखिल लीला का प्रसार हो जाता है, वैसे ही उसके अन्तस्तल के निहित तत्त्वों से माया की मोहिनी रचना शुरू हो जाती है—और पुरुष, प्रकृति-पाश-बद्ध जीव की तरह, मोह के जाल से कभी मुक्त नहीं हो पाता।

बिजली तो स्वभाव से ही चंचल और शोख़ थी। उसमें तो मद का माद्दा कूट-कूटकर भरा था। लज्जा से कई-गुना अधिक विलासिता के परमाणु उसमें पहले ही से विशेष प्रबल थे। उसके चारों ओर का अनुकूल वायुमंडल उन अङ्कुरों को सजीव रखने में काफ़ी मददगार था। फिर तो सलीम का उसकी विलास-विह्वल चितवन के सामने नमूदार होना था कि उन अङ्कुरों का पल्लवित और कुसुमित होना एक लहमे का खेल रह गया। मेगज़ीन में तो बारूद भरी तैयार थी, सलीम की आँखों की चिनगी ने उसे बात-की-बात में प्रज्वलित कर दिया।

पञ्चम परिच्छेद

सुबह के नौ बजे होंगे। आसमान पर कुहरा है। धूप की एक पतली रेखा खिड़की से झाँक रही है।

रायसाहब ने आँखें खोलीं, जँभाई ली, और फिर रात की ख़ुमारी से लदी आँखें झिप चलीं। नौकर ने पैर टीपा और आहिस्ते से अरज़ किया—"हुज़ूर, आज मकर की संक्रान्ति है।"

वे अँगड़ाई लेकर उठ बैठे और ड्रेसिंग-गाउन को लपेटकर स्लीपरों को चटकाते कमरे से निकल आये। गैरज से मोटर निकाली गई और वे चुरुट के कश लेते हुए, स्वर्गीय पिता के हमजोली 'पुरोहित मुरारी चौबे' को साथ लेकर, गंगा नहाने चले। इधर रामू को ताकीद करते गये कि ब्रेकफ़ास्ट तैयार रखना।

कुहरा फट चला। धूप खुल पड़ी। दो घंटे में वे लौट आये। कमर में ज़री-कोर की बारीक धोती थी और कंधे पर तूसी तूस की दोहरी चादर। ललाट पर चन्दन की छाप और रोली का तिलक था। गर्दन में गेंदों की माला।

तबतक मन्दिर के पुजारी आ पहुँचे। रायसाहब ने तुलसीदल का प्रसाद पाया। आचमनी से दो बूँद चरणामृत लेकर सर छुलाया और पी गये। अन्दर से चावल, तिल, तिलवे आये। ताँबे की थाली, कटोरे आदि दान की सामग्री लाकर रखी गई। उन्होंने विधि-पूर्वक संकल्प करके दान किया और पुरोहित-पुजारी को कुछ नक़द हाथ में देकर बिदा किया।

इस अनाचार और घोर कलिकाल की मरुभूमि में एक अँगरेज़ी तालीम के वंशज की यह अभावनीय आस्तिकता बिचारे ग़रीब ब्राह्मणों के लिए मन्दाकिनी का छींटा थी। ब्राह्मणों ने चावल और पैसे को धोती के खूँट में बाँधा, उनकी धर्मनिष्ठा की जय-जय-ध्वनि की, उनकी सलामती की दुआएँ दीं; फिर हँसते-खेलते घर चल दिये।

उधर वे गये, इधर आपने चट तौलिये से चन्दन के टीके को पोंछ, और गेंदे की माला को फेंक, विलायती ख़ुशबूदार सोप से मुँह-हाथ धोया, और शर्ट-पैंट डाटकर ब्रेकफ़ास्ट के लिए घंटी बजाई। एक बार दैनिक 'स्टेट्समैन' के स्पोर्ट्स्-कॉलम का मुलाहज़ा किया, फिर जैकब के विख्यात क्रीम-क्रैकर के नये डिब्बे को खोलने के लिए कतरनी तलब की। रामू ने टोस्ट और मक्खन का प्लेट मेज़ पर लाकर रखा और मामलेड का बर्त्तन सामने बढ़ा दिया। आपने पहले एक प्लेट पारिज साफ़ किया; फिर स्टोव जलाकर हरी धनिया, प्याज़ और पुदीने के टुकड़े देकर दो अंडों का आमलेट ख़ुद ही तल लिया। साथ-साथ एकाध बिस्कुट कुतरते रहे। बिल्लौर के प्याले से चाय की सुड़क भी जारी थी।

तबतक मुंशी माजिद अली भी आ पहुंचे और कुर्सी खींचकर सामने बैठ गये। फिर तो चाय-शक्कर का नया दौर शुरू हुआ। आप आमलेट के एक काश को काँटे से उठाते हुए हँसकर बोले—"क्यों मुंशीजी, आपने कुछ राय क़ायम की? किस-किसको बुलाना होगा? कहाँ पर लञ्च की तैयारी होगी? आज ही 'मेनू' ठीक करके किसी अच्छे 'फ़र्म' को ऑर्डर दे देना ज़रूरी है।"

"आप बिलकुल बेफ़िक्र रहें। आख़िर मैं किस मर्ज़ की दवा हूँ? डाक-बँगले के बावर्ची से सब चीजें पकवा दूँगा। उसके हाथ में जादू है। मटन कटलेट भुनने में तो कमाल करता है। बीयर और क्लैरेट की बोतलें मियाँ जान की दूकान से ख़रीद लूँगा। लञ्च में शैम्पेन..."

अचानक बिजली कमरे में फट पड़ी। लञ्च की चर्चा ज़बान में उलझकर रह गई। उसके स्कूल जाने का वक़्त हो गया; वह तैयार आई थी। आते ही उसने एक टेनिस-रैकेट ख़रीदने की फ़रमाइश की।

"क्यों? क्या होगा?"—रायसाहब ने फ़रमाया।

"मैं ख़ुद खेलूँगी।"

"तुम! आज यह नया शौक़?"

बिजली हँस पड़ी। ज़रा तिनककर बोली—"क्या लड़कियों का टेनिस खेलना शौक़ में दाख़िल है? शाम का वक़्त यों ही गुज़र जाता है। रात में खुलकर भूख नहीं लगती। नींद भी मज़े की नहीं आती। पढ़ने और सोने के सिवा और कोई काम नहीं। यह पाँव पसारे बैठने का सिन है? मिस साहबा का ख़याल है कि बग़ैर किसी एक्सरसाइज़

के इसी उम्र में मरीज़....."

"लिल्लाह ! बस करो । तुम्हारे दुश्मन मरीज़ हों ।"—

मुंशी माजिद अली ने फ़ौरन् बात तराश दी ।

"आख़िर कहाँ टेनिस खेलोगी ? यहाँ पर तो मुमकिन नहीं । मकान के सामने जो थोड़ी-सी ज़मीन है, वह तो बिलकुल लबे-सड़क है । मुहल्ले में मुल्लों का हुजूम है । उनको फबतियाँ चुस्त करने का एक और मौका···"

"माज़ल्लाह ! किस भड़वे की शामत आई है जो आप पर नुक़्ताचीनी करे ? उसकी मूछों का एक-एक बाल न उखड़वा लूँ···"—बीच ही में मुंशीजी बरस पड़े ।

"आप ही कहें, मैं ही उनके तेवरों पर कब सहमा रहा ? वे टर्राते ही रह गये और मैंने जिस रिफ़ार्मपर कमर बाँधी, आपकी दुआ से, उसे कर ही डाला । फिर, जो कुछ किया, अपने बूते पर किया । नहीं तो, बिजली को यह आज़ादी—यह तालीम—कहाँ मिलती ? महज़ एक बीबी से मजबूर हूँ । मगर शुक्र है, बिचारी ज़रूरत से ज़्यादा तनती नहीं । और, आज कोई कुछ कह ले; लेकिन कौन नहीं है, जो ज़रूरत के दिन मेरे दरवाज़े पर सर के बल नहीं आता ? कभी किसी भाई-भतीजे के लिए सिफ़ारिशी चिट्ठी लेनी है, कभी किसी के ब्याह के मौक़े पर जलूसी चीजों की फ़रमाइश है ।"

मुंशीजी ने मूछों पर अर्धपक्व पोच की तरल ज़र्दी को रूमाल से साफ़ किया, और सर हिलाकर दाद देते हुए बोल उठे—"रायसाहब,

आपकी उम्र दराज़ हो। आपने तो जहालत की धज्जियाँ उड़ा डालीं। हिन्दुस्तान की गर्दन में सैकड़ों दक़ियानूसी रस्म-रवाज की मज़बूत बेड़ियाँ जकड़ी पड़ी हैं। इन जंजीरों की चपकलिश से बिचारे ग़रीब का दम घुट रहा है; लेकिन अफ़सोस, सर्द आह खींचने के अलावा कुछ सँपरता नहीं। ख़ुदा आपका इक़बाल बुलन्द करे। आपने वल्लाह इस लोहे की लड़ी की एक भी कड़ी तो तोड़ी, यही क्या कम है? आज हमारी जाहिल पब्लिक इस अम्र को नहीं समझती; लेकिन मैं दावे से कहता हूँ कि वह दिन दूर नहीं, जब उसकी आँखें खुलेंगी और फिर तो तहे-दिल से आपको शुक्रिया अदा करेगी।"

बिजली ने अपनी अर्ज़ी फिर पेश की। यह सुयोग अच्छा था। रायसाहब की शान का पारा ऊँचा उठ रहा था। बिजली तो जिस बात पर पैर रोप देती, वहाँ से फिर जुम्बिश नहीं करती। वह तो जान पर खेलकर भी टेनिस खेलना ज़रूर सीखेगी। रायसाहब की मर्ज़ी हो तो फिर पौ-बारह; न मर्ज़ी हो, आँखें बचाकर खेल लेगी। मकान पर टेनिस-कोर्ट की गुंजाइश नहीं है, तो दूसरी जगह इन्तज़ाम कर लेगी—लेकिन वह खेलकर रहेगी।

"तो फिर कहाँ खेलोगी?"—रायसाहब ने पूछा।

"क्यों, स्कूल के बोर्डिङ्ग-हाउस का कोर्ट है। वहाँ अगर गुंजाइश हो गई तो ठीक ही है; नहीं तो मिस साहबा के घर पर कोर्ट बनवा लूँगी।"

"हाँ, यह इन्तज़ाम मुमकिन है।"—मुंशीजी ने मदद दी।

"ठीक है, यही सही। रामा की दूकान से एक रैकेट और उसका प्रेस ख़रीद लेना, वह मुझे जानता है। तो फिर शाम को तुम्हें वापस लाने के लिए सवारी की कब ज़रूरत पड़ेगी?"

"आप बेफ़िक्र रहें, मैं सब ठीक कर लूँगी।"

षष्ठ परिच्छेद

अब बिजली के दैनिक रूटीन में कुछ और परिवर्त्तन हुआ। टेनिस के लिए दो घंटे वक्त देना ज़रूरी था। पहले वह चार बजते 'बस' पर स्कूल से वापस आती; फिर बाहर जाना न जाना उसके मन की मौज पर रहता। किसी दिन शाम को मिस साहबा के साथ मोटर में सैर करने पार्क जाती या बाज़ार। सड़क के किनारे मोटर रोककर लॉन में टहलती और कॉलिज के लड़कों के खेल-कूद—चकल्लस—देखती। फ़ुट-बॉल-मैच देखने का उसे ख़ास शौक़ था। शाम की चाय-बिस्कुट की उपासना छूट जाय तो छूट जाय, लेकिन कोई मशहूर मैच छूट जाना नामुमकिन था। वह आध घंटा पहले आकर डट जाती। मिस साहबा को घसीटकर साथ लाती।

उसके मन की गति विचित्र थी। प्रतिद्वन्द्वी टीमों के किसी प्लेयर

को वह पहचानती न थी ; लेकिन मैदान में क़दम रखते ही एक-एक करके कुल प्लेयरों को सर से पैर तक मुलाहज़ा कर जाती। उनमें जो उसकी नज़रों में सुन्दर सुडौल जँचता, उसी जवान को वह अपनी सहानुभूति का लक्ष्य बनाती; और जिस टीम में वह खेलता, उस टीम की हार-जीत उसकी अपनी हार-जीत बन उठती। उस लड़के ने अगर कोई मार्के का किक् किया, या किसी युक्ति से अपने प्रतिद्वन्द्वी से गेंद छीन लिया, या गुँथे हुए प्लेयरों के झुरमुट को चीरकर एक दिलफ़रेब पास दिया, तो बिजली जामे से बाहर होकर ज़ोर की करतालियाँ देती, और मिस साहबा को उसकी कुशलता दिखा-दिखाकर दाद माँगती। यदि उसने कहीं गोल दे दिया, तब तो वह ख़ुशी से उछल पड़ती—दस के सामने उसकी तारीफ़ के पुल बाँध देती। और, यदि कहीं उससे कोई भूल हो गई और रेफ़री ने ख़िलाफ़ 'पेनल्टी' दे दी, तो वह बेवजह जोश में उबल पड़ती और दर्शकों को सुना-सुनाकर 'रेफ़री' की अयोग्यता किंवा उसकी पक्षपात-प्रवणता की आलोचना करने से बाज़ न आती। फिर, अगर ऐसा हुआ कि दोनों टीमों के किसी भी खिलाड़ी का रंग-रूप उसकी आँखों में न जँचा और कोई भी उसकी कृपा का पात्र न बन सका, तो वह अनमनी-सी होकर अचानक वापस चली आती थी, या अगर रुकी रहती तो उसकी हमदर्दी की धारा अनायास उस ओर झुकती, जिस टीम की 'जर्सी' उसे ख़ुशरंग और भड़कीली नज़र आती।

जाँच के काँटे उसके अपने थे। लोक-प्रचलित काँटे को वह मानती न थी। जिस शख़्स को वह तौलती, उसको अपने लोचनों की तुला

पर तौलती। दुनिया की आँखों की परखने की कसौटी कुछ भी हो, उससे बहस नहीं।

वह आधी आँख से पलक झपकते-झपकते किसी जवान की जाँच ख़त्म कर देती थी। लम्बा, गोरा और लचीला—बिलकुल दुबला-पतला नहीं—होना तो ज़रूरी था, मगर ये बातें तो महज़ बाहरी रेखा थीं। ऊँची नाक हो, चिपटी नहीं। आम की फाँक की तरह लम्बी आँखें हों—बेढब बड़ी, गोली या छोटी नहीं। अगर उन पर चश्मा हो, तो सोने में सुगन्ध! सर के बाल घुँघराले, घने और लम्बे हों; छोटे और छँटे नहीं। अगर रेखें भिनती हों, तो कोई मुज़ायक़ा नहीं, लेकिन मूँछें हरगिज़ नुमायाँ न हों—गाल और होठों के ऊपर बालों की कसरत उसे किसी रूप में गवारा न थी, तराश या तरतीब विलायती हो या देशी—कटी और छोटी हों, तो एक हद तक वह बर्दाश्त भी कर लेती; लेकिन लम्बी और घनी मूँछें उसकी आँखों में काँटों की तरह चुभती थीं।

उसकी रुचि और प्रवृत्ति भी विचित्र थी; उसके विचार और अन्दाज़ भी निराले थे। मुसलमान होने से उसकी आँखों में कोई नीचा न होता, न ब्राह्मण होने से कोई ऊँचा। मुसलमान के बधने के पानी से वह उतना ही भिन्नाती, जितना देव-मंदिर के अरघे के जल की आचमनी से नाक सिकोड़ती थी। बुज़ुर्गों के मज़ार पर नेयाज़ देना और ताज़िये के दिन पायक बनकर छाती पीटना उसे वैसा ही सिड़ीपन जँचता था, जैसा ग्रहण के दिन गंगा में नहाना किंवा घड़े या पत्ते के ऊपर गोबर के गौरी-गनेस पर फूल-चन्दन चढ़ाकर सर

झुकाना। उसका वश चलता तो वह न पंडितों के मस्तक पर चुन्दी रहने देती, न मुल्लों के चेहरे पर दाढ़ी। अँगरेज़ों के घी और मसाले से वञ्चित उबाले सादे खाने से उसको वैसी ही नफ़रत थी, जैसी उनके बाग़-बग़ीचे तथा कोठी-कमरे की साज-सज्जा और सफ़ाई से मुहब्बत। मेमों के गाउन और हैट पर हज़ार फ़ैशन की बहार क्यों न हो, कमख़ाब के लहँगे और घाँघरे पर लाख ज़र का काम क्यों न हो, पंजाबिनों की कमीज़ और शलवार पर सलमे-सितारे बेशुमार क्यों न हों—ये सभी परिच्छद उसकी आँखों में कौड़ी के तीन थे। रंग में फ़िरोज़ी, फूल में 'पैंसी', ख़शबू में कस्तूरी, खाने में कश्मीरी, मर्दाना लिबास में मिलिटरी और ज़नाना लिबास में पारसी साड़ी—उसको विशेष प्रिय थी।

वह जिसको चाहती उसको दिल से चाहती, और जिसको न चाहती उसको बात-की-बात में दिल से—आँखों से—उतार देती। नौकरों और बाँदियों में ऐसे दो-चार ही थे, जिन पर उसकी नज़र-इनायत बराबर बनी रहती। जब वह किसी पर दिल से ख़श रहती, तब दिल खोलकर देती—पिता की आँखें बचाकर क़ीमती कपड़े या गहने भी देने से बाज़ न आती। यही वजह थी कि उसकी तुनक-मिज़ाजी की शोख़ियाँ सब पीठ ओढ़कर सह लेते थे। मगर जब कभी वह ख़फ़ा हो जाती, बिलकुल नंगी तलवार बन जाती—गर्दन के लहू चाटने के लिए दाँत तक गड़ा देती थी।

जो देखने में अच्छा ख़ासा हो, साफ़-सुथरा हो, तर्ज़े-सख़न जिसका

दिलफ़रेब हो, जिसे सारी बातों की तमीज़ हो, उसी मुलाज़िम से वह काम लेती थी। उसकी भूल-चूक पर भी वह पनाह देने से न हिचकती थी। अगर सूरत नहीं है, तो महज़ सीरत की क़ीमत कुछ भी नहीं। ख़ुशरंग चीज़ें, ख़ुशगवार बातें, चेहरे की ख़ूबसूरती और ख़ुशामद की आज़िज़ी उसके दिल के मुलायम पहलू पर जादू का असर डालती। इसमें कोई शक नहीं कि पार्क और पार्टियों में आते-जाते, मैच और तमाशों का रस लेते, उसको कभी-न-कभी ऐसे युवक ज़रूर मिल जाते, जिनके दरस-परस से उसको घंटे-दो-घंटे ख़ुशी से वक्त गुज़ारने में मदद मिलती—जो छन-भर उसके प्राणों में एक हल्का-सा पुलक पैदा कर देने में कामयाब होते। लेकिन, कभी भी वह पुलक मदनोत्सव में परिणत नहीं हुआ; कोई मनचला जवान उसके मन पर अपना रंग न जमा सका।

जिस दिन सलीम को उसने आँखों के ज़ीने से अपने दिल में उतार दिया, उस दिन उसके मानस-राज्य में आदर्श का अनुसन्धान समाप्त हो गया, वह मंज़िल पर पहुँच गई।

बिजली ने सलीम के ठाट-बाट को—उसके रंग-रूप को—उसके मुलायम मीठे अन्दाज़ को अपनी आँखों के काँटों पर तौल लिया। अब और कुछ देखने या परखने को बाक़ी ही क्या रहा? सलीम कौन है, कहाँ का है, उसका चरित्र कैसा है, उसका धर्म—उसके विचार—उसकी शिक्षा क्या है, इसे जानने की ज़रूरत ही क्या थी? जब उसकी आँखों ने—उसके हृदय ने—उस अज्ञात-कुल-शील युवक को क़बूल

कर लिया, तब बुद्धि भी उनकी सहचरी होगी या नहीं—यह ढूँढ़ने में उसकी न रुचि थी, न प्रवृत्ति।

जब आँखों ने आँखें मूँदकर, हृदय का पासपोर्ट देकर, बिजली के अन्तर्जीवन में सलीम का प्रवेश करा दिया, तब किसी जाँच-पड़ताल की गुंजाइश कहाँ रही? बुद्धि ने तो पासपोर्ट पर अपना हस्ताक्षर नहीं किया—इस भूल को जब दिल महसूस कर लेता, तभी न उस अजनबी को वापस लौटाने की कोई कार्रवाई हो सकती थी? जिस क्षेत्र में दिल की सल्तनत पर दृष्टि की हुकूमत चल गई जिस कारिन्दे का सनातन दरजा बुद्धि और मन के अधीन रहना है—उनकी फ़रमाबरदारी है, वही नायब नाज़िर एकबारगी भरे दरबार में सबका अफ़सर बन बैठा और बुद्धि को पदच्युत कर मन की बागडोर को अपने हाथों में थाम लिया; फिर उस राज्य में अराजकता न फैलेगी तो कहाँ फैलेगी? इधर बुद्धि तख़्त से उतारकर नज़रबन्द कर दी गई, उधर तमाम सात्विक वृत्तियाँ एक-एक कर जलावतन कर दी गईं। फिर तो मैदान ख़ाली पाकर मायाविनी वासना अपनी लवाज़मात लेकर आ धमकी, और अन्तर का कोना-कोना उसकी लीला-तरङ्गों की लावण्य-लहरी से लबालब भर गया।

बिजली ने दो दिनों में टेनिस-कोर्ट बनवा डाला। मिस साहबा के बँगले की प्रशस्त लॉन में एक कच्चा कोर्ट तैयार करा लिया गया। दो दिनों तक कुली-मज़दूरों ने सर्दी से थर-थर काँपते, दूनी मज़दूरी की लालच पर, गैस जलाकर रात-रात भर काम किया। बिजली इतनी उतावली हो गई थी कि दो दिनों के अड़तालीस घंटों का एक-एक लहमा

उसको एक-एक मन्वन्तर प्रतीत होता था। उसे अचानक यह ख़ब्त सवार हो गया कि किसी व्यायाम के अभाव के कारण उसका स्वस्थ-सुन्दर शरीर धुल-धुल कमज़ोर हो चला है—और, यह दिमाग़ी मर्ज़ यहाँ तक बढ़ा कि रात का खाना भूख की ग़ैरहाज़िरी से हराम हो गया था।

स्नेह-प्रवण पिता ने घर का तमाम काम बन्द कर कुल कारिन्दों को इसी काम पर तैनात कर दिया। टेनिस के ज़रिये सलीम से भेंट होगी—उसके साथ खेल-कूद कर उसे वह अपनी क्षमता का परिचय दे सकेगी—उसके दिल पर अपने हाव-भाव का रंग जमा सकेगी—यह प्रदीप्त कामना उसके अन्तस्तल में ज़रूर थी, वर्ना व्यायाम का अभाव तो आज कोई नया अभाव न था; फिर उस अभाव का भी इतना बड़ा तक़ाज़ा कभी मुमकिन न था कि घर का और सारा काम, टेनिस-कोर्ट की तैयारी के लिए, स्थगित कर दिया जाय।

लेकिन वाह री नारी! दुनिया तुम्हारे दर्दे-सर को भले ही देख ले, तुम्हारे दर्दे-दिल को नहीं देख पाती। आख़िर पुरुष की बुद्धि का प्रकाश कहाँ तक छिटकेगा? तुम्हारी माया का रहस्य-तुषार बड़ा ही निविड़ है। पुरुषों के लोचन ऐसे शुभ्रचर नहीं होते कि नारी के मन के चोर का—नारी की नाड़ी का—पता पा सकें।

सप्तम परिच्छेद

अब तो बिजली को पल भर की फ़ुरसत न थी। सुबह उठकर नहा-धोकर निबटते स्कूल का वक़्त हो जाता। आठ बजते-बजते वह पानी से लबालब लम्बे हौज़ में जा बैठती। उसे बचपन से तैरने का शौक़ था, इसीलिए उसने घर पर भी एक ख़ासा हम्माम बनवा रखा था। दस मिनट तक उसी हौज़ में किलोलें करती, तैरती-डूबती, उतराती-उछलती, साबुन मलती, मन-ही-मन मुसकराती और गुन-गुन गाती रहती। फिर तौलिया लपेटे ड्रेसिंग-रूम में आदम-क़द आइने के सामने खड़ी हो जाती; अपने चंचल लटों को सँवारती—फुसलाती—चूमती और थपकियाँ दे-देकर कानों पर चढ़ाती। आध घंटे तक इस तालीम का सिलसिला चलता। सामने की कुन्तल-लता का वितान जब कानों को आच्छन्न कर लेता, तब वह प्रसन्न होकर साड़ी बदलती और आँचल को क्लिप देकर सर के बालों में अँटका देती। फिर हैज़लिन-स्नो की पॉलिश होती। मुख की गोराई पर क्रीम की मलाई चिकनाई लाती। इतना

सघन प्रलेप होता कि महीने में दर्ज़नों हैज़लिन के डिब्बे सफ़ाचट हो जाते। लौट कॉलर का जैकेट हो या खुली गर्दन का ब्लाउज़, अगर रंग ख़ुशरंग रहा तो किसी एक को वह ख़ुशी-ख़ुशी पहन लेती थी। पूरी आस्तीन के ब्लाउज़ को तो वह फूटी आँखों भी न देख पाती थी। शमीज़ का प्रसार उसके अंगों पर एक असहनीय भार था।

तबतक स्कूल की 'बस' आकर सर पर सवार हो जाती। वह जल्दी-जल्दी दो-तीन चुपड़ी चपातियाँ निगलकर तैयार हो जाती। सलीम उधर से घंटी बजाता साइकिल पर आता और साथ-साथ स्कूल के फाटक तक जाता, फिर मुड़कर कॉलिज की राह लेता। वह 'बस' में बैठी सहेलियों को छेड़ती, खिल-खिल हँसती, गालों पर उड़नेवाली बिखरी लटों को उँगलियों से कान पर सरकाती रहती और आंखें बचाकर कन-खियों से सलीम को घूरती जाती। इधर सलीम की एक आँख बिजली पर तनी रहती, दूसरी सामने की जनता पर।

यह क़रीब-क़रीब रोज़मर्रे का तमाशा था; लेकिन इस अन्दाज़ से अंजाम होता कि किसी को ख्वाब में भी कुछ पता न चलता।

बिजली को तो मश्शाक़ी थी। सलीम के साइकिल की घंटी की आवाज़ से उसके कान कुछ ऐसे परिचित थे कि नगाड़ों के तुमुल रोल में भी वे उसे आसानी से ताड़ लेते। स्कूल की 'बस' का ड्राइवर फाटक पर बार-बार 'हॉर्न' देता और वह 'आती हूं, ठहरे रहो' कहकर कभी किसी कॉपी को तलाशती—किसी किताब को ढूँढ़ती, कभी टेबुल के दराज़ों को टटोलती, छुरी उठाकर जल्दी-जल्दी पेंसिल बनाती, फ़ौंटेन-पेन् में नई

स्याही भरती और कभी नौकर को बाज़ार से लेमनेड लाने को दौड़ाती। आँखें सामने की घड़ी पर टँगी रहतीं और कान किसी वंशी-ध्वनि की टोह में खड़े रहते। तबतक टुन-टुन की एक बारीक आवाज़ उसके कानों में पैठती, और वह धड़-फड़ दौड़ती हुई 'बस' में जा बैठती—कानों से उछलकर प्राण आँखों में आ जमते!

कान तो कुछ सुनते नहीं—सुनता है मन; आँखें ख़ुद तो कुछ देखतीं नहीं—देखता है मन। मन साथ न हो, तो आँखें देखेंगी क्या—कान सुनेंगे क्या? इसलिए शहर के हुल्लड़ और शोर-ग़ुल में साइकिल की घंटी की एक क्षीण आवाज़ अपने-अपने धन्धों में व्यस्त मनुष्यों के कानों तक कभी पहुँचती न थी। इस ध्वनि से और बिजली के अकारण उद्वेग से कुछ सम्बन्ध है, यह राज़ तो किसी पर प्रकट होना सम्भव नहीं था; न सलीम का बस के साथ साइकिल दौड़ाये जाना किसी को असाधारण खटकता।

चार बजते-बजते बिजली स्कूल से वापस आती। आते ही कपड़े उतारकर नहाने जाती; टब में बाथ-सॉल्ट के टुकड़े छोड़ती और उसी सुरभित जल में तैरती, छपछपाती, छप-छप नहाती। नहा-धोकर टेनिस के लिए तैयार होती। सर का आँचल अब कन्धे को चूमता—ब्रूच के बन्धन में कसा रहता। ढीले ज़म्पर की जगह पापलिन का चुस्त जैकेट पहनती। मुँह पर दुबारा कोल्ड-क्रीम की मालिश होती। उसपर पाउडर की हल्की फुहियाँ और गालों पर बिलकुल बारीक गुलाबी लालिमा। इस प्रसाधन में उसे कमाल की मश्शाक़ी हासिल थी।

रंग में रंग मिला देती। कहीं भी कृत्रिमता की झलक न रह पाती। वह सजधज कर रैकेट घुमाती मोटर पर जा बैठती और उसके अंगों से—उसके कपड़ों से—एक भीनी-भीनी मीठी महँक हवा में किलोल करती, मानों चमन के फूलों के परिमल से लदी हुई बसन्ती हवा की लपट हो।

घंटे-दो-घंटे टेनिस का खेल होता। मिस साहबा, बिजली और सलीम तो प्रतिदिन रहते। चौथे के लिए तलाश रहती। कभी बोर्डिङ्ग-हाउस की तितलियाँ आ जुटतीं, कभी रङ्गिया खेलती, कभी मिस साहबा का छोटा भाई 'पॉल' खेलता।

सलीम टेनिस का अद्वितीय वीर था। उसके हाथ कमाल के सुबुक थे। आधे कोर्ट में खड़ा होकर वह 'स्मैश' और 'वॉलीज़' की करामात दिखलाता। उसकी ज़ोरदार सर्विस में बिजली की कड़क थी।

बिजली आँखें गड़ाकर इस रस को पीती और खेलते-खेलते खेलना भूल जाती। गेंद जाल पर जाकर रुक जाता या कोर्ट के बाहर पोस्ट पर टकराता। वह विचलित-सी हो जाती, और फिर सुलझाने की कोशिश में और भी उलझती जाती।

सलीम इस परिस्थिति को ख़ूबी से सँभाल लेता और मौक़ा देखकर दाद देता। सलीम के मुँह से हाथ की सफ़ाई की तारीफ़ सुनकर वह जोश में आ जाती और एक-एक ड्राइव में वह कमाल दिखलाती कि देखनेवाले दंग रह जाते। 'फ़ोर्टी स्टार्ट' कहकर वह तनकर खड़ी होती और फिर बात-की-बात में 'फोर्टी-ऑल' बनाकर तो दम लेती। 'Well shot! Well played!' की गुंजन-ध्वनि उसके

कानों में मिसरी की डली होती। सलीम को छनभर मुक़ाबले का मज़ा आ जाता।

जब सूरज की अन्तिम लालिमा विलीन हो जाती, तब टेनिस का खेल बन्द कर देना पड़ता। सलीम गर्दन में मफ़लर लपेटता, चमकीले ब्लेज़र का कोट पहनता, फिर रूमाल से पेशानी के पशीने को पोंछता। बिजली खड़ी होकर उसके मफ़लर और ब्लेज़र की शोभा देखती और रूमाल की रगड़ से प्रस्फुटित उसके चेहरे की सुषमा पर आँख गड़ाती। मिस साहबा तो क्लान्त होकर आराम-कुर्सी पर लेट जातीं। जबतक एक छोटा पेग या कॉक-टेल न होता, उनके दम में दम न पड़ता।

बिजली, सलीम, रज़िया और पॉल थोड़ी देर लॉन में टहलते।

लॉन क्या थी—मख़मली फ़र्श थी, हरी दूबों का क़ालीन। दोनों ओर क्यारियों में पैन्सी और पॉपी के ख़ुशरंग फूल खिले थे। बीच-बीच में केवड़ा और कैना के पौदे। कैना के फूलों की विचित्र शोभा थी—गुलनार, गुलाबी और तरबूज़ी। लॉन के चारों तरफ सुर्ख़ी की पतली सड़क हरी ज़मीन की साड़ी पर अबीरी बॉर्डर की बहार लाती। किनारों पर पाम और क्रीटन के गमले थे। फाटक से मकान तक गुलदाउदी की क़तार थी।

बिजली के अङ्गराग की ख़ुशबू फूले हुए फूलों के सौरभ से मिलकर एक विचित्र मादकता पैदा करती। घुल-मिलकर बातें होतीं। पॉल के तुतलाने पर क़हक़हे पड़ते। छेड़खानियाँ होतीं। पॉल चिढ़कर दूर सरक जाता। बिजली एक खिली हुई पैन्सी को तोड़कर सलीम को हँसते-

हँसते नज़र करती। सलीम उसे सूँघता, होठों के निकट लाता और फिर कोट के बटन-होल में डाल देता। बिजली कभी खुद ही पिन्हा देती। दोनों की आँखों में एक नई चमक आ जाती; दोनों छन-भर चुप हो जाते। फिर किसी मैच की चर्चा छिड़ती। आँखें बचा-बचाकर आँखें मिलतीं। रज़िया और पॉल देखते और सुनते रहते, लेकिन उतनी ही देखते और सुनते जितनी उनकी आँखों और कानों की दौड़ थी। बिजली और सलीम की चितवन और कलाम के परदे के भीतर जिस मर्मस्पर्शी रहस्य की चर्चा चल रही थी, उसे देखने और सुनने की क्षमता उनकी आँखों और कानों में कहाँ थी!

यों ही हँसी-खुशी में घंटे लहमे में गुज़र जाते। चुपके दबे पाँव रात चली आती। अँधेरा छा जाता। रज़िया घर जाने को उतावली हो उठती। सलीम धड़फड़ दौड़कर टेनिस का रैकेट लाता और मिस साहबा को 'गुड-नाइट' कहकर रज़िया को ताँगे पर बैठाकर घर का रास्ता लेता। बिजली खड़ी देखती रहती। उसके सामने सड़क पर पानवाले की दूकान में जलती हुई बिजली की बत्तियाँ चकमक करतीं और ताँगे के घोड़े की टाप की आवाज़ उसके कलेजे पर ठक-ठक बजती। वह धीरे-धीरे, गर्दन झुकाये, मकान की ओर, मिस साहबा के कमरे में चली आती। उसके लिए वह दिन उसी वक्त निरानन्द निस्सार हो जाता—रात द्रौपदी की साड़ी बन जाती।

इसी समय बिजली मिस साहबा से पढ़ती। अब वह स्कूल की अन्तिम कक्षा में थी। पार साल वह मैट्रिकुलेशन के इम्तिहान में भी बैठी

थी; लेकिन हिसाब के परचे के दिन अचानक उसके पेट में भयङ्कर पीड़ा शुरू हो गई और वह बिचारी स्नेहप्रवण पिता के अनुरोध पर हाथ मलकर रह गई। मैट्रिकुलेशन तक तो वह एक-एक सीढ़ी मज़े से चढ़ आई थी। अपनी क्षमता के ज़ोर पर चढ़ी हो या मिस साहबा की कृपा-कोर पर चढ़ी हो—इस बात का पता नहीं! स्कूल में कानाफूसी और टीका-टिप्पनी तो बहुत-कुछ थी; लेकिन एक तो वह धनी-मानी की लड़की थी और दूसरे स्कूल की एक प्रमुख अध्यापिका की स्नेहदृष्टि की छाया में रहती थी, उसे दो-चार जलीकटी छात्राओं की जिह्वा की कटुता कहाँ तक छू सकती! वह हिसाब में जो कच्ची हो, पर अँगरेजी-साहित्य में वह काफ़ी तेज़ थी। हिन्दी-उर्दू ज़बान में तो वह स्कूल में लासानी थी।

वह कमरे में आकर लैम्प के सामने किताब खोलकर बैठ जाती। मिस साहबा पास ही आरामकुर्सी पर लेटी रहतीं। दृष्टि-पथ पर कॉकटेल-जनित वाष्प की एक हल्की गुलाबी घटा सामने आती—छन-भर छाती, फिर विलीन हो जाती। तबीयत में फ़रहत रहती—आँखों में मसर्रत।

"बिजली, आज क्या पढ़ोगी?"

"जो कहिये!"

मिस साहबा अलजबरे के फ़ारमूले समझातीं। हिसाब की कॉपी से एक वरक़ फाड़तीं और उसी पर पेन्सिल से किसी प्रॉब्लेम को बनाकर बिजली के सामने फेंक देतीं—"देखो, बनाने के तरीक़े समझो।" बिजली उसे उठाकर देखती। मगर देखती ख़ाक? उसकी आँखों के सामने तो सलीम के ब्लेज़र के बटन-होल की पैन्सी थी!

मिस साहबा फिर अरिथमेटिक उठातीं—"लिखो, देहली की दरी ढाई फ़ीट चौड़ी, ढाई रुपये गज़ की है और दस बरस चलती है; मेरठ की दरी तीन फ़ीट चौड़ी, डेढ़ रुपये गज़ की है और छः बरस चलती है; मुरादाबाद की दरी चार फ़ीट चौड़ी, सवा रुपये गज़ की है और तीन बरस चलती है। बताओ, कौन-सी दरी सबसे सस्ती और कौन-सी दरी सबसे महँगी है?—फ़ौरन् बनाकर दिखाओ—कल मैं समझा चुकी हूँ।"

बिजली स्लेट लेकर बनाने की कोशिश करती। मन को खींचती, हिसाब के दायरे में लाती, फिर पेंसिल को होठों पर रख कर सोचती। बनाने के क़ायदे की एक कड़ी सूझ जाती; फ़ौरन् उसे टाँक लेती। फिर सोचती; दूसरी लड़ी तक जाती। फिर दिमाग़ कुरेदती; कुरेदने में अचानक सलीम की आँखें निकल आतीं! अब क्या हो? वह उसी में डूब जाती। अनमनी-सी आध घंटे तक काग़ज़ रँगती। मिस साहबा झल्ला उठतीं—"कल ही तुम्हें समझा दिया था, आज भूल गईं! तुम्हारे दिमाग़ में भूसा भरा है!"

भूसा तो भरा नहीं था, भरा था कुछ और!

जब आँख में आँख पड़ती है, तब दिमाग़ की आँख मुश्किल से खुलती है!

"लिखो, मैं बोलती हूँ। मुझे डर है, हिसाब में तुम कच्ची रह जाओगी। युनिवर्सिटी की डिग्रियाँ तो सिफ़ारिशी चिट्ठी से नहीं मिलतीं! महज़ स्लेट पर लिखने से काम न चलेगा, दिमाग़ के स्लेट पर लिखो—

आया ख़याले-शरीफ़ में ?"

मानस-पट पर तो एक टेनिस-प्रवर वीर की तसवीर अङ्कित थी। बिचारी हिसाब के आँक को किस पट पर टाँकती !

"मैं सच कहती हूँ, तुम मुझे भी बदनाम करोगी। रायसाहब ने तुमको मुझे सुपुर्द कर अपना हाथ काट दिया। मैंने तुम्हें आज़ादी के गुलशन की बहार दिखाई। नहीं तो, परदे में पड़ी-पड़ी सड़ा करतीं ! पास न करोगी, तो कहीं तुम्हारा गुज़र होगा ? मैं तो रायसाहब के सामने आँख तक न उठा सकूँगी। जो जी चाहे, करो। लेकिन लिल्लाह ! इम्तिहान पास कर जाओ। मिहनत करो—दिल लगाओ, बग़ैर दिल लगाये यह बेड़ा पार नहीं होने का।"

दिल तो बिचारी एक दिलफ़रेब चुलबुले से लगा चुकी थी; अब अङ्कों के कङ्काल से लगाने को एक अलग दिल कहाँ से लाती ?

तबतक फाटक से मोटर के आने की आवाज़ आती। मिस साहबा का लेक्चर और भी ज़ोर पकड़ता। रायसाहब बरामदे में एक छन खड़े होकर इस पुर-जोश स्पीच को सुनते और चुपके-से कमरे में दाख़िल हो जाते। दोनों—छात्रा और अध्यापिका—पढ़ने और पढ़ाने में इस क़दर ग़र्क रहतीं कि विलायती बूट की सहज मचमच-ध्वनि भी उस तल्लीनता को तोड़ने में सर्वथा असमर्थ रहती। मिस साहबा की आँखें जब ज्योमेट्री के प्रॉब्लेम से ऊपर उठतीं, तब अचानक रायसाहब पर दृष्टि पड़ती। फिर आप फ़ौरन् उठ खड़ी होतीं और—"हल्लो ! आप कब से खड़े हैं ?"—कहकर हाथ बढ़ा देतीं। बिजली अपनी किताबों को

समेटती और रायसाहब के साथ मोटर में जा बैठती।

यह क़रीब-क़रीब रोज़ का सिलसिला था। रायसाहब क्लब से लौटते वक़्त बिजली को साथ लिये जाते और अगर कहीं 'जानी-वाकर' दोबारा-सेबारा दौर चल गया और ब्रिज की पार्टी जम गई, तब तो आप बिजली के लिए मोटर भेज देते और ख़ुद ख़ुदा जाने कब लौटते!

अष्टम परिच्छेद

सलीम से मिल्लत बढ़ती गई; टेनिस की दिलचस्पी बढ़ती गई। सुबह होते ही शाम का इन्तज़ार होता और शाम आते ही आवेश का संचार होता। जब वह हाथ में रैकेट लेकर मोटर पर सवार होती, तब उसका कलेजा धक्-से कर जाता—'कहीं ऐसा न हो कि सलीम किसी कॉलिज-मैच में अँटका रहे और टेनिस में शरीक न हो सके।' रास्ते में यह छटपटी दुगनी हो जाती। अगर सचमुच सलीम कहीं न आ सका, तब तो बिचारी अधमरी-सी हो जाती और इस दिल के मसोस पर परदा डालने की ग़रज़ से उसे अपने चेहरे पर जिस कपट-प्रफुल्लता का व्यर्थ प्रयास करना पड़ता, वह उसके लिए विकट सङ्कट की परीक्षा हो जाता। उसके हृदय के गम्भीर प्रदेश से जो श्मशान-शून्यता उठ खड़ी होती, वह धीरे-धीरे टेनिस-कोर्ट पर—चमन के फूल-फूल पर—हर ज़र्रे पर—सघन होने लगती, और अब एक क्षण भी वहाँ टिकना उसके लिए हज़ार मुश्किल हो जाता।

"मिस साहबा, सलीम तो आये नहीं! आज खेलना फ़िज़ूल है। जबतक मुक़ाबला ज़ोरदार नहीं, तबतक खेल में कोई लुत्फ़ नहीं रहता। चलिये, पार्क में हवाख़ोरी रहे। मुमकिन है, कोई दिलचस्प मैच देखने को मिल जाय।"

मिस साहबा ख़ुशी से सहमत हो जातीं।

बिजली की बेकली तरक्की करती रही। सलीम से मिलने के लिए वह घंटों मन में छल-छन्द रचती, आवृत्ति करती; लेकिन मिलने के वक्त न जाने कैसी आकुलता कहाँ से टूट पड़ती कि आँखें बचाकर आँखें मिलाने के सिवा तो और कुछ करते नहीं बनता। इस मिलने से तो दिल नहीं भरता, वरञ्च एक वेदना उठ खड़ी होती। मगर इस अतृप्ति में न जाने कितनी तृप्ति थी; इस तृप्ति में न जाने कितनी अतृप्ति थी! इस वेदना में न जाने कितनी माधुरी थी, इस माधुरी में न जाने कितनी वेदना थी!!

यों ही कुछ दिनों तक यह बेकली चली।

मानव-मन की विचित्र गति है। धीरे-धीरे यह चटपटी बेकली भी फीकी पड़ने लगी। रोज़मर्रे के इस्तेमाल से मुतंजन का मज़ा भी कमज़ोर हो जाता है—सोने का पानी भी म्लान हो जाता है।

टेनिस-लॉन पर घंटे-दो-घंटे साथ-साथ कूद-फाँद करना, हँसी-मज़ाक़ करना, हाथ मिलाना किंवा आँखें मिलाना—उसे धीरे-धीरे फीका, बेमज़ा, रोज़मर्रे-सा मसरफ़ी पुराना जँचने लगा। इस ओस चाटने से होठों पर महज़ एक नमी होती; कुछ प्यास तो बुझती न थी। वही टेनिस, वही

उछल-कूद, वही टेनिस खेलकर टहलना, वही इधर-उधर की व्यर्थ चर्चा, वही दिल्लगी, वही बटन-होल में पैंसी, वही आँखों की चोरी; इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक दिन ये सब अपने ढंग के निराले थे और अब भी अभाव में मुँह मीठा करने के लिए सरस थे—इतने दिनों की मधुर स्मृति भी इनसे जड़ित थी; लेकिन इस परिचित आमोद में तो अब नवीनता की लज्ज़त न थी, न दिल को तड़पानेवाली बेकली रह गई थी।

बिजली की उत्कंठा तीव्र होती गई। वासना की आग उसके यौवन के उन्माद को कुरेदने लगी। भद्रता के काँटे पर तुले हुए दरस-परस से तो उस तीव्र क्षुधा की शान्ति कभी मुमकिन न थी। फ़क़त दीदार की हल्की मयनोशी कुछ दिनों में शरबत-सी मीठी हो गई। उसका गुलाबी नशा भी धीरे-धीरे काफ़ूर हो चला। अब वह प्रेमी के अधरों की फेनिल शीराज़ी को—गाढ़ालिङ्गन की उग्र ब्रांडी को—पगली होकर तलाशने लगी। इतनी बात वह ज़रूर समझती थी कि अवैध निविड़ परिचय की जिस तीव्र मदिरा के लिए उसके शरीर का एक-एक ज़र्रा विक्षिप्त-सा हो रहा था, वह भद्रता की मुहर लगी हुई बोतलों में नहीं आती, और उसे समाज के लाइसेंस-प्राप्त प्राङ्गण में बैठकर वह नहीं पी सकती थी। नई रोशनी के प्रगतिशील दायरे के साये में जितने घूँट वह निःशङ्क पी सकती थी, उतनी वह पी चुकी; मगर इस चुल्लू-भर पीने की उल्फ़त ने ख़ुम-पर-ख़ुम उँड़ेल डालने की ललक दुगनी कर दी। नशेबाज़ी की यह चाट उसे पैमाने की मिक़दार को दुगना-चौगुना करने के लिए उभाड़ने लगी, और यह विषम प्रश्न अब अहर्निश उसके दिमाग़ में खौलने लगा।

दस क़दम आगे बढ़ने पर, रास्ता पथरीला ही क्यों न हो, अगर नंदन-चमन के उद्दाम उत्सव में शरीक होने की संभावना है, तो फिर रोज़मर्रे की महफ़िल की परिचित घुँघरू की आवाज़ कहाँतक दिल लुभा सकती है ?

मगर सवाल यह था कि वह आगे क़दम बढ़ावे तो किस बूते पर ! उसकी मज्जागत नारी-सुलभ लज्जा का फ़ौलादी पंजा अभी तक लालसा की गर्दन चाँपे हुए था, और यद्यपि चाँपनेवाली उँगलियों का बल धीरे-धीरे शिथिल हो चला था तथापि पूरी गर्दन उस शिकंजे से छूटती न थी। इधर उसकी धमनी के भीतर उसके पूर्वजों का रक्त-प्रहरी, मर्यादा का अङ्कुश लेकर, उसके उन्माद की गति को रोकने से बाज़ नहीं आता; और उधर मा-बाप के स्नेह का लङ्गर, प्रलयी क़ामना के तूफ़ान की चपेटों से तिलमिलाती हुई उसकी जीवन-तरी को अतल तल में बहकर डूब जाने से बचाता हुआ, भयङ्कर झोंकों को सहकर भी, अभी उखड़ा नहीं था। इस आन्तरिक घात-प्रतिघात के कारण उसके क़दम आगे बढ़ने से सहम जाते थे।

सलीम भी तो अपनी जगह से हिलता न था ! आगे क़दम रखना तो उसके लिए ज़ेबा था ! वह क्यों रुका था ? उसकी उमंग पर तो लज्जा का कशाघात नहीं था ! उसके प्रेम-प्रसून में तो मान-मर्यादा का कंटक नहीं था ! उसके रास्ते में तो समाज का पर्वत नहीं खड़ा था ! तो क्या उसके दिल में यह लगन नहीं थी ? उसकी नस-नस में खड्ग-हस्त लालसा का प्रलयी तांडव नहीं था ?

मुमकिन नहीं कि न हो। क्या बिजली की रूप-माधुरी में उस

ज़ालिम के मन के पंख नहीं फँसे थे ?

बिजली को अपनी अनुभूति का भरोसा था। सलीम की चितवन में तो कामना की लपट साफ़ थी—उसकी चेष्टा से प्रेम-याचना चुई पड़ती थी। बिजली तो प्रतिदिन इस तड़पने के तमाशे को देखती और ख़ुश होती थी। सलीम में तो हिम्मत की कमी नहीं है ? वह तो चालाक और चुस्त, दिलेर और दबंग है; वह तो कायर और दब्बू नहीं ? फिर यह संकोच क्या विवेक का ब्रेक है—संयम का अभिषेक है ?

मगर पौरुष का भूषण तो संयम नहीं ! एक नारी-जीवन के साथ खेलना तो टेनिस का खेल नहीं ! अगर उसे दिल मिलाना मंज़ूर न था, तो आँखें मिलाने से मतलब ?

बिजली इन चिन्ता-लहरियों की तह तक डूबने को ज़ोर मारती और उसकी घायल कामना कराह उठती, भवें तन जातीं और उसका स्त्री-सहज अभिमान दिमाग़ की दुनिया में मुनादी कर जाता—'इस दिल की लगी से उसका एक-एक ज़र्रा जलकर ख़ाक हो जाय, क़बूल है ; लेकिन कंगालिन बनकर वह हाथ पसारनेवाली नहीं—हरगिज नहीं !'

बिजली रात को पलँग पर पड़ी-पड़ी घंटों डूबती-उतराती; मगर किनारा न पाती, किसी निश्चय का सहारा न मिलता।

स्प्रिङ्गदार पलँग, गुदगुदे बिछौने; सन्नाटे का आलम; जाड़े की रात; ज़वानी का नशा; अरमानों का हुजूम। फिर बेकली क्यों न हो ?

इस ठंढ में भी मख़मली लिहाफ़ की गर्मी वह बरदाश्त नहीं कर सकती थी। वह एकाएक उठ बैठती, पानी पीती, पियानो छेड़ती, दो-

चार लड़ी गाती; फिर सोती, करवटें बदलती, और आँखों में रात काट देती थी।

कभी-कभी एकबारगी तकिये को छाती में समेटकर वह एक तूफ़ानी जोश में काँप उठती और मुलायम गद्दे में कसकर दाँत गड़ा देती थी! जो भी हो, दुनिया बसे या उजड़े, वह सलीम को इसी तरह भुजाओं के पाश में बाँधकर अपने दाँतों के क्षत से घायल कर देगी।

लेकिन, आधी रात के अँधेरे के बलबले सुबह की रोशनी में पिल-पिले पड़ जाते, और सलीम के सामने आने पर पानी के बुलबुले बनकर विलीन हो जाते थे।

नवम परिच्छेद

रायसाहब रेलवे की ठेकेदारी में भी कुछ रुपये लगा चुके थे। ऊपर की पॉलिसी और निगरानी की बागडोर उनके हाथ में थी, मगर रोज़मर्रे के काम को कारिन्दों पर छोड़ रखा था। ख़ासी आमदनी थी; साथ-साथ सैकड़ों की परवरिश भी। मुँशी माजिद अली की भी थोड़ी-बहुत शिरकत ज़रूर थी।

रायसाहब ज़माने की रविश से परिचित थे। रेलवे के बड़े-बड़े अफ़सरों को नज़र-नयाज़ से ख़ुश रखते। बटेरों के दिन में बटेर की डाली, बड़े दिन को बड़ी-सी चरबी-भरी टरकी, मशहूर फ़र्मों के केक और पेस्ट्री, कश्मीरी सेब और माल्टे की नारंगी; ये सब तो ज़रूरी नज़राने थे। इनके अलावा साल में एक बार अपने इलाक़े पर ज़िले के कुल अँगरेज़ अफ़सरों और उनकी बीबियों को शिकार के विहार के लिए निमन्त्रित करते। यही उनके जीवन में सबसे बड़ा सालाना जल्सा था।

तम्बू और ख़ेमे, डेरे और क़नात के ज़रिये एक छोटा-सा क़स्बा खड़ा होता। आराइश और आराम के कुल सरंजाम मुहय्या किये जाते। दोनों वक़्त छिड़काव; दोनों वक़्त सफ़ाई। गर्दोग़ुबार का नाम न रहता। बड़ी चहल-पहल होती। रायसाहब और उनके मुलाज़िम एक पैर पर खड़े रहते। उनकी पलकों के पाँवड़े बिछते। विलायती बूटों की रज को सीमन्त पर रखकर गाँव की मिट्टी सुहागिन बनती। गमलों और फूलों से गुलशन की बहार होती। शैम्पेन और ह्विस्की की सरिता बहती। चुरुट और पाइप की गन्ध से वायुमंडल आमोदित हो उठता। रायसाहब के पैर ज़मीन न छूते। मोटरों की दौड़ लगी रहती। रोस्ट और कटलेट में सिद्धहस्त 'रज़ा' बावर्ची मुज़्ज़ैयक़ डिशों की भरमार से साहबों की परान्न-वासिनी क्षुधा को प्रदीप्त करता—उनकी जठराग्नि की हाज़मे की क्षमता को दोनों वक़्त दुगनी कसरत पर बाध्य करता। सैकड़ों तीतर और बटेर इस धरती-तल के जाग्रत गौराङ्ग देव और देवियों की उदर-गङ्गा में शरण लेकर—उनके रसनामृत का प्रसाद पाकर—अपनी निकृष्ट योनि से मुक्ति पातीं!

दो दिनों तक शिकार की धूम रहती। गाँव के किनारे लम्बी झील थी। झील के भीतर, झील के बाहर, तरह-तरह के लाखों पक्षी विचरते रहते। छोटी-छोटी डोंगियों पर सवार साहब और मेमें सुबह ही शिकार खेलने निकल पड़तीं। बन्दूकों की आवाज़ से गाँव थर्रा उठता। झील के किनारे लक्ष का इन्तज़ाम रहता। शाम होते-होते घायल, बिस्मिल और मृत पक्षियों का अम्बार खड़ा हो जाता।

"आख़िर यह महंत है कौन? कोई वैष्णवी फटाकावाला साधु है?"

"जी हाँ, ग़रीब-परवर! मुझे तो अव्वल दरजे का ढोंगी नज़र आता है। मगर है बड़ा चलता-पुर्ज़ा। मठ से दो मील पर उसका घर है। वहाँ शायद बीबी-बच्चे भी हैं। कान फूँकने का रोज़गार है। उससे ख़ासी आमदनी है। घर आता-जाता रहता है। आज-कल तो इसी मठ पर डटा हुआ है। पुराने महंत तो गुज़श्ता साल क़ज़ा कर गये। उनकी तो हुज़ूर को याद होगी। बड़े सीधे-सादे फ़िरिश्ता-सूरत थे। उनका वक़्त तो पूजा-पाठ में गुज़रता था। दुनियवी मामलों से हमेशा अलग रहते थे।"

"हाँ, मुझे ख़ूब याद है; और मुझे ख़याल है कि मठ के लिए इलाक़े से कुछ बँधा भी था।"

"जी हुज़ूर! फ़सल के वक़्त चावल और गेहूँ का बँधेज था; और जब कभी महंतजी सरकार से मिलते, तब रुख़सताना भी पाते थे। मगर नये महंत के वक़्त से कोई मरासिम नहीं रहे!"

"क्यों, जारी करने में हर्ज ही क्या है? मुमकिन है, यही फ़साद की जड़ हो!"

"हुज़ूर आली! मैंने इसे भी आज़मा कर देख लिया। यह महंत तो टस-से-मस नहीं होता। मुझे तो अभी पता नहीं चलता, किधर की हवा है। अभी कुछ साफ़ खुलता नहीं। आज-कल तो यही धूम है कि चिड़ियों का शिकार इस मठ वाली झील पर हरगिज़ न होगा। मगर

साहबों के सामने यह गीदड़-भबकी·····"

"अच्छा, चलो, मैं अभी मोटर से चल रहा हूँ।"

मुंशी माजिद अली ने रायसाहब के कान में कुछ झुककर कहा, फिर दोनों खिल-खिलाकर हँस पड़े। "चाँदी के जूते से फिरिश्ते भी सर होते हैं, आदमी को कौन पूछे।"—माजिद अली ने हँसते-हँसते कहा और जेब से सिगार निकालकर एक रायसाहब को नज़र किया और दूसरा ख़ुद जलाया।

"आप तो इलाक़े पर चले और आज शाम को आपने मिस्टर स्मिथ को क्लब में पार्टी पर बुलाया है! इसको भी मद्देनज़र रखना ज़रूरी है!"

"ज़रूर। मैं तो दो घंटे में वापस आता हूँ। आप तबतक यहीं ठहरें। तमाम इन्तज़ाम पड़ा है।"

"जी हाँ, आप बेफ़िक्र रहें। मैं सब कर लूँगा। चाकलेट केक मँगवा लेता हूँ। टमाटो और ककम्बर के सैंडविच तो यहीं तैयार करा लूँगा। चाय, मक्खन, रोटी मौजूद ही हैं। होटल से दो-चार चुनिन्दा पैस्ट्रियाँ चली आयँगी। रह गईं शराब की बोतलें। मगर टी-पार्टी में तो बिलफ़ेल उनकी ज़रूरत नहीं। ख़ैर, देखा जायगा। हाँ, आख़िर पार्टी में बिजली तो जायगी न?"

"ज़रूर। उसे अभी बुलाकर कहे देता हूँ।···कोई है?"

रामू ख़ानसामा तुरत हाज़िर हुआ और हाथ में सुबह का अख़बार लेता आया।

"बिजली पढ़ रही होगी, उसे ज़रा जाकर बुला तो लाओ।"—

कहकर रायसाहब ने 'स्टेट्समैन' खोलकर एक सरसरी निगाह डाली। बिजली के कमरे बिलकुल अलग थे। पाँच मिनट में रामू लौट आया, और बिजली बच्ची ग़ुसलख़ाने में जा चुकी है, इसकी ख़बर दे दी।

"ख़ैर, कुछ हर्ज नहीं। मैं अभी वापस आता हूँ।"—कहकर रायसाहब जाने के लिए तैयार होने लगे। पैंट उतारा, धोती पहनी। कंधे पर एक गरम लोई ली। बाहर आते ही चौबेजी मिल गये। रायसाहब ने हँसकर प्रणाम किया। चौबेजी ने ललाट पर गुलाल का टीका लगा दिया और आम की मंजरी की एक नन्ही-सी डली सामने पेश की—यह नव बसन्त का सगुन है। रायसाहब ने बड़ी आजिज़ी से उसे सर पर रखा और चौबेजी से साथ चलने के लिए अनुरोध किया। मोटर खड़ी थी। रायसाहब सवार हो गये और जाते-जाते मुंशीजी को शाम की पार्टी के तमाम इन्तज़ाम सुपुर्द कर गये। मुंशीजी ने वही बँधा हुआ जुमला—'आप बेफ़िक्र रहें'—कहकर बुझे हुए सिगार को ताज़ा करने के लिए दियासलाई जेब से निकाली।

मोटर सीधे मठ तक चली आई। महंतजी उस वक़्त चौके में बैठकर वसन्त-पञ्चमी का प्रसाद तैयार करा रहे थे।

दो-तीन मज़बूत चेले लँगोट बाँधे आटा गूँध रहे थे। एक बादाम और पिस्ते की छालियाँ तराश रहा था। हंडों में घी और चीनी का अम्बार था। गरम तर माल की ख़ुशबू हवा में फैल रही थी। चिरौंजी और मुनक्के के क़तरे थालों में भरे रखे थे। क़ड़ाहों पर मनों दूध का खोवा तैयार हो चला था।

मोटर की आवाज़ पाते ही महंतजी ने खिड़की से उचक कर बाहर देखा और चुपके-से पूजावाले कमरे में जा घुसे। आप फ़ौरन् पद्मासन लगाकर कुशासन पर बैठ गये और दाहिना हाथ जप-मालिका में घुसेड़कर ब्रह्म-चिन्तन में निमग्न हो गये। आँखें ऊपर टँग गईं। गर्दन पर रामनामे की चादर खिड़की से आती हुई हवा के ताल पर थिरक रही थी। चेहरे पर सफ़ेद और काले बाल मिल-जुलकर गङ्गा और यमुना के सङ्गम की छटा दिखा रहे थे।

सामने ही सीता-राम की युगल मूर्त्ति थी। एक दोने में कुछ मिसरी के टुकड़े थे। केले के पत्ते पर गेंदे के फूलों की माला रखी थी। कोने में बासी फूलों का ढेर था। धूपदान से धूप की मीठी गंध छोटे-से कमरे में छा रही थी।

रायसाहब और चौबेजी मोटर से उतरकर बेरोक-टोक भीतर चले आये। रायसाहब ने जेब से एक गिनी निकालकर भगवान् के चरण-प्रान्त पर रखी और बड़े तपाक से सर झुकाया। चौबेजी ने साथ-साथ भगवान् की स्तुति शुरू की। गिनी की मीठी झनकार मठाधीश के कानों में गुदगुदी पहुँचाती हुई कलेजे तक पहुंची और आपके अर्द्ध-निमीलित लोचनों का एक कोना ज़रा-सा खुलकर फिर बन्द हो गया। कलेजे के कोने से उठी हुई प्रसन्नता की एक झलक आपके वदन-मंडल की नुमाइशी गंभीरता को ठेलकर ऊपर आने के लिए भिड़ गई।

दिल और दिमाग़ के परदे की लड़ाई चेहरे के आइने से कहाँ छिपती?

रायसाहब सामने आये, महंतजी को झुककर प्रणाम किया और एक गिनी की अञ्जलि उनके चरणों में भी दी। विजयिनी प्रसन्नता महंतजी के चेहरे पर फूट पड़ी। गंभीरता के पैर बिलकुल उखड़ गये—मैदान से भाग गई!

"कहिये रायसाहब, सब कुशल है? कैसे पधारे?"—महंतजी ने फ़रमाया।

"ज़िन्दा हूँ, यही कुशल है। मैं तो यहाँ कुछ काम से इलाक़े पर आया था। आज वसन्त-पञ्चमी का शुभ दिन है; इसलिए चला आया, आपके दर्शन करता जाऊँ। आप इस प्रान्त के पूज्य ठहरे। दो छन भी तो शान्ति मिले, यही बहुत है। हमलोगों को तो दम मारने की भी फ़ुरसत नहीं। रोज़ एक-न-एक झंझट। अँगरेज़ी राज्य है, अँगरेज़ों की हुकूमत है। उनका नाज़ उठाइये, तो मुश्किल; न उठाइये, तो हज़ार मुश्किल। आज-कल हमारे ज़िले का कलक्टर एक बड़ा ही ज़ोरदार अँगरेज़ है। सारा इलाक़ा थर्रा उठा है। किसीकी हिम्मत नहीं, उसकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ चूँ करे। बड़े-बड़े लीडरों के नातक़े बन्द हैं; हमलोगों की क्या गिनती? अब आप अगले हफ़्ते में अपने दो-चार मित्रों के साथ यहाँ झील पर बत वग़ैरह का शिकार खेलने तशरीफ़ ला रहे हैं!"

"रायसाहब, इन निरपराध पक्षियों की हत्या....."

"जी हाँ, यही तो मुझे भी खटक है। लेकिन क्या करूँ— चारा क्या है? अगर कुछ रोक-थाम करूँ, तो जान के लाले पड़ जायँ।

उसके तेवरों का तर्मचा चढ़ा ही रहता है। कोई हो—साधु हो, फ़क़ीर हो, राजा हो, ज़मींदार हो—किसी की दाल उसके सामने नहीं गलती। शिकार में छेड़छाड़ करना तो ख़ुद उसके तेवर का शिकार होना है—नाहक़ सर पर एक आफ़त मोल लेना है। एकाध दिन में चारों तरफ़ पुलिस का पहरा बैठ जायगा। मजाल है कि कोई खाँस भी सके?"

"तो फिर?"

"तो फिर यही देखना है कि भरसक मुजरिम पिटें और निर्दोष बिचारे बच जायँ। आख़िर पक्षियों में भी तो हर तरह के पक्षी हैं। इसी झील में बहुतेरे ऐसे पक्षी हैं, जो छोटी-छोटी मछलियों का शिकार करते हैं। यही उनकी ख़ूराक है। एक कौड़ाही कम-से-कम पचासों मछलियों को मारकर खा डालती है। अब आप ही कहें, मछलियों का जीवन भी तो जीवन है? उनके कलेवर में भी तो जान है? अगर ऐसे ज़ालिम पक्षियों का शिकार न हो, तब तो बिचारी मछलियाँ बिलकुल बे-शरण हो जायँगी। आख़िर उनकी रक्षा कैसे होगी? यही तो सृष्टि का इन्तज़ाम है। कीड़े-मकोड़े, चींटे-घोंघे वग़ैरह अगर किसी की ख़ूराक न हों, तो फिर दुनिया में कहीं खड़े होने को भी एक बालिश्त जगह बचेगी? और, फिर जो उनको उदरस्थ करता है, उसको दूसरे जीव-जन्तु हड़प जाते हैं। यही सिलसिला जारी है।"

"जी हाँ! शास्त्र भी कहता है—'जीवो जीवस्य जीवनम्'।"

"अब आप ही समझें, इस थल में, जल में, वायु में, आकाश में न जाने कितने बेशुमार जीव पैदा हो रहे हैं और नष्ट हो रहे हैं। शिकार

की यह सनातन प्रथा तो एक निमित्त मात्र है। पाप तो हमारी नीयत पर है, कुछ कर्म पर नहीं।"

"अवश्य। लेकिन, जिह्वा के स्वाद के लिए हत्या.....!"

"महाराज! स्वार्थ के लिए तो मनुष्य मनुष्य के ख़ून का प्यासा है, पक्षियों का कौन ज़िक्र! भगवान् श्रीकृष्ण ने तो अर्जुन के हाथों से करोड़ों निरपराध व्यक्तियों की ख़ूँरेज़ी करा डाली और बक़ौल उनके वे निर्लिप्त के निर्लिप्त बने रहे। राजा राजा लड़े और लाखों ग़रीब क़ुर्बान हो गये—उनके घर उजड़े। महाराज! शास्त्रों में भी तो आखेट मना नहीं है? इस शिकार—धारा का गोमुख तो सनातन की चोटियों में छिपा है! हमारे मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र भी तो जंगल में जाकर मृगों का शिकार खेलते थे, और ग़ौर कीजिये, हिरन बिचारे इन पक्षियों से भी निर्दोष हैं! उनकी ख़ूराक तो कभी कोई जीव नहीं है—महज़ घास-पात है। राजाओं के लिए तो यह शिकार की तफ़रीह बराबर से चली आ रही है। आज तो यहाँ के राजा अँगरेज़ ही हैं। आख़िर अहिंसा की मर्यादा भी एक हद तक ही ज़ेबा है। अगर यही हवा चल जाय, तो फिर तमाम मुल्क ख़ूँख़्वार से भर जाय। मर्द को छाती में दया का दूध उतारने से कहीं ज़्यादा ज़रूरी बन्दूक छुतियाना है। हम मरने और मारने से डरते हैं, तो जीते-जी हमें मर-मरकर जीना होगा। सृष्टि को क़ायम रखने के लिए संहार का दरजा कुछ भरण-पोषण से कम नहीं है। ख़ैर, अब इजाज़त हो। मैंने बहुत-कुछ आपका समय नष्ट किया। फिर दर्शन करूँगा।"

रायसाहब उठ खड़े हुए। महंतजी से जवाब पाने के लिए वे तैयार नहीं थे। सवाल-जवाब से बात बढ़ती जाती और तूल देने की उनकी मन्शा नहीं थी।

"अच्छा, प्रसाद तो लेते जाइये"—कहकर महंतजी उठे और एक पत्ते के दोने में कुछ मेवे और मिसरी रखकर रायसाहब के हाथों में छोड़ दिया। गले में गेंदे की एक माला डाल दी।

रायसाहब ने फिर झुककर प्रणाम किया, और महंतजी के साथ-साथ बाहर चले आये। ड्राइवर ने हैंडिल घुमाकर मोटर स्टार्ट किया और उस भर-भर की आवाज़ से चकित लालसर का एक दल झील से उठकर काँव-काँव करता हुआ सर पर से निकल गया।

रायसाहब दस बजते-बजते घर लौट आये।

बिजली सामने खड़ी-खड़ी मुन्शी माजिद अली से बातें कर रही थी। रायसाहब ने मोटर से उतरते ही आवाज़ दी—"बाज़ी मार ली! मेरे सामने तो हज़रत चूँ नहीं कर सके। महज़ एक गिनी की चपत में ढेर हो गये। ज़बान तालू में सट गई। मैं तो तैयार होकर गया था कि मेरे रूबरू अगर कुछ चीं-चपड़ करते, तो चुटकियों में महन्ती की भुस्सियाँ उड़वाकर छोड़ता। मगर ख़ैर; जाते ही बच्चू ने एक ही वार में ज़मीन पकड़ ली।"

मुंशी माजिद अली ने हँसते-हँसते फ़रमाया—"वाह! आप जायँ और फ़तह न हो! आख़िर उस महंत की हक़ीक़त क्या थी।"

उधर महंतजी भी बाँसों उछल रहे थे। रायसाहब की मोटर अहाते

से निकली और आपने झुककर अपने अन्तरंग अनुयायियों से फ़रमाया—"देखा, दो दिन की झड़प पर रायसाहबी की क़लई ढीली पड़ गई। सर के बल आये और गिन्नियाँ नज़र कर गये! यों ये झाँकनेवाले थे? आज तक तो इन दीवारों के भीतर इनकी छाया भी न पड़ी थी—'बिनु भय होइ न प्रीति'!"

दशम परिच्छेद

रायसाहब मोटर से उतरकर कमरे की ओर बढ़े। बिजली सामने थी। 'बस' आती ही होगी,.....आज कहाँ रुकी है?.....सलीम आता ही होगा.....'—उसके चेहरे पर प्रतीक्षा की उत्सुकता थी। मन टँगा था। आँखें टँगी थीं। उसकी चोटी का लाल रिबन प्रभात की किरन पर गुलाले का फूल बन रहा था।

"बिजली! आज शाम को पार्टी में चलना है, याद रखना।"—रायसाहब ने मुड़कर कहा।

बिजली गिरी! बिजली का स्वप्न तड़ से टूट गया—"क्यों? मुझे तो फ़ुरसत नहीं!"

"फ़ुरसत नहीं? आख़िर कौन तुम्हें ज़रूरत है?"

"मैं उस वक़्त टेनिस खेलती हूं। फिर मिस साहबा से पढ़ती हूं।"

"वहीं क्लब में टेनिस खेल लेना। पढ़ने के वक़्त तक छुट्टी हो जायगी।"

अब बिजली कौन दलील पेश करे? उसकी आँखों में नैराश्य की छाया खिंच गई!

"नहीं, मुझसे किसी नए कोर्ट पर खेलना नहीं बनता। माफ़ी चाहती हूँ!"

बिजली के शब्दों में दृढ़ता का आभास था। रायसाहब सकते में आ गये।

अँगरेज़ अफ़सरों की पार्टी में बिजली की हाज़िरी से उनके दिल को तसल्ली रहती थी। मेज़बानी की कला को वह इस अदा से अदा करती कि तबीयत लोट-पोट हो जाती। केतली से चाय को वह इस तपाक से ढालती, केक के प्लेट को—चाय के प्याले को—वह इस अन्दाज़ से बढ़ाती, चम्मच से चीनी वह इस ख़ूबी से देती कि जी चाहता हाथ चूम लें। साहबों की आँखों की मुरव्वत दुगनी हो जाती; उनकी लौकिक भद्रता के रंग पर एक विशेष शीलता की पॉलिश आ जाती। सबकी चितवन पर बिजली की छटा होती; सबकी ज़बान पर बिजली की चर्चा होती।

रायसाहब अपनी कन्या की इस विचक्षण प्रतिभा से परिचित थे और यही वजह थी कि उसको ऐसे मौक़े पर साथ रखना अनिवार्य समझते थे। इसके अतिरिक्त बिजली ने कभी पितृ-आदेश की अव-

हेलना नहीं की थी। बचपन ही से वह ज़िद्दी थी ज़रूर, घंटों वह रूठती-फूलती रही, घर-भर को परीशान भी कर डालती; लेकिन रायसाहब की बात पर जवाब देने की न लत थी, न हिम्मत।

रायसाहब फिर तमक कर बोले—"होश में आकर बातें करो! तुम्हें चलना होगा!"—इतना कहकर वे कमरे में घुस गये; फिर इनकार सुनने को तैयार नहीं थे।

बिजली का चेहरा सुर्ख़ हो गया। 'हरगिज़ नहीं'—उसकी ज़बान पर आया ही था कि चिल्लाती हुई 'बस' आ पड़ी और गली से निकलते हुए सलीम की साइकिल टकराते-टकराते बच गई। आज उसके कानों पर घंटी की आवाज़ नहीं पड़ी, चूँकि पिता के पार्टीवाले प्रश्न से उसका मन अचानक विच्छिप्त हो उठा था। सलीम साइकिल से उतर गया। बिजली को देख ठिठका-सा रह गया। बिजली जल्दी-जल्दी सीढ़ियों से नीचे उतरी। भवें खिंची हुई थीं; होठों का कोना सिकुड़ा हुआ था।

"बिजली, आज तो मुझे टेनिस से माफ़ी देनी होगी। मैं तो तीन ही बजे कॉलिज से सीधे क्लब चला जाऊँगा। तुम्हारे वालिद ने मिस्टर स्मिथ को पार्टी दी है। मुझे भी जाकर इन्तज़ाम में शरीक होना है। मामू की सख्त ताकीद है!"

बिजली को ख़ुशी और रंज एक साथ हुआ। रंज इस बात पर कि सलीम ने भी पार्टी में जाने से इनकार क्यों नहीं कर दिया। वह तो सलीम ही से मिलने के लिए पिता के अनुरोध को भी अमान्य कर बैठी थी; और सलीम की मुहब्बत में इतनी जुरअत थी कि दूसरे की पार्टी

का भार अपने सर पर लेने से साफ़ इनकार कर दे। सचमुच स्त्री का दिल कुछ और है, पुरुष का दिल कुछ और। हाँ, ख़ुश होने की तो काफ़ी वजह थी। पार्टीवाली उलझन अनायास सुलझ गई। बिजली फ़ौरन् पलट गई। बस के ड्राइवर को—'अभी आती हूं—रोके रहो'—कहकर सीढ़ियों से ऊपर दौड़ गई।

रायसाहब मौन-गम्भीर हो कमरे में टहल रहे थे। उनके चेहरे पर बदली छाई हुई थी। मोटर से उतरते वक़्त उनके वदन-मंडल पर जो रोशनी थी, वह मेघ के नीचे दब गई थी। मुंशी मजिद अली इस आकस्मिक अन्धकार को देखकर सहमे-से खड़े थे। ख़ुदा जाने, यह बादल किधर बरसेगा—कुछ दहशत-सी बनी थी। खड़े-खड़े बेवजह सिगार की राख झाड़ रहे थे।

बिजली दौड़ती हुई सामने आई।

"लाला! मदन की दूकान का एक रुक्का लिख दो। मैं एक नई साड़ी लेती आऊँगी। आख़िर पार्टी में यों ही तो न जाऊँगी? मेरे पास तो कोई नई साड़ी रही नहीं।"

एक ही झोंके में बादल फट गये। रायसाहब ने ख़ुश होकर फ़ौरन् रुक्का लिख दिया।

"मैंने तो समझा था, तुम्हें जाने से इनकार है। अब तुम सयानी हुई; ज़िद करोगी तो सज़ा पाओगी!"

"माफ़ करो! मैं पगली हो गई थी। मैं मिस साहबा को भी साथ लेती आऊँगी। स्कूल में मोटर भिजवा देना। पार्टी के बाद मैं

सिनेमा चली जाऊँगी।"

"तुम जा सकती हो, कोई उज्र नहीं।"—*रायसाहब इस वक्त प्रसन्न* थे। जो कुछ वह माँगती, ज़रूर पाती। पिता के मिज़ाज की मौज से वह परिचित थी।

वह लौट चली। मुंशी माजिद अली ने छेड़ते हुए कहा—"बिजली! मसूद की दूकान पर भी देख लेना। सुना है, बॉम्बे से नये पैटर्न की साड़ियाँ मँगवाई हैं। तुम्हारी चची ने कल एक ख़रीद की थी।"

पार्टी में वह फूल-सी खिली; फूलों में भी गुलाब का फूल—गुलाबों में भी बसरे का गुलाब। वह जिधर निकल जाती, उधर नज़रों की नज़रें गुज़रतीं—अव्यक्त अरमानों की अर्ज़ियाँ पेश होतीं। बूढ़े भी कलेजा थाम लेते। झुकी हुई गर्दनों की घटा में वह बिजली-सी चमकती थी। उसकी एक-एक अदा को लूटने को चितवनों का हुजूम टूटता था। नज़र से नज़र छिलती थी; हसरत पर हसरत पिलती थी। रूप तो था ही, उस पर फ़ैशन का शृङ्गार; शृङ्गार पर तमीज़ और अन्दाज़ की बहार। मुसकान में बिजली की चमक; आँखों में मस्ती की झलक।

बारीक फ्रेंच जार्जेट की उन्नाबी साड़ी; किनारे पर कश्मीरी चनार की ज़रदोज़ी क्यारी; रेशमी ब्लाउज़ के ऊपर सुनहले ज़रीं कमख़ाब की चुस्त नीमास्तीन; कानों में हीरे के झुमके; हाथों में मोतियों के मुन्तशे; गर्दन में उज्ज्वल पर्ल की पतली लरी; बाल पर इनेमेल सोने की तितली; माथे पर रोली की बिन्दी; चेहरे पर पाउडर और पेंट की हल्की मीनाकारी; अंग-अंग से हुस्नहिना की मीठी ख़ुशबू; और सबके ऊपर उसकी

निगाहों के करश्मे थे—उसकी मीठी ज़बान की काकली थी! उसने अपने सामने शहीदों के हुजूम को देखा और उसके अन्तर का कोना-कोना चारों ओर से बरसती हुई स्तुतियों की गुंजन से झंकृत हो उठा।

रायसाहब ने पार्टी की बागडोर उसके हाथों में दे दी। साहबों की आँखों ने भी उस रूप की आरती उतारी; उसकी रुचि और तमीज़ की तारीफें कीं! मेमों की दृष्टि में विस्मय की रेखा थी, उनके चेहरे पर सफ़ेदी फिर रही थी। बिजली प्याले में चाय देती, दूध देती और चीनी से भरा चम्मच कप की कोर पर रखकर निगाहों के इशारे से इजाज़त माँगती। वह चाय में चीनी मिलाते-मिलाते चाह की चीनी भी मिला देती। कभी सैंडविच की तश्तरी पेश करती, कभी क्रीमरोल बढ़ाती और कभी चाकलेट-केक को छुरी से टुकड़ों में बाँट एक-एक काश को प्लेट पर रखकर साहबों और मेमों से चखने का आग्रह करती। वह मुसकाती, हँसती, लचती, कानों पर बाल सुहलाती, सर पर आँचल सम्हालती, मिस्टर स्मिथ की बच्ची के गालों को चूमती, बेले के गजरे साहबों की गर्दन में डालती—सुनहले तारों की माला मेमों के गले में डालती, और आँखें बचाकर—कनखियों से—दूर कोने में खड़े सलीम को भी देख लेती।

आज वह ख़ास तरह से बन-ठनकर आई थी—"पा-पोश में लगाई किरन आफ़ताब की!" आज वह सलीम को जता देना चाहती थी कि दुनिया की निगाहों में उसकी किस दरजे की क़ीमत थी और उसके रूप-रंग में—उसके हाव-भाव में—किस हद तक मोहिनी सत्ता भरी थी! आज

भी तो सलीम समझे कि बिजली की आबदार आँखों से बिहिश्त झाँक सकता है ! उसके होठों के रस में कौसर का ख़ज़ाना उमड़ सकता है ! अब भी तो वह उस सुषमा की एक छटा के लिए तड़पे—उस कौसर की एक बूँद के लिए तरसे ! आज नहीं, तो फिर नहीं। ऐसा सुयोग फिर नहीं आ सकता। उसके रूप और कला की मनोहारिणी शक्ति किस सीमा तक जा सकती है—उसे सलीम की आँखों में उँगलियाँ देकर दिखा देना था।

वह अपनी क़िस्मत की आज़माइश के लिए तैयार होकर आई थी, और उसने दाँव पर अपना सर्वस्व रख छोड़ा था। वह सलीम से मिली तक नहीं; चम से कतराकर अलग निकल गई। सलीम की आँखों के सामने उसने पास की झाड़ी से एक अबीरी गुलाब को तोड़कर टेनिस के एक शोख़ खिलाड़ी परिचित पारसी जवान के बटन-होल में पिन्हा डाला ! वह बिचारा इस अकारण कृपा-कटाक्ष से भौंचक-सा हो गया और इधर सलीम की आँखों में ईर्ष्या की आग भड़क उठी। बिजली ने सलीम को मुड़कर देखा तक नहीं !

जादू चल गया। इस हमले से सलीम के हृदय-कपाट के क़ब्ज़े एकबारगी उखड़ गये। उसे बिजली की बिजली छू गई। प्रहरी बुद्धि की मुश्कें बँध गईं। अब वह जान पर खेलने के लिए तैयार हो गया। बिजली के दिल के भीतर उस टेनिस-प्रतिद्वन्द्वी युवक की रसाई किस हद तक है, यह जानने के लिए वह धड़फड़ा उठा। उसने आँखें गड़ा-गड़ाकर बिजली की एक-एक अदा को तौलना शुरू किया। बिजली

तितली-सी इधर-उधर उड़ रही थी। उस युवक से बार-बार मिलती और हँस-हँसकर बातें करती। सलीम की जासूसी-आँखें पीछे लगी रहीं, पर दिल चीरकर भीतर न जा सकीं। साथ-साथ बिजली के लासानी साज-शृङ्गार का जादू उसके सर पर सवार था।

छः बजते-बजते पार्टी ख़त्म हुई। मेहमानों से भरी महफ़िल सूनी हो चली। रायसाहब दो-चार मित्रों के साथ क्लब के कमरे में जा डटे। पेग और ब्रिज की सान्ध्य आराधना शुरू हो गई। उधर बिजली मिस साहबा को लेकर सिनेमा देखने चली। रज़िया और सलीम भी साथ हो गये। बिजली ने सलीम को साथ चलने के लिए तो नहीं कहा, लेकिन जब उसने आकर अपनी अर्ज़ी ख़ुद पेश की, तब तो वह हँसकर फ़ौरन् सहमत हो गई। सलीम की आँखों में एक नई चमक देखकर बिजली समझ गई कि यह दिल की किस लौ का प्रतिबिम्ब है।

सिनेमा-हॉल ठसाठस भरा था। लोग टिड्डियों की तरह पिले पड़ते थे। नीचे कोई सीट ख़ाली नहीं थी। बिजली ने जाकर ऊपर का एक बॉक्स लिया। चार कुर्सियाँ थीं। सामने की दो सीटों पर मिस साहबा और रज़िया बैठीं; पीछेवाली सीटों पर सलीम और बिजली। आख़िरी घंटी बज चुकी थी। रोशनी गुल हुई। परदा उठ चला।

एक दिलफ़रेब और दर्दनाक तमाशा था। प्रेम का सरस अभिनय। नायिका एक धनी की लड़की थी 'लूसी'। इशरत में पली; लोक में प्रतिष्ठा थी; कुल की मर्यादा थी। बिचारी एक अपरिचित युवक के प्रेम में जा पड़ी। 'जेम्स' सिपाही था। उसका ज़माना उतार पर था; लेकिन

था वह शेर-दिल। उसके हाथ में तलवार बिजली-सी खेलती थी। उसकी मज़बूत रानों की गिरफ़्त में मुँहज़ोर घोड़ों के दम उखड़ जाते थे। वह गाउंटेड ब्रिटिश बटालियन का मेजर-जनरल था। दोनों प्रेम में गुँथ गये थे। उस युगल जीवन में धूप और छाया की आँख-मिचौनी अन्त तक जारी रही। नायिका ने कुल को छोड़ा, माँ-बाप के प्यार से मुँह मोड़ा, दौलत पर लात मारी, हज़ारों मुसीबतों को ख़ुशी-ख़ुशी गले लगाया; मगर वह प्रेम-पथ से ज़रा भी न विचली। उसने कलङ्क को सीमन्त का तिलक समझा। काँटों का ताज फूल का सेहरा बन गया।

बिजली और सलीम के घायल दिल पर इस तमाशे का भयङ्कर असर पड़ा। प्रेमियों के जीवन के उतार-चढ़ाव पर वे ख़ुद उतरते और चढ़ते रहे। उस सुख-दुख की स्पष्ट लीला में वे इस क़दर लीन हो गये कि बिजली 'लूसी' बन गई और सलीम 'जेम्स' बन गया! रज़िया तो कुर्सी पर बैठी ऊँघ रही थी। मिस साहबा के स्मृति-पट पर कुछ ऐसे ही मनोहर अतीत के बादल धीरे-धीरे उमड़ने लगे और वे उसी भाव-लहरी में डूब गईं।

बिजली और सलीम तो अपनी स्थिति भी भूल बैठे। जिस क्षण परदे के ऊपर विकट सङ्कट के शिकञ्जों में प्रेमियों का अकस्मात् मिलन हुआ, उसी मुहूर्त्त दोनों की नस-नस में कुछ ऐसी तरंग उठी कि उनके हाथ एक दूसरे से अनायास चिपक गये। यह करालिङ्गन धीरे-धीरे निविड़ होता गया और उनकी पोर-पोर में बिजलियाँ दौड़ पड़ीं। बिजली की नर्म हथेली सलीम के मज़बूत पंजे में विवश पड़ी रही। सिर से सिर, गाल से

गाल, कंधे से कंधे मिलते रहे। यह मधुर आवेश तमाशे के अन्त तक निरन्तर बना रहा। सुबह से ही जिस मुराद की बन्दिश थी, वह पूरी हो गई। आज तक जो बात हिजाब के परदे में थी, वह अब साफ़ सामने आ गई। प्रवाह का ज़ोर ज़ोरदार पड़ा। लाज और लिहाज़ के मोरचे टूट पड़े। नारी-जीवन की एकमात्र भित्ति बालू की दीवार बन गई। जो लहर दिल के भीतर थी, वह जिस्म की पोर-पोर से फूट पड़ी।

बिजली ने मिस साहबा को उनके बंगले पर उतार दिया और सलीम के कंधे पर सर रखकर बन्द मोटर में बैठी घर आई। रज़िया सो गई थी, यही ख़ैरियत थी।

बिजली मोटर से उतरकर सीधे कमरे में चली गई और टूल खींचकर प्यानो बजाने बैठी। एक ग़ज़ल की धुन छेड़ी। उँगलियाँ पटरियों पर थिरक उठीं। उसने दिल खोलकर गाना शुरू किया—

"तुझे देखता हूँ, तेरी जुस्तजू है;
निराली तमन्ना, नई आरज़ू है!
पड़ी आँख में हैं दो आँखें किसी की,
जिधर देखता हूँ, सनम रू-बरू है!"

वह गाने की धुन में इस क़दर तल्लीन थी कि रायसाहब की मोटर की आवाज़ उसके कानों तक आकर बाहर ही रह गई! रायसाहब के कानों में जब बिजली के गले की मस्ती 'सनम रू-बरू है' की ध्वनि थिरकती हुई आ पड़ी, तब वे ज़रा चौंके; मुमकिन है, ज़रा सहमे भी। वे इस शोख़ी की सुरीली तान की बुनियाद देखने की ग़रज़ से पिनपिनाते

हुए बिजली के कमरे की ओर मुड़े। ज्योंही वे कमरे के सामने आये, बिजली की आधी नज़र उनके तमतमाये हुए चेहरे पर पड़ी; मगर वह ज़रा भी सकुची नहीं; उसी मदमस्ती से झूमती हुई गाती चली गई—

"मिलीं दिल को आँखें जभी मारफ़त की,
जिधर देखता हूँ, सनम रू-बरू है !"

रायसाहब एक क्षण दरवाज़े पर ठमके सुनते रहे; फिर दबे पाँव वापस चले गये। बिजली ने मुँह पर रूमाल दिया और खिलखिलाकर हँस पड़ी। वह लहराती हुई उठी और पलँग पर उछलकर लेट गई। पलँग पर पड़ी-पड़ी वह अपने हाथों को चूमती रही और सोचती रही—'अब क्या है ! अब तो खुलकर बातें होंगी।'

सिनेमा के तमाशे ने तो उसके भविष्य के पथ का दिग्दर्शन करा ही दिया ! समाज जहन्नुम-रसीद हो; धर्म पर लानत बरसे। प्रेम के आगे सब झूठ हैं। लूसी और जेम्स का आदर्श उसके लिए अँधेरे में सितारा हो गया। वह अब अपने लक्ष्य से हिल नहीं सकती।

बिजली अपनी उमंगों के ताल पर थिरक उठी। कामना का घुँघरू बजता रहा। उसके अन्तर का उत्स उसके एक-एक अंग के तोड़ से फटा पड़ता था। आज पार्टी और सिनेमा दोनों की मदद देवता की मदद हो गई। क़िस्मत की चित्ती कमाल की पड़ी। वासना की बिसात पर पहली गोटी लाल हो गई।

एकादश परिच्छेद

आज टेनिस टूर्नामेंट का फ़ाइनल मैच है।

यह क्लब का एक सालाना जलसा-सा है। बाहर से भी कितने वीर आकर शरीक हुए थे। मेम्बरों ने ख़ासा चन्दा उठा लिया था और क्लब के सभापति रायसाहब ने तो पूरी दिलचस्पी ली थी।

शहर में इस टूर्नामेंट की धूम थी। पढ़ी-लिखी पब्लिक की ज़बान पर यही चर्चा। पारसाल के विजयी शैम्पियन हमारे परिचित पारसी युवक हैं। आपका नाम 'मिस्टर मेहता' है। तीन साल से लगातार आप ही 'कप' ले रहे हैं।

दस दिनों तक टेनिस का बाज़ार गरम रहा। क्लब में बड़ी चहल-पहल रही। कुर्सियों पर टिकट लग गये। बाँसों के घेरे बाँधे गये।

सामने की कुर्सियाँ साहबों और भद्र महिलाओं के लिए रिज़र्व कर दी गईं। सफ़ेदपोशों की अच्छी भीड़ थी। बाहर के आये हुए टेनिस-बाँकुरों ने अपनी-अपनी करामात दिखाई; मगर किसी की एक न चली। आख़ीर तक सब छँट गये। रह गये सलीम और मेहता।

सनीचर का दिन है। सुबह से ही क्लब में फ़ाइनल मैच की तैयारी। टिकट ड्योढ़े कर दिये गये; फिर भी माँग काफ़ी रही। वकीलों की अर्ज़ी हाकिमों ने मान ली। लञ्च के बाद ही कचहरियों के काम स्थगित कर दिये गये। तीन बजते-बजते भीड़ जम गई। और क्यों न जमे, *टेनिस का तमाशा और शाम का नाश्ता!* *तिस पर रायसाहब* 'ऐट होम'।

एक ओर मेज़ पर ह्विस्की और वर्मूत की बोतलें, दूसरी मेज़ पर कुल्हड़ों में ज़ीरे का जल। इधर सोडा, लेमनेड और जिंजर की पेटियाँ, उधर अनार और संतरे के शरबत। एक ओर मिट्टी की रकाबियों में बर्फ़ियाँ और पेड़े, दालमोट और समोसे, पापड़ और भुने चने सजे रखे हैं, दूसरी ओर चुहचुहाते प्लेटों में क्रीम और चीज़ की चीज़ें; केक और पेस्ट्री की मौज! चुक्कड़ों में चाय, कपों में 'टी'।

आजकल पार्टियों का अजब दस्तूर है। एक पार्टी के भीतर अलग पार्टियाँ चलती हैं। जहाँ एक घर में दो चौका होना जायज़ है, वहाँ एक पार्टी में दो जमात होनी कोई बात नहीं। जात-पाँत माननेवाले, जात जाने के डर से, कुजातों के साथ नहीं बैठते; मगर उन्हीं कुजातों की महफ़िल में कोई धनी-मानी जाति-भाई हो, तो उसके घर लड़कियाँ देने में

किसी को कभी उज्र नहीं। शायद बेचारों की जाति भी बिचारी होती है; धनी की तो पाँचों उँगलियाँ घी में रहती हैं। साहबों के दल में जो नाक कटाकर शामिल हो गये, उनकी नाक ऊँची रहनी ज़रूरी है, दिल ऊँचा हो या न हो। केक और पेस्ट्री के मुक़ाबले इमरती और बरफ़ी लाख मीठी क्यों न हों; मगर जबतक वे मिट्टी की रकाबियों से उचककर प्लेटों पर नहीं जातीं, तबतक सफ़ेदपोशों में उनकी गिनती नहीं होती। जबतक केलनर की केतली से चाय नहीं चलती, तबतक वह साहबों को और साहबों के मुसाहबों को मीठी नहीं जँचती। रस नीरस भी हो, तो चन्दा हर्ज नहीं; पर रूप रसीला होना ज़रूरी है। विलायती बोल सीखकर देशी मुर्ग़ी भी रंग लाती है; पर पर बदलकर पार्टी में वह जो थिरके, आख़िर तो पर-कटी, परिन्दों की पाँत में वह कहाँ तक पर मार सकेगी?

पार्टी में हर तबक़े के लोग थे। कहीं हारमन के सिले हुए सर्ज और ट्वीड सूटों की तड़क-भड़क थी; कहीं खादी-भंडार के पट्टू पशमीने के कोट और शेरवानी की सजावट थी। पैंट और बूटों के मुक़ाबले धोती और नागरे भी नज़र आते थे। मेमों के विचित्र और रंगीन गाउनों से बनारसी साड़ियाँ लोहा ले रही थीं। चेस्टरों की चुनौती पर चादरों की चुहलें थीं। हैटों की हेंकड़ी पर गांधी-टोपी की चुटकियाँ।

बिजली का अबतक पता न था। उसे मैच में आने की हिम्मत न थी। स्कूल से वह टिफ़िन की छुट्टी के क़बल ही घर लौट आई थी। वहाँ किसी हँसी-खेल में उसकी तबीयत न रमी। 'आज मैच में सलीम की क्या गति होगी? अगर कहीं दैव प्रतिकूल हुआ, तो उसके दिल पर

बड़ी गहरी चोट पड़ेगी। फिर तो शर्म से कहीं रूपोश न हो जाय·····'—वह आगे सोच न सकी। वह जानती थी कि कहा-सुनी, तनातनी में मामला इतना खिंच गया है कि सलीम का बनना-बिगड़ना इसी मैच पर निर्भर है। दो दिन से सलीम ने भर-मुँह बात तक नहीं की है।

मोटर से उतरकर वह अन्दर महल में अपनी माता के निकट चली गई। विमला के तो विस्मय की सीमा न रही। बिजली कभी भूली-भटकी भीतर आती। आज क्या है? बिजली सोई हुई पीड़िता माता के पैताने जाकर बैठी। दवा देने का वक्त था। विमला ने इशारा किया। बिजली ने गुनगुने पानी से कुल्ला कराया और एक खूराक दवा अपने हाथ से ढालकर पिला दी। विमला ने धीमी आवाज़ से पूछा—"आज इस वक्त कैसे चली आई हो?"

"यों ही, तुम्हें देखने।"—कहकर वह चुप हो गई।

"कुछ खाओगी? श्यामा ने कुछ ताज़ी पिस्ते की गिलौरियाँ भेज दी हैं!"

"नहीं, मुझे भूख नहीं है।"—कहकर वह उठ खड़ी हुई और ताक पर रखी हुई रामायण की फटी-पुरानी पोथी को उठा लिया। उसने उसे पलँग की पाटी पर दो बार हल्के हाथ से पटका; गर्द उड़ी और कीड़े जा पड़े। वह खोलकर पढ़ने लगी—

"लोचन जल रह लोचन कोना।
जैसे परम कृपन कर सोना॥"

आगे पढ़ न सकी। आज उसकी भी ठीक वही दशा है। वह

फिर डूब गई—"भगवान जाने, क्या होगा! मेहता भी तो बड़े ज़न्नाटे का सर्विस करता है। उसके हाथ भी तो कमाल के सुबुक हैं। उसके पैतरे भी मुक़ाबले के होंगे। मगर नहीं, सलीम कहीं हुशियार है। वह अपनी पासिंग से बाज़ी मार लेगा। वह शेर-दिल है। उससे और हार से क्या सरोकार? फिर भी चांस को कौन कह सकता है? बड़े-बड़े खिलाड़ी भी नवसिखों से पिट जाते हैं। कहीं सलीम हार गया तब तो·····।"

बिजली रुक गई। उसके हृदय का स्पन्दन सवेग हो गया। वह बाहर अपने कमरे में चली आई। साबुन मलकर मुँह-हाथ धोया। साड़ी बदली—फीकी अंगूरी। सादा-सा एक ज़म्पर पहना। चेहरे पर क्रीम की वार्निश दी। आइने के सामने खड़ी होकर अपने हठीले बालों को पिनों के पाश में बाँधा।

बरसाती में मोटर खड़ी है। ड्राइवर हॉर्न-पर-हॉर्न दे रहा है। रामू ख़ानसामा चिल्ला उठा। रायसाहब ने उसे लाने के लिए क्लब से मोटर भेज दी थी।

"आ रही हूँ!"—कहकर बिजली ने आलमारी के दराज़ से रेशमी रूमाल निकाला और व्यग्रता से चञ्चल सेंट से भरी शीशी उस पर उँड़ेल दी। कार्पेट का एक हिस्सा जैसमिन के क़तरों से तर हो गया।

अचानक उसकी दृष्टि दीवार पर टँगी घड़ी पर पड़ी—"सवा चार! उफ़! देर हो गई। खेल शुरू हो गया होगा!" वह उतावली-सी होकर आगे बढ़ी। अचानक दरवाज़े पर ठिठक कर खड़ी हो गई।

सामने सड़क पर एक औरत हाथ में पीतल का घड़ा लिये नल पर पानी भरने जा रही है। बिजली को अचानक ख़याल हो आया—बचपन में उसने माता के मुख से सुना था कि यात्रा पर ख़ाली घड़ा देखना शुभ सगुन नहीं होता। वह खड़ी देखती रही। उस औरत ने हाथ-मुँह धोया। पाइप के मुंह पर अंजली टेककर जल पिया। आँचल से मुँह पोंछा। ललाट से टिकली सरक गई थी, उसे अपनी जगह पर वापस किया। फिर घड़े के मुँह में हाथ देकर पुआल के लूँड़े से उसे माँजना शुरू किया।

नल के दाहिनी जानिब, सड़क के किनारे, एक ज़रा-सा गढ़ा होकर कुछ पानी इकट्ठा हो गया था। उस चुल्लू-भर पानी में एक पालतू कबूतर मटक-मटककर किलोल कर रहा है। वह पानी में डैनों को फटफटाता, सर धुनता, अँगड़ाइयाँ लेता, छप-छप करता और चोंच डुबो-डुबोकर जल छींटता; फिर उचककर पास ही खड़ी हुई एक कबूतरी के कानों में कुछ गुटरगूँ कह आता।

अकस्मात् बिजली को ख़याल हो आया कि कल शाम को खेलकर लौटते वक़्त सलीम ने झुककर उसके कानों में कहा था—"बिजली ! मैच में आओगी न ? तुम्हारी मौजूदगी से मेरी दुगनी हिम्मत हो जायगी। चुटकियों में 'लव सेट' दे दूंगा !"

वह तड़ से बाहर आ गई। मोटर के पास ज़रा-सा ठमकी। आँखें घड़े पर पड़ीं; घड़ा भर रहा था—आधा से ज़्यादा भर चुका था। पाइप के मुंह से पानी ज़ोरदार जा रहा था। भरा घड़ा जब सामने से

गुज़रने लगे, तब ठीक उसी वक़्त वह मोटर पर सवार होगी! उसने मोटर स्टार्ट करने का इशारा किया। घड़ा भरकर पानी छलकने लगा। उस औरत ने पाइप के हैंडिल से हाथ हटा लिया और घड़ा उठाकर सामने आने लगी।

बिजली टप से मोटर में जा बैठी। वह अग्नि-नन्दिनी हवा हो गई।

बिजली के आते ही एक हल्की-सी सनसनी फैली। दर्शकों ने रास्ता दिया। वह सामने चली आई। पिता की कुर्सी के निकट आकर खड़ी हो गई। "इतनी देर क्यों की?"—रायसाहब ने तमककर पूछा।

"सर में दर्द है!"—बिजली ने इस हिसाब से कहा कि पास खड़े हुए लोग भी सुन लें; नहीं तो बिचारी अपने चेहरे की परीशानी की क्या सफ़ाई देती? वह संयत होने की ज़रूर कोशिश करती, चेहरे पर प्रफुल्लता लाने के लिए मन पर चाबुक लगाती, सलज्ज नेत्रों से मुस्कुराकर मित्रों के अभिवादन को स्वीकार करती; लेकिन उसकी पोर-पोर में न वह मलय-चाञ्चल्य था, न आँखों में विद्युत्-कटाक्ष।

जो हो, उसके रूप की सहज शोभा कुछ कम मोहिनी नहीं थी। दर्शकों की एक आँख उस पर थी, दूसरी टेनिस पर। बिजली की दोनों आँखें सलीम पर थीं। दोनों का कौन ज़िक्र? उसका तो रोआँ-रोआँ आँख बना था—एक-एक साँस दुआ बनी थी!

उसने झुककर, दबी ज़बान से, मिस साहबा से पूछा—"कहाँ तक·····?" फिर वहीं रुक गई।

"सलीम तो पहला सेट हार गया—दो गेम से !"

बिजली सन्न हो गई। उसने कुर्सी के बाज़ू को थाम लिया। गालों की लाली पर सफ़ेदी दौड़ गई।

"तो क्या·····"

"नहीं, ज़रूर सम्हाल लेगा। तमाशा तो देखो !"

बिजली खिसककर सामने आ गई। सलीम ने बिजली को देखा। आँखों से आँखें मिलीं। मिलते ही बिजली पैदा हो गई—सलीम की नस-नस में दौड़ गई। वह जोश में आ गया। चार लपेट में उसने सर्विस गेम ले लिया ! तालियाँ पिटीं। खेल में मज़ा आ गया। ग़ज़ब के पैंतरे शुरू हुए। सलीम ने वॉलियों की झड़ी बाँध दी। तहलका-सा मच गया। देखते-ही-देखते सलीम ने सेट ले लिया !

रेफ़री ने 'वन् ऑल' पुकारकर रूमाल से मुँह पोंछा। तीसरा और अन्तिम सेट शुरू हुआ। मेहता ने भी कमर बाँधी। लम्बे ड्राइव में कमाल की कुशलता दिखाई। पहला गेम ले लिया। दूसरे को भी ले लिया।

बिजली कुर्सी छोड़कर उठी और तिलमिलाती हुई रेफ़री के पास आकर खड़ी हो गई। उसकी आँखों का पानी आँखों में ही सूख गया। उसके चेहरे पर एक रंग आ रहा था, दूसरा रंग जा रहा था। उसने कलेजे पर हाथ रखकर सलीम को अपनी बेकली जताई।

सलीम ने फिर ज़ोर बाँधा। बराबर कर दिया। तीसरा गेम भी ले लिया। चौथे में सलीम के रैकेट से छूटकर गेंद कोर्ट की अंतिम

रेखा से बिलकुल मिला हुआ गिरा।

'How is it ?'—सलीम ने पुकारा।

रेफ़री ने उसे 'आउट' कहकर ख़िलाफ़ राय दी।

बिजली उबल पड़ी। "साफ़ चूना उड़ा है! गेंद लाइन पर गिरा है!"—उसने तिनककर कहा।

रेफ़री ने कोई जवाब नहीं दिया; अपने निश्चय पर डटा रहा।

बिजली की इस धृष्टता पर मिस साहबा सहम गईं। ज़रा खीजकर बोलीं—"चुप रहो, तुम्हें क्या पड़ी है ?"

बिजली बड़बड़ाकर चुप हो गई।

चार-चार बराबर हो गये। पाँचवाँ शुरू हुआ। बिजली की बेकली फूट पड़ी। काटो तो ख़ून नहीं! प्राण चितवन पर टँग गये। अब तो चरम मुहूर्त्त आ गया; इस पार या उस पार—जीवन या मरण! सलीम ने पाँचवाँ गेम ले लिया। छठा चला।

बिजली को अचानक अपने घर की देवी याद आ गईं—वही, जिनके चरणों पर वह बचपन में अपनी माता के साथ सर झुकाती थी—वही, जिनके प्राङ्गण में उसने दो बरस से कभी झाँका तक न था। आज मँझधार में डूबते वक्त मन का काँटा अनायास उधर झुक पड़ा। आँखें डबडबा गईं। उसने धीरे से अपनी गरदन में आँचल लपेटा और मन-ही-मन मिन्नतें माँगीं।

शायद कुछ ऐसे ही आवेग से एक दिन झरोखे से झाँकती हुई सीता ने गिरिराज-किशोरी के हुज़ूर में चाप की गरुआई हरने के लिए अपनी

विनीत अर्ज़ी पेश की थी !

बिजली की दुआ क़बूल हुई। सलीम ने सेट जीत लिया। करतालियों की तुमुल ध्वनि उसके कानों में बड़ी मीठी पड़ी। और क्यों न हो, मन ही के अधीन तो इन्द्रियों की सत्ता है !' अगर सलीम हारता, तो यही ध्वनि कितनी विकट हो जाती ?

रामचन्द्र के धनुष तोड़ने की आवाज़ प्रचण्ड वज्र-टङ्कार से भी कहीं भयंकर थी—पृथ्वी तक काँप उठी थी; मगर वही युगान्त हुँकार सुकुमारी जानकी के कानों में क्या पीयूष की वर्षा होकर नहीं पड़ी ? उसके लिये तो वह शहनाई की सुरीली तान से भी मधुर थी !

सलीम हँसता हुआ सामने आया। ज़बान तो बन्द थी, लेकिन हृदय की प्रतिनिधि आँखों ने सरकार का सन्देश सुना दिया। चितवन की कोर में कृतज्ञता की झलक थी।

रायसाहब ने फ़ौरन् आकर उसके दोनों हाथों को अपने हाथों में ले लिया। 'शाबाश'—कहकर मुँशी माजिद अली ने पीठ पर एक स्नेह का थप्पड़ लगा दिया।

बिजली बिजली सी चमक उठी। सर-दर्द हिरन हो गया। सलीम ने देखा कि उसकी चितवन की चेष्टा में मिसरी की पगी चाशनी है; उसके अंग-अंग के मरोड़ में नवीन उल्लास की स्फूर्ति।

इधर बिजली खड़ी-खड़ी सलीम को देखती रही। सलीम की कमीज़ पसीने से तर हो रही थी। जगह-जगह भींगकर चिपक जाने से उसके शरीर की स्वस्थ सुन्दर गठन—कंधे, गरदन और छाती की प्रशस्त

सुषमा—साफ़ नज़र आ रही थी। उसके लम्बे-लम्बे काले बाल आँखों तक लटक आये थे और बायें हाथ से उन्हें ऊपर उठा देता था। बग़ल में रैकेट था और दाहिने हाथ में लेमनेड से भरा गिलास।

सलीम ने गरदन में मफ़लर लपेटा। स्वेटर पहनकर ब्लेज़र का कोट कंधे पर रख लिया। हमजोलियों ने मुबारकबादियाँ दीं। फिर मुहब्बत की लपट-झपट हुई। क़हक़हे लगे। चाय-नाश्ता का सिलसिला शुरू हुआ। यारों ने तश्तरियाँ चाट डालीं। जेंटिलमैनों ने प्लेटों की ख़बर ली। जाम चला; कुल्हड़ भी चला। सिगार का धुआँ भी उठा; गिलौरियों की होली भी मची।

रायसाहब ने अँगरेज़ अफ़सरों से उसका परिचय कराया। मिज़ाज-पुर्सी हुई। दो-चार भद्रता की बातें चलीं। मेमों ने चन्द चुने हुए अलफ़ाज़ में शाबाशी दी; सलीम ने शर्म और आजिज़ी से सर झुका दिया।

रायसाहब ने एक छोटी-सी स्पीच दी। मिसेज़ स्मिथ ने सलीम को कप नज़र किया। तालियाँ पिटीं। भीड़ छँटी।

द्वादश परिच्छेद

दस मिनट बाद बिजली मिस साहबा के साथ मोटरगश्ती को निकली। आध घंटा इधर-उधर घूमती रही। मैदान की हवा, नदी-किनारे की हवा, पार्क की हवा, जन-संकुल बाज़ार की हवा, गन्दी गलियों की हवा—आज हर कोने-अँतरे की हवा नन्दन-कानन की हवा-सी सुख-प्रद है। और क्यों न हो, नन्दन-कानन तो उसके मन का प्राङ्गण बना है, और यह हवा उसी खुली हुई दरीची से निकलकर विश्व चराचर पर फैल रही है। यह तो मन की हवा है, बन की हवा तो थी नहीं। और, जब मन पर वसन्त की लपट है, तब फिर चारों ओर समीर में मकरन्द का रस क्यों न होता?

बिजली ने एक-एक ज़र्रे पर एक नया रंग देखा। फूल पर, पत्तियों पर, मिट्टी के ढेलों पर, फूस की झोपड़ियों पर, पक्की हवेलियों पर, ईंट पर, घास पर, पत्थर पर—हर जगह एक मनोहर रंग की

छलक। और क्यों न हो, यह छलक भी तो उस रंगीन मन की छाप है। धरती पर आसमान से तो कोई नया रंग बरसा न था! जो रंग चू रहा था, वह उसीके मन के रंग का प्रतिरंग था।

सहसा मोटर एक ठेले से जा लड़ी! ठेले पर बिसाती की छोटी-मोटी दूकान थी। कंघी, फीते, आइने, कचकड़े के खिलौने, झुनझुने, रेशम के गोले, कच्चे मोती के झुमके धक्के खाकर सड़क की नाली में जा पड़े। बिचारा बूढ़ा बिसाती हबड़बा गया। उसने गिड़गिड़ाकर ड्राइवर से कहा—"बाबूजी, तुमने तो मेरी लुटिया डुबो दी! ये सिंगार की चीज़ें हैं, नाली में गिरकर बरबाद हो गईं। अब तो ये आधी क़ीमत पर भी न बिकेंगी। मेरे बच्चे कलप-कलपकर....."

श्यामसिंह कोई इक्के या ताँगे का ड्राइवर तो था नहीं; यानों में राजयान का सारथी था। उसने डपटकर कहा—"क्या बकता है! तेरी दो कौड़ी की चीजों की क्या बिसात! सरासर तेरी भूल है। तूने ठेले को किनारे पर क्यों न रखा? देखता नहीं, मोटर का मडगार्ड टेढ़ा हो गया?"

"भाई, तुम्हारी तो यह शौक़ की चीज़ है और ये सब"—बूढ़े ने उन बिखरी हुई चीज़ों को दिखलाकर कहा—"मेरे तमाम घर की रोटी हैं।"

बिजली पहले तो बहुत झल्लाई; क्योंकि अचानक धक्के खाकर उसकी मानस-दृष्टि से उसका माया-लोक लुप्त हो गया, वह स्वप्न-सौध चकनाचूर हो गया; वह न जाने किस मधुर आवेश में विभोर बैठी थी। और दिन रहता, तो शायद वह उसे पुलिस के सुपुर्द करने का हुक्म देती; लेकिन आज उसके मन के भाव कुछ और थे। वह

फ़ौरन् उतर पड़ी। कीचड़ में सनी कुल चीज़ों को उसने पूरी क़ीमत पर ख़रीद लिया और फिर उन्हें उसके बच्चों के खेलने के लिए उपहार दे दिया।

मिस साहबा तो बिजली की इस दरियादिली पर मुग्ध हो गईं। उसके दिल के इस पहलू का उनको पता न था। बूढ़ा बिसाती तो इस विशाल हृदय का परिचय पाकर उसके पैरों पर लोट गया।

बूढ़े का गला रुँध गया, और क़बल इसके कि उसके भाव आशीर्वाद में परिणत होकर ज़बान के दायरे में आ सकें, बिजली की मोटर हवा हो गई और मिस साहबा के बँगले के अहाते में जा पड़ी।

मिस साहबा मोटर से उतरकर बिजली की ओर मुड़ीं—"क्या पढ़ोगी? किताबें लाई हो?"

"आज तो छुट्टी·····"

"नहीं-नहीं, इम्तिहान सर पर आ गया है। मेरी ज़िम्मेवारी भी तो समझो। हिसाब में तुम बिलकुल कच्ची रह गई। मैं ग़ुसल में जाती हूँ, तबतक तुम कमरे में बैठकर हिसाब बनाओ। मैं दिये देती हूँ।·····ग़फ़ूर—ग़फ़ूर!"

"जी हुज़ूर"—उधर से आवाज़ आई।

"ग़ुसल का पानी तैयार है?"

"जी हाँ, टब में पानी भर दिया है।"

"पॉल कहाँ है?"

"कहीं बाहर गये हैं। खाने के वक़्त तक वापस होंगे।"

मिस साहबा भीतर चली गईं। बिजली कमरे में न जाकर बरसाती के बाहर लॉन में टहलने लगी। आज उसके माथे में एक उथल-पुथल की लीला चल रही थी, वहाँ अंक जोड़ने की न फ़ुरसत थी, न गुंजाइश।

लॉन के कोने में दो-तीन बेंत की कुर्सियाँ पड़ी थीं। गुलाब की क्यारियों से एक मीठी ख़ुशबू उड़ रही थी। बिजली को आज तक कभी ऐसी मीठी सुरभि नहीं मिली थी—

कि हठात् साइकिल की घंटी की परिचित आवाज़ उसके कानों पर आई। वह चौंक पड़ी। आवाज़ निकट आई। देखते-देखते सलीम आ पहुँचा। उसने टेनिस के खम्भे के सहारे साइकिल खड़ी कर दी, और 'आख़िर तुम्हें ढूँढ़ निकाला'—कहता हुआ बिजली की ओर लपका। उसके हाथ में आज का वह विजय-चिह्न—'कप'—था।

बिजली पत्थर की प्रतिमा की तरह चुप खड़ी रही।

रात हो चली थी। सन्नाटे का आलम। आकाश पर सितारों की झिलमिल। हवा पर हुस्न-हिना की लपट। रजत-रश्मियों की मीठी मुस्कान से हरी दूबों की लॉन आसमान पर थी।

वह अकेली थी, और सामने था सलीम। जिस मुहूर्त्त की तलाश में उसके प्राणों की एक-एक सत्ता सचेत रहती थी, वही सुयोग जब अचानक इतना सन्निकट आ गया, तब न जाने किस अव्यक्त आतङ्क से वह ज़रा-सी सहम उठी।

सलीम ने झुककर उस विजय-कप को बिजली के क़दमों पर रखा और घुटने टेककर बड़े मुलायम स्वर में कहा— "बिजली, आज तुम न

आती, तो मेरे सर पर फ़तह का सेहरा न बँधता। तुम्हारे क़दमों की बरकत है; उनकी मदद है जो मुझे यह कप मिला। तुम्हारी दी हुई चीज़ तुम्हीं को नज़र है!"

"मैंने तो कोई मदद नहीं की! मैं तो चुप खड़ी होकर मैच देख रही थी।"

"बिजली, तुम इसे झूठ समझती हो। मैं सच कहता हूँ, अगर तुम न आती, तो मैं हार चुका था। तुम्हें क्या मालूम, तुम्हारे आते ही मेरी नस-नस में कहाँ की बिजली समा गई! उसी लहमे से तो मैच की धारा पलट गई। तुम्हारी आँखों से तुम्हारी रूह टपक रही थी। मेरे लिए वह ग़ैबी मदद से कम न थी। मेरी हिम्मत की आन दुगनी हो गई। मैं ख़ुद ज़ेर हो जाता, तो कुछ परवा न थी; लेकिन जीते-जी मैं तुम्हें तो हरा नहीं सकता था! मुझसे ज़्यादा तुम्हीं को हारने का मलाल होता। मैं तो फिर तुम्हारे सामने मुँह तक न दिखाता!"

भगवान् जाने, बिजली की मौजूदगी से सलीम को मदद मिली या नहीं; और अगर मिली भी तो किस कमाश की, किस हद तक मिली। यह कोरी चापलूसी थी या सचमुच उसके अन्तर की धारणा; यह राज़ तो उसके अन्तर्यामी के सिवा किसी दूसरे पर खुला नहीं।

शायद सलीम बिजली की ख़ुशामद-पसन्द तबीयत से परिचित था। पूजा की ज़बानी श्रद्धाञ्जलि पाकर वह सर्वस्व लुटाने पर भी तैयार हो जाती।

जो हो, वह तीर निशाने पर पड़ा और जिगर से पार हो गया!

बिजली मोम हो गई और घुलकर ढुलक पड़ी। सलीम ने उसको भुजाओं में कसकर छाती से लिपटा लिया और उसके होठों पर होठों को जमाकर एक प्रगाढ़ प्रमत्त चुम्बन अङ्कित किया। बिजली के कलेजे ने मुँह पर उचककर इस अमृत के अर्घ्य को लोक लिया। रस का सागर सागर में आ गया। यौवन की प्यास ने कौसर को लूट लिया।

यौवन का यह प्रथम चुम्बन इस मर्त्य-जीवन का एक अनन्त मुहूर्त्त है; जिसे समय-प्रवाह कभी विलीन नहीं कर सकता। यह चुम्बन नहीं, हृदय का मन्थन है, पीयूष का प्लावन है। दुनिया की निखिल न्यामतें इस रस के आगे फीकी हैं। विश्व का समग्र ऐश्वर्य इस एक बूँद पर निछावर है। यह संसार का सार है—जीवन का जीवन है।

बिजली रस के हौज़ में डूब गई। शरीर का एक-एक ज़र्रा अवश हो गया। आँखें बन्द थीं—चूर थीं। अलसाई पलकें मुँदी हुई शतदल की पाँखुरी थीं। सर का आँचल सरककर कमर पर जा पड़ा। गले की चेन सीने पर उखड़ गई। लटें चेहरे पर छा गईं। कानों के झुमके चोटी में उलझ गये। अंग-अंग में जड़ता और चितवन में अलसता।

मिनटों तक यह स्थिति बनी रही। अचानक किसी के पैरों की आहट पाकर सलीम अलग हट गया। बिजली सामने की कुर्सी पर गिरती-पड़ती बैठ गई।

"बिजली!"

"सलीम!"

"आज तो मैंने कौसर का मज़ा चख लिया। तुम्हारे होठों की

कोंपलों में इतनी लज्जत !"

"सलीम, यहाँ रहकर हम-तुम दोनों एक नहीं हो सकते। चलो, कहीं दूर चलें। आख़िर यह चोरी कब तक चलेगी !"

"जब तक चले"—सलीम ने ज़रा हँसकर कहा।

"नहीं, इन छींटों से तसल्ली नहीं होती। ओस चाटने से प्यास नहीं बुझती !"

बिजली की चाट दुगनी हो चली थी। उसकी चितवन से चाह की चिनगियाँ बरस रही थीं।

"लेकिन बिजली ! दुनिया क्या कहेगी ?"

"यह दुनिया तो साथ जायगी नहीं। फिर नेकनामी और बदनामी का सवाल ही कहाँ रहा !"

"तो कब तक तुम्हारे इरादे....."

"फ़ौरन् ! बिजली जिस बात पर कमर बाँधती है, वह उसे सर किये फिर कमर नहीं खोलती !"

"तुम्हारा इम्तिहान तो बिलकुल क़रीब है !"

"जान के बाद इम्तिहान है !"—बिजली की आवाज़ कुछ तीखी थी—"हमारे सामने इस वक्त दूसरा इम्तिहान है। उसी पर जान है—ईमान है। एँड़ी-चोटी का ज़ोर लगाना है। युनिवर्सिटी की डिग्री के बदले बदनामी की डिग्री लेनी है, और यही डिग्री मेरे सर की कलँगी होगी !"—बिजली ने मुस्कराती हुई आँखों से देखकर कहा।

"बिजली, मैं तो तुम्हारे क़दमों में बिक चुका हूँ। मुझे क्या डर है ?

और ख़ुसूसन, जब मुझे बहिश्त की सल्तनत मिलने जा रही है! मुझे जो कुछ फ़िक्र है, महज़ तुम्हारे लिए; चूँकि तुम्हारी रुसवाई होगी—तुम्हारी गरदन में काँटों का हार होगा!"

"वही काँटों का हार मेरा कोहनूर का हार है! मैं उसी हार पर हरी-भरी रहूँगी। तुम बेफ़िक्र रहो।"

"मेरे लिए तुम दुनिया की ऐशो-इशरत, माँ-बाप की मुहब्बत, घर का रुतबा, मज़हब का तबक़्क़ा—सब कुछ तर्क करने जा रही हो..... और मैं किस क़दर नाचीज़ और कमज़ोर हूँ! मैं तुमको देखकर जब अपने को देखता हूँ, मेरी आँखें शर्म से गड़ जाती हैं!"

"सलीम, मुहब्बत के गुहर के सामने दुनिया की और न्यामतें काँच के टुकड़े हैं! तुम मुसलमान हो या ईसाई, मुझको तो इससे बहस नहीं। परवाना तो आग की लौ पर जाता है। वह लौ उसको देशी फ़ानूस के भीतर मिले या विलायती लैम्प की चिमनी में, मिट्टी के चिराग़ पर मिले या सोने के शमादान पर—इससे तो उसको बहस नहीं! मैं जानती हूँ कि आदमी से आदमी को अलग करने के लिए जितनी दीवारें दुनिया में खड़ी हैं, उनमें मज़हब की दीवार लोहे की तीलियों से बनी है। लेकिन, इतिहास के पन्ने उलटकर देख लो, मुहब्बत के ज़लज़ले के सामने इसकी कीलें पलक झिपते उखड़ गईं और कोई भी रुकावट कामयाब न हो सकी। सलीम, मेरे लिए जो राम है, वही रहीम है; जो गीता है, वही क़ुरान की सुरा है। मेरे दिल पर न समाज का डर है, न मज़हब का असर है। धर्म के भ्रम में मैं पड़नेवाली नहीं, चूँकि मैं

उसका मर्म समझती हूँ। रह गई माँ-बाप की मुहब्बत। सो, उससे तो अलग होना लड़की के लिए हर हालत में आम बात है।"

"बिजली, तो क्या तुम मेरी होकर रहोगी? क्या तुम सचमुच मुझे दिल से चाहती हो?"—सलीम ने ज़रा ज़बान दबाकर कहा।

"सलीम, यह 'होकर रहने' के मानी मैं नहीं समझती। मैं कोई ग़ुलामी का दमामी पट्टा लिखकर हाथ काटने नहीं जा रही हूँ। मैं तुम्हारे साथ रहूँगी। क्या अब भी तुम्हें मेरे दिल का पता नहीं चला? मैं तो तुम्हारे साथ मँझधार में जाने को तैयार हूँ। मैं तो अपनी नाव पर पाल चढ़ा चुकी और यह ज्वार के ज़ोर पर बह चली। अब यह दुनिया के समुन्दर में जहाँ ले जाय, मैं जाने पर तैयार हूँ!"

"बिजली, इस नाव की पतवार तो मुझे लेनी पड़ेगी। मैं इसी ऐसवैस में हूँ कि मेरी कमज़ोर उँगलियाँ उसे कहाँ तक उठा सकेंगी?"

"तुम्हें लेना नहीं है। मैं ख़ुद सम्हाल लूंगी। ख़ैर,.....।"

बिजली इतने ही पर रुक गई।

"तुम जानती हो, मुझे तो कोई रोज़गार-धन्धा है नहीं। अभी तो मैं कॉलिज में पढ़ता हूँ। हमलोगों को कहीं दूर निकल जाना होगा, जहाँ अपना कोई न हो। अब वहाँ विदेश में गुज़र कैसे होगा?"

"सुनो सलीम! तुम्हारे पास जो कुछ है, तुम साथ ले लो और मैं भी अपना जो कुछ है....."

"मगर बिजली! याद रखो, निकल जाने के लिए तो सड़कें हर चहार तरफ़ खुली हैं; लेकिन पलटने का रास्ता एक भी नहीं है! आगे

जाकर फिर तुम पलट नहीं सकती !"

"सलीम, पलटने का सवाल तो दर-किनार रहे, यहाँ पीछे मुड़कर फिर देखना भी नहीं है ! मैं जानती हूँ, यह मरने का मज़मून है और इसी मरने पर मेरी ज़िन्दगी का सेहरा है !"

सलीम वहीं हरी-हरी घास पर बैठ गया। बिजली की साड़ी उसकी नेकटाई से उलझ रही थी—उसके कंधे को चूम रही थी। बँगले की बरसाती पर चढ़ी हुई हुस्नहिना के झोंप से एक तीव्र ख़ुशबू लख़लख़ा बनकर उनके उन्माद के नशे को प्रदीप्त कर रही थी; और सड़क के उस सिरे से हवा पर थिरकती आती हुई श्यामकल्याण की रागिणी उनके प्राणों में जादू जगा रही थी।

आध घंटे तक घुल-घुलकर बातें होती रहीं। प्लैन रचकर तैयार हो गया, और होठों के 'सील' की मुहर पढ़कर पास भी हो गया।

त्रयोदश परिच्छेद

मिस साहबा के कमरे से सोडा-बोतल के टूटने की आवाज़ आते ही दोनों चौंक पड़े और एक साथ उठकर सहमे हुए उस ओर देखने लगे। कमरे में रोशनी जल रही थी और दरीची की झिलमिली से मिस साहबा की फलसई साड़ी की एक ज़रा-सी झलक नज़र आती थी।

सलीम ने साइकिल को उठाया, और चुपके-से घास की लॉन को पार कर बाहर निकल गया।

बिजली ने आँचल सम्हाला, साड़ी की सिकुड़न को सीट कर ठीक किया, बिखरी लटों को अपनी जगह पर ला रखा, और धीरे-धीरे कमरे की ओर बढ़ी।

मिस साहबा ने मुस्कुराती हुई आँखों से उसको एक नज़र देखा और फिर मेज़ पर रखे हुए फेनिल गिलास को उठाकर होठों से लगाया। भगवान जाने, उस मुस्कान में किसी मर्म की भनक थी या महज़ बिस्की के गर्भ से पैदा हुई मसर्रत की पहली झलक!

बिजली कमरे में क़दम रखते ही बोली—"मिस साहबा, आपसे तो कोई परदा नहीं है। मगर फिर भी आप परदा देने की ज़बान दें, तो आपसे एक दिल की बात अर्ज़ करूँ!"

मिस साहबा की आँखों में अंगूरी सुरा का सुरूर शुरू ही हुआ था, फ़ौरन् उतर गया। आप तनकर बैठ गईं। आँखें खिल उठीं। उन्हें रहस्य की गन्ध से शायद ख़ास दिलचस्पी थी।

"कहो, मुझसे इतमीनान रखो। तुम जानती हो, मैं ज़बान को मुँह में रखती हूँ!"

"बिजली मरने जाती है, मिस साहबा! अब बग़ैर सर पर कफ़न बाँधे वह जी नहीं सकती!"

"मरने जाती है! मरें तुम्हारे दुश्मन! बात क्या है?"

"क्या कहूँ, दुनिया की समझ में तो यह जहन्नम का मरना है!"

"जहन्नम! अजी जहन्नम भेजो इसे। तुम भी क्या बकती हो?"

—मिस साहबा ने हँसकर कहा।

"नहीं; इसी जहन्नम के ज़ीने से मुझे जन्नत की बज़्म में जाना है! इसी मरने पर शायद ज़िन्दगी की लज़्ज़त है।"

"तुम भूलती हो, बिजली! जन्नत के रास्ते में जहन्नम का कूचा नहीं मिलता।"

"आप बजा फ़रमाती हैं। मेरी आँखों में तो वह जहन्नम नहीं! यह समाज की नज़रों का फेर है। बात असल यह है कि मैं सलीम को चाहती हूं और दिल से चाहती हूँ!"

"क्या कहा सलीम को ?"—मिस साहबा आरामकुर्सी पर उठ बैठीं और आँखें फाड़-फाड़कर बिजली को एक-टक देखने लगीं।

"जी हाँ, सलीम को !"—बिजली ज़रा चितवन चुराती हुई बोली।

"वल्लाह ! तो फ़िर ?"

"और सलीम मुझे चाहता है !"

"आसमान फट पड़ेगा, बिजली ! यह क्या कहती हो ?"

"मिस साहबा, आसमान फटने से मेरे दिल का फटना ज्यादा ख़तरनाक है !"

"दुर पगली ! कहीं दिल भी फटता है ?"

"बन्दानेवाज़, कहीं आसमान भी फटता है ?"

"फटता नहीं, पर पत्थर तो बरसाता है !"

"और वह पत्थर गलकर पानी हो जाता है !"

"मगर नये पनपते हुए बीज़ को मिटाकर तबाह कर देने के लिए काफ़ी है !"

"मिस साहबा, इस दिल के अङ्कुर कुछ ऐसे कमज़ोर नहीं हैं कि किसी पाले से पीले पड़ जायँ !"

"सच ! अभी नया जोश है, बिजली ! तुम इसे क्या समझोगी ! मैंने भी तुम्हारे सिन में लहू की गरमी को ज़िन्दगी की गरमी समझा था। मगर जवानी का लहू जिस जोश से दिल और दिमाग़ पर उबल कर चढ़ता है, उसी तेज़ी से एकाएक ठंढा भी पड़ जाता है। दुनिया में कोई ऐसी दिल की लौ नहीं है, जो ज़माने की आँधी में गुल नहीं

हो जावी !"

"जब होगी, तब होगी। इस वक़ तो मैं इस लौ से जली जाती !"

"इस लौ पर परवाने का पर जलेगा—सलीम जलकर ख़ाक होगा ! तुम क्यों जलोगी ?"

"उधर परवाना जलता है, इधर चिराग़ भी जलता है !"

"ज़रूर ! मगर सैकड़ों परवानों को जलाकर ! यह बिजली की जलन है, कुछ खेल नहीं है !"

"जो हो; मैं तो समझती हूँ, जलन दोनों ओर होती है और बराबर होती है !"

मिस साहबा आँखें बन्द कर दो मिनट तक कुछ सोचती रहीं, फिर ज़रा रूखी होकर बोलीं—"रायसाहब सुनेंगे, तो तुम्हें ज़िन्दा रहने देंगे ?"

"और मैं सलीम को नहीं पाती हूँ, तो ज़िन्दा रह सकूँगी ? पहले, लाला तो इलाक़े पर जानेवाले हैं। उनके कानों तक बात उठने के पहले बिजली लापता हो जायगी !"

"आज नहीं, बाद तो सुनेंगे !"

"सुना करें। बिजली इस डर से पाँव नहीं पलटती। मैं कुछ दुधमुँही बच्ची तो रही नहीं !"

"और तुम्हारा मैट्रिकुलेशन का इम्तिहान ?"

"इम्तिहान तो मैं पास कर चुकी ! आजकल मुझे ज्योमेट्री सूझती

है—अलजबरे के फ़ारमूले हल कर रही हूँ! मुझे पास करने की उम्मीद रहती, तो दस दिन और ठहर जाती!"

"तो मेरी क्या गत होगी, बिजली? रायसाहब के सामने तो मुँह तक न दिखा सकूँगी!"

"इसीलिए न बेहतर है कि मैं इम्तिहान के पहले हिरन हो जाऊँ! आप पर भी कोई आँच न आ सकेगी।"

"तुम तो बिलकुल हवा के घोड़े पर सवार हो। मगर सलीम के साथ तुम्हारे भागने की ज़िम्मेवारी तो मेरी बनी रहेगी। मेरे ही सर पर ठीकरा फोड़ा जायगा।"

"यही तरकीब न निकालनी है! साँप भी मरे और लाठी भी न टूटे! इसी छान-बीन में तो आपकी मदद माँगती हूँ। मिस साहबा, आप सैकड़ों मैदान ले चुकी हैं। आज मुझे भी उस तजरबे की एक बूँद..."

"तुम्हारी नसों में बिजलियाँ कूट-कूटकर भरी हैं। ख़राद पर चढ़ीं नहीं कि चमकीं। मगर तुम्हें ख़बर है, रायसाहब ने तुम्हारी शादी के लिए बिरादरी का एक लड़का चुन रखा है?"

"कौन?"

"मोहनलाल का भांजा ललितचन्द। इस साल बी० ए० का इम्तिहान देगा।"

"उस कलूटे से मैं जीते जी शादी करूँगी? उसे दम है, न ख़म। एक चपत पर ज़मीन थाम ले!"

"मगर वह बड़ा ज़हीन और तेज़ है। रायसाहब उसे विलायत भेजकर सिविल-सर्विस के लिए....."

"वह कलूटा लाट क्यों न हो—उसे दुनिया की तख्तनशीनी ही क्यों न नसीब हो, बिजली उसे नसीब न होगी।"

"मगर, बिजली! तुम्हें ज़माने की हवा देखकर दिल का दाँव खेलना था....."—मिस साहबा ज़रा गम्भीर स्वर में बोलीं।

"मुझे तो नई सोसाइटी की हवा लगी है, मिस साहबा! पुरानी हवा तो कभी पलट गई।"

"अभी कहाँ पलटी है, बिजली! ज़माना लगेगा।"

"आख़िर यों ही न पलटेगी! अब इधर की हवा धीरे-धीरे चल निकली।"

"ज़रा यह तो सोचो, रायसाहब के दिल पर कैसी सख़्त चोट पड़ेगी! आख़िर उनके मुँह में कालिख पोतकर जाओगी?"

"भर-सक तो उनकी आन में बट्टा न आने दूँगी। इसी उधेड़-बुन में तो पड़ी हूँ।"

"मगर, कहीं बात फूट गई तो?"

"तो बला से! बिजली इस डर से बाग नहीं मोड़ती।"

मिस साहबा ने हर पहलू से आज़मा कर देख लिया। बिजली टस-से-मस होनेवाली न थी। उसके पैर रिकाब में जा चुके थे, और अब एक छलाँग में वह कामना के ज़ीन पर सवार हो जायगी अब जिसे गरदन में हाथ लेना हो, वह उसे थामने के लिए हाथ बढ़ाये।

मिस साहबा इतराती हुई उठीं और बिजली की गरदन में हाथ डालकर दरवाज़े की ओर मुड़ीं।

"ख़ैर, बाहर चलो। दीवार के भी कान होते हैं। तुम तो जन्नत की सैर करोगी; मुझे इसी शहर में रहना है।"

चतुर्दश परिच्छेद

वसन्त का आकाश राग और रंग से भरा है। शीत का अन्त और बहार की आमद। हवा में मीठी खुनकी। रसाल की डाली पर कोयल की नई काकली। पेड़ों पर नई कोपलें थीं—चिड़ियों की चंचल हलचल।

रायसाहब बँगले के सामने गुलाब की क्यारियों में टहल रहे हैं। काशी-सिल्क के ख़ालतेदार पाजामे पर काशी-सिल्क का ढीलाढाला कोट है। अभी तन पर पलँगवाला लिबास मौजूद है। ऊपर से एक मुलायम कश्मीरी शाल का ड्रेसिंग गाउन है। होठों के पुट में कोरोना-सिगार की बहार।

अभी आप ब्रेकफ़ास्ट करके बाग़ में उतरे हैं। सिगार का धुआँ आपकी बुझी हुई जठराग्नि का पता देता है। फूले हुए गुलाब के झुरमुट में हैबेना की पत्तियों की सुरभि देशी वायु-मंडल में विलायती बू की कणा बिखेर रही है।

होली का ज़माना क़रीब है; इसलिए सुबह ही एक पेग ढल चुका है। वसन्त के मौसिम में आप पीने-पिलानेवाले मज़मून में सूर्यास्त का इन्तज़ार फ़िज़ूल समझते थे। ह्विस्की के रस पर सिगार का कश ज़रूरी था।

आप किसी चलती होली की एक लड़ी गुनगुना रहे थे और मन-ही-मन फागुन की मस्ती में शराबोर थे। मुँह में धुआँ तो था विदेशी, पर धुन थी स्वदेशी! पेट में पेग था विलायती, पर नशा था बासन्ती। अँगरेज़ी ठाट-बाट पर होली का डाट भरपूर था।

हम लाख तन को यूरोपीय रंग में रँग डालें; पर मन पर विदेशी रंग जमना आसान नहीं। लिफ़ाफ़ा बदलता है, पर दिल का तक़ाज़ा नहीं बदलता। हम हज़ार कोट-बूट डाटकर आमलेट और पॉरिज़ के प्लेट-के-प्लेट साफ़ कर जायँ, मगर इस कचराकूट के बाद कहीं जो डकार लेनी पड़ी, तो विलायती एटिकेट से डकारने में दम घुटने लगेगा; फिर 'फ़िंगर वाउल' के कुल्ले के मज़ाक़ से मुँह में पचपचाहट भर आयेगी। हम अँगरेज़ी ज़बान में सैकड़ों वरक़ रँग डालें, किंवा प्लेटफ़ॉर्म पर खड़े होकर अँगरेज़ी स्पीच जो झाड़ दें; मगर जब दिल खोलकर गाना और रोना पड़ा, तब तमाम विलायती क़लई ढीली हो जाती है; दिल के पहलू पर

से विलायती बादल आप-से-आप फट जाता है।

रायसाहब भी कुछ साहब नहीं थे। उनकी विलायती वज़ेदारी के भीतर देशी दिल था। उनकी विदेशी डिशों में तेजपत्ते का बघार मौजूद था। उनकी अँगरेज़ियत के परदे में हिन्दुस्तानियत की बू भरपूर थी। उनकी कोठी में ड्राइंग-रूम भी विलायती था और बाथ-रूम भी विलायती; मगर लेज़रस के गुद-गुदे सोफ़े पर अँगरेज़ी डाट से अकड़ने पर, पाँव पसारकर कमर सीधी किये बग़ैर, चैन मिलना मुहाल था। डाइनिंग-रूम में टोस्ट और रोस्ट पर काँटे-छुरी के इस्तेमाल के बाद फुलके को उँगलियों से तोड़-तोड़कर शोरबे में तर किये बग़ैर, घिया पके रस-भरे आम पर बेखटके दाँत गड़ाये बग़ैर, जी भरना दुश्वार था। और, बाथ-रूम के मैहोगनी-कमोड पर टाँग की छलाँग विलायती तरीक़े से भरने पर छोटी हर्रे के भूरे के बग़ैर जी हरा होना हराम था।

रायसाहब ख़ाने-बाग़ की बेञ्च पर बैठकर साँसी में गुन-गुना रहे थे और पीठ के तख्ते पर उँगलियों से भड़कतिल्ले की थाप दे रहे थे। तबतक सामने फाटक से छड़ी हिलाते मुंशी माजिद अली तशरीफ लाये। आपकी फ्रेंच-कट उजली दाढ़ी पर पान की पीक की लकीर थी।

"क्यों भाईजान! आप पर भी होली का रंग सवार है क्या? आज उठने में बड़ी देर की आपने! ख़ूब! सफ़ेद दाढ़ी पर गुलाल के छींटे!"

"तौबा—तौबा! पान है!"—मुंशी माजिद अली ने जेब से रूमाल निकालकर दाढ़ी साफ़ कर डाली।

"आज आप ब्रेकफ़ास्ट पर आये नहीं! सुबह की नमाज़ भी क़ज़ा कर गई?"

"जी नहीं, आज सुबह ही एकाएक सलीम बाँध-छानकर घर चल दिया!"

"घर क्यों? इम्तिहान नहीं देगा?"

"क़रीना तो नहीं है। वह घर होता हुआ शायद कश्मीर चला जायगा। वहाँ उसे किसी मुलाज़मत की उम्मीद है।"

"अभी तो वह ग्रेजुएट भी नहीं हुआ?"

"नहीं, मगर वहाँ डिगरी की क़ैद नहीं है। मुझे तो कुछ पता नहीं है। वहाँ किसी दोस्त के ज़रिये कोई ख़ासी जगह मिलने की उमीद है। मेरी तो राय थी कि वह बी० ए० पास कर लेता; इसीलिए मैंने उसे यहाँ बुलाकर रखा भी था। मगर वह बरज़िद हो गया। मैंने भी सुकूत अख्तियार करना मुनासिब समझा। आख़िर वह सयाना है। मेरी हमशीरा भी पारसाल क़ज़ा कर गई। अपना नफ़ा-नुक़सान वह काफ़ी समझ सकता है। टेनिस के ज़रिये हर जगह उसकी रसाई मुमकिन है। साहबों की निगाह पर टेनिस का जादू बेहद असर रखता है।"

बिजली उस वक़्त सामने बरामदे से गुज़र रही थी। शायद उसने मुंशी माजिद अली के कलाम सुन लिये थे, वर्ना उसके होठों की पपड़ियों पर एक टेढ़ी मुसकान की रेखा कहाँ से नज़र आती। रायसाहब की नज़र बिजली पर पड़ी और चट बोल उठे—"बिजली! ज़रा

इधर तो सुनती जाओ।"

बिजली मुड़कर चली आई और निगाह नीची किये खड़ी हो गई।

"क्यों बिजली! तुमने सुना है न, सलीम कश्मीर चल दिया?"

"सच? मैंने तो कुछ सुना नहीं! कब गये?"

"आज ही—तड़के"—मुंशी माजिद अली ने फ़रमाया।

"वे तो पा-ब-रिकाब थे ही। अक्सर कहा करते थे—'यहाँ मामू के घर रोटियाँ तोड़ रहा हूँ! जहाँ कोई ज़रिया मिला, कोई काम उठा लूँगा।' मगर कम-से-कम बी० ए० का इम्तिहान तो दे डालते!"

"जिसके लिए डिग्री लेनी है, वही मिल गई, तो फिर इस तुर्रे में सुरख़ाब का पर लगा है?.....ख़ैर, तुम तो इम्तिहान के लिए तैयार हो रही हो?"—रायसाहब ने बिजली की ओर मुड़कर कहा।

"जी हाँ, तैयार हूँ!"—बिजली ने छूटते ही जवाब दिया।

"बिलकुल?"

"बिलकुल!"—बिजली की दृढ़ता बनी रही।

"रायसाहब, यह युनिवर्सिटी में जगह लेगी; आप देखते रहें! इसके क्लास की कोई लड़की तो इसके दामन का छोर भी नहीं छू सकती!"—मुंशी माजिद अली ने बड़े तपाक से फ़रमाया।

"मगर कल मिस साहबा कहती थीं कि तुम स्कूल में जाकर घंटों नदी में तैरती फिरती हो, कभी डोंगी पर अकेली फुरैरी लेती हो; यह तो

तुम्हारे लिये ज़ेबा नहीं है !"

"महज़ टिफ़िन की छुट्टी में तैर लेती हूँ। और वह भी अकेली नहीं, दो-चार लड़कियाँ और भी साथ तैरती हैं। कहीं दूर तो जाना नहीं है, स्कूल तो लबे-दरिया है। उस वक़्त सन्नाटा भी काफ़ी रहता है—चिड़िया का पूत तक नहीं....."

"लिल्लाह ! यह गुल कतरना बन्द करो ! इम्तिहान क़रीब है।" —मुंशी माजिद अली ने सिगार जलाते हुए कहा।

"इसीलिए मैंने डोरी ढीली छोड़ी ? आख़िर तुम्हें पर जम गये। कहीं कुछ हो गया, तो फिर....."—रायसाहब कहते-कहते रुक गये।

"लाला, आप बेवजह फ़िक्र न करें। मैं दो-चार हाथ से आगे नहीं बढ़ती। मिस साहबा तो पानी देखकर थर्रा जाती हैं !"

"ख़ैर, मेरे कान तक फिर कोई शिकायत न उठे। मैं आठ-दस दिन के लिए इलाक़े पर जा रहा हूँ। तुम सम्हलकर रहना।"

बिजली लौट गई। रायसाहब ने मुंशी माजिद अली से भी साथ चलने के लिए इसरार किया। दोनों दोस्तों में देहातों की दिल्लगी की दास्तान छिड़ी।

बिजली ने अब कुछ चुने-चुने गहने-कपड़े घर-भर की आँखें बचाकर मिस साहबा के घर ढोना शुरू किया। उसने कुछ नक़द भी ज़रूर हटा दिया होगा, मगर पता नहीं। वह इस हिसाब से चुराकर ले जाती

कि फ़िरिश्ते को भी ख़बर न हो।

रायसाहब सोमवार को इलाक़े पर गये। तीसरे दिन शाम को एकाएक हल्ला हुआ कि बिजली लापता हो गई! नदी में तैरते डूब गई या डोंगी से उलटकर पानी में जा पड़ी; दोनों में से कोई एक बात ज़रूर थी। उसके हाथ का रूमाल, जूते और मोज़े, स्कूल-कम्पाउण्ड के बाहर, थोड़ी दूर पर, नदी के किनारे पाये गये। स्कूलवाली छोटी डोंगी एक मील दूर रेती पर उलटी पड़ी मिली। मिस साहबा ने पार साल इसी रेती पर एक घड़ियाल का शिकार किया था। मिस साहबा की बाँदी ने बिजली को तैरते देखा था और मिस साहबा ने ख़ुद बिजली को डोंगी खेते देखा था! दोपहर तक वह स्कूल में ज़रूर थी। स्कूल की एक लड़की ने उसे 'पनसेना' के पेड़ के सामने दरिया की ओर मुड़ते देखा था। बस, और किसी ने कुछ नहीं देखा।

तमाम शहर में तहलका मच गया। कुँओं में बाँस डाले गये; नदी में जाल डाला गया। कोई पता नहीं! कहीं बहककर दूर तो नहीं चली गई; कहीं-कहीं नदी का प्रवाह ज़ोरदार ज़रूर था। हर जगह जाल ठहरना दुश्वार था। मिस साहबा ने दो दिनों तक हँकासे-पियासे दौड़-धूप की, छान-बीन की; मगर सब फ़िज़ूल! एक लाश कुछ दूर पर मिली भी; मगर इस क़दर तबाह हालत में थी कि पहचान न हो सकी। आगे चलकर घड़ियालों की भी कसरत थी। कहीं किसी मूज़ी घड़ियाल ने तो नहीं धर दबोचा! मिस साहबा की ज़बान से तो यही शुबहा टपकता था!

रायसाहब इलाक़े से मोटर पर लादकर लाये गये। अगर मुंशी माजिद अली साथ न रहते, तो बिचारे तड़पकर जान दे डालते!

विमला ने तो आँगन के दरवाज़े के किवाड़ पर सर पीटकर लहू-लुहान कर डाला। मिस साहबा की हालत भी क़ाबिले-रहम थी। वे तो ढूँढ़-खोजकर जो पलँग पर जाकर बदहवास पड़ीं तो ऐसा मालूम हुआ कि दिल के साथ-साथ कमर तक टूट गई! ख़ुदा उनकी वफ़ादार बाँदी को बरकत बख़्शे, जो एक पैर पर खड़ी रहकर उनकी शुश्रूषा में खटती रही; एकशॉ और कॉकटेल के निरन्तर प्रयोग से उनके दम में दम रखा।

मिस साहबा दो दिनों के बाद जब रायसाहब के घर मातमपुरसी के लिए गईं, तब भी उनकी चोटी में न कंघी थी, न पैर में चट्टी। आपने छलकती हुई आँखों पर रूमाल देकर कहा—"मैंने पहले ही आप-लोगों से अर्ज़ किया था कि आग के साथ खेलने से पानी के साथ खेलना कुछ कम ख़तरनाक नहीं; मगर मेरी गिनती तो बुज़दिलों में रही!"

"ख़ैर, अब बस करो—" मुंशी माजिद अली ने एक सर्द आह खींचकर फ़रमाया—"कटे पर नमक छिड़ककर क्या होगा! रायसाहब तो ख़ुद हाथ मल रहे हैं। बात बिगड़ जाने की बात है, वर्ना बिजली एक दिन आसमान से सितारे तोड़ती।"

यहाँ तो यह क़िस्सा था, उधर सनीचर की आधी रात को मुग़ल-सराय-स्टेशन पर सरापा बुरक़े में घिरी हुई एक औरत लखनऊ जानेवाली गाड़ी की ओर लपकी जा रही थी। वह सेकेंड-क्लास के एक रिज़र्व

डब्बे में दाख़िल हो गई और कुलियों ने आकर दो-चार सूट-केस बर्थ के नीचे लगा दिये। उसी वक़्त ओवर-कोट और मफ़लर लपेटे, हाथ में बैग लिये, एक शख़्स और चटपट घुस गया और भीतर से दरवाज़ा बन्द कर दिया। बुरक़ावाली औरत ने फ़ौरन् मुड़कर बुरक़ा उतार डाला और हँसती हुई बोली—"आप कश्मीर की सैर कर आये?"

"जी हाँ, आसमान से उड़ता आ रहा हूँ!"

"ख़ूब! आप भी उड़ने लगे!"

"क्यों नहीं! इस कूचे में आकर तो पर जमना ज़रूरी है!"—सलीम ने कोट उतारते हुए मुस्कुराकर कहा।

"आप ख़ाक उड़ते, अगर मैं न उड़ा लाती! वहीं फिस-फिसाकर बैठ जाते। मेरी करामात देखिये, मैं तो ज़मीन की तह से कफ़न फ़ाड़कर निकली आ रही हूँ। नदी में डूबकर ज़िन्दा निकल आई!"

"मगर, बिजली! लिल्लाह, अभी कुछ दिनों तक इस बुरक़े को बरक़रार रखो!!"

"ख़ूब! मैं आज़ाद रहने आई हूँ या परदे में क़ैद?"

"तो क्या परदाफ़ाश करोगी?"

"मैं तो डरती नहीं। आपकी रूह क्यों फ़ना हो रही है? अभी तो ज़िन्दगी में सैकड़ों मोरचे लेने पड़ेंगे!"

"मैं तो तुम्हारे ही ख़याल से···"

"माफ़ कीजिये। बिजली जब घर में आग लगा आई, तब फिर उसे घर में डालना कुछ बायें हाथ का खेल नहीं है! ख़ैर, कोई देख

न ले, मैं रोशनी गुल किये देती हूँ।

गाड़ी चल पड़ी। प्लैटफॉर्म छूट गया। बिजली ने स्विच दबाकर कमरा अंधेरा कर दिया। सलीम की जान में जान आ गई। बिजली उचककर सलीम के बर्थ पर चली गई।

जब स्त्री अपनी लज्जा को लज्जा मानती है, तब वह उलङ्गता में पुरुषों की भी नाक तराशती है।

गाड़ी तेज़ हो गई। उसके पहियों की घर्राहट की ध्वनि में शहनाई का सुर खेलने लगा, और वही सुर सलीम और बिजली के हृदय के तारों पर झंकृत हो उठा।

द्वितीय खंड

वेला

प्रथम परिच्छेद

"तो क्या यह छोकरी यहीं रोटियाँ तोड़ती रहेगी ?"

"क्यों, हर्ज क्या है ?"

"हर्ज क्या है ! तुम्हारी मति तो नहीं मारी गई ! इस कुलटा को घर में जगह देकर तुम अपने घर को तबाह करोगे ! कुछ ठिकाना है, यह कितने घाट का पानी पी चुकी ! अब आई है हमारे घाट का जल गन्दा करने !"

"बेला बिचारी तो खुद ही अलग रहती है। तुम्हारे चौके में नहीं जाती; तुम्हारे जल को नहीं छूती। यह तो इस बुरी तरह सताई गई है कि कलेजा दहल उठता है। किसी घाट का पानी इसने अपनी ख़ुशी

से नहीं पिया। तुम किसी को उठाकर पानी में बोर दो और कहो कि मुँह, नाक, कान की राह पानी न जाय, तो फिर यह कभी मुमकिन है? और, फिर इस अबला का क्या दोष है? देवर के ज़ुल्म से जान लेकर भागी, तो पुलिस के शिकंजे में जा पड़ी। आधी रात का वक्त। किसी से जान न पहचान। गाँव के परदे में पली। बाहर की दुनिया से दरस-परस नहीं। ऐसी भोली थी कि दुनिया की चाल को समझती तक न थी। कहाँ भागकर जाती—किधर का रास्ता है; यह भी पता न था। दो-चार मील जाते चौकीदारों ने पकड़ लिया और इसे नया तोहफ़ा समझकर थाने को नज़र किया। वहाँ इसकी जो दुर्गति लिखी थी, सो हुई। जल्लादों ने अधमरी करके अस्पताल में भेज दिया। ख़ैरियत थी, इसको गुरु-घराने का पता मालूम था। नहीं तो, बिचारी की क्या गति होती? बे मौत की मौत·····"

"क्या गति होती? अब बाक़ी क्या रही? नई गङ्गा बहाने चले हो! अपना मुँह तो देखो! तुम्हारे फूँके यह तरेगी? झाड़ू मारो इस सात सिंधोरेवाली को। तुम उस घर के गुरु ठहरे, आख़िर वे सुनेंगे तो क्या कहेंगे?"

"तुम्हीं कहो रमा! अगर मैं इसे शरण न दूँ, तब तो यह बाज़ार का सौदा बनकर बिकेगी! और तो कोई ठिकाना न रहा। मैं भी इसे मँझधार में डूबने को छोड़ दूँ, मुझसे यह ज़ुल्म न होगा।"

"तुम्हारी बुद्धि की बलिहारी है! सब समझकर भी नासमझ बन

रहे हो। अब यह दाग़ धुल सकता है जो तुम धोने चले हो? यह तो कब की डूब चुकी। मुझे यह डर है कि कहीं मेरी भरी नाव को न डुबो दे। तुम इस नागिन को दूध पिलाकर पाल रहे हो। इसका नतीजा देख लेना। एक दिन यह सबको डँसेगी; तब तुम्हें मेरी चेतावनी याद आयेगी। तुम्हारा जवान भतीजा है, हज़ारों चेले-चाटी हैं महंती है. तुम्हारा धरम-करम है, भगवान् की सेवा है—सब कुछ तुम भूल गये। मेरी दाहिनी आँख फर्र-फर्र उड़ रही है। यह सबको एक दिन पाँक में गाड़ देगी। इस कलंक को घर से दूर करो। नहीं तो एक दिन यहीं दूकान खुलेगी और सौदा चलेगा। या भगवान्! यह पाप की बैतरनी मेरे घर में बहेगी?"

"चुप रहो रमा! दुखिया पर दया करना सीखो। यह पाप में कभी शामिल नहीं हुई। जब यह अपने मन से शरीक नहीं थी, तब कुत्तों के दाँत महज़ चमड़े पर गड़कर रह गये। इस अत्याचार से कुछ इसके अन्तर की पवित्रता नहीं गई। तुम कटे पर नमक मत छिड़को, बल्कि स्नेह का मरहम लपेटकर ज़ख़्म को शीतल करो। जले को जलाकर क्या होगा? इस बिचारी की छाती में तो ख़ुद ही भट्ठी जल रही है और यह उसी ताप से फुँकी जा रही है। इसके आँसुओं को प्रेम के आँचल से पोंछ दो; यही तुम्हारा धर्म है।"

"माफ़ करो! मैं अपना धरम समझती हूँ, तुम अपना नेम देखो। आजतक तुम धरम के पापड़ बेलते रहे; अब इस राँड़ क। अँचार डालो—बड़ी चटपटी चटनी होगी। तुम्हारे चेलों की जीभ से पानी बहकर....."

—रमादेवी ने हाथ चमकाकर, नथ हिलाकर, तैश में आकर कहा।

"सुनो रमा, कुछ दिन इसे शान्ति से यहाँ रहने दो; मैं इसे रामायण और गीता पढ़ाये देता हूँ, ताकि दुनिया के ताप को यह भूल सके। अगर तुम्हें साथ रखना मंज़ूर न होगा, तो मैं इसे काशी अपने गुरु के पास भिजवा दूँगा।"

तबतक किसी के पैरों की आहट सुन पड़ी और रमादेवी खाट से उतरकर ज़मीन पर खड़ी हो गई। दिल की बात दिल ही में रह गई।

*　　*　　*　　*

गिरिधारीलालजी इस प्रान्त में प्रतिष्ठित पंडित हैं और झीलवाले मठ के महंत भी हैं।

इसके अलावा कान फूँकने का ख़ानदानी धन्धा है। इस चेले-चाटी के व्यापार से साल में खा-पीकर काफ़ी बचत हो जाती। उस बचत से काञ्चनगतप्राणा श्रीमतीजी के कङ्काल-कलेवर पर एक नई काट की चूहादन्ती या शेरदहाँ का उदय होना ज़रूरी था। उसी बचत के ज़रिये, किसी विपदग्रस्त चेले के ताल के उपजाऊ खेत पर, दो रुपये सैकड़े सूद के लहाव से भक्कफूली रुपये देकर, बिचारे को ख़ूनचूस मुग़लों के पंजे से मुक्ति दी जाती।

आपने अपने सैकड़ों शिष्यों की आत्मा की सद्गति की पतवार अपने हाथों में ले रखी थी। इस पारलौकिक कल्याण-वितरण के विनिमय में अगर शिष्यों के घर से कुछ विशेष वार्षिक भेंट की परिपाटी

प्रचलित थी, तो इससे आपके परोपकार-प्रवण मङ्गल-व्रत-महत्त्व की महिमा कुछ क्षीण नहीं होती। राम का मन्त्र हो या शिव का मन्त्र; दुर्गा का मन्त्र हो या विष्णु का मन्त्र—जिस इष्टदेव के दरबार में दाख़िल होने का कोई आवेदन पेश करे, हरेक क्षेत्र का पासपोर्ट आपकी जेब में था। कोई आपके श्रीचरणों में अपने तन-मन-धन की अनन्य भक्ति की क़बूलियत तामील करे, रजत-मुद्राञ्जलि का नज़राना अर्पित करे; फिर तो भावी गो-लोक का दमामी पट्टा दीक्षामन्त्र की मुहर देकर विश्वास के ऑफ़िस में रजिस्टरी कर देने में आपको इनकार नहीं; प्रत्युत यह आपकी सज्जनता का ज्वलन्त दृष्टान्त है। आप अपने पुण्य और परमार्थ के अगाध ऐश्वर्य को, विनीत शिष्य-समाज के पारलौकिक दैन्य को दूर करने के लिए, दोनों हाथों से, निर्भीक होकर लुटाते रहते और दीक्षा की चोटी से छूटी हुई आपकी करुणा की मन्दाकिनी सैकड़ों नर-नारियों की कलुष-कालिमा का प्रक्षालन करती हुई निरन्तर बहती रहती—"परोपकाराय सतां विभूतयः"!

आपके मंत्र की फूँक पर प्रबल प्रेत की बाधा भी अनायास दूर हो जाती और आपके तंत्र के अमोघ प्रयोग पर ख़ूनी के हाथों से हथकड़ियाँ भी छूट जातीं। आप जब रोगी के सिरहाने अखंड दीप जलाते और मृत्युञ्जय के मंत्र का सम्पुट देकर चंडी का पाठ शुरू करते, तब फिर क्या मजाल कि यम के दूत उस मकान के प्रांगण तक फटक सकें! महाविद्या के षोडशदल-चक्र की सिद्धि की आपकी कुछ ऐसी प्रतिपत्ति थी कि पाश्चात्य सभ्यता के रंग में शराबोर धनी-मानी भी,

किसी दुर्दिन की ठोकर पर, अपनी मनःकामना की पूर्ति के लिए, चुपके आकर आपके चरणों पर लुंठित होते।

इस प्रान्त में शायद ही कोई हिन्दू का परिवार होगा, जिसके बच्चों की गरदन में आपके हाथ के लिखे हुए यंत्र न पड़े हों और जिसके सयानों के मस्तक पर, विजयादशमी के दिन, आपके घर में आमंत्रित मङ्गला-अम्बिका की कलश-जयन्ती न चढ़ी हो।

जब राधाबल्लभ के मन्दिर के सामनेवाले पुराने वट-वृक्ष के नीचे मञ्च पर बैठकर आप भागवत की कथा सुनाते—बैरिन वंशी की अचानक टेर पर, तवे की जलती रोटियों को छोड़, दौड़ती हुई गोपियों के स्खलित अंचल और आलुलायित कुन्तल का समा बाँधते—तथा व्रजचन्द के विरह में विभोर बरसाने की वनिताओं के मसले हुए दिल के फफोले दिखाते, तब कौन ऐसा पत्थर का कलेजा होता, जो मोम की तरह पिघलकर आँखों से नहीं फूट पड़ता? फिर, पूर्णाहुति के दिन आरती की थाली का रजत चित्तियों के भार से झुक जाना तो कुछ असम्भव नहीं!

आपके धार्मिक विचारों के पुट में किसी तरह की साम्प्रदायिकता की गंध न थी। आप पशुपति के वैसे ही सुहृद् थे, जैसे राम के प्रिय थे। 'कुँवर कन्हाई' के तो सखा होने का दावा रखते और बालगोपाल के मुख से उगली हुई मिट्टी को सर पर रखकर कालिन्दी-जल-प्लावित व्रज विपिन के तमाल-निकुञ्जों की छाया में अपने जीवन की गोधूली के दिन बिताने का सतत स्वप्न देखते थे। शक्ति-उपासना के तो आप ऐसे मर्मज्ञ थे कि कामाख्या के धुरन्धर शाक्तों के भी दाँत खट्टे कर देते और नवरात्र के

अवसर पर कुमारी-पूजन के अनन्तर जब परमात्मा-रूपा महाशक्ति का आह्वान करके आप—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति"—दुर्गास्तोत्र को ललित स्वर से गद्‌गद होकर पढ़ते तब उस प्रकांडप्राङ्गण के ज़र्रे-ज़र्रे पर—प्रत्येक अन्तर के रेशे-रेशे पर—शान्त रस की एक हिल्लोल लहरी खेल उठती।

जिस दिन से सूर्य दक्षिणायन होते, उसी दिन से शिष्यों के घर-घर गुरुदेव की गश्ती शुरू हो जाती। जहाँ जाते, वहाँ समारोह से जाते। पालकी पर ख़ुद सवार रहते और दस-पाँच हाली-मुहाली घोड़े और बैलगाड़ियों से जाते। दस-पाँच छात्र अवश्य साथ रहते। पालकी के चारों कोन पर चाँदी के कलस थे और डंडों के छोर पर नक्काशी का काम। कहारों के तन पर वर्दी रहती; पंडितों के सर पर पगड़ी। पालकी में एक ओर शालिग्राम की बिल्लौरी मूर्त्ति रहती, चाँदी के सिंहासन पर सोने का कटकी छत्र रहता। गाँव में उनके आने की धूम होती। घर-घर कदली के तोरण खड़े होते, दरवाजों पर बन्दनवार लटकाये जाते।

आप जिस मंडली में जाते, उसी में रंग लाते। बूटी छाननेवाले शैव शिष्यों के घर आप गाल बजा-बजाकर धतूरे के एक फूल पर चारों फल देनेवाले औढर के गुण गाते, भंग की महफ़िल में भक्ति का रंग उठाते और बलिदान के बकरे की बोटी को ज्वलन्त ठर्रे के घूंट के सहारे गटागट निगलनेवाले चित्रगुप्त-वंशजों के बैठकख़ाने में भुजंग-मेखला तारा की उपासना की विभूतियों को समझाकर कायथ की खोपड़ी

में तूफ़ान बरपा कर देते।

आपने अपने चमत्कारों के विज्ञापन के ज़रिये बाप-दादे की शिष्य-वृत्ति की दूकान को दुगनी कर रखा था, और यह विज्ञापन कला की करामात थी कि चोखे माल की लालच पर नये ख़रीदारों का मेला निरन्तर तरक्क़ी पर रहता। इस प्रान्त में यह एक आम बात है कि शंकर के अनन्य अनुचर भैरव को किसी विशेष पुरश्चरण के बल पर इष्ट करके आपने इस चकले के अत्याचारी भूतों और प्रेतों की मुश्कें बँधवाकर उन्हें निरस्त्र कर डाला। अभी पार साल चैत में जब हैज़े के प्रकोप से गाँव उजड़ा जाता था, तब नवरात्र की अष्टमी के निशीथ में स्वयं रक्ताम्बरा जगदम्बिका प्रकट होकर आपको महामारी से त्राण पाने के अनुष्ठान की विधि की दीक्षा दे गई थीं।

यह आपके रोज़गार की किल्ली की कमाल की जानकारी थी कि आय की तरक्क़ी के साथ-साथ मौक़े पर ख़र्च करने में भी आप खुले दिल से हाथ ऊँचा रखते। चैत्र की रामनवमी हो या आश्विन की नवरात्रि; भादो की अष्टमी या फाल्गुन की शिवरात्रि—इन सभी त्योहारों पर आपके यहाँ बृहत् आयोजन और उत्सव का इन्तज़ाम संगठित होता और दूर-दूर से सैकड़ों प्रतिष्ठित गृहस्थ, मोटे काश्तकार और सेठ-साहुकार, आपके प्रसाद—पेड़े-लड्डू, चुरमे-हलवे एवं मालपुए—की लपक पर सर के बल आते और आपकी मीठी ज़बान की चाशनी में घुल कर पंख फटफटा कर ग़ुलाम हो जाते थे।

मगर यह सब होते हुए भी यहाँ चिराग़-तले अँधेरे का मज़मून था।

अपने पति की सिद्धियों में श्रीमतीजी की आस्था नहीं थी! चैत और क्वार में—जब बाहर आँगन में मंडप बाँधकर जगदीश्वरी का आवाहन होता और नौ दिनों तक पूजा और प्रसाद, भोग और राग की धूम मची रहती—श्रीमतीजी अपनी सखी-सहेलियों के झुरमुट में, बाजे गाजे और छोकरे के नाच के साथ-साथ, भरी-भरी थालियों में पुए और गुलौरे, बूँदिये और बताशे सर पर रखकर, गाती-बजाती हुई, चिराग़ जलते-जलते, 'लाखो' चमाइन की देवी के चबूतरे पर मन्नतें उतारने जातीं। घर की देवी के सामने पति के साथ गाँठ-बाँधकर मस्तक तो ज़रूर नवा लेतीं, लेकिन 'लाखो' चमाइन की जागती देवी के चौरे पर वे अपनी अरज़ सुनातीं, नाक रगड़तीं, चुनरी चढ़ातीं और कनस्तरों घी का हवन कराती थीं।

जब कभी आपकी कन्या बच्चा जनने ससुराल से आती और चारों ओर के बतास-बयार से—ख़सूसन मुहल्ले की दुबाइनजी के घर को उपद्रवी चुड़ैल की चुहलों से—गर्भिणी की रक्षा-करने की हाजत होती, तब पति के बजरंगबली इष्ट भैरव महाराज अपने आह्वान की प्रतीक्षा में डंडों में तेल मलते बैठे रह जाते; और इधर 'रामू' धोबी के घर की भभूत तथा 'नेता' कहार के हाथ का लवँग 'कमला' के पहरे के लिए नियुक्त हो जाते और नित्य-नियमित गाँजे और तपावन के बल पर डटे रहते थे।

पार साल जब 'कमला' की गोद का बच्चा 'मोहन' नाना के घर आकर कई दिनों तक ज्वर से तड़पता रहा, तब फिर मत पूछिये, घर में

एक तहलका-सा मच गया। ग्रहों का जप-दान हो या न हो; दुर्गासप्तशती का पाठ हो या न हो; पर झाड़-फूँक और झाल-मँजीरेवाले पचरों की आठों पहर झंकार से सारा मकान थर्रा उठा!

मिश्रजी अपनी धर्मपत्नी को इन पाखंडों से अलग रहने के लिए लाख समझाते—अपनी कुल-मर्यादा की क्षति दिखाते, अपने रोज़गार में विश्वास उठ जाने से घटी होने का डर सुनाते, देवताओं में श्रद्धा का गुण गाते; पर मिश्रानीजी अपने प्रोग्राम और विचार पर अटल रहतीं। अगर मिश्रजी ने कुछ झल्लाने की कोशिश की, या भवें सिकोड़ीं, तो फिर चीं-चपड़ के जवाब में गम्भीर गर्जन तथा भ्रूकुञ्चन के जवाब में नाक, होंठ, आँख और गरदन सब तनकर खिंच जाते; और बिचारे मिश्रजी को परास्त होकर सर लटका लेना पड़ता था! अगर वे अपने तन्त्र-मंत्र तथा भजन-पूजन की सिद्धियों का चमत्कार जताने की कोशिश करते, तो श्रीमतीजी और भी भिन्ना उठतीं और बेतोड़ जवाब दे बैठतीं—"बस, बातें न बनाओ। अपने चेलों को गुन दिखाकर ठगो। तुम्हारी करामात मैं देख चुकी हूँ। तुम अपना तन्तर-मन्तर साधते ही रह गये और मेरे दो-दो लाल दुनिया से गुज़र गये। मैं तो सौरी में पड़ी लाचार थी; नहीं तो मैं देख लेती कि तुम कैसे 'नेता' गुनी को दरवाज़े से उठवा देते! उसी का नतीजा मैं आजतक भोग रही हूँ। कहाँ रही तुम्हारी करतूत! तुम दूसरे को बेटा और धन देते चलते हो, मुझे तो एक दो! पहले अपने घर में चिराग़ जलाओ, तो दूसरे के घर में जलाते फिरना! तुम्हारे देवता सच्चे हैं, तो तुम्हें क्यों नहीं फले? तुम तो दिन-रात उनका

तलवा धो-धोकर पीते चले आये ! आज 'नेता भगत' न रहते, तो मोहन भी हाथ से जा ही चुका था !"

मिश्रजी के उस गाँव के आधिपत्य में एक धूम्रकेतु 'नेता' गुनी था। नेता उस चकले में उनका भयङ्कर रक़ीब था। मिश्रजी शास्त्र के गुनी थे, नेता गुन का गुनी था। उनको 'भैरव' सिद्ध थे, उसको 'सोखा' सिद्ध थे। वे कुश लेकर झाड़ते, वह लवँग लेकर झाड़ता। वे शिवमंत्र पढ़कर गाल बजाते, वह पचरा गाकर झाल बजाता। वे आग में घी डालते, वह आग में धूना डालता। वे बम बोलकर दैवी बल का दम भरते, वह भूत-भय का भय दिखाता। उनका दबदबा बाहर सदर में था, उसका दबदबा भीतर महल में।

'नेता' देखने में तो था काला-कलूटा ठिंगना; पर उसके गुन के आगे बड़े-बड़े प्रतिष्ठित भी उँगली काटते थे। वह गुरुवर गिरिधारीलाल को भी धता बताने से बाज़ नहीं आता, साफ़-साफ़ सुनाकर कहता—"देवता से ज़ोरदार भूत है ! देवता देवता हैं, भूत बजरंगबली हैं। इनका उपचार न होगा, तो देवता के आगे सर पटककर क्या होगा ? भूत के आगे देवता की एक नहीं चलती ! मिश्रजी आकर ज़ोर आज़मा लें !"

भगवान् जाने, देवता सच है या भूत। भगवान् जाने, हमारे सुख-दुख में देवताओं का, ग्रहों का, किंवा भूतों का कहाँ तक हाथ है; मगर इन भूतों, ग्रहों और देवताओं के सर पर इस आर्य-भूमि में जो लाखों का रोज़गार गरम है, वह तो सर्वथा सत्य है।

नेता का कहना था कि मिश्रजी की देवसिद्धि और मन्त्रसिद्धि बिलकुल भ्रावली है; और मिश्रजी का कहना था कि नेता दिन-दहाड़े विश्वास का घर लूटता है; कहीं नीच के तन पर देवी आती हैं ? यह सरासर दमबाज़ी—ठगी—का रोज़गार है !

कौन कहे, किसका रोज़गार सच है, किसका रोज़गार झूठ; कहाँ ठगी है, कहाँ सद्गति ? भगवान् जाने, देव-देवी भी ब्राह्मण और कहार में विभेद करती हैं या नहीं। वे पंडित के घर आती हैं या चमार के चौरे पर आती हैं; वे संस्कृत के मन्त्र के वश होती हैं या पचरे के झाल पर प्रकट होती हैं। अथवा, दोनों में कहीं नहीं आतीं; जो सुमिरे वहीं आती हैं—जाति कुछ हो, विधि कुछ हो, ज़बान कुछ हो।

ख़ैर, जो हो; मगर एक दिन जब मिश्रजी पेट के खोंचे से खाट पर चित तड़प रहे थे, तब नेता ने उनके सिरहाने बैठकर झाल ज़रूर बजाया था; और जब नेता की पत्नी महामारी से जी-जीकर मर रही थी, तब उसने गुरुवर के पैरों पर गिरकर शनि की शान्ति का उपाय ज़रूर दरियाफ्त किया था।

मिश्रजी अपनी मूर्खा स्त्री के अभियोग का क्या जवाब देते ? वे तो सन्तान के अभाव से स्वयं ही दुःखी रहते थे। फ़र्क़ इतना ही था कि वे इस दर्द को अपनी ज़ब्त के खूँट में बाँध रखते थे। उन्होंने बेटे के लिये बड़े-बड़े पुरश्चरण किये, हरिवंश सुना, तीर्थों की ख़ाक छानी, जप-तप सब किया, और बेटे का बाप बनने के गौरव का भी अनुभव किया; लेकिन दोनों बच्चे दो छन उनके दिल में एक अननुभूत गुदगुदी

पैदा कर जहाँ से आये थे फिर वहीं वापस हो गये! पिता तड़प-तड़पकर रह गये कि उन्होंने उन जिगर के टुकड़ों के चेहरे को भी नहीं देखा। माता तड़पकर रह गई कि नेता भगत के 'देवघर' की भभूत नहीं पहुंची और मिश्रजी ने चौखट पर से झाड़फूँक का सिलसिला उठवा दिया।

रमा देवी तो इसी गदले वातावरण में पनपकर पली थीं। बिचारी अपने विचारों के व्यभिचार से मजबूर थीं; इसीलिए मिश्रजी उनके आक्रोश को हँसकर सह लेते। जिस सिद्धि की कला पर दूसरों की दैविक और भौतिक बलाएँ सैकड़ों बार कट चुकीं, वही साधक के लिए भोथरी बनी हो, यह विधि-विडम्बना भी क्या, अजब है?

उनकी यह चिन्ता सदा जाग्रत रहती कि उनके बाद उनके सर की पगड़ी किस पर बँधेगी। बेटी को एक बेटा ज़रूर था; लेकिन वह ख़ुद ही एक बड़ी ज़मीन्दारी का उत्तराधिकारी था, उसे नाना की जायदाद की भूख नहीं थी। और, वह शौक़ीन ज़मीन्दार का लाड़ला था; नज़ाकत में पल रहा था। भला वह धर्म की टोकरी सर पर रखकर कुँजड़े की तरह शिष्यों के घर-घर परलोक के फल को बेचता फिरेगा! उसके साथ तो पेट का सवाल नहीं था कि वह अपने परलोक के सञ्चय में सैकड़ों को शरीकदार करे! और सच पूछिये तो उसको सञ्चय की ज़रूरत भी नहीं थी। एक चोले के लिए तो दोनों जून की सन्ध्या क्या कम है? फिर वह जप-तप के झमेलों में किंवा श्रीयन्त्र की सिद्धि की कठिन उपासना के चक्कर में पड़ने ही क्यों जायगा? उसके पिता उसे नाना के नाना जंजालों में जाने ही क्यों देंगे? सैकड़ों शिष्यों की

मुँहज़ोर प्रवृत्ति की गति की बागडोर को हाथ में रखकर रास्ते पर ले चलना कुछ साधारण प्रयास नहीं है। मोहन की नाज़ुक उँगलियाँ तो इसे थाम नहीं सकेंगी! तब, उपाय क्या था?

कमला को तो दूसरा लड़का था नहीं, थी एक बच्ची. मुन्नी। मिश्रजी ने अपने वंश के एक प्रतिभावान् युवक पर निगाह डाली और उसे अपने काँटों पर तौला, तो वज़न और भाव में ठीक पाया। श्रीधर देखने-सुनने, पढ़ने-लिखने, हर बात में होनहार था। मिश्रजी को इतनी समझ ज़रूर थी कि अब उनका बेटे के हाथ से आग और पानी पाने का स्वप्न देखना उनकी नासमझी होगी। श्रीधर ही के कधों पर कुल का भार देना उचित होगा।

रमा देवी पचास पार कर पचपन के पड़ोस में आ पड़ी थीं और अपने पति के सिन से कम-से-कम आठ बरस बड़ी थीं! मिश्रजी के पिता ने बचपन में ही अपने इकलौते बेटे को दान-दहेज़ की मोहिनी माया में पड़कर एक पूर्ण युवती के दामन में बाँध डाला था। माता के दूध से मीठे मुँह में यौवन के फेनिल प्याले को उँड़ेलकर आप पितृधर्म के दायित्व से मुक्त हो गये; और इधर मिश्रजी की कमज़ोर कमर इस बोझ के भार से मड़मड़ाकर झुक गई। परिणाम यह हुआ कि जब मिश्रजी पचासवें साल में, पिता की मृत्यु के अनन्तर, शहर के संस्कृत टोल से साहित्य और अलङ्कार के पूर्ण विद्वान होकर, शकुन्तला और मेघदूत की सरस पंक्तियों को दुहराते हुए, घर पर आये—जब मन के कोने-कोने में अरमानों की उमड़ी हुई उर्म्मियों से उन्मुख विलास-कुँज की तलाश में

अपने निर्दिष्ट चमन में पैर रखा, तब वहाँ ख़िज़ाँ झाड़ू फेर चुकी थी। फूलों पर न वसन्त का कुलेल था, न यौवन का परिमल; न रंग, न गंध; वरञ्च क्यारियों में 'अपत कटीली डालों' की भरमार!

यह तो मुमकिन न था कि गुलशन की तलाश में वे कहीं और निगाह डालते। घर की चीज़ में स्वाद मिले या न मिले, बाज़ार की ओर मुंह मोड़ना उनके लिए मुश्किल था—चीज़ें लाख चटपटी क्यों न हों। वे अपने कुल और पद की मर्यादा को धूमिल कर नहीं सकते थे।

गिरिधारीलालजी इस प्रान्त के सनातनधर्म के मानदंड थे। उनके हाथों में सैकड़ों सम्भ्रान्त शिष्यों की सद्गति की बागडोर थी। वे उस कठिन आदर्श से जौ-भर भी हिलते—हिलने की अगर गन्ध भी उठती, तो फिर उनके घर का—उनके चेहरे का—पानी उतर जाता। फिर वे किसी के सामने आँखें सीधी नहीं कर सकते थे। कल ही उनके महल्ले के मुरारी चौबे नमक-मिर्च लगाकर उनकी खिल्लियाँ उड़ाते और मिश्र-वंश के यश को मलिन करके अपना उल्लू सीधा करने से बाज़ न आते।

मिश्रजी ने अपनी क्षुधित कामना की लहर को विवेक का कूल छूने नहीं दिया। बाज़ार के मज़ेदार तर माल से उन्होंने घर की रोटी-दाल पर क़नायत करना उचित समझा। हाथ पसारने के बदले भूखे रह जाने की तकलीफ़ उन्हें गवारा थी। वे दिल मसोसकर रह गये; लेकिन बाज़ार की चाम-चूम पर नहीं गये। कभी-कभी उनको सख़्त तकलीफ़

होने लगी। रमा में न तो सूरत की रविश थी, न सीरत की मिठास; न मिज़ाज़ में नरमी थी, न जबान में मिसरी; न नज़ाकत की लज्ज़त थी और न चितवन में विद्युत्। फिर भी, जो कुछ हो, वह उनकी सहधर्मिणी तो थी!

जब कभी उनके मुहल्ले के समवयस्क और दरिद्र सहपाठी मंडन दूबे की पत्नी उनके घर के आँगन में दो-चार सेर चने-चबेने के हथफेर के लिए श्रीमतीजी के हज़ूर में सकपकाती हुई आँचल पसारने आती और मिश्रजी खुले हुए पूजा के कमरे में बैठे उसके पैरों की आहट पाते ही रुद्राध्यायी के पाठ में आँखें उठाकर उस फटे हुए कपड़ों से फूटती लावण्य की जलती शिखा पर रखते, तब उनके जीवन की विराट् व्यर्थता कङ्काल बनकर उनके सामने खड़ी हो जाती और आँख का कोना किसी वेदना की आँच से तप्त हो उठता।

उस वक्त खाट पर बैठकर गुड़गुड़ी पीती हुई अधेड़ पत्नी की चुन्धी आँखें, पिचके गाल, पोपला मुंह तथा नथ-भरी चिपटी नाक उनको फण फैलाकर काटने दौड़ती। उनके जी में न जाने कहाँ से एक उन्माद सा उठता कि सामने रखी हुई शालिग्राम की मूर्त्ति को तथा बेठनों में बँधी हुई पत्रा-पोथी को उठाकर गंगा के अतल तल में फेंक दें और इस नीरस निरानन्द धर्म और कर्त्तव्य के बन्धन की धज्जियाँ उड़ाकर घूरे पर बिखेर दें।

हाय! उनको भी अगर ऐसी लवंग-लता मिली रहती, तो दारिद्रय कौन पूछे, मरण को भी वरण करने में उन्हें आपत्ति न होती। उस

रूप की माधुरी में, उस कंठ की काकली में, उनकी चेतना की एक-एक कणा लवलीन रहती; और जबतक यह आँखों के सामने से ओझल नहीं होती, तबतक उनके उन्माद का नशा ठंढा नहीं पड़ता। मगर, जहाँ वह सामने से हटी कि उसी क्षण उनके पूर्वजों का रक्त उनकी ब्रह्मनाड़ी में खौल उठता।

मिश्रजी बद्धाञ्जलि होकर सिंहासन पर बैठे चन्द्रमौलि की चरण-चौकी के सामने बार-बार अपराधाभंजन-स्तोत्रों को पढ़ते और अपनी क्षणिक दुर्बलता के लिए क्षमा की याचना तथा बल की प्रार्थना करते थे।

मिश्रानीजी पतिपरायण हों या न हों, अलङ्कारपरायणा तो अवश्य थीं। ज्यों-ज्यों उनकी उम्र बढ़ती गई, त्यों-त्यों उनपर नई-नई सोने की कड़ी चढ़ती गई। उनके जीवन के दो ही पते थे—सोने के गहनों का दर और गाँव-भर के भूतों का डर। उनके शरीर की गाँठों में निरन्तर पीड़ा रहती और वैद्यजी के महालाक्षादि तैल की मालिश और भी तरक्की करती जाती थी। इस पीड़ा के निवारण के दो तरीके थे; गाँठ पर गहनों का बंधन और प्रत्येक सोम-सनीचर को भूतों का तपावन। परिणाम यह हुआ कि 'मूँगा सोनार' और 'नेता कहार' के लिए उनके महल का द्वार हमेशा खुला रहता और ये दोनों उनके सखा-सहचर बनकर उनकी हरएक राय में हाथ बटाते थे।

यह मत समझिये कि वे अपने पति-धर्म में एक तिल भी किसी से कम थीं। भर माँग सिन्दूर और भर हाथ चूड़ी के लिए उनका,

भाद्र-तीज के व्रत पर, दिन और रात, बिना अन्न-जल के, बिना पान-तम्बाकू के, तड़प-तड़पकर रह जाना, या सोमवारी अमावस्या को, वट-सावित्री के पूजन के अवसर पर, निर्जला रहकर, बड़ के पेड़ के चारों ओर घूम-घूमकर एक सौ आठ फेरी देना, उनकी आँखों में पति-सेवा की चरम तपस्या थी। और, उसीका प्रताप था कि मिश्रजी के भाग्य का सितारा ओज पर था। अगर उसके एवज़ में उन्होंने साल में दो-चार गहने पिटवा दिये, तो इससे क्या ?

जो हो, मिश्रानीजी की इस पातिव्रत्य-पद्धति से उनके पति के प्राणों की कामना की चिता तो बुझती नहीं थी। वे तो अपनी पत्नी को पशु से आदमी बनाने की कोशिश करके हार चुके थे। बूढ़ी सुग्गी तो पोस मानती नहीं !

जिस वक्त उनकी शादी हुई थी, उस वक्त रमा की जवानी खिल रही थी; और उनके दूध के दाँत महज़ टूट चुके थे ! कई बरस बाद जब उनकी मसें ज़रा-ज़रा भींगने लगीं और उनका गौना हुआ, तब वे शहर के संस्कृत-टोल में दाख़िल हो चुके थे। छठे-छमाहे किसी छुट्टी में घर आते। उस वक्त माता-पिता की मौजूदगी में प्रियतम की छाया भी माया-मरीचिका बनी थी। आधी रात के बाद महरी उन्हें हाँककर कबूतरी के दरबे में ठेल देती, और नाक की चौड़ी झुलनी पौ फटते-फटते जहाँ होठों पर ठंढी पड़ती कि उनकी लजीली दुलहिन किवाड़ की किल्ली को खोलकर उन्हें कमरे से बाहर निकाल देती थी। दीवट के चिराग़ की धुँधली रोशनी में भर-आँख प्रिया को

देखना भी नामुमकिन था! आये दिन अँधेरे में खाट को टटोलते वक़्त सर जाकर दीवार से टकराता; कभी-कभी प्रियतमा की नाक की झुलनी उनके होठों के पुट में चली आती थी! ऐसी परिस्थिति में उसे मनोऽनुकूल तालीम देना तो आकाश-कुसुम लोढ़ना था।

जब छब्बीसवें साल वे मालिक होकर घर लौटे, तब रमा की जवानी उतार पर थी और कन्या 'कमला' माता की गोद से उतर चुकी थी। रमा के दिल और दिमाग़ पर भूतों और अवधूतों का क़ब्ज़ा हो चुका था और उसके विचार और विश्वास—उसके फ़ेल और अमाल—दृढ़ता के कूल पर पहुँच चुके थे। अब वे करते तो क्या करते? सिखाते तो क्या सिखाते? अब न वह रीझ सकती थी, न रिझा सकती थी; न नाच सकती थी, न नचा सकती थी। न यौवन की चपलता थी, न विलास की प्रवणता! वह एक बोदी और गन्दी मिट्टी की प्रतिमा बनी थी। गहनों से जितनी लदती जाती, उतनी भद्दी होती जाती।

मिश्रजी ने उसके यौवन के बुझते दीपक को स्नेह देकर ताज़ा करना चाहा, लेकिन वहाँ तो टेम ही जल चुका था, तेल देकर प्रकाश क्या ख़ाक होता?

कुछ दिनों तक रमा ने अपने पति की दिलजोई ज़रूर की। वह साफ़-सुथरी रहती, नाइन को बुलाकर सरसों का उबटन लगाती, शाम को नहा-धोकर जूड़ा बाँधती—उस पर जूही का गजरा लपेटती, मख़मली किनारे की पिस्तई साड़ी बदलती, सर पर बिन्दी साटती, पोत की केसरिया चोली कसती, कान में फ़ाहे और हाथ में मेंहदी देती, पैरों पर

महावर चढ़ाती और तश्तरी में पान की गिलौरियाँ रखकर पलँग के नीचे क़ालीन पर बैठी सरौते से छालियाँ तराशती थी।

गिरिधारीलालजी आकर उसे शकुन्तला और दमयन्ती का परिचय कराते, अलङ्कार और रस की क्यारियाँ दिखाते, नायक-नायिका की उलझनों को समझाते तथा प्रेम-पिचकी के पीयूष-सिञ्चन से उसके अन्तर को शराबोर करने की व्यर्थ कोशिश करते थे।

मिश्रानी के जीवन के सहज रंग पर काव्य-कुसुम के नये रंग की क़लई, दो दिन के हवा-पानी के फेर पर, धुलकर बह जाती; और मिश्रजी फिर रंग की डोलची में हाथ मलते रह जाते थे।

साल जाते-जाते एक नई बला नाज़िल हुई। जो घटा सूखते मनोरथ पर उमड़कर मेह बरसाने आई थी, वह अचानक ओले बरसा गई। इतनी मन्नतों पर तो फाल्गुन की पूर्णिमा को दो बच्चों का एक साथ आविर्भाव हुआ और दो घंटे बाद साथ ही साथ दोनों का महा-प्रस्थान भी हो गया। सोहर की बधाई का गीत दरवाज़े पर उठते-उठते आँगन में अचानक चीत्कार भर गया।

इस भयंकर वज्रपात से गिरिधारीलाल का रंगीन स्वप्न-सौध टूटकर चकनाचूर हो गया। पति और पत्नी के बीच में जिस व्यवधान का सूत्रपात हुआ, वह दिन-दिन नदी की दरार की तरह फटता चला गया। इस तूफ़ान का झटका रमा के स्वास्थ्य और मिज़ाज पर पड़ा। बिचारी टूट गई। गाँठ-गाँठ में दर्द ने घर बनाया। बाल और दाँत धीरे-धीरे पतझड़ के पत्तों की तरह झरने लगे। भूत और भभूत का सिल-

सिला, जो अबतक परदे के अन्तराल में चलता था, अब रोज़मर्रे का व्यापार हो गया।

पंडितजी का शून्य जीवन श्मशान हो गया। वे तड़पकर रह गये। कामना तो बूढ़ी हुई नहीं, कामिनी उनकी बूढ़ी हो गई। इधर हृदय का कोना-कोना साहित्य के सौरभ से आप्लुत था, और उधर प्रेम-प्रमोद की लीलाभूमि मरु-शून्यता से भर गई। शृंगार-काव्य की सहचरी कामना उनके संयम के कपाट पर सर पीटती थी और उनकी अन्तर्वृत्तियाँ इन घात-प्रतिघात की चोटों से ऐंठ गईं। सड़क पर जाती हुई किसी तरुणी की आम की फाँक-सी आँखें, कुएँ की जगत पर खड़ी होकर भरे घड़े को ऊपर खींचती हुई किसी गोपबाला की कसदार निटोल भुजाओं की चपल लीला, किसी लज्जाशीला ग्रामवधू की—चितवन को फेरकर—आँचल सरकाने की भंगिमा, शिष्यों के घर में युवतियों की सुकुमार विनीत चेष्टा, परदे की आड़ से किसी मुलायम कलाई की चूड़ियों की रुनझुन, घूँघट की ओट से किसी की आधी कनखी और गोलमटोल गाल की झलक तथा आँगन में दौड़ती हुई किसी किशोरी की पाजेब की काकली उनकी निखिल चेतना को चञ्चल कर देती और वे बातें करते-करते अन्यमनस्क होकर बातों की लड़ी भूल बैठते थे।

इतनी समझ उनको ज़रूर थी कि घर के बाहर 'रोमांस' की तलाश उनके जैसे शील-प्रवण मिज़ाज के लिए नामुमकिन था, और न उनके बतवे के लिए वह ज़ेबा था। बाहर की गन्ध, झलक और स्वर आकर उनकी तबीयत को लाख मौज़ूँ करें, उनके भाव विह्वल हृदय में

हज़ार दर्द पैदा करे; लेकिन चेष्टा के छोर को छूने के पहले विवेक का व्यवधान अवश्य खड़ा मिलता था।

उनके चित्त की विक्षिप्त दशा दुगनी हो चली। वे कुछ दिनों के लिए अपने गुरु के पास काशी चले गये। वहाँ जाकर उन्होंने धर्मशास्त्र की बारीकियों की आलोचना की। विश्वनाथ-मन्दिर की सान्ध्य आरती की छटा के सहारे अपने मन के ढीले पुर्ज़ों को कसने का प्रयत्न किया। कचौड़ी-गली की कचौड़ी के स्वाद ने उनके घर की सूखी रोटी के त्रास को कुछ दिनों तक भुला रखा। धीरे-धीरे उन्होंने तान्त्रिक उपासना की परिपाटियाँ सीखीं; भजन-पूजन की पद्धतियाँ समझीं। घर पर लौटकर उन्होंने अपने पिता-पितामह की पगड़ी सर पर रखी और पूरे पंडित बन गये। पीताम्बर और रामनामे की चादर, गरदन में रुद्राक्ष और तुलसी की माला, ललाट पर चन्दन और रोरी का तिलक, शिखा में विल्वपत्र का बन्धन—सब कुछ उनके रोज़गार के अनुकूल नमूदार हो गये।

वे पेटी कसकर गुरुपद के कर्त्तव्य पर डट गये। व्यवहार में भी वे चतुर निकले। बहस-मुबाहसे में भी ज़ोरावर निकले। उनकी ख्याति फैली उनकी प्रतिपत्ति बढ़ी; प्रान्त में नाम हुआ, अर्थ का आगम हुआ। कामिनी की जगह को काञ्चन ने ले लिया।

कामिनी न सही काञ्चन तो है! मन को घुँघरू बाँधकर नाचना ज़रूरी है—वह कामिनी की आँख पर नाचे, काञ्चन की आँच पर नाचे या मान की तान पर नाचे। पर मुश्किल तो यह है कि कामिनी आकर

काञ्चन को तलाशती है और काञ्चन आकर कामिनी का तक़ाज़ा करता है। इधर पेट में अन्न पड़ा, उधर मन की गोद में मनोज तड़पा।

ख़ैर, उन्होंने यश के हाथों से यौवन के रस के प्याले को पीकर निःशेष कर देना चाहा। धीरे-धीरे धन-मान की मोहिनी मदिरा—यश-गौरव की तीव्र आकांक्षा, उनके यौवन की रस-पिपासा पर—उनके सिन के सहज तक़ाज़े पर, एक बादल बनकर छा गई और उन्होंने जवानी के कई साल इस चक्कर में पड़कर काट डाले। मगर शान्ति न मिली। न यौवन की क्षुधा ही मिटी, न काम को कनैठी छूटी। अब क्या हो?

उन्होंने अपने जीवन के अपराह्नकाल में वेदान्त की शरण ली। पत्नी के भूतों के उत्पात से तंग आकर उनकी तबीयत पस्त हो गई थी, और ज्यों-ज्यों मिश्रानी की ढीली लटकती छाती पर सालोंसाल सोने की नई-नई लड़ियाँ चढ़ती गईं, त्यों-त्यों उनके मन के पटल पर वैराग्य के छींटे रंग लाते गये। श्रौत-स्मार्त्त कर्मकांड की उलझनों से तबीयत ऊब चली। यज्ञ-याग की आग से अब मन में जलन पैदा होने लगी। व्यक्तोपासना से उनका चित्त डिगने लगा; लेकिन यह समझकर कि जनसाधारण के लिए भक्तिमार्ग ही सुलभ है, उन्होंने लोक-कल्याण के ख़याल से इस परम्परा को जारी रखा।

गुरुपद की मर्यादा की रक्षा कोरे ब्रह्मज्ञान से नहीं होगी। आख़िर स्वामी रामकृष्ण-जैसे परमहंस भी शक्ति के उपासक थे। उनकी-जैसी परिस्थिति में मनुष्य को ज्ञान के साथ-साथ मृत्यु-पर्यन्त स्वधर्म-विहित कर्म करना ज़रूरी है। गीता में भगवान् ने भक्ति, ज्ञान और कर्म का मेल

कराकर इस समस्या को हल कर दिया है। हां, इतना वे अवश्य समझ गये कि आत्मज्ञान के बग़ैर मानव-जीवन की सफलता नहीं हो सकती।

अब तो दिन-रात द्वैत और अद्वैत, प्रवृत्ति और निवृत्ति, सत् और असत्, व्यक्त और अव्यक्त, क्षर और अक्षर, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के मसले हल होने लगे। साथ-साथ मन के अनुशासन के लिए योगासनों की धुन सवार हुई।

वे घंटों पद्मासन पर बैठकर प्राणायाम साधते, और षट्-चक्रभेदन की सारी प्रक्रियाओं का अध्ययन करके कुँडलिनी-शक्ति को जाग्रत करने के लिए प्रयत्नवान् हुए। उनके प्रिय साहित्य की चर्चा भी कम हो गई। वेदान्त और उपनिषद से घर भर गया। जहाँ शकुन्तला और दुष्यन्त की—दमयन्ती और नल की विलास-लीला चलती थी, वहाँ अब प्रकृति और पुरुष की चर्चा छिड़ी। राधा और माधव की जगह को माया और ब्रह्म ने घेर लिया। अब मोहन की मुरली दिलगीर न रही, गोपियों की दर्द-भरी आह में तासीर न रही।

किसी के जीवन पर वैराग्य का रंग कुछ आसमान से नहीं बरसता। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। जब घर की आबोहवा से दम घुटता है, तभी विराग-वन की हवा सुहावनी लगती है। अगर प्रियतमा पत्नी की फिटकार तुलसीदास के मर्मस्थल में न चुभती, तो आज हिन्दू-संसार 'रामायण' के अमूल्य कौस्तुभ को न पाता; न 'विनयपत्रिका' का कल्याण-चिन्तामणि मिलता। यदि स्त्री का सहवास अभिशाप न होता, तो आज भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' के छींटे जगत् के ताप को

शीतल न करते। बुद्ध और शंकर—क्राइस्ट और शुकदेव—का ज़िक्र नहीं है। उनके सर पर वैराग्य छप्पर फाड़कर जो बरसा हो, हमारे-आपके पास वह बे-वजह घर बैठे नहीं पहुंच आता। माता के गर्भ ही में आँख और कान अकस्मात् खुल पड़ें, ऐसे ख़ुशक़िस्मत इस युग में नहीं पैदा होते।

आजकल तो पीर हो या फ़क़ीर, सन्त हो या महन्त, प्रत्येक के जीवन के किसी निभृत कोने में लालसा का कङ्काल ज़रूर छिपा होगा। धन हो या मान, काम हो या अधिकार, एक-न-एक मोह की कील मन में अवश्य गड़ी मिलेगी। आजकल कोपीन भी रंगीन ही बाँधने का दस्तूर है; जोगिया रंग भी रंगों में शौक़ीन रंग है। आज रुद्राक्ष की माला में भी मूँगे पिरोने का रिवाज है। बस, हम जटा तो बाँधते हैं, मन नहीं बाँध पाते; नदियों में वे डुबकियाँ तो लेते हैं, वृत्तियों की तह में नहीं डूब पाते। आत्मवाणी की प्रेरणा पर सुहाग के मोतियों के मुकुट को उतारकर कामना की चिता-भस्म को सर पर रखना, पाषाण से पुष्प की तलाश से कम नहीं है। ऐसा आदमी लाख में एक होगा, जिसके दिल के पहलू तक न सोने की रेखा है न गोरे चेहरे की।

जब इन्द्रियों की सत्ता शिथिल होने लगती है, तभी इन्द्रियों की निरङ्कुशता की चर्चा छिड़ती है और इन्द्रिय-दमन का प्रश्न उठता है। जबतक हाज़मे के दायरे में पिस्ते की बरफ़ियाँ खपती रहेंगी, तबतक साधु और पपीते की उपयोगिता कहाँ सूझती है? जबतक किसी रोड़े से अचानक ठोकर न लगे या चलते-चलते थकान न आ जाय, तबतक

मुसाफ़िर को मंज़िल की तलाश नहीं होती। अगर आशा की एक भटकी किरण भी हमारे मन के कोने में झाँकती होगी, तो हमें संसार के रस से विराग न होगा। और, जबतक रस की एक बूँद भी चाटने की शक्ति रहेगी, तबतक रस की चाट कभी जी से मिट नहीं सकती।

शायद, अगर मिश्रानीजी के पोपले मुँह के गाल की खाल लटकी न होती, किंवा उनके मिज़ाज और कलाम में शरबत की एक बूँद भी घुली रहती, तो गिरिधारीलाल धर्मशास्त्र और काव्य की क्यारियों को छोड़कर इसी सिन में आत्मज्ञान और वैराग्य की उलझनों में न पड़ते और बे-वजह अपने शरीर को हठयोग के आसनों की मरोड़ में न तोड़ते।

सच पूछिये तो यह घर की निरानन्दता तथा पत्नी की प्रतिकूलता उनके लिए दैवी मदद हो गई, नहीं तो कान फूँकते और लकीर पीटते उनकी ज़िन्दगी बसर हो जाती—कभी अमृत तत्त्व की तलाश की उत्कंठा न होती।

अमूमन नैराश्य ही की भित्ति पर तो संन्यास की इमारत खड़ी होती है। मुमकिन है, यह इमारत कमज़ोर हो, तीव्र तूफ़ान के चपेटों को न सह सके; लेकिन, अगर आँधी ज़ोरदार न पड़ी और कड़े की जोड़ाई मज़बूत रही, तो टिक जाने में भी सन्देह नहीं है। किसी क्षणिक क्षोभ में पड़कर जो चादर को जोगिया रंग में रँगता है, उसके मन से रंगीन रंग की तलाश जल्द नहीं मिटती।

कौन कह सकता है कि जीवन की मुसीबत किस घड़ी किस उद्देश्य को लेकर आती है ! कोई ज़रूरी नहीं कि आसमान फटने पर सर भी फट पड़े। कभी-कभी आपद के कंधों पर कल्याण की सवारी आती है। काँटों में भी फूल होते हैं और फूलों में भी काँटे। आसमान पर मँड़राते हुए बादलों के गर्भ में जीवनप्रद जल भी है और सर्वनाशी उपल भी; हमारी क़िस्मत से जो बरस जाय।

यह सच है कि सभी के जीवन में कामिनी के विष-भरे ताने की अनी दिल चीरकर नहीं चुभती और राम की भक्ति का सोता उस फाँक से फूटकर नहीं उठता। यह भी सच है कि चांडाल के घर में ग़ुलामी की ज़िल्लत पर सभी किसीको पुष्पक पर बैठे देव-दुर्लभ लोक की सैर नहीं मिलती। पर, साथ-साथ यह भी सच है कि राम के सर पर यदि आफ़तों का आघात न टूटता, तो पुलस्त्य-परिवार के उत्पात से ऋषियों को नजात न मिलती। और, यदि बीच सभा में आततायी के हाथों से प्रियतमा पत्नी के कलेवर से साड़ी न खींची जाती, तो न अर्जुन को दिव्य दृष्टि मिलती और न विश्व को 'गीता' की अमर वाणी।

द्वितीय परिच्छेद

बेला को यहाँ आये एक महीना हो गया। अभी तक उसकी आँख के आँसू सूखे न थे; अभी तक उसकी छाती की धधकती चिता ठंडी नहीं पड़ी थी। घर का अत्याचार, परिवार का अत्याचार, समाज का अत्याचार, सरकार का अत्याचार। हर ओर से उसे नाउमीदी हो गई थी। घर के शिकंजों से छूटकर वह पुलिस के पंजे में पड़ी और वहाँ सरकार के प्रतिनिधियों ने—जान-माल के पाखंडी रखवारों ने—सहानुभूति का सब्ज़ बाग़ दिखाकर उसे चुटकियों में फूल की तरह मसल डाला था। वह बिचारी क्या जानती थी कि इस घर में भी वफ़ा की ओट में जफ़ा की चोट मरौअज है, और न्याय की आस्तीन में जल्लाद की छुरी छिपी रहती है! उसका एक-एक रोआँ कभी भूलता न था कि दारोग़ा ने पहले क्या कहा था और पीछे क्या किया; पहले कितनी हमदर्दी दिखाई थी और पीछे कितनी बेदर्दी पर कमर बाँधी।

जो अत्याचार के वार के लिये ढाल है, वही हाथ जब ख़ुद ज़ुल्म करने पर तुल जाता है, तब वह जल्लाद के ख़ूनी ख़ंजर से भी कहीं ख़तरनाक होता है। विश्वासी के हाथ की चोट जिस्म के भीतर घुसकर कलेजे को कतर डालती है। ख़ाकी वर्दी की म्यान में स्वार्थ की तलवार की धार कभी जंग नहीं पकड़ती। मन्दिर की बलिवेदी पर मासूम मेमने की हत्या क़साईख़ाने की ख़ूँरेज़ी को भी मात करती है।

पुरुष की तो सूरत से उसे नफ़रत हो गई थी, चूँकि प्रत्येक की आँखों में वही एक परिचित चमक थी। वह जिसके आगे दाँत दिखाकर दया के लिये आँचल पसारती थी, वह पहले उसकी सूरत को आँखें गड़ा-गड़ाकर घूरता और सर से पैर तक मुलाहज़ा करता। फिर उस पुरुष की चितवन की कोर में एक ऐसी झलक उठती—उसके होठों के प्रान्त पर एक ऐसी रेखा खिंचती कि बेला उस तर्जे-हमदर्दी को देखकर बीच ही में अपनी दास्तान भूल बैठती और लाख मुलायमियत से पुचकारने पर भी वह जान लेकर भागती और फिर पीछे मुड़कर नहीं देखती। चौकीदार ने, जमादार ने, थानेदार ने, थानेदार के यार ज़मींदार ने, आबकारी के सरदार ने, अस्पताल के कर्मचारियों ने—सभी ने उसको उसी हिंसा-भरी निगाह से देखा था। पहले सभी ने चिकनी-चुपड़ी बनावटी बातों के घेरे में उसे डाला था। और, जिसने उसे पकड़ पाया, उसने हाय !.....

वह आगे सोच नहीं सकती थी। उसके स्मृति-पट पर एक-एक घटना आग के शरारे की तरह जल रही थी। उसके पेट का बच्चा गया,

उसकी आबरू गई·····! वह जानती थी, किसी एक उत्पात के लिए वह जौ-भर भी ज़िम्मेवार नहीं थी, एक छन के लिए भी उसका मन नहीं डिगा था। उसकी आँखों में एक-एक पुरुष—चाहे वह सरकारी वर्दी में हो या गाढ़े की मिर्ज़ई में—शैतान था, और समाज शैतानी का लीलास्थल। धीरे-धीरे उसके हृदय के एक निभृत कोने में कुछ विद्रोह के मेघ जमा हो चले थे; पर उसका निरीह स्वभाव उन्हें दिल में घर बनाने से रोकता चला आया था।

जो हाहाकार सताई हुई विधवा के हृदय में तह-तह पर जमा होता जाता है, वह किसी उत्तेजना से प्रबल होकर अगर फट पड़ेगा, तो शायद विद्रोह की चिनगियाँ बनकर तमाम समाज को तहोबाला कर देगा।

पुरुषों की निगाह में स्त्रियों को अधिकार न हो, स्वातंत्र्य न हो; पर इस दृष्टिकोण का यह आशय कैसे निकला कि उनमें प्राण भी नहीं है—मन भी नहीं है—लहू भी नहीं है, वे महज़ कचकड़े की गुड़ियाँ हैं; जब जी चाहा, दो घड़ी की तफ़रीह रही, नहीं तो तोड़-मरोड़कर पिटारे में फेंक डाला!

जब अस्पताल के ज़नाना वार्ड में खाट पर पड़ी-पड़ी पीड़ा के प्राबल्य से बेला बेसुध होने लगती, तब वह अपने मानस पट पर खिंची हुई जानकीवल्लभ की मूर्त्ति का ध्यान करके कर जोड़ प्रार्थना करती—"नाथ! जहाँ तुमने मेरे गर्भ के कलंक को अपने घर में शरण दी, वहीं एक ओर इस कलंकिनी को भी जगह दो। अब इन आदमियों की दुनिया में मुझे जीता न छोड़ो। मैं शर्म के मारे मरी जा रही हूँ; मुझे मृत्यु का आशीर्वाद देकर ज़िन्दा करो!"

उसकी क़िस्मत में तो न जाने किस जन्म का जमा हुआ पुरखों का ऋण चुकाना लिखा था! उससे छुटकारा मिलता तो क्योंकर मिलता? वह मौत के घाट पहुँचकर फिर मरने के लिए जी गई। वह स्वस्थ हो चली।

जब मेम-डाक्टर ने पूछा कि वह कहाँ जायगी, तब वह घंटों मीन-मेख में पड़ी रही—"कहाँ जाऊँ? कौन वह ऐसी जगह होगी, जहाँ मर्द नहीं? कोई भी दया करके मुझे उस नगर की लीक धरा दे!"

पिंजड़े की पली समझकर उसपर बाज़ों की ऐसी झपट हुई थी कि अधमरी होकर अगर वह अस्पताल की गोद में न जाती, तो शायद उसके शरीर के रोंगटे तक न बचते। यही वजह थी कि फिर उन बाज़ों की दुनिया में लौटने का उसके कलेजे में दम न था।

फिर आख़िर वह करती क्या? संकीर्ण देहात के एक संकीर्णतम परिवार-कूप में वह पली थी, परदे की गन्दी और बेदर्द आबोहवा में वह पनपी थी, गाँव के जघन्य समाज और पाखंड की बलिवेदी पर वह भोथरी छुरी से हलाल हो चुकी थी; पिता और पति, देवर और ससुर, सभी के स्वार्थ का वह शिकार बन चुकी थी। उसे तो न दुनिया को समझने का अवकाश मिला था, न दुनिया के आघात से बचने के पैंतरे मालूम थे।

घर से बाहर आकर चंद दिनों में उसको जो दुनिया की अनुभूति हुई, उससे तो उसकी जान के लाले पड़ गये थे। ऐसी परिस्थिति में अगर आदमियों के साये से—मर्दों की गन्ध से—उसके मन में मतली

आने लगे, तो इसमें किसी विस्मय की गुंजाइश कहाँ थी?

मर्दों की तरकीबें तो उसके कलेजे पर खुदी थीं! चौकीदार ने उसे 'चाँद की रोशनी' कहकर घर के अँधेरे को रौशन करने के लिए हाथ जोड़े थे; कल्लू ख़ाँ जमादार ने उसे 'जन्नत की परी' कहकर आँखें बिछाने की इजाज़त माँगी थी; राजालाल थानेदार उसे 'सुर की सुन्दरी' कहकर सिर पर सँवार रखने को तैयार थे; उनके मनचले मित्र वैष्णवी फटाकावाले अधेड़ ज़मींदार ने उसे 'देवी की मूरत' कहकर मन्दिर को पवित्र करने के लिए पाँव पर सिर रखा था। इसके अलावा पानवाले ने, खोंचेवाले ने, इक्केवाले ने, दूकानदार ने, दलाल ने—सबने थानेदार की बोली में जोड़ी मिलाई थी।

बेला आज एक-एक शब्द को याद कर काँप उठती है। कलाम में इतनी मिसरी और व्यवहार में विष की छुरी! तीतर और बटेर के मुलायम गोश्त की बिरियानी को सभी कोई चख-चखकर और सराह-सराहकर खाते हैं। इसी अनुभव के कारण वह समझती है कि सभी पुरुष एक ही थैले के चट्टे-बट्टे हैं और युवती को देखकर सभी के मुँह में एक-सा पानी भर आता है; फ़र्क़ इसी क़दर है कि ज़बान पर रहा या होठों तक आया या दामन पर चू गया!

मेम-डॉक्टर के सवाल को वह कबतक टाल ले जाती? एक दिन वह रूखे स्वर से पूछ ही बैठी—"तू कहाँ जायगी? जाती क्यों नहीं? दूध और केले पर यहाँ कबतक पड़ी रहेगी?"

'कहाँ जाऊँ?"

"मैं क्या जानूँ, कहाँ जायगी !"

"मेरा तो इस दुनिया में कोई अपना नहीं है !"

"तो इसके लिये मैं ज़िम्मेवार हूँ ? अस्पताल तो कोई यतीमख़ाना या आश्रम नहीं है। अगर तू ख़ुद यहाँ से न निकलेगी, तो मैं आज शाम को धक्के देकर निकलवा दूँगी !"

"क्यों, मैंने क्या क़सूर·····"

"क़सूर का सवाल नहीं है। मुझे इस 'बेड' पर दूसरी मरीज़ को जगह देनी है। आज ही वह आती होगी। तू तो अब बिलकुल चंगी हो गई।"

"तो आप अपने यहाँ मुझे अपनी नौकरानी बनाकर रख लें। मैं झाड़-बुहारू करूँगी; बर्तन साफ़ करूँगी। मेरे लिए एक जून सूखी रोटी काफ़ी होगी।"

"माफ़ करो, मैं बाज़ आई !"—मेम साहबा ने ज़रा मुस्कुराकर कहा—"तुझे अपने घर पर ले जाकर रखूँ और मेरी चौखट पर रँगीलों का फ़ैन्सी-मेला हो ! ना, मुझे क़बूल नहीं !"

"तब और किसी शरीफ़ के घर में·····"

"क्या टें-टें करती है ? मैं दवा देती हूँ, रोज़ी नहीं देती।"

"अस्पताल में दाई का काम नहीं मिल सकता ?"

"बिना तनख़्वाह के ?"

"जो कुछ आप दें !"

"तू तो सिर हो रही है !"—मेम साहबा झल्ला उठीं—"यहाँ जगह

नहीं है। तेरे लिए तो बाज़ार खुला है! वहाँ तो ख़ासी आमदनी होगी!"

बेला इस इशारे को पूरी तरह समझ न सकी। इसीलिए महज़ 'कैसे?' कहकर चुप हो गई।

"कैसे? तेरा चाँद-सा चेहरा है, भरी जवानी है, तुझे किस बात की कमी है? मेरे सामने बनती है? मैं क्या नन्ही बच्ची हूँ, कुछ समझती नहीं?"

बेला की आँखों में आँसू उपटने लगे। वह निगाह नीची किये बड़ी धीमी आवाज़ से बोली—"मुझसे यह काम न होगा।"

मेम साहबा खिलखिला पड़ीं—"क्या ख़ूब! आजतक कैसे हुआ कि अब न होगा?"

बेला पानी-पानी हो गई। उसका सर सीने पर लटक गया। वह रुकते-रुकते बोली—"कैसे हुआ, आप इस दुखिया की कथा....."

"मैं सब सुन चुकी हूँ। यहाँ तुझ-जैसी सैकड़ों आ चुकी हैं। यही देखते-सुनते इस अस्पताल में मेरे पचीस वर्ष कट गये। अभी कल की बात है, तू दर्द से इसी खाट पर चीख़ रही थी; आज सती सावित्री बनती है! दो दिनों बाद जब दर्द की याद जाती रहेगी, तब फिर मटकती फिरेगी। तेरे रूप की हाट में अशर्फ़ियों से सौदा होगा। ऐं, रोती क्यों है?"

बेला की आँखों के आँसू ज़ब्त के बाँध को ठेलकर उमड़ पड़े। वह क्या कहे और किससे कहे! अगर कलेजा भी निकाल

कर सामने रख दे, तो भी इस जगत् में किसे एतबार होगा ? भगवान् ने जब उसके बाँट में यही शर्म दे रखी थी, तब साथ-साथ पत्थर का कलेजा भी क्यों न दिया ? उनको जब दुनिया के सामने यही लज्जा देनी थी, तब फिर उसके दिल के पहलू में इतनी लज्जा क्यों दी ? उसके कंधे तो इस लाज के पहाड़ को उठा नहीं सकते थे !

अब वह कहाँ जाय—किस दर पर जाकर अपना आँचल पसारे ? इस आकाश की अनन्त नीलिमा के नीचे खड़ी होनेभर को एक चौवा भी निरापद जगह उसके लिए कहाँ है ? किसी अमीर के घर—किसी शरीफ़ के घर ? सभी की तो एक ही माँग होगी—वह मर्दों की मुराद पूरी करे और फिर सुबह में, रात के बासी फूल की तरह, कूड़े पर जा पड़े ! यदि स्त्रियों की शरण ले तो फिर तानों और तेवरों का निशाना बने, और दूसरे दिन किसी दूसरे कूचे की ख़ाक छाने !

वह बिचारी फूट पड़ी। गर्म आँसुओं की तेज़ रफ़्तार देखकर शायद मेम साहबा का दिल भीग गया। वे आकर चारपाई पर बैठ गईं और उसके कंधे पर हाथ रखकर बड़ी मुलायम आवाज़ से बोलीं—"सुनो बेला, मैंने कुछ धूप में बाल नहीं पकाये हैं। तुम्हीं लोगों के साथ मेरी जवानी कटी। अब उस पार जाने के दिन क़रीब आ गये। मैं तुम्हें गुमराह नहीं कर सकती। मुझे दुनिया के हर क़िते की परख है। तुम रो-पीटकर क्या करोगी ? जो होना था, सो हो गया। अब दामन झाड़कर खड़ी हो जाओ। धरम-करम सब सुभीते की बात है। सरग और नरक कुल बनावटी तरकीबें हैं। किसी ने वापस

आकर कुछ आँखों-देखी नहीं कही। ये सारी बातें पीरों और पंडितों ने पेट पालने के लिए पैदा की हैं। तुम अभी नादान हो। सच मानो, इस दुनिया में कभी किसी पर भरोसा नहीं; न कोई किसी का सहारा है। तुम्हें अपने बूते पर भिड़ना है। तुम में अभी रूप है, रंग है, जवानी का जमाल है! इस पर टिड्डियों की तरह लोग पिले पड़ेंगे; नहीं तो जब गाल की पँखड़ियाँ लटक पड़ेंगी, फिर बुलबुल का कहीं पता न मिलेगा। अगर बदला लेने की नीयत हो, तो यही मौक़ा है। तुम इन बेदर्द मर्दों के कलेजों को पैरों तले मसल डालो!"

मेम साहबा चुप हो गईं और झुककर बेला के चेहरे को ग़ौर से देखने लगीं। अभी तो उन्होंने तरकस से एक मामूली तीर छोड़ा था। ब्रह्मास्त्र तो अभी आस्तीन के पुट में पड़ा था।

बेला चुप बैठी आँचल के छोर को अँगूठे में लपेट रही थी। भगवान् जाने, वह क्या सोच रही है! उसका चेहरा दूध के झाग की तरह सफ़ेद है। उस चेहरे पर न कोई शिकन है, न आँखों में कोई जलन।

मेम साहबा ने समझा तीर निशाने पर नहीं पड़ा। वह नादान होकर भी टेढ़ी खीर थी। उन्होंने प्रत्यञ्चा पर फिर दूसरा तीर रखा—"तुम इतना समझ लो कि अब शरीफ़ों में तुम्हारा गुज़र न होगा। तुम्हारी नाक कट चुकी, अब नाकवालों के साथ तुम्हारे मरासिम कभी मुमकिन नहीं। तुम्हें नकटों ही के कूचे में अपना आशियाना बनाना होगा। मैं फिर कहे देती हूँ कि तुम नक़ली नाक लगाकर नाकवालों

की महफ़िल में नहीं मिल सकती। इस ख़ामख़याली को दिल से उठा दो। जो होने का नहीं, उसके लिए तड़पकर क्या होगा?"

"या भगवन्! मेरी क्या गति होगी?"—बेला ने आप-ही-आप सिसककर कहा।

"वही, जो हिन्दुस्तान में हज़ारों की होती है! तुम अकेली नहीं हो। तुम-जैसी लाखों इस देश में पापड़ बेल रही हैं। देहातों से हज़ारों सताई हुई हिन्दू बेवाएँ बाहर आकर शहरों की आबादी बढ़ाती हैं। वे फिर वापस नहीं जा सकतीं; किसी शरीफ़ हिन्दू के घर की लक्ष्मी नहीं हो सकतीं। तुम्हारे समाज में तो उनको फिर से पनपकर फूलने-फलने का मौक़ा नहीं दिया जाता। जो गिरी सो गिरी, उठ नहीं सकती।"

"जो ख़ुद गिरती होगी, उसके लिए यह सज़ा होगी।"—बेला ने ज़रा तिनककर कहा।

"नहीं-नहीं, तुम ख़ुद गिरो, अचक्के गिरो, धक्के खाकर गिरो या ज़बरदस्ती पकड़कर बोर दी जाओ—ख़ता एक है, सज़ा एक है! मर्द तो कभी सज़ावार हो ही नहीं सकता। उसको तो तुम्हारे राम के दरबार से दमामी माफ़ी की सनद मिल चुकी है! वह तो आज़ाद है! अगर शायद कुछ बात भी बढ़ी, तो उसके लिए तरकीबों की कमी नहीं। गंगा में डुबकियाँ लगाईं, गोबर-मिट्टी मली, पूजा-पाठ हुआ, दस भाई-बिरादर को खिला दिया, दस पंडे-पंडितों को मालपुए चखाये; फिर पाँत में शामिल हो गया! तुम्हारे लिए तो गंगा बहती नहीं! तुम

लाख नहाओ, हज़ार पूजा करो, बरसों माला फेरो, महीनों तीर्थों की ख़ाक छानो, तुम्हारी तो रसाई किसी शरीफ़ में होगी नहीं! तुम्हारे समाज में कोई ऐसी त्रिवेणी नहीं, जो इस दामन के दाग़ को धो सके।"

"तो फिर डूब मरने के अलावा कोई चारा नहीं?"

"क्यों नहीं? क्या दुनिया ख़ाली है? ऐसी ख़ब्त तो किसी पगली पर सवार होगी। तुम्हारे समाज में यह नासमझी है, डूब मरो या बाज़ार में जाकर रूपे के दर पर रूप बेचो। तुम्हारी क़िस्मत में दही की मही रहेगी और दलाल सुड़केंगे दही की छाली। जबतक जवानी का मुलम्मा है, तबतक तुम घी में चावल पकाओ या दूध में। दो दिन बाद तो बासी भात के भी लाले पड़ेंगे। जब ख़िज़ाँ आएगी तब सूखे पत्ते की तरह उड़ती फिरोगी। सच मानो, तुम्हारी शराफ़त की फटी चादर को रफ़ू करने की मशीन हिन्दू के घर में नहीं मिलेगी। तुम्हें रफ़ू कराना है, तो हमारे घर पर आओ। वह रफ़ू होगा कि सूत से सूत मिल जायँ। फिर तुम इसे सर पर ओढ़कर शरीफ़ों की महफ़िल में बेखटके मौज करोगी।"

बेला ने दृष्टि ऊपर की और मेम साहबा के चेहरे पर रखी।

"क्या देखती हो? मुझको? मैं भी एक दिन वही थी, जो आज तुम हो। मैं कोई विलायत की मेम नहीं हूँ। गाउन पहनने से मत समझो। रंग भी वही देशी है। तुम्हारा रंग तो बटर सोने का है, मुझसे भी कहीं खुलता है। फ़र्क़ यही है कि तुम पामाल हो, और मैं खुशहाल हूँ। दो दिन 'सोप' मलकर नहा-धो लो, फिर देख लेना, तुम्हारे कंचन-रंग के सामने विलायती मेमों के भी रंग फीके पड़ जायँगे!"

"तो आप यहाँ कैसे आईं ?"—बेला ने दबी ज़बान से पूछा।

"जैसे तुम आई हो ! मैं भी इसी जवार के एक ग़रीब ब्राह्मण की बेटी हूँ। बाप ने मुझे 'झुर्रियों की झुलती खाल' की गाँठ में बाँध दिया था। साल जाते-जाते मौत ने आकर उस बेजोड़ गाँठ को तोड़ डाला और मैं फिर मायके वापस चली आई। माँ तो थी नहीं, कुछ महीनों बाद बाबा भी चल बसे। मैं सबके कंधों पर सिल हो गई—सबकी आँखों की किरकिरी हो गई। फिर तो चचा ने मुझे तबाह करने की ग़रज़ से मेरे साथ ऐसी भलाई की कि मैं यहाँ पहुँच सकी, और मेरी ज़िन्दगी पलट गई। उनकी नज़र-मिहरबानी के ज़रिये ठोकरें खाती मैं यहाँ न आती, तो उसी अँधेरी खंदक में पड़ी-पड़ी गल-पच गई रहती। बरसों बाद जब चचा के दिन बिगड़े और वे दाने-दाने को मुहताज हो गये, तब यहाँ आकर पैरों पर गिरे और मैंने यहीं पर आँफ़िस में उन्हें पंखा-कुली की जगह दिलवा दी। भूख की आँधी में धरम का मशाल कहाँ तक टिक सकता है ? ज़माने की हवा भी हवा हो जाती है। वे तो अब रहे नहीं, लेकिन उनका बेटा 'शेखर' अब भी यहीं अस्पताल में दरबानी करता है और बाज़ार से लोफ़ और अंडे रोज़मर्रे मेरे घर पर पहुँचाता है।"

"मगर आप डॉक्टरी·····"

"डॉक्टरी ? डॉक्टरी यहीं रहकर सीखी। मैं भी एक दिन तुम्हारी तरह इसी अस्पताल में मौत की राह ढूँढ़ रही थी। मैं उस सामनेवाले"—मेम साहबा ने ऊँगली के इशारे से दिखाकर कहा—"कमरे में थी।

तबतक यह नया 'वार्ड' नहीं तैयार हुआ था। लगातार पाँच दिनों तक चारपाई पर तड़प-तड़पकर चीख़ती रही। बूढ़ी मेम-डॉक्टर ने मुझे मौत के पंजे से बचाया और जब मैं चंगी हो गई, तब मुझे और मेरे नन्हें बच्चे को अपने स्नेह के साये में जगह दी। अगर वे फ़िरिश्त-सूरत मुझे जगह न देतीं, तो यह दामन का छोर नावदान में तर रहता। मैं ईसाई हो गई और इसी मिशन-अस्पताल के डॉक्टर के साथ मेरी शादी हो गई। मेरे शौहर आज-कल मसूरी में हैं। मैं वहाँ बराबर आती-जाती रहती हूँ। मैंने डॉक्टरी सीखी और यहीं मुलाज़िम हो गई। इस वक्त मेरे दो लड़के और एक लड़की है। लड़की कलकत्ते में इंजिनियर से ब्याही है। बड़ा लड़का यहीं डाक्टर है और छोटा लड़का अपने बाप की निगरानी में मसूरी में पढ़ता है। बेला! मेरे चचा की बदनीयती मेरी खुश-क़िस्मती हो गई! हिन्दू-समाज में ज़िल्लत, मेरी इज्ज़त—मेरी मुक्ति हो गई। अगर हिन्दू-धर्म का दायरा इतना तंग न होता, उस समाज के कुएँ में भंग न पड़ी रहती और मेरी निर्दोषता के इनाम में मुझे सज़ा न मिलती, तो तुम्हीं कहो, मुझे ईशू की विशाल आत्मा का परिचय क्योंकर मिलता? कलंक का टीका मेरे सर पर सुहाग का तिलक कहाँ बनता? मैं तो यही दुआ करती हूँ कि तुम्हें भी उसकी शरण नसीब हो—तुम्हारा पतन भी तुम्हारे उत्थान की नींव हो। बेला! तुम्हीं समझो, ख़ुद तो मैं कभी गिरी नहीं, बल्कि गरदन दबोचकर बोरी गई थी। मगर फ़र्ज़ कर लो, मैं ख़ुद ही फिसलकर गिर पड़ी, तो यह कौन क़ायदा है कि मुझे दामन

झाड़कर उठने का भी मौक़ा न दिया जाय; उलटे दुलत्तियाँ झाड़कर गहरे खड्ड में फेंक दिया जाय, ताकि मेरी लाश की बोटियाँ गीधों की ख़ूराक हो ! यही इन्साफ़ है ? अगर है, तो मर्द और औरत के लिए बराबर क्यों नहीं ? क्या वजह है कि मर्द सैकड़ों का गला घोटकर भी मूँछें कड़ी किये मौज कर रहे हैं और बेचारी अबलाएँ घर से निकाली जाकर सड़कों के किनारे सिरकी तानकर पेट पाल रही हैं ? यही वजह है कि हिन्दू-समाज की नाक आधी कट चुकी ! मगर अपनी सूरत तो अपनी आँखों से नज़र नहीं आती; इसीलिए शायद उसे अपनी बदसूरती की ख़बर नहीं है। अगर ग़ैर की आँखों से वह उस शक्ल को देखता या दुनिया के आइने में अपना चेहरा देखने की उसे समझ होती, तो मुझे यक़ीन है कि लाख ज़लील होकर भी चुल्लू-भर पानी में डूब जाता।"

बेला चुप साधे सुनती रही ! मेम साहबा की बात की वह तसलीम करे या उसका जवाब दे ? उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम थी।

'बेला, तुम्हीं कहो, आज मैं ईशू की शरण में न आती, तो मेरी क्या गति होती ? मैं आज शरीफ़ों में शरीक हूँ। हमारे धर्म की गंगा में नहाकर तुम-जैसी कितनी ही दुखिया तर चुकीं और रोज़ तर रही हैं। तुम्हारी गंगा तो परलोक में तारने का दावा करती है; पर आजतक किसी ने वापस आकर उस दावे की सचाई का सबूत न दिया; और हमारे यहाँ तो खड़े-खड़े इस हाथ दे उस हाथ ले' का मज़मून है ! बेला ! तुम मन्दिर की चौखट पर अछूत को झाँकने मत दो, कुएँ से एक चुल्लू

जल न लेने दो, उसे कुत्ते की तरह नापाक समझकर मकान के बाहर दुत्कार दो; तुम जवान विधवा के सर को लीप-पोतकर पूजा की वेदी बनाओ, उसे मोटी-फटी धोती और एक जून भुने चने पर चने की तरह पीस डालो और ख़ुद उसे दलदल में ढकेलकर दुलत्तियाँ झाड़ो; मगर वही अछूत और वही विधवा जब पंचों के दरवाज़े पर सर पीटकर रोती-कलपती गिरजे और मस्जिद के दायरे में आती है, तब वहाँ उन्हें गले लगाकर ग़ाबरी के दरजे मिलते हैं और उनके दिल के फफोलों पर स्नेह का मरहम देकर उन्हें आदमी बना दिया जाता है। तुम्हीं कहो, ख़ुदा का घर तो ज़ालिम अमीरों का दरबार नहीं है! जहाँ दीन-दुखिया का गुज़र न हो, वह ख़ुदा का घर है या शैतान का? ईशू ने तो क्षमा और प्रेम के मन्तर पर पत्थर को भी गला डाला, गुनाहों के पर्वतों की भुस्सियाँ उड़ा डालीं। अब भी समझो, तुम कहाँ भटकती फिरोगी? याद रखो, जबतक तुम हिन्दू रहोगी, तबतक हर शरीफ़ का दरवाज़ा 'किसी अभागे का भाग' बना रहेगा; न वह खुलेगा, न तुम्हारी रसाई होगी। इधर देखो, वह जो उस कमरे में उस बिचारे मरीज़ की नब्ज़ पर हाथ रखे कुर्सी पर बैठा है, वही मेरा पहला लड़का है, जिसके कारण मेरी कायापलट हुई। आज वह हिन्दू रहता, तो धोबी का गधा बना रहता—न घर का, न घाट का! यह ईशू का इक़बाल है कि आज वह शरीफ़ों की नाक का बाल है। किसकी मजाल है जो मेरे 'पॉल' पर उँगली उठा सके! आज वह डॉक्टर बनकर ख़ासी रक़म पैदा करता है। कहो तो"—मेम साहबा ने कानों में झुककर कहा—"मैं

उसीसे तुम्हारी शादी ठीक करा दूँ! जब से मैंने तुम्हें देखा है, सच कहती हूँ, तुम पर मुझे बड़ी दया आती है। मैं 'पॉल' को समझा-बुझाकर राज़ी कर लूँगी।·····सर मत हिलाओ! मैं जो कहती हूँ, उसपर ग़ौर करो; मेरे घर की बहू होकर तुम एक दिन मेरी जगह लोगी। मैंने तुम्हें नई ज़िन्दगी दी है, तुम्हें मौत के दाँतों के दाब से खींचा है। तुम मेरी धरम की बेटी हो। ·····नहीं-नहीं, मैं आज ही जवाब नहीं माँगती। तुम अपना रास्ता चुन लो। एक तुम्हें दुनिया के दायरे में दोज़ख़ की सज़ा देगा, दूसरा तुम्हें दुनिया के भीतर बहिश्त का मज़ा देगा!"

बेला सर हिलाकर चुप हो गई। एक बार आँखें उठाकर उसने सामने के कमरे में बैठे हुए डॉक्टर को देखा। वह कनखियों से बार-बार इसी तरफ़ देख रहा था। उसकी कड़ी-कड़ी मूँछों की नोक सोने के चश्मे के फ्रेम को छू रही थी और उसका सन्दली टाई, क्लिप के पंजे से छूटकर, शरबती शर्ट की सतह पर थिरक रहा था।

बेला ने ताड़ लिया—यह वही शख़्स है, जिसकी निगाहों की चाँदनी मेरी खाट पर निरन्तर तनी रहती थी, और जिसके जूते की मचमच मेरे कानों पर बेवजह गूँजती रहती थी।

बेला ने निगाह नीची कर ली, अपने आँचल को सर पर सरका लिया, और भर्राई हुई आवाज़ में बोली—"मेम साहबा! आपकी दया की भीख से तो मेरा रोआँ-रोआँ भरा है। आपके चरण की धूरी मेरे लिए बृज की मिट्टी है। मैं सब छोड़ सकती हूँ, पर अपने धरम को

नहीं छोड़ सकती। मैं पलने से जिस मूरति पर वारी हूँ, उसीके हाथ में मेरे मन की डोरी है। वह जिधर चलाता है, मैं जाती हूँ। सब तो जा ही चुका, उसे भी छोड़ दूँ तो फिर किसकी होकर रहूँगी! अगर मैं उसकी न रही, तो किसी की नहीं रह सकती। मेरे रोम-रोम में राम रमा है, मैं उसे निकाल भी तो नहीं सकती। उसके निकालने में तो कलेजा निकल जायगा। अब आप ही कहें, मैं क्या करूँ? वही तो आज मेरा सम्बल है। पतिता का रखवार कौन है? डूबती का सहारा और कौन है?"

"क्यों, ईशू है! वही तुझे....."

"नहीं-नहीं, तुम्हारा ईशू तुम्हारा है, हमारा राम हमारा है। मैं तो ज़्यादा जानती नहीं; मगर इतना ज़रूर जानती हूँ कि राम ने केवट को गले लगाया, सेवरी के जूठे बेर खाये और गनिका को तारा। फिर, मेरे हाड़ को भी वही पार करेगा। आज भी मेरे माथे की बिन्दी वही है। देखिये, आज भी मेरा साथी वही है।" बेला ने सिरहाने के तकिये के नीचे से रामायण की एक पोथी निकालकर दिखाई—"इसीके सहारे मैं दुनिया की ठोकरों को सहती हूँ।"

मेम साहबा चारपाई से उठ खड़ी हुईं और खुले हुए जूते के फ़ीते को झुककर बाँधती हुई बोलीं—"ख़ैर, मैं जाती हूँ। मुझे और भी काम है! आज तुम समझती नहीं, लेकिन जिस दिन बाज़ार की गलियों में बैठकर दलालों की चिलम भरोगी, उस वक्त हमारी बात साँप बनकर कलेजे पर लोटेगी। मैं फिर भी कहती हूँ, तुम्हारे

दरद की दवा हिन्दू-समाज के दवाख़ाने में नहीं है। वह दरद देता है, दवा नहीं देता। तुम्हें इलाज मंज़ूर है, तो लाज छोड़कर ईशू के दामन में पनाह लो। इस दुनिया में दुखिया के दुख से ऐसा दुखी होनेवाला दूसरा नहीं है।"

बेला सर झुकाये चुप बैठी रही; कोई जवाब न दिया। मेम साहबा ने छन-भर दम लेकर फिर कहा—"तुम्हें पता है, इस ज़िद का क्या नतीजा है?"

बेला ने मेम साहबा पर प्रश्न-भरी दृष्टि रखकर पूछा—"क्या नतीजा है, मेम साहबा?"

"यही कि मैं शरीफ़ नहीं होऊँगी, चूँकि हिन्दू रहकर तो तुम कभी शरीफ़ नहीं रह सकती!"

"जब सती न रही, तब शरीफ़ क्या ख़ाक होऊँगी?"—बेला ने दर्द-भरी आवाज़ से कहा।

"कोई सीने पर सवार होकर तुम्हारा सतीत्व छीन लेगा और दुनिया उसी ज़ालिम की तरफ़दारी करेगी। फिर भी तुम उस दुनिया की—उस समाज की—ठोकरों से ख़बर न लोगी। बेक़सूर इस ज़िल्लत को सर पर ढोती रहोगी—हिन्दू कहाने के लिए कुलटा कहाओगी! राम का नाम लेने के लिए पतिताओं में नाम लिखाओगी! इस वीभत्स मज़हब के लिए नारीत्व की न्यामत से महरूम रहोगी! हिन्दूत्व बड़ा है या नारीत्व? ईशू की शरण लेती हो, तो राम भी मिलता है और आराम भी। न सही हिन्दू, नारी तो रहोगी; न भजा राम को, शरीफ़ तो रहोगी?"

बेला चुप थी। वह जान रहते क्रिस्तान होगी ? अबतक उसके शरीर ही पर वार था; उसके शरीर की वेदी पर कामियों ने अपनी कामना का यज्ञ रचा—अपने रक्त की क्षुधा मिटाई। आज यह वार तो उसके प्राणों के प्राण पर था। शरीर पर जो बीता, सो बीता; उसका सर्वस्व—नारीत्व—लुट ही चुका। अब क्या उसके जीवन का भी शेष सम्बल लुटना चाहता है ?

अबतक तो जो कुछ हुआ, उसके साथ वह कभी मन से शरीक नहीं थी। शरीर जो आततायी के क़ब्ज़े में हो; पर मन तो उसके साथ था—वह तो अलग रहकर उसकी आन्तरिक पवित्रता की रक्षा करता आया—वह तो कभी मेम साहबा की सम्मति को स्वीकार न करेगा। तो फिर, बेला स्वार्थ के चक्कर में आकर उसकी हत्या करेगी ? ना, वह ऐसी क़साई नहीं हो सकती ! वह हर्गिज़ ईसाई नहीं हो सकती !

उसकी धमनी में रक्त खौल उठा। उसकी नस-नस में विद्रोह की बिजली दौड़ने लगी। वह बोल उठी—"मैं राम के नाम को नहीं छोड़ सकती ! वह मेरे साथ है, तो मैं बाज़ार में भी बैठ सकूँगी, मगर उसको छोड़कर मैं स्वर्ग भी नहीं चाहती !"

"जाओ, जहन्नुम में जाओ !"—बड़बड़ाती हुई मेम साहबा कमरे से बाहर निकल गईं और डॉक्टर पॉल रोगी के मुँह में संलग्न थरमामिटर छोड़कर लपकते हुए अपनी माता की ओर झुके।

बेला ने देखा कि उनके चेहरे पर उत्सुकता की रेखा स्पष्ट थी।

"नहीं, वह मानती नहीं। उसके सर पर शैतान सवार है !"—झल्लाकर चिल्लाती हुई मेम साहबा दृष्टि से ओझल हो गईं, और

मिस्टर पॉल मुहर्रमी मुँह लटकाये न जाने किधर निकल गये।

बेला चारपाई पर सुस्त लेट गई। परीक्षा पर परीक्षा—सङ्कट पर सङ्कट—वार पर वार! हाय! इस घड़ी अगर मृत्यु आकर उसे अमृत पिलाती, तो वह संसार से उठकर जी जाती! यह मरण आज देवता का निर्माल्य होता। वह तो उस पार के अभिसार के लिए तैयार थी; कभी की घुँघरू बाँधकर बाट जोहती थी; पर मुरली की टेर तो आती न थी।

बेला तड़प-तड़पकर रोने लगी। अब तो एक क्षण भी यहाँ ठहरना निरापद न था।

वही नारी, जो घंटे भर पहले माता की कल्याण-मूर्त्ति बन कर उसकी आँखों के सामने प्रज्वलित थी, अब पिशाचिनी-सी डरावनी मालूम होने लगी। उसे भय होता था कि कहीं वह मेम-डॉक्टर सीने पर सवार होकर उसके मुँह में बल-पूर्वक कुछ अभक्ष्य देकर उसे धर्मच्युत न कर दे! कहीं बल-पूर्वक वह मिशन के गिरजे में ठूँस दी गई और उसके धर्म की हत्या हुई, तो वह अबला बिचारी क्या कर सकेगी? उसने वहाँ की दवा और दूध पीकर भी बड़ी भूल की। इतनी ख़ैरियत ज़रूर थी कि उसने वहाँ का अन्न नहीं ग्रहण किया; केवल दूध और फल ही खाये।

बचपन से जिस विधि-निषेध की लपेट में वह पली थी, उसका असर तो निरन्तर उसके प्राणों के साथ था।

गाँव की संकीर्ण गोष्ठी में छूत और भूत का प्रभुत्व अब भी प्रबल है और प्रत्येक हिन्दू-परिवार विवेक का 'कर' देकर इस राज्य के अधीन है।

छूत के साये में पनपे हुए विभेद के विषाक्त कीटाणुओं ने समाज के स्वास्थ्य को चूसकर कङ्काल बना डाला है; और यही छूत आज हिन्दूत्व का मेरुदंड है। जिस धर्मरथ के चक्र की धुरी छूत है, उसकी गति यदि अवनति के कीचड़ में नहीं फँसती तो क्या उन्नति के पथ पर बढ़ती है? वह 'रेस' में दूसरे प्रतिद्वन्द्वी रथों के मुक़ाबले में कहाँ तक ठहरेगा? यह छूत का शनिश्चर भारत के सर पर सवार न होता, तो हिन्दूत्व की सत्ता घटकर इतनी क्षीण न हो जाती; आज हमारा अपना परिवार टुकड़ों में बँटकर छिन्न न होता और हमारे अपने भाई हमसे अलग होकर हमारी सत्ता का बँटवारा नहीं कराते!

बेला ने समझा कि जहाँ उसने मिशन का अन्न-ग्रहण किया कि वह अनायास मेम साहबा के जाल में जा पड़ी। फिर तो उसे निकलने का कोई रास्ता ही न मिलेगा। और, जब वह बात पर राज़ी न हुई, तब ज़रूर वह मक्कार औरत किसी भुलावली से उसे कुछ खिलाकर उसके हाथ का हथियार रखवा लेगी।

कल्पना ने उसकी एक-एक आशङ्का को आतङ्क बना डाला और उस निस्तब्ध कमरे की दीवारों पर उसे किसी अव्यक्त भय की छाया नाचती प्रतीत होने लगी।

तबतक किसी के पैरों की आहट पाकर बेला चौंक उठी।

सामने देखा—नौकरानी सागू और केले लाई है। बेला ने सागू के कटोरे को ग़ौर से मुलाहज़ा किया। सागू के दाने उसे चावल के दाने नज़र आये। वह काँप उठी। सागू नहीं, खीर है! ज़रूर उसी

मेम-डॉक्टर का षड्यंत्र होगा। ईसाई के घर का चावल! लोक और परलोक दोनों का अवसान!

भात का भूत उसके सर पर अभी तक सवार था। इतनी दुर्गति होने पर भी उसकी सवारी ढीली नहीं पड़ी थी। उसने साग़ू खाने से इनकार कर दिया। केले भी न खा सकी।

दाई, चीज़ों को रखकर, आगे बढ़ गई।

बेला ने केले को छीलकर दो टुकड़े किये और बाहर बरामदे पर फेंक दिये। सामने के नीबू के पेड़ से दो गिलहरियाँ उतरीं और उन्हें कुतरने लगीं। बेला खड़ी-खड़ी एकटक देखती रही·····हाय! यदि वह गिलहरी होती, तो मनुष्यों की गन्ध से कितनी दूर रहती! अलग पेड़ पर अपना घर बनाती और हँसते-खेलते विचरती फिरती!

आदमी को जब आदमी के संसर्ग से आदमियत की बिजली नहीं मिलती, तब वह छन-भर असम्भव कल्पना की छाया में अपने विक्षिप्त चित्त को शान्त करता है। वह किसी ग़ैबी मदद—किसी अदृश्य शक्ति—का सहारा ढूँढ़ता है, और समझता है कि उसकी आह की सत्ता निर्मम प्रकृति के अटल नियम को तोड़कर कुछ तिलस्मी करश्मे दिखा सकेगी। जब इस लोक का सहारा टूटता है, तब मनुष्य छन-भर किसी माया-लोक का सहारा ढूँढ़ता है। यह आशा दुराशा जो हो; पर यह कितनी करुण—कितनी मधुर—है!

अब चमत्कार के दिन तो रहे नहीं। अब तो पृथ्वी तरस खाकर किसी को गोद में शरण नहीं देती, न देवता आकाश से पुष्पक पर

आकर फूल बरसाते हैं! अब किस पीड़िता की लज्जा की रक्षा के लिए गोलोक में खलबली मचती है—किस सती की आँखों की चिनगियाँ आततायी के कलेवर को जलाकर खाक कर सकती हैं। शायद अब सती में न शतशक्ति रही, न मानवों के सुख-दुख में अमरों की दिलचस्पी। नहीं तो, भारत की लाखों विधवाओं के जीवन का सञ्चित हाहाकार अबतक किस देवता के आसन को हिलाकर उखाड़ न देता?

सहसा किसी के कराहने की आवाज़ उसके कानों में पड़ी और वह पीछे मुड़ी। उस लम्बे-चौड़े कमरे के एक कोने में एक बुढ़िया थरथर काँप रही थी। वह महीनों से इस अस्पताल में भुगत रही थी—न जीती थी, न मरती थी।

बेला नज़दीक चली गई। बुढ़िया पानी माँग रही थी। उसकी आँखों के डोरे सुर्ख़ हो रहे थे। उसके चेहरे पर वेदना के भाव स्पष्ट थे।

चारपाई के नीचे पानी से भरा लोटा रखा था। बेला ने लोटे को उठाने के लिये हाथ बढ़ाया। बुढ़िया ने उँगली के इशारे से मना किया।

बेला वहीं ठमककर खड़ी हो गई। वह समझ गई कि बुढ़िया उसे किस दृष्टि से देखती है। समाज का यह निष्ठुर नियन्त्रण उसको बहुत अखरा। उसका कौन अपराध था? और बिना क़सूर पग-पग पर यह सज़ा कैसी? जल्लाद के बेरहम पंजे ने बल-पूर्वक उसकी गरदन से लज्जा की कंठी उतार ली, तो इसलिए उसकी गरदन में कोई

हाथ क्यों देगा ? समाज-सभा के द्वारपालों ने अगर उसकी पत की चादर को चाक कर डाला, तो इस फटी चादर की ज़िम्मेवारी कुछ उसके सर नहीं गिरती !

मगर यहाँ इस दलील को सुनता ही कौन है ?

बेला दिल मसोसकर रह गई। बुढ़िया की आँखें भतीजी को ढूँढ़ रही थीं, जो उसकी सेवा-शुश्रुषा के लिए कई दिनों से अस्पताल में ठहरी थी। बेला उसकी तलाश करती बाहर निकल आई।

'मँगरी' एक गूलर के पेड़ के साये में बैठी पीतल की थाली में सत्तू घोल रही है और सामने खड़े अस्पताल के छोकरे ड्रेसर के साथ हँसकर कुछ रस की बातें भी छेड़ रही है। उनके चेहरे पर शोख़ी की एक झलक है—आँखों में चाव की एक चमक।

बेला को देखकर वह ज़रा भी सकपकाई नहीं, और भी हँसकर उड़ने लगी। बेला ने आते ही कहा—"बूढ़ी पानी माँगती है न—तुम यहाँ बैठी"—

"तनिक तुम्हीं दे दोगी तो"—मँगरी ने मुँह बनाकर पूछा।

"नहीं, तुम्हीं को बुलाती है।"

"मैं दिन-भर की भूखी हूँ, खा तो लूँ, बूढ़ी तो जान खाये लेती है। सुबह से रात तक खटती हूँ, फिर भी जान नहीं छोड़ती। अभी तो सत्तू घोलने बाहर आई, और फिर तलबी पहुँची। आने दो उनको; बाज़ार से नमक और प्याज़ लाने गये हैं; वही जाकर पानी देंगे। आज पानी दें या कल पानी दें, उन्हीं को पानी देना है न !"

बेला इस ढीठ छोकरी के इस कठोर इंगित को सुनकर सहम उठी। कहती ही क्या ?

"अरे वे बुख़ार से तड़प रही हैं और तुम यहाँ इतमीनान से सत्तू घोल रही हो ? उठो, चलो ज़रा उनकी सुपलियाँ सहला दो; कंठ में दो बूँद पानी दे दो। उठो, डॉक्टर को भी तो ख़बर कर दो।"

"तुम्हारे कलेजे में इतनी माया है, तो तुम्हीं क्यों नहीं ख़बर करती ?"

मँगरी का दुलहा अँगोछे में प्याज़ और नमक बाँधे पहुँचा और बड़ी आजिज़ी से उसके सामने खोलकर रख दिया—"तुम खा लो, तो मैं उसी में बचा-खुचा खा लूँगा। आज मुझे वैसी भूख नहीं है।"

इधर ड्रेसर की निगाह बेला की ओर फिरी और वह काला-कलूटा आँखें फाड़कर एकटक उसे देखने लगा। मँगरी ने झल्ला कर उससे कहा—"खड़े क्या हो ? जाकर डॉक्टर को ख़बर दो। चची को फिर जड़ैया चढ़ी है।"

ड्रेसर वहाँ से चलता बना और मँगरी का पति कुरते के जेब से चाकू निकालकर थाली की ओर झुका—"लाओ, प्याज़ कतर दूँ। पुदीने की चटनी लोगी ?"

"नहीं-नहीं, जाओ, देखो, बुढ़िया जड़ैया खेला रही है !"

उस पत्नी-भक्त ने प्याज़ के क़तरों को मँगरी की थाली में रखा, और बेला के पीछे-पीछे अस्पताल में चला। आते ही उसने चची को थोड़ा जल पिलाया और सिरहाने बैठकर उसका माथा टीपने लगा।

"सुनो कालू, तुम इसी घड़ी गोविन्दपुर चले जाओ और गुरुजी का चरणामृत लाओ। अब मैं बचूँगी नहीं!"

बेला खड़ी-खड़ी सुन रही थी·····गोविन्दपुर और गुरुजी का चरणामृत! उसे तत्क्षण अपना गुरु-घराना याद आ गया और गुरुवर गिरिधारीलाल की सौम्य मूर्त्ति उसकी आर्द्र बरौनियों के अन्तराल में खिंच गई। उससे अब रहा नहीं गया। वह फ़ौरन् पूछ बैठी—"यहाँ से कितनी दूर है गोविन्दपुर?"

"बस, कोस-डेढ़-कोस होगा, और क्या? मैं किरन डूबते-डूबते लौट आऊँगा।"

बेला की जान में जान आ गई। डूबते को तिनके का सहारा भी काफ़ी है। मेम-डॉक्टर के पंजे से नजात हुई; ईसाइयों की बंदिशों से जान बची। खड़े होने की जगह तो मिली। गुरु के चरणों की शरण में यदि शान्ति न मिलेगी, तो फिर कहाँ मिलेगी?

बेला ने देखा, वह ड्रेसर उसी डॉक्टर को लिये लपका हुआ इधर ही आ रहा है। वह तड़प उठी। उस डॉक्टर की सूरत ने उसकी नस-नस में साहस भर दिया। कोई सामान तो उसके पास था नहीं, वह तड़ से फाटक पर चली आई।

"कहाँ उड़ी जा रही हो? ज़रा एक नज़र इधर भी हो!"—फाटक के बाहर बेला दो ही क़दम गई होगी कि किसी के हँसने की आवाज़ सुनकर एकबारगी चौंक उठी। मुड़कर देखा, तो दरवान कंडों की मोठो आँच पर रोटियाँ सेंक रहा था। वह हँस रहा था और इशारत-

भरी निगाहों से घूर रहा था। उसकी चितवन की चिमनी से वही शिखा जल रही थी, जो उसकी देह में चिनगी फूँक देती थी।

बेला उबल पड़ी—"कहाँ जा रही हूँ! तुम्हें ग़रज़?"

"वाह! क्या कहती हो? तुमसे और ग़रज़ नहीं? मरनेवाले को अमृत से....."

"क्यों, यहाँ ईशू की शरण में तुम्हें अमृत नहीं मिलता?"—बेला बीच ही में बोल उठी।

"मुझे? मुझे क्यों मिलने गया? पेट का सवाल न होता, तो मैं यहाँ आता? मैं तो समझता था, तुम भी इसी अमृत का घूँट पीकर मस्त रहोगी!"

"तुम्हारी बहन ने इसे पीकर नई ज़िन्दगी पा ली, इसीसे समझते हो कि सभी को वही प्यास है?"

"बहन! बहन कैसी?"—शेखर ने ज़रा तेवर बदलकर पूछा।

"वही मेम-डॉक्टर! मुझसे ही उड़ रहे हो?"

अब तो शेखर बुत हो गया। काटो तो ख़ून नहीं! सारी फ़ुर्ती काफ़ूर हो गई।

"क्या टें-टें करती है! ज़बान सँभालकर बातें कर!"

"बनो मत, मुझसे परदा नहीं है!"

"देखो बेला!"—शेखर ने नज़दीक आकर बड़ी आज़िज़ी से कहा—"मुझ पर दया करो, इसे ज़बान पर भी न लाना, नहीं तो मेरी आबरू उतर जायगी। ज़ातवाले हुक्का-पानी बन्द कर देंगे; मुन्नी-बिटिया

की शादी रुक जायगी। अगर खेत बन्धक न पड़ता, तो मैं यहाँ आकर ईसाइयों की जूतियाँ सिर पर रखता? उन्हें जूती की नोक पर न उछालता? पर क्या करूँ? जिस मुसीबत से दिन काटता हूँ, मैं ही जानता हूँ। जो न करने को, वही करना पड़ता है। पेट की आग न होती, तो जीती मक्खी न निगलता!"

"क्यों, तुम पर तो मेम-डॉक्टर की नज़र···"

"उस नज़र के एवज़ में मुझे जो नज़र करना पड़ता है, तुम सुनकर क्या करोगी? किसी तरह धरम बचा रहे तो बहुत समझो। यहाँ तो रोज़ एक-न-एक नया उल्लू फँसता है। दलालों से टोलियाँ भरी हैं। हिन्दुओं के ही घरों से तो इनका रोज़गार चलता है। वहीं से तो माल की आमदनी होती है। आज भी एक चमार जोरू-बच्चों के साथ ईसाई बना है। बिचारा हाल ही शहर से गाँव में आया था। कुएँ की जगत पर खड़ा होकर पानी भर रहा था। मुहल्ले के ब्राह्मणों ने मिलकर उसे पानी पिला-पिलाकर मारा भी और इँदारे के उड़ाह के खर्च के लिए उस ग़रीब की औरत के ज़ेवर उतरवाने लगे। बिचारा कल देने का वादा करके बीवी-बच्चा लिए भाग खड़ा हुआ और यारों ने कान भरकर उसे यहाँ पहुँचाया। वही अब ईसाई बनकर साँड़ की तरह हँकड़ रहा है! किसी बाबाजी का कलेजा नहीं कि सामने आकर उससे नज़र भी मिला सकें। मैं तो समझता था कि तुम भी एक नया शिकार फँसी! तो अब जा क्यों रही हो? यहाँ पैर पर पैर रखकर तर माल चखोगी! ऐसे बाज़ार की गलियाँ नापनी होंगी!"

"तुम भी जिसकी नमक खाते हो, उसी का गाते हो! चुल्लू-भर पानी में डूब न मरो! जनेऊ उतारकर ताँत क्यों नहीं पहनते?"

"उधर न जाओगी, न सही; चलो इस ग़रीब की कुटिया को रौशन करो।"—शेखर ने जीभ चटका कर और हाथ मटका कर एक अजीब अन्दाज़ से हँसकर फ़रमाया।

बेला के सर से पैर तक आग लग गई। उसका चेहरा तमतमा उठा और वह जलती हुई आँखों से शोले उगलकर आगे बढ़ गई। व्यंग्य-बाणों की कड़ी चोटें सहते-सहते उसके हृदय-पटल पर घट्टे पड़ गये थे ज़रूर, फिर भी इस नीच की यह बीभत्स चेष्टा उसके कलेजे पर गहरी पड़ी।

तृतीय परिच्छेद

जब बेला गुरु-घराने के दर पर पहुँची, तब उसको अपनी थकान का पता चला। वह एक साँस में लुढ़कती चली आई थी। दौड़ते-दौड़ते दाँतों पसीना आ गया था। रात होने के पहले उसे ठिकान पकड़ लेना ज़रूरी था। बीमारी की मारी देह, सर पर किरणों के शरारे, खेतों की ऊबड़-खाबड़ पगडंडी, भूख और प्यास की तपिश, जलती हुई सुपलियाँ, उस पर देहातियों की कुतूहली ज़हरीली चितवन—इन तमाम उत्पातों को सहती हुई जब वह मंज़िल पर पहुँची, तब रास्ता तय करके पहुँच जाने की मानसिक प्रसन्नता के साथ-साथ नये अपरिचित स्थान में आने का एक अनिश्चित आतङ्क भी उसपर सवार हुआ। घर पूछती हुई पहुँच तो गई, पर अब भीतर क़दम उठते नहीं थे। कमर टूट रही थी, मन टूट रहा था। हिम्मत ने ऐन वक़्त पर ज़वाब दे दिया। वह दीवार के साये में ठमककर खड़ी हो गई। ड्योढ़ी की चौखट पर उसके पैरों के दम उखड़ गये।

सन्ध्या का झुटपुटा है। गिरिधारीलालजी ग्रामीण साहित्य-परिषद के वार्षिक अधिवेशन की योजना में पौ फटते-फटते झीलवाले मठ पर चले गये थे। श्रीमतीजी मुहल्ले की दो-चार हमजोलियों को लेकर, बाजे-गाजे के साथ, लड्डू-खुरमे फूल-बताशे से भरे दौरे नाइन-बारिनों के सर पर रखे, नेता भगत की देवी के चौरे पर मन्नतें उतारने भू-परी गई थीं।

अकेला श्रीधर घर पर है। जब कभी चाचा बाहर जाते, घर का भार उसी के सर पर रहता। गुरुजी ने उसको इस योग्य बना भी रखा था और भावी उत्तराधिकारी होने के कारण उसका रोब-दाब यथेष्ट था। वह वैदिक पूजन-पद्धति से परिचित था। रुद्राभिषेक के वक्त जब वह ललित स्वर से स्तोत्रों का सस्वर पाठ करता, तब प्रत्येक दर्शक के अन्तर में भक्ति का सोता उमड़ उठता—सुर की मूर्च्छना वायु-प्रवाह के ताल पर थिरक उठती थी।

बेला चौखट पर पड़ी-पड़ी अपने मन की तरंगों पर झूल रही थी।

कि हठात् किसी के कंठ के उत्तरोत्तर प्रगतिशील संगीत-हिल्लोल ने उसके विक्षुब्ध कल्पना-लोक को प्लावित करते हुए उसे चारों ओर से घेर लिया। बेला कान देकर सुनने लगी—

"करालभालपट्टिकाधगद्धगद्धगज्ज्वलद्धनञ्जयाधरी—
कृतप्रचण्डपञ्चसायके। धराधरेन्द्रनन्दिनीकुचाग्र—
चित्रपत्रकप्रकल्पनैकशिल्पिनि त्रिलोचने मतिर्मम॥"

किसी मायालोक के नेपथ्य से यह अशरीरी ध्वनि गूँजती चली आ रही है!—इतनी मधुर! इतनी भावमय!

बेला इस रस की चाशनी में घुल चली।

यह न जाने किस अरूप रूप—किस अनन्त—की मृत्युंजयी वाणी है, जो आज देवता का आशीर्वाद बनकर बेला के कल्याण के लिए आकाश से उतर रही है! कैसा बँधा हुआ स्वर—निषाद से पञ्चम और पञ्चम से निषाद! जिसके कंठ की काकली में यह अमृत का उत्स भरा है, उसके अन्तर के अन्तस्तल में कितनी दिव्य पवित्रता होगी! ताल और लय का कैसा मंगल मिलन! यह गान है या सीमा के साये में असीम का आह्वान! कहीं सौन्दर्य तो नहीं मुखरित हो उठा है? कहीं माधुर्य में जान तो नहीं पड़ गई?

बेला के मन की सञ्चित ग्लानि—उसकी सारी आशङ्का—इस स्वर-मन्दाकिनी की धारा में घुल गई। उसने सोचा, यह अवश्य एक निरापद स्थान होगा—पृथ्वीतल पर देवलोक का जवाब!

बेला तत्क्षण संयत हो गई। उसने बिथुरी लटों को सहलाकर बाँध डाला और स्खलित आँचल को सर पर ला रखा। खेल में शोख़ लड़कों द्वारा मार खाई हुई भोली बच्ची की तरह उस शान्तिदायिनी ध्वनि की उँगली पकड़े उसने धड़कते दिल से गुरुजी के घर में पैर रखा। आँगन में आने पर उसे पता चला कि आवाज़ ऊपर से आ रही है। वह ऊपर चढ़ गई।

नवमी का चाँद आकाश पर उठ चुका है। श्रीधर चन्द्रमौलि की चरण-चौकी के सामने खड़ा होकर, हाथों में पुष्पाञ्जलि लिये, उच्च कंठ से स्तुति कर रहा है। उसके सौम्य मुख पर एकान्त निष्ठा की छटा है।

बेला किवाड़ के पास खड़ी होकर एक टक ब्राह्मण-कुमार को देखने लगी। सामने सिंहासन पर चन्द्रमौलीश्वर का स्फटिक लिङ्ग है। चारों ओर विल्वपत्र और मन्दार के पुष्प भरे सजे हैं। केसर और चन्दन के छींटे फूलों के परिमल से लोहा ले रहे हैं। गन्ध-धूप की सुरभि से कमरा आमोदित है। गङ्गा-यमुनी पञ्चपात्र धप-धप चमक रहे हैं। थालों में भोग की सामग्रियाँ—मेवे-मिसरी, पेड़े और बर्फियाँ—सजी रखी हैं। दध्यक्षत के साथ-साथ पञ्चामृत भी है। दो ब्राह्मण-किशोर सरोद और मृदंग लेकर उस स्तुति-गान में जान डाल रहे हैं। श्रीधर की अधखुली आँखों पर एक दिव्य ज्योति प्रस्फुटित है। इकहरा बदन, भीगती हुई मसें, चौड़ा सीना, ऊँची उठान, प्रशस्त ललाट, जुटी हुई भवें, लम्बी आँखें, सुडौल गरदन, गन्दुमी रंग—सभी उसके सुगठित सुन्दर शरीर के साक्षी हैं। चाँद की किरणें उसके चरणप्रान्त पर मूर्च्छित पड़ी हैं।

वह दूध की बौछार बेला के शरीर पर जा पड़ी और उस चाँदनी में उसके चेहरे की चाँदनी और भी चौगुनी हो गई।

जब श्रीधर की निगाहें उसकी ओर फिरीं, तब उसके स्तवगान की स्वर-लहरी अकस्मात उथल-पुथल हो गई और उसने स्तुति की गति को तेज़ करके शीघ्र समाप्त कर डाला।

बेला रास्ते के गर्द-गुबार से भरी दुबली-पतली कमज़ोर तो ज़रूर थी; पर उसके मुखमंडल पर एक करुण सुकोमल दीप्ति थी—सती की पवित्र लज्जा-सी एक अनूठी आभा।

श्रीधर ने विस्मयाभिभूत होकर बेला की सलज्ज शान्त सौम्य मूर्त्ति

को देखा, फिर फ़ौरन् चितवन को फेर भगवान् के सिंहासन के सामने भूमि पर साष्टाङ्ग प्रणाम किया।

बेला बुत की तरह चुप खड़ी रही।

जब चरणामृत और प्रसाद लेकर श्रीधर इस ओर झुका, तब न जाने किस आशङ्का से वह बिचारी फिर काँप उठी। उसने प्रसाद के दोने को आँचल पसारकर ले लिया, फिर चुल्लू में चरणामृत की बूँदें लीं और सर से छुलाकर पी गई। श्रीधर के सान्निध्य से वह इतनी चञ्चल हो उठी कि प्रसाद के कुछ दाने ज़मीन पर गिर गये। वह और भी घबरा-सी गई और झुक कर उन्हें चुनने लगी।

"मैं जान सकता हूँ, तुम कौन हो—यहाँ तुम कैसे आई?"—श्रीधर ने सर झुकाकर बड़ी नम्रता से पूछा।

"क्या कहूँ, कौन हूँ!"—उसने रुँधे कंठ से कहा—"मैं एक सताई हुई अबला हूँ। गुरु महाराज के चरणों में शरण ढूँढ़ती हूँ।"

"गुरु महाराज तो इस समय यहाँ मौजूद नहीं हैं। वे अभीतक वापस नहीं आये; अब आते ही होंगे। तुम्हारा घर-द्वार—तुम्हारा नाम?"

"महाराज! मेरा इस संसार में अब कोई भी अपना न रहा। यहाँ तक कि यह देह भी अब अपनी न रही! इसे भी जल्लादों ने मेरा गला टीपकर मुझसे छीन लिया। पानी उतर जाने से यह किसी काम की न रही। मगर जाने किस अभिशाप से मैं इस चाम के चोले को ढोती फिर रही हूँ! मेरा नाम 'बेला' है।"

"बेला! तुम्हारी देह न सही, तुम्हारा मन तो तुम्हारा अपना है?

जब मन तुम्हारे अधीन है, तो सब कुछ है। देह तो आती-जाती रहती है, रंग बदलती है, मैली होती है, साफ़ होती है। यह तो महज़ एक परिवर्त्तनशील आवरण-मात्र है। अगर किसी ने अपनी लालसा के कटार से तुम्हारे जिस्म को पाश-पाश कर डाला, तो इससे तुम्हारा सत्यानाश नहीं हुआ। यह देह कोई अक्षय्य सम्पत्ति नहीं जो परलोक तक साथ दे। यह तो महज़ एक नाम और रूप देने के लिये चन्द दिनों की तुम्हारी संगिनी है। इसके नष्ट होने से तुम्हारा परलोक नष्ट नहीं होता। मोती तो मन है, यह तो केवल सीप है। इसके लिये दुःख करना तुम्हारी भूल है।"

"मगर, महाराज!"—बेला ने भर्राई हुई आवाज़ में कहा—"इसी शरीर की उलझन के कारण तो मैं सबकी आँखों में खोटी हो गई हूँ! मन तो मेरा तब भी अलग था। शैतानों ने तो शरीर को लूटकर मेरा पत-पानी हरण कर लिया। आप ही कहें, बाक़ी क्या छोड़ा? आज दीन और दुनिया—दोनों मुझसे दूर हो गये!"

बेला का सर झुक गया। उसकी दोनों आँखों से आँसू की दो बड़ी-बड़ी बूँदें उछलकर बरौनियों में उलझ गईं।

"तुम भ्रम में हो, बेला! दुनिया दूर हो गई तो क्या हुआ—दीन तो तुम्हारे साथ है? शैतानों की कामना की कमन्द तुम्हारे ईमान के बाम को न छू सकी; जिसे तुम पत समझती हो वह तो दुनिया की फ़ानी छत है। दुनिया आख़िर तो दुनिया ही है। यह किसकी है और किसकी रहेगी? पाँच समझदार तुम्हारे दर्द को समझेंगे और

पञ्चानवे उसकी खिल्ली उड़ाएँगे। उनको न समय है, न ग़रज़ कि वे तुम्हारे दर्द-सर को अपने सर लें। समाज तो प्रत्येक की सुख-सुविधा को देखता नहीं। अर्वाचीन या प्राचीन, संसार में कोई ऐसा समाज नहीं, जिसके दामन में कहीं शिकार न हो—जो सबके लिए बराबर एक-सा हो। हमारा समाज जिस आदर्श की भित्ति पर रचा गया, वह आदर्श अब इस युग में सम्भव नहीं रहा। इसीलिए इसके साये में आज इतनी बेरहमी नज़र आती है। यह बात नहीं है कि समझने-वाले इसे समझते नहीं। वे समझते हैं ज़रूर; लेकिन समाज के निदारुण नियमों से मोर्चा लेते समय—उनकी कौन चलावे—अभी बड़े-बड़े लीडरों की धोती ढीली हो जाती है। भारत की गर्दन में जितनी बेड़ियाँ धर्म का कुल्फ़ देकर जकड़ी पड़ी हैं, उनमें परम्परा की बेड़ी कुछ ऐसी कठोर है कि पसलियाँ तक पिस चलीं, पर आज भी वह नहीं टूटती—टूटना तो अलग रहा, टेढ़ी भी नहीं हुई। सच कहता हूँ, बेला! समाज की हृदयहीनता देखकर मेरी आँखें तर हो जाती हैं; पर मैं कर क्या सकता हूँ? मेरे भाव उमड़कर होठों पर आते हैं, मगर शब्द बनकर फूट नहीं पड़ते। मैं भी अपनी प्रतिकूल परिस्थिति से घिरा पड़ा हूँ।"

"महाराज! मेरे लिए तो घर में—समाज में—कहीं जौ-भर भी जगह न रही। मैं अब कहाँ जाऊँ? मेरा रास्ता क्या है? मेरा क़सूर हो, तो मैं ख़ुशी से सर रोपकर सज़ा लूँगी। लेकिन, अगर मैं पुरुषों के अत्याचार का शिकार हूँ, तो आप मुझे उद्धार का मन्त्र दें।

जिस दुरात्मा ने मेरे दामन को नापाक किया, वह तो बेदाग़ बेपरवाह विचर रहा है और मैं इस कलङ्कित शरीर के भार से पिसी जा रही हूँ!"

"बेला, तुम्हारे अन्तर में तो पारिजात का परिमल है। तुम्हारे ललाट पर जो नारीत्व की दीप्ति है, वह सीमन्तिनी के सुहाग-सिन्दूर की ज्योति से कम नहीं। मैं तो तुम्हें देवता के निर्माल्य की तरह पवित्र मानता हूँ। मेरी निगाह में तो कलङ्क की रसाई तुम्हारे शरीर तक हो नहीं सकती; दुनिया की निगाह में तुम जो कुछ रहो, मुझे उससे बहस नहीं। मैं तो समझता हूँ कि तुम्हारे मन की ग्लानि भगवद्भक्ति के छींटों से जाती रहेगी; तुम इस प्रेमी के पथ पर आगे बढ़ो। इस अधिकार से तुम्हें कोई वञ्चित नहीं कर सकता'''''लेकिन, नहीं; तुम ठहरो। गुरु महाराज को आने दो। वे जो कहें, वही तुम्हारा पथ होगा। मैं तो उनके अधीन हूँ। उनका हृदय नवनीत की भाँति कोमल है, तुम्हारे दर्द की आँच से वह ज़रूर पिघल पड़ेगा। उनके आने का वक्त हो गया; वे आते ही होंगे।"

बेला की दृष्टि श्रीधर के चरणों पर झुकी रही। उसका हृदय मान गया कि श्रीधर के मुख के वचनों पर सहानुभूति की सच्ची मुहर है। इस गले की काकली में मिसरी की कटारी नहीं हो सकती। उसके मन में ढाढ़स बँधा। श्रीधर ने उसे पवित्र कहकर उसके शरीर की अस्वस्ति दूर कर दी। आशा की एक हल्की झलक उसके मन के अँधेरे में झाँक गई। छाती की जलती भट्ठी ठंडी होने लगी।

उसको अपने ऊपर बड़ा आक्रोश हुआ कि वह एक दिन सभी पुरुषों को एक ही दर पर तौलती थी। संसार में भले-बुरे दोनों हैं; समुन्दर में मोती भी है और पत्थर भी। उसकी बदक़िस्मती से अब तक उसे मोती नहीं मिले।

आज श्रीधर की सान्त्वना-भरी सहानुभूति उसके हृदय की लज्जा के क्षोभ को पी गई और वह संयत चित्त से बाहर छत पर आकर प्रसाद के दोने से मेवे और बरफ़ी लेकर बड़े चाव से खाने लगी।

आध घंटे में गिरिधारीलालजी वापस आ गये। आते ही कुछ देर तक वे अपनी नित्यक्रिया में बझे रहे। जब भगवान् की शयनारती के अनन्तर उनको फ़ुरसत हुई तब बेला सामने आकर हाथ जोड़े खड़ी हुई। उसके मुख का ऊपरी हिस्सा घूँघट के पट से घिरा था। कमरे की रोशनी केवल उसके होठ और ठुड्डी को छू सकी थी।

गुरु महाराज तख़्ते पर कम्बल बिछाकर चुप बैठे हुए हैं। बाईं ओर शमादान जल रहा है। सामने कठोपनिषत् की पुस्तक खुली है। वे यम और नचिकेता का संवाद पढ़कर उसके निहित तत्त्वों पर ग़ौर कर रहे हैं। द्वितीया बल्ली से पराविद्या की व्याख्या चली है। इच्छा, ममता और आसक्ति पर विजय पाने के शम-दमादि षट साधनों के चिन्तन में उनकी भवें कुञ्चित होने लगी हैं।

बेला ने आकर उनके चिन्ता-सूत्र को बिच्छिन्न कर दिया।

कमरे में कोई दूसरा नहीं था। बेला ने अपने दिल की लगी को आँसुओं से भिगोकर गुरुवर को भेंट किया। वह रो-रो कर बीती

बातें बता गई। उसने अपने हृदय की संकुचित पपड़ियों को खोलकर उनके सामने रख दिया।

गिरिधारीलाल सहृदय व्यक्ति थे। दुखिया की आहों से उनका दिल पसीज उठता था। इतना वे अवश्य समझ गये कि यह किसी पैसे माँगनेवाली की बनावटी दुखकथा नहीं है।

बेला की संयत चेष्टा की सादी ज़मीन पर किसी मायिकता की बेल नहीं उगी थी। उसके शरीर के किसी अंश में ऐसी कोई भी बात न थी, जिसमें किसी शिल्पी की कला की झलक हो। उसकी करुण सलज्ज चेष्टा, उसका व्यर्थ विकच यौवन, उसका अनादृत अपरूप लावण्य, उसका व्यथित पवित्र अन्तःकरण, उसका निदारुण अतीत, उसका कठोर भविष्य किस सहृदय के दिल पर असर नहीं लाते?

"बेला! तुम्हारी डोंगी तूफ़ान के चपेटों से जर्जर होकर जिस बन्दर को ढूँढ़ती है, वह बन्दर तो ईश्वर की शरण है। और किसी ओर तो मुझे किनारा नज़र नहीं आता। तुम्हारे मन की कील अगर आँधी के उत्पात से ढीली नहीं पड़ी है, तो फिर प्रेम की पतवार तुम्हारी जीवन-तरी को भव-पार ले जाने के लिए अवश्य मददगार होगी।" —गिरिधारीलाल द्रवित होकर बोले।

"महाराज! मैं आपको विश्वास दिलाती हूँ कि जो आँधी आई, वह केवल इस शरीर को उथल-पुथल करके निकल गई। मेरे मन के पुरज़े तो कभी ढीले नहीं पड़े।"

"तुम्हारा अन्तर का क़िला अगर टूटा नहीं, तो महज़ बाहरी दीवार

पर धमक आने से तो तुम्हारी पराजय नहीं हुई। विवेक का व्यूह—मन की मोर्चाबन्दी —जब क़ायम है तब सच मानो, दुश्मनों ने हमला करके अपना ही मुँह काला किया।"

"मगर, महाराज! समाज में उस कलूटे का मुँह तो उजला ही है। काले मुँहवाले का बोलबाला है और मैं ही सब के सामने कलमुँही बनी हूँ।"

"कौन कहता है, तुम कलमुँही हो? तुम्हारे मुख पर तो पवित्रता का नूर बरस रहा है। इन्द्र ने अहल्या का तो कुछ बिगाड़ नहीं पाया। बिगाड़ा अपना, रोआं-रोआं फूट पड़ा। बेला! अत्याचार के कमान से निकला हुआ तीर निशाना चूक जाय तो चूक जाय मगर पीड़ित की आंख से निकला हुआ आँसू न चूकता है—न वापस आता है।"

"महाराज! यहाँ देवताओं के समाज का ज़िक्र नहीं है; मनुष्य के समाज का ज़िक्र है।"

"बेला! समाज को तो पुरुषों ने अपने स्वार्थ की भित्ति पर खड़ा किया है, और यही वजह है कि उसके दायरे में अबला के दर्द-दिल की अनुभूति कहीं जगह नहीं पाती। मैं जानता हूँ, समाज के घर में तुम्हारे लिए तिल-भर भी जगह न रही; पर भगवान् के घर से तो तुम्हारी जगह कभी गई नहीं। वहाँ तक तो किसी आततायी की पहुँच नहीं। जब मनुष्य को दुनिया में खड़े होने के लिए एक तिल भी जगह नहीं मिलती, तभी उसको दुनिया की बाहरवाली मंज़िल की तलाश होती है; नहीं तो नहीं। ईश्वर की शरण की तलाश उलटी साँस

चलते वक्त की संजीवनी की तलाश है। फिर, कहीं यह लगन लग गई, तभी वह समझता है कि समुद्र के तूफ़ानों की तड़ीबाज़ी उसकी जीवन-तरी को भ्रान्ति के भँवर में न फेंककर शान्ति के बन्दर में बहा लाई है। बेला! कौन कहे, तुम्हारे दुःखों का अन्त कहाँ होगा? सम्भव है, यह विपत्ति तुम्हारे दर्द-दिल के लिए जर्राह का नश्तर हो। आपदों का अंजाम हमेशा बुरा ही नहीं होता। कभी-कभी ललाट पर कलङ्क के छोटे चन्दन के तिलक बन जाते हैं। मैं दिल से आशीर्वाद देता हूँ, तुम्हारे दुखों का दंशन तुम्हारे कल्याण का साधन हो! तुम्हारे हलाहल के प्याले में अमृत की बूँद हो! तुम दुनिया से तंग आकर दुनिया से खिंच जाओ! समाज की अवहेलना तुम्हारे अन्तर की मंगलमयी प्रेरणा हो! देखो, बेला! लोक और परलोक दोनों का लुत्फ़ बराबर बना रहे, यह शायद ही किसी को नसीब हो। जबतक इस चमन के फूल काँटे नहीं बनते, तबतक हरिचन्दन के पल्लवों की छाया की उम्मीद नहीं बँधती। तुम्हें यहाँ पर दिल के दाग़ों की सैर मंज़ूर हो, तो तुम्हें आगे चलकर मन्दार का मञ्जर मिलेगा। अगर यहाँ गुलशन की सैर ढूँढ़ती रह गई, तो फिर नन्दन-चमन की निराली सैर से हाथ धोना पड़ेगा। बेला! अगर समाज ने तुम्हारे लिए भद्र जीवन के तमाम रास्ते बन्द कर डाले हैं, तो कुछ परवा नहीं; तुम्हारा परलोक का पुनीत पथ तो आज भी खुला है। हाँ, उस पथ का दिग्दर्शन कराना मेरा काम है। आज से विश्वपति की चरणरज तुम्हारे शून्य सीमन्त पर सिन्दूर हो। तुम सुनसान जीवन के निर्जन

निशीथ में उसी पुनीत अभिसार के लिए तैयार हो जाओ, तुम्हारे मन-मन्दिर की दीवारें प्रेम की बाँसुरी की तान से ध्वनित हो उठेंगी। कहो, बेला! तुम्हारे आपदों का लग्नमंडप……"

गुरु महाराज सहसा रुक गये। उनको यह ठनका कि वे बेवजह जोश में आकर कुछ ज्यादा अलङ्कार छाँट गये! बेला तो कुछ शिष्यों की मंडली नहीं है, और उनकी उपदेश की शैली मञ्च पर की स्पीच हुई जाती है! पर वे करते क्या! उनकी तो यही बँधी शैली है! अपनी आदत से मजबूर है। यही वजह थी कि उनकी ज़बान से फूलों की झड़ी बँधती थी।

डूबती बेला को सहारा मिल गया। उसने गुरुवर के एक-एक वचन को कलेजे से लगाया और सर पर रखा।

"महाराज! आपके वचन मेरे सर पर हैं। मुझे तो संसार में चारों ओर भय ही भय नज़र आता है। मैं हर वक्त डरी रहती हूँ। मुझे छन-भर भी न स्वस्ति मिलती है न शान्ति। मुझे कहीं भी निर्भय……"

"बेला, 'विष्णोः पदं निर्भयम्'! तुम्हें ज़रा भी डरने की ज़रूरत नहीं। समाज के भवों के तरेर को दिल में एक पल के लिये भी जगह मत दो। जिस इक़बाल के बल पर अङ्गद ने विरोध की भरी सभा में पैर रोप दिया था और कोई भी महाबली उस पद को तिल-भर न हिला सका, उसी प्रताप के सहारे तुम समाज के सीने पर अपना ध्येय निश्चित करके डट जाओ। किसी की हिम्मत नहीं कि वह भगवत्

के शरणागत का एक बाल भी बाँका कर सके। सबकी टेक वही पूरी करता है। तुम्हारी टेक भी वही पूरी करेगा। तुम अपने अन्तर के सूने मन्दिर में फिर से पुष्पशय्या रचो। अपना तमाम अरमान-अभिमान—अपना सुहाग-अनुराग—उसी के चरणों में अर्पित करो। तुम्हारी आँखों के आँसू कभी व्यर्थ न होंगे। तुम एक-एक कण को गूँथकर उसके गले में डाल दो। नारी के जीवन का जीवन प्रेम है। यही प्रकृति का शाश्वत दान है। वही प्रेम-पीयूष जगत् के क्षण-भंगुर नातेरिश्ते की मोहरी में बहकर व्यर्थ हो जाता है। तुम्हारी ख़ुशक़िस्मती है कि तुम्हारे साथ सांसारिक रिश्तों की शृंखला एक भी नहीं; तुम स्वतंत्र हो। तुम इस जीवन का निखिल संचय उसके चरणों में लुटाकर निःस्व हो जाओ। याद रखो, यही दान तुम्हारे जीवन का श्रेष्ठ संचय होगा। बेला! इस विश्व में कोई भी अन्त तक साथ नहीं देता—यहाँ तक कि यह शरीर भी चिता की राख होकर राख में मिल जाता है। वही एक तुम्हारी परकाल की टेक है। वही तो मनुष्य के जीवन-पथ का चिरन्तन पाथेय है!"

"गुरुवर! तो क्या मैं इन आपदों को अपना सौभाग्य समझूँ?"

"ज़रूर! इन आपदों ने तुम्हें चारों ओर से घेरकर तुमको अशरणशरण के चरणों पर गिरने के लिए बाध्य कर डाला। दूसरी कोई गति नहीं रखी—दूसरी कोई रति नहीं रखी। इसीलिए मैं समझता हूँ, ये आपद के बादल तुम्हारे कल्याण का सन्देश लेकर तुम्हारे जीवन के आकाश पर छाये हुए हैं।

बेला, अगर 'ध्रुव' अत्याचार के धक्के खाकर निराधार न हो जाते, तो कभी उनको नारायण की तलाश होती ? अगर 'प्रह्लाद' की मुश्कें बँधवाकर ज़ुल्म के कोड़ों से पीठ न फोड़ी जाती, तो कब सम्भव था कि प्रभु स्वयं प्रकट होकर उन्हें गले लगाते ?"

"मगर, महाराज ! मेरी भी यह क़िस्मत होगी ? मेरे दिल में वैसी भाव-भक्ति होगी ? सुनती हूँ, कलियुग में किसी को···"

"कौन कहता है"—गुरु महाराज ने बात काटकर कहा—"कि कलि में धर्म नहीं पनपता—भक्ति नहीं फलती ? भाव तो हो, लगन तो हो ! सूर और तुलसी कब हुए थे ? तुम्हारी रोज़मर्रे की स्वार्थ-भरी मिन्नतें उस बाम तक भले ही न पहुँच सकें; पर तुम्हारी श्रद्धा की दृढ़ता तुम्हारे राम के धाम को भी हिला कर तहोबाला कर देगी।"

बेला की आँखों में श्रद्धा के आँसू छलक पड़े और वह गुरुवर के सामने कटे पेड़ की तरह ज़मीन पर ढेर हो गई। उसका ललाट गच पर जाकर ठक से बजा। जूड़े के पास से छूटकर उसका केश-वैभव सर के इर्दगिर्द छितरा गया। आँचल सरक जाने से उसकी गरदन की एक महीन काञ्चन-रेखा बिथुरे बाल का बादल फाड़कर चमक उठी।

बेला धड़फड़ उठ गई। उसके मुख पर का आँचल आप-ही-आप ऊपर सरक गया; भरभराये बाल कंधों पर बिखर गये। उसने किसी तरह उन्हें पीठ पर फेंका और बायें हाथ से आँचल को मुख पर सँभाल लिया।

गिरिधारीलाल की आँखों में बिजली कौंध गई। उसी मुहूर्त्त में

लैम्प की रोशनी में प्रज्वलित बेला का अपरूप रंग-रूप आँखों पर उतर गया। आम की फाँक-सी आँखें, ऊँची नाक, उन्नत ललाट, अधखिले फूल-से होंठ, और कच्चे सोने की तरह दमकता हुआ रंग!

गिरिधारीलाल उस कुन्तल-वितान को देखकर, उस वितान के भीतर रूप की मुस्कान को देखकर, सन्न हो गये! उनकी भक्ति की प्रवाह-धारा काली बिथुरी लटों के जाल में पड़कर गुम हो गई। गुरुवर आदमी थे; न देवता, न शैतान। उनको चोट-सी लगी; दिल में एक लहर-सी उठी—भगवान्! ऐसी भाग्य की कंगालिनी को इस सौन्दर्य की सम्पद देकर तुमने कौन-सा उद्देश्य सिद्ध किया?

रात का सन्नाटा है। बाहर आँगन में फूले हुए अगस्त की लपट कमरे में बिखर रही है। ताक़ पर रखी हुई घड़ी की टिक-टिक टिटकारी भर रही है। सामने खुली हुई उपनिषत् के काले अक्षर टेढ़े-मेढ़े चमक रहे हैं।

गिरिधारीलाल के मानस-पट पर लोक और परलोक की आँखमिचौनी चल रही है। एक ओर उपनिषत् का ज्ञान है, दूसरी ओर विधवा के प्राण। इधर अमृत तत्व का अन्वेषण, उधर दुखिया का क्रन्दन। भगवन्! मैं किधर जाऊँ—इधर या उधर? टूटे हुए जी को जोड़ना किसी के जीवन की सूखती फ़सल पर पानी देना, किसी आर्त्त के ज़ख्मों पर मरहम लगाना, किसी के लड़खड़ाते पैरों को सहारा देना मेरा फ़र्ज़ है—या दुनिया के सुख-दुख से अलग होकर एकान्त आत्मचिन्तन? मेरा कौन पथ है? घंटों पद्मासन पर बैठकर दम साधना—कुँडलिनी को

जगाना, या पीड़ित-दलित के जीवन के कोढ़ पर पट्टी बाँधना ? सच कहो, मेरा कहाँ श्रेय है ? प्रतिदिन शतसहस्र हरिनाम का जप, गङ्गास्नान, व्रत, उपवास, तप, शम, दम, ध्यान, ज्ञान, मन्दिरों और तीर्थों का भ्रमण—किंवा समाज की निदारुण हृदयहीनता के कारण निराश-निरुपाय, विवश पेट के लिए सर्वस्व बेचने पर बाध्य हुई पतिता के उद्धार का प्रयत्न ? यह मसला कैसे हल होगा ? कुछ समझ में नहीं आता !

गिरिधारीलाल कमरे में इधर से उधर टहलते जाते थे और सोचते जाते थे। सहसा उनके कानों पर किसी के गाने की-सी आवाज़ पड़ी। नीचे आँगन में कोई गद्‌गद कंठ से पढ़ रहा है—

"अव्यक्त रेखामिव चन्द्रलेखां, पांशुप्रदिग्धामिव हेमरेखां;
क्षतप्ररूढामिव वाणरेखां, वायुप्रभग्नामिव मेघरेखाम् ।"

गिरिधारीलाल ज़रा चौंक-से पड़े और फ़ौरन् पुकार उठे— "श्रीधर ! क्या पढ़ रहे हो ?"

"चाचाजी ! आज कार्त्तिक शुक्लपक्ष की नवमी है। वाल्मीकि-सुन्दरकांड का पाठ कर रहा हूँ।"

वे चुप हो गये। उन्हें भी यह श्लोक आज विशेष प्रिय मालूम हुआ और उन्होंने मन-ही-मन 'वाल्मीकि' की प्रतिभा की तारीफ़ की।

ख़ैर, वे बेला की ओर फिर मुड़े—"बेला ! तुम तो ज़रूर कुछ पढ़ी-लिखी होगी।"—गिरिधारीलाल ने काम की बातें शुरू कीं—"देखो, इस कमरे में संस्कृत और हिन्दी की किताबें भरी पड़ी हैं; तुम रामायण, महाभारत, सुख-सागर, गीता वग़ैरह ले जाकर पढ़ सकती हो।"

"महाराज ! मैंने तुलसीदास की रामायण पढ़ी है; और भी दो-चार धर्म की किताबें देखी हैं। जब मैं विधवा हो गई, तब कभी-कभी मेरे बूढ़े श्वसुर कुछ पढ़ा दिया करते थे। मुझे घर के धंधों से समय कहाँ था! मगर जब कभी फ़ुरसत रहती थी, तब यही किताबें मेरी सखी-सहेली थीं। मुझे अफ़सोस यही है कि रामायण भी सिलसिलेवार पढ़ न सकी।"

"ख़ैर, कुछ चिन्ता नहीं; मैं तुम्हें सब कुछ पढ़ा दूँगा। मुझे भी तो फ़ुरसत कम है। फिर भी, कुछ वक्त दूँगा। तुम उसी सामनेवाली कोठरी में जाकर रहो। घर के धंधों से तो मैं अलग ही रहता हूँ। आख़िर तुम्हें मालकिन से भेंट हुई या नहीं? अभी तो तुम मिली नहीं होगी? अब आती ही होंगी। उनको ज़रा—समझती हो न?— मिलाकर चलना। संसार में वही मनुष्य निभता है, जो दूसरों के लिये दया रखता है और अपने लिए दंड। उनका मिज़ाज ज़रा कुछ वैसा है। बीमार रहते-रहते बेज़ार रहती हैं। मन भी चिड़चिड़ा-सा हो गया है। उनकी दो बात तुम्हें भी सह लेना उचित होगा। मैं तो समझता हूँ, तुम्हें वे घर के झंझटों में नहीं खींचेंगी; मगर जब आख़िर घर ही में रहना है, तब उनसे कहाँ तक अलग रहोगी?"

गिरिधारीलाल चुप हो गये। फिर एक क्षण कुछ सोचकर बोले—"मैं तुम्हें भजन-पूजन की सारी पद्धति समझा दूँगा। अभी तो तुम आज आई हो। धीरे-धीरे सब समझ जाओगी। कपड़े-लत्ते के लिए तुम्हें किसी के सामने हाथ पसारना नहीं होगा। मैं सब

ठीक करा दूँगा। तुम भात-रोटी, जो जी चाहे, ख़ुद बना लिया करो।"

"महाराज! मैं तो एक जून खाती हूँ। अकेला चोला है, कोई झंझट नहीं। मुझे आप अपने चरणों में शरण देते हैं, यही मुझे कुबेर की सम्पद मिल गई। मैं गृहस्थ की लड़की हूँ; कूटना-पीसना सब जानती हूँ। मुझे घर का जो काम मिले मैं दसों नख जोड़े तैयार हूँ!"

बेला धीरे-धीरे कमरे के बाहर चली गई। गुरु महाराज ने उपनिषत् की पुस्तक को बन्द किया। ताक़ पर से गीता को उठाया और खोलकर लैम्प के आगे रखा। नीचे आँगन का एक हिस्सा आँखों के सामने साफ़ नज़र आता था। वहीं बेला को खड़ा पाया। आँखें गीता पर तो पड़ीं नहीं, पड़ीं जाकर बेला पर! वह शायद ठमककर मकान का मुआयना कर रही थी। पूरबी बयार उसके आँचल से उलझ रही थी और चाँद उसके चेहरे पर किरनें उझल रहा था।

—कि आकाश से एक तारा टूटा और चमककर न जाने कहाँ विलीन हो गया। बेला चौंक पड़ी और आँखों से ओझल हो गई।

गिरिधारीलाल चुप सोचने लगे—"आख़िर दूसरे को उपदेश देना कितना आसान है! मैंने ज़बान की फ़ैयाज़ी में तो कुछ कमी नहीं रखी। बेला को परलोक के पथ के लिए जिस पाथेय को बटोरने का मैंने उपदेश दिया है, वह कठिन साधना उस भोरी अबला से कहाँ तक हो सकेगी? क्या यह सचमुच उसकी ख़ुशक़िस्मती है कि उसके ज़ीवन की बिसात पर उसके मनोरथों की एक भी गोटी लाल न हो

सकी ? क्या वह इस क्षिन में सच्चे मन से संन्यास का वरण कर सकेगी ? मैं तो बरसों ब्रह्मसूत्र और उपनिषत् का अध्ययन करता रहा; फिर भी क्या इस जीवन की प्यास को पी सका ? दिल का टाट उलटना खेल है ! इस कमसिनी में बेला के मन की चाट मिट सकेगी ?''तो फिर ? इसी भगवद्भक्ति का दम भरते मेरे बाल सफ़ेद हो चले और अभी तक मुझ पर रंग न चढ़ा, और यह बिचारी तो बिलकुल नादान है !''तो क्या मैंने कुछ इसे ग़लत रास्ता दिखाया है ? नहीं-नहीं; आख़िर और क्या कहता ? उसके लिए तो कोई दूसरी गति रही नहीं ! समाज के कुएँ में भाँग पड़ी हो या जो हो, वहाँ तो उसका अब गुज़र नहीं है ! उसकी लुटी हुई सम्पत्ति तो उसके पास लौट नहीं सकती। मैं उसे यहाँ से निकाल दूँ, तो फिर बाज़ार की आबादी बढ़ेगी, किसी घर की नहीं। पर, यह तो कल्पना के अतीत बात है। चन्द्रमौली के घर में किसी को अर्द्धचन्द्र देना कभी उचित नहीं। मगर गाँव-घर में ऐसी कितनी दुखिया पड़ी हैं, क्या वजह है कि मैं बेला के दर्द में इतनी दिलचस्पी ले रहा हूँ ? क्या यह उसके रंग-रूप—उसके यौवन के निखार—का असर है, या एक सताई हुई निरपराध विधवा के आँसू की लहर है ? आख़िर यह रूप की डाली लेकर.....''

गिरिधारीलाल मन को एक झटके से दायरे पर लाये, और रोशनी के आगे खुली हुई गीता पर निगाह डाली। आँखों के सामने पहले पड़ा—

"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥"

चतुर्थ परिच्छेद

कुछ दिनों तक तो बेला के दिन बड़े मज़े से कटे। पाँचों उँगलियाँ घी में रहीं। गुरुवर की कृपादृष्टि भरपूर थी। उनकी कन्या 'कमला' तो घी-खिचड़ी-सी हो गई थी। बेला उसकी छोटी कन्या को स्लेट पर 'क ख ग' लिखवाती—राम की कथा सुनाती—रामायण से चुनी-चुनी चौपाइयाँ याद कराती—मुन्नी की गुड़िया की नाक बनाती, आँखें काढ़ती, पोत के गहने पिन्हाती, बच्चे जनाती और सोहर गाकर छठी की बधाई सुनाती। मुन्नी जब रोती-पीटती, तब बेला की थपकियों से गोद में जाकर सो जाती।

जब-जब कमला का दुलहा दो-चार दिन के लिए ससुराल आता और मुन्नी बिचारी को माता की गोद में सोना मुहाल हो जाता, तब वह नानी के पास न जाकर बेला की खाट पर सोती। बेला

रात-भर उसको छाती से चिपकाये रखती; उसका क्षुधित हृदय एक गंभीर रस का स्वाद लेता। उसके व्यर्थ जीवन की तमाम ममता अन्तस्तल के न जाने किस कोने से उठकर उसे दुनिया के दायरे में खींच लाती। रात-भर उसे नींद तो आती नहीं, एक गंभीर तृप्ति-सी मिलती। वह निबिड़ रस की अनुभूति में डूबी रहती थी।

फिर वह सोचती, मैं यह किस बन्धन में जा रही हूँ? दो दिन बाद जब मुन्नी अपने पिता के घर चली जायगी, तब मैं दूसरी मुन्नी कहाँ से पैदा करूँगी? जो अपना था, वह तो अपना न रहा; फिर इस सपने को लेकर मेरी कौन-सी साध मिटेगी?

वह कलपती, तड़पती और फिर मुन्नी को छाती में समेट कर एक निबिड़ भाव में विभोर हो जाती थी। उसे खिलाती, पिलाती, नहलाती, चोटी गूँधकर कपड़े पिन्हाती और कंधे पर बिठाकर आँगन में दौड़ लगाती थी।

मुन्नी की नानी को बेला की इतनी प्यार-भरी पशेमानी फूटी आँखों भी न सुहातीं, और कभी-कभी तो अचानक ज़बान से ऐसा उग्र ज़हर उगल देतीं कि बिचारी बेला दिल मसोसकर बैठ जाती थी।

तीती बात कुछ तीती चटनी नहीं है। वह तो ऐसी कड़वी होती है कि कलेजा तक झल्ला उठता है। जब बेदाँतवाली बूढ़ी ज़बान से काटती है, तब दाँत गड़ाकर काटती है।

बेला की पीठ छिल भी जाती; पर यह लत नहीं छूटती। ख़ैरियत इतनी ही थी कि कमला उस घर में मौजूद थी, और 'जाने दो माँ! बड़ी

दुखिया है'—कहकर कटे पर मरहम लगा देती थी।

घर के किसी काम में बेला की पेशानी पर बल नहीं पड़ता था। वह कूटती-पीसती, छाँटती-फटकती, घर में झाड़ू देती, बरतन माँजती, धोतियाँ कचारती और आँगन के कुएँ से नहाने-धोने के लिए दर्ज़नों घड़े पानी खींचती। पानी तो वह भरती, मगर मिश्रानी का घड़ा छूती नहीं! घंटो वह कटोरे और थाली, परात और पतीली, डोलची और कठेली, लूँड़े से रगड़-रगड़कर साफ़ करती; लेकिन मजाल नहीं कि चौके के भीतर उनकी छाया में भी जा सके! किस हद तक वह जा सकती है, इतनी ख़बर उसका रोआँ-रोआँ भी रखता था।

कमला तो इन निषेधों को नहीं मानती थी; लेकिन रमा देवी के सामने किसी की दाल नहीं गलती थी!

गिरिधारीलाल के मन के भाव जो हों, पर पत्नी की अमलदारी में चुनाचुनी करने का न उनका मिज़ाज था, न कलेजा। मुमकिन है, वेदान्त के अनुशीलन से उनकी विवेक-दृष्टि का परिसार प्रशस्त हो गया हो; पर गुरुपद की मर्यादा की रक्षा तो विधि-निषेधों की प्रतिष्ठा पर निर्भर है! मन के भीतर-ही-भीतर वे लाख उदार हों; पर बाहर से वे कट्टर परहेज़गार थे। हाथी के दाँत खाने के और होते हैं, दिखाने के और!

जब दोपहर में घर के धंधों से फ़ुरसत पाकर गुरुवर के कमरे में वह रामायण लेकर जाती और वहाँ उनके झोली-झकड़, पोथी-पतरे, कपड़े-लत्ते में स्वच्छन्द विचरती, तब कौन कह सकता था कि घर में रहकर

वह घर से अलग किसी अछूत की शक्ल थी ? वह मोटी-मोटी पोथियों को झाड़कर अलमारियों में सजती, पूजा के बरतनों को माँजकर चम-चम झलका देती, धोती कचार कर धूप में फैलाती, धुले हुए कपड़ों में तह लगाकर दराज़ों में रखती और पछुवा के झोंकों से भरे हुए गर्दग़ुबार को आहिस्ते-आहिस्ते हौले हाथों से झाड़-बुहारकर साफ़ कर देती थी।

उसके निपुण हाथों की सेवा जड़ से लेकर चेतन तक पर असर करती; क्योंकि ज्यों-ज्यों कमरे के भीतर स्वच्छता आती, त्यों-त्यों गिरिधारी-लाल के चेहरे पर भी प्रसन्नता झलकती थी। वे प्रतिदिन एक घंटा उसे कुछ-न-कुछ पढ़ाते या कोई हृदयग्राहिणी कथा सुनाते। इस पढ़ाने-सुनाने में कुछ ऐसी मिठास भर देते कि मिश्रानी की कटीली ज़बान की खुरच से छिले हुए दिल के फफोले सूखकर ठंढे पड़ जाते और बेला का मन हल्का हो जाता था। इन्हीं तीती और मीठी बातों की लपेट में सुबह से शाम होती और शाम से सुबह।

'मैं यहाँ कबतक बैठी रोटियाँ तोड़ती रहूँगी ?'—बेला को रह-रहकर यह खटका होता। उसके साथ तो महज़ रोटी के एक टुकड़े का प्रश्न था; और तो कोई सवाल न था, न होगा। एक जून बाजरे की रोटी और नमक ! यहाँ तो उसे दाल और साग दोनों जून नसीब थे, और इसी से वह डरती रहती थी कि ये सुख के दिन न जाने किस दुःख के अग्रदूत होंगे। दुःख सहते-सहते उसके मन के भाव कुछ ऐसे खिंच गये थे कि सुख के एक क्षणिक आभास से भी वह चौंक उठती थी; उसे दूर ही से सलाम करके अलग रहने में कल्याण समझती थी। यही वजह है कि

किसी के मीठे वचन पर – किसी की मीठी चितवन पर—किसी के मीठे व्यवहार पर वह आँखें फाड़ती और कान खड़े करती थी।

ख़ैर, यहाँ की बात कुछ और थी। यहाँ गुरुवर के स्नेह की शरण थी; धर्म की कल्याण-प्रद छाया थी। श्रीधर भी इसी पुनीत वातावरण का फूलता-फलता पौधा था। उसके हृदय का समतल गङ्गा के प्रवाह की तरह प्रसन्न था। यहाँ भी यदि वह निरापद नहीं है, तो लोक क्या, परलोक में भी वह निरापद नहीं होगी।

कमला तो कमला की मूर्त्ति थी। रह गईं मिश्रानी। वे अपने मिज़ाज से मजबूर थीं। वे प्रतिदिन किसी-न-किसी बात पर मरम्मत करने से बाज़ न आतीं; पर बेला उनकी झिड़कियों को पीठ रोपकर सह लेती थी। आख़िर घर पर उसकी सास और ननद की चुटकियाँ कुछ कम ज़हरीली न थीं। फिर, मिश्रानी भवें तानती थीं, तो कभी मानती भी थीं। जब कभी घर में फुलौरियाँ और पकौड़ियाँ पकतीं, तब दो-चार किसी हीले से बेला की थाली में भी ज़रूर चली आतीं। मारकीन की मोटी धोती के बदले महीन किनारदार साड़ियाँ भी मिलीं। मौक़े-मौक़े पर तिलौरी और दनौरी की भेंट भी पाती।

मिश्रानी की जानिब से उसे गालियाँ मिलतीं, तो फूल-सी खिली बड़ियाँ भी मिलतीं। करैले-सी तीती झिड़कियाँ भी खाती और करैले की मीठी कलौंजियाँ भी। इसीसे झिड़कियों की ठोकर पर न वह नीचे गिरी, न कलौंजियों के ज़ोर पर वह ऊपर चढ़ी। पकौड़ियों पर न उसका दिल उठता था, न गालियों से उसका दिल बैठता था। वह अपनी ख़िदमात

से न उन्हें कभी अपना सकी, न उनके दाँत पीसकर काटने दौड़ने पर बेदिल होकर भाग सकी। वह अपना काम किये जाती थी और जो कुछ उसके भाग से उसके सामने आता, वही लेकर वह सब्र कर जाती थी। जिन दुखों को झेलकर वह यहाँ आई थी, उनके लिहाज़ से तो वह सुख से थी और वह ख़ुद भी इस अभ्र को तसव्वर करती थी।

घर के झंझटों से बेला को फ़ुरसत कहाँ थी कि वह भगवद्भक्ति के प्रवाह में बह सके। जिस दिन घंटे-भर भी वह गुरुवर से कुछ पढ़ लेती, उसी को वह बहुत समझती। मिश्रानी की दिलजोई, कमला की नाज़बरदारी, मुन्नी के मचले—एक-न-एक तक़ाज़ा सर पर खड़ा रहता। जब निशीथ के सुनसान में वह दिन-भर की जाँफ़िसानी और सरकन्दनी के बाद इतमीनान की साँस लेती, तब शरीर में यह सत्ता नहीं रह जाती कि वह भगवद्भजन की गंगा में एक डुबकी लगा सके।

फिर भी वह घंटे आध घंटे 'रामायण' या 'भक्तमाल' पढ़ती और राम का नाम लेती। पर, अमृत की इन दो-चार बूँदों से न तो उसकी प्यास मिटती, न उसकी छाती की भट्ठा ठंढी होती। जिस पुनीत पुचारे से उसके मनो-महल की दीवारें रंगीन बनतीं, उस रंग की तैयारी का वहाँ अवकाश ही कहाँ था? जिस अभिसार के लिए गुरुवर ने उसे प्रेम के मोतियों से सीमन्त भरने को कहा था, वह अंजाम इन झंझटों में क्योंकर सम्भव था? वह अपने भाग्य के सर पर पड़े हुए पत्थर पर सर पीटती और उस लक्ष्य को—उस सूत्र को—ढूँढ़ती, जिसके सहारे उसकी ज़िन्दगी की घड़ियाँ बेकार नहीं कटतीं।

गुरुवर के वचनों से आशा की एक धुँधली किरण उसके मन में पड़ी ज़रूर थी, पर प्रतिदिन के उपद्रवों से उसे शान्ति कहाँ थी कि वह उस पथ पर चलने के लिए पाथेय संग्रह कर सके ? फिर यहाँ गुरुवर के साये में उसे अवकाश नहीं मिलेगा, तो और कहीं मिलना तो कभी मुमकिन न था। जिस आश्रय को पहले उसने तपोवन समझा था, उसे दो दिन में चिरपरिचित संसार का कोना पाया। जो हो, यहाँ पाँव फैलाने को चटाई-भर भी जगह तो थी! शैतानों की बन्दिशों से तो नज़ात थी! यही क्या कम था ?

पञ्चम परिच्छेद

एक तरह से वह ख़ुश थी। उसे इतमीनान था। उसके दिल में अगर तसल्ली न होती, तो कभी मुमकिन न था कि उसके शरीर की सफ़ेदी पर सोने का पानी चढ़ता, गाल और आँखों की ज़र्दी पर गुलेनार डोरे नमूदार होते और कृशित अंगों की शून्यता पर यौवन का वैभव बरसता। ज्यों-ज्यों इस स्नेह के साये में उसके मुरझाए हुए मन की पपड़ियाँ धीरे-धीरे उभरने लगीं, त्यों-त्यों महीन धोती के भीतर से उसके अंगों के उतार-चढ़ाव का परिपुष्ट सौष्ठव निखरकर आँखों में जादू फूँकता और कपड़ों से छनी हुई नई रंगत की छटा छन-भर चकाचौंध मचा देती।

बेला अब फूली हुई बेला-सी खिल उठी। उसके यौवन की रंगीन उषा की लालिमा एक विचित्र पुलक के साथ नखशिख से फूट पड़ी। पर यह वसन्त का मधुर स्पन्दन कुछ उसकी आँखों पर सुरूर न ला सका, न उसकी छाती के अञ्चल को चञ्चल कर सका। इस फाल्गुन-

पूर्णिमा में भी किसी मलय-समीर का सिहरन उसके हृदय-किसलय पर मुमकिन न था, न किसी मधुर वंशी की सहाना तान उसके मन की बीथियों में झंकार भर सकती थी। उसके तन पर यह यौवन का उभार उसके लिए लाख बेकार हो, पर दूसरों के लिए तो वह बे-असर न था।

कमला की सहज सुशील आँखें भी ईर्ष्या से जल उठतीं और मिश्रानी की नाक का नथ कभी-कभी खीझ के उद्‌गार से बेतरह नाच उठता। श्रीधर की जिह्वा पर कभी-कभी स्तोत्रों की लड़ी अचानक टूट जाती और भगवान् के सामने कपूर की आरती की थाली उँगलियों पर बे-वजह काँपने लगती। गुरुवर के ललाट पर भस्म की जगह लाल कुमकुम का तिलक चमक उठा और पुरानी आलमारियों के कोनों से निकालकर कालिदास और अमरु लैम्प की किरणों के सामने आ गये!

मिश्रजी के परिवार में दो गायें थीं—'गंगा' और 'यमुना'। गंगा दूध की धोई सफ़ेद गऊ, और यमुना सर से पैर तक कृष्णा। एक लम्बी पूँछवाली सुलच्छनी, दूसरी मखमली खालवाली मैनी। दोनों के दो छोटी बछिया थीं।

जब बेला ने आकर इस परिवार में शरण ली, तब गुरुवर ने हँसते-हँसते कहा—"बेला बिचारी भी गऊ है। अबतक गंगा और यमुना थीं, आज से तीसरी बेला हुई!"

बेला ने कहा—"महाराज! मैं भी गंगा और यमुना के साथ ही रहूँगी; मुझे वहीं जगह मिले।"

बेला के रहने की कोठरी आँगन के अन्तिम छोर पर मिली। वहीं गंगा और यमुना बँधी रहती थीं। सामने इँडारा था, और एक ओर दीवार से लगी दो नाँदें थीं।

बेला ने आते ही दोनों से सखित्व स्थापित कर लिया और उनकी सेवा में उसे एक निविड़ रस की अनुभूति मिली। पौ फटते ही वह उनकी सेवा में लग जाती। नाँद में मसुरी और भूसे की सानी देती, खली मिलाती, सत्तू और पानी उँड़ेलती; रात की बची-खुची पूरियाँ खिलाती और अपने हाथों से सत्तू की पिंडुलियाँ बनाकर उनके मुँह में डालती।

जब गनेस उन्हें खोलकर बाहर चराने ले जाता, तब बेला थान को बुहार-सुहारकर साफ़ कर देती—लीप-पोतकर चौरस करती। गोबर के ढेर में दो मुट्ठी भुस्सी डालकर कंडे पाथती। दिन-भर जूठ-काँठ और माँड़-भात जुगाकर रखती और इधर-उधर से जब कभी उसे दाल-भरी पूरियाँ, खाजे और खजुलियाँ मिल जातीं, तब दोनों सखियों का हिस्सा निकालकर तो वह खुद खाती।

जब किरन डूबते-डूबते गंगा और यमुना बथान पर लौटतीं, तब बेला सानी-पानी के अलावा कुछ फल-फलहरी या केराव-कथिली की हरिअरी भी डालती। उन्हें आँचल से झाड़-पोंछकर साफ़ करती, पीठ सहलाती, गरदन थपथपाती, ललाट चूमती और पीठ से लिपटकर झूलती रहती। एक ज़बान की पुचकार

पर वह मज़े से पीतल की डोलची में दूध दूह लेती। जब कभी वह गंगा या यमुना कहकर पुकारती तब गंगा की पुकार पर गंगा और यमुना की पुकार पर यमुना बेखटके दौड़ी चली आती, और उसकी उँगलियों के इशारे पर उनकी सारी उछल-कूद एक क्षण में बन्द हो जाती थी।

जब दिनभर के झमेलों के बाद रात को बेला कमर सीधी करने की फ़ुरसत पाती तब गंगा और यमुना पास खड़ी होकर हाथ और कंधे चाटतीं। उस स्नेह के उद्धत उच्छ्वास में बिचारी विधवा को जिस अनायिक आत्म-निवेदन का आभास मिलता, वह उसके शून्य जीवन में एक गंभीर तृप्ति का आस्वाद भर देता था। जिस रस की एक बूँद भी उसे मनुष्य के सहवास में कभी भूलकर भी न मिली, वह प्रकृति का अलौकिक दान उसे दो बेज़बान पशुओं के ससर्ग में मिल सका। इसे उसने देवता का आशीर्वाद समझा।

रात के सन्नाटे में उसके हृदय की मूक वाणी उन दो पूँछ हिलाते हुए गूँगे जानवरों के सामने निःसंकोच खुल पड़ती और फिर न जाने आपस में वे क्या कहती-सुनती और कहाँ तक एक दूसरे के निकट चली जाती थीं।

कौन कह सकता है कि पशु के शरीर में हृदय नहीं है? नहीं है, तो फिर इतनी हृदयग्राहिता उनमें कहाँ से आई?

षष्ठ परिच्छेद

मिश्रानीजी के ऊपर सर पर बाल उगते नहीं थे। एक तो बिचारी कमी की बाल का धनी नहीं थीं, और इधर तो सर पर आफ़त ही आ पड़ी। उनके सर के बाल को देखा या जेठ के दिनों में रहर के खूँटी भरे खेत को देखा, एक ही नज़ारा है। पतझड़ के सूखे पत्ते की तरह बाल झर रहे थे।

केशरञ्जन और जवाकुसुम जब सूने सर को भर न सके, नेता और बुद्धू के मोतवातिर तपावन पर भी उनके सर पर से भूतों का डेरा न टूटा, तब उन्होंने मजबूर होकर मुहल्ले के मोहन वैद्य के आँवले के तेल की मालिश शुरू की।

बेला प्रतिदिन सुबह और शाम उनके सर पर तेल की शीशी उँड़ेलती और जैसे पानी के फुहारे देन्देकर थापी से गच पीटा जाता है, वैसे ही तलहत्थी से तेल के पुचारे के साथ उनका सर थपथपाती थी।

इसके अलावा नहाने के पहले आँवले का सघन प्रलेप उनके सर पर थोपना पड़ता, और जिस वक्त वे इस चर्चा के अनन्तर आँगन में आकर माँचे पर बैठतीं और पोपले मुँह से आँखें मटका-मटकाकर, नथ हिला-हिलाकर, हुक्का गुड़गुड़ाती हुई, अपने पंडित पति की सैकड़ों त्रुटियों पर वीभत्स टिप्पणी करतीं, तब ऊपर बालारेज़ पर बैठे गिरिधारीलाल के मुहर्रमी चेहरे के सामने बेला-जैसी दुखिया के आँसू भी बे-असर हो जाते थे।

तीन महीने से इस नये इलाज का सिलसिला जारी था, और रोज़मर्रे तेल-मालिश के वक्त बेला को मालकिन के सर की उपज की जाँच की रिपोर्ट पेश करनी पड़ती, और जहाँ उसकी दबी ज़बान से—'अभी तो कुछ ख़ास फ़ायदा नहीं दिखाता'—निःसृत होता, उसी वक्त मिश्रानी के मिज़ाज के मैगज़िन में पलीता छू जाता और लगातार कर्णभेदी ग़लीज़ गालियों के अजस्र बमगोले फ़ायर होकर मोहन मिश्र वैद्य के दिवंगत पूर्वजों पर बेसाख्ता छूटते और तमाम दालान इस वलीग़ गोलाबारी से दलदला उठता। ख़ैरियत यही थी कि मोहन वैद्य वहाँ बज़ात ख़ुद हाज़िर नहीं रहते, वरना खीस से खौलती हुई मिश्रानीजी दाँतों के बदले मसूड़े गड़ा-गड़ाकर उन्हें कच्चे निगल जातीं।

उस दिन न जाने कहाँ से डुगरती हुई मोहन मिश्र की माता आ टपकीं, और जिस वक्त ऊपर कोठे पर गिरिधारीलाल से अपने नाती के कल्याणार्थ किसी अनुष्ठान की योजना के लिए आग्रह कर रही थीं, उसी वक्त इधर मिश्रानीजी वैद्यजी के पुरखों की लाश को अपनी

गालियों की ग़लाज़त में घसीटकर खसोट रही थीं।

भनक कान में पड़ी और वैद्य-जननी के कान खड़े हुए। फिर तो आँगन में नीम के पेड़ के नीचे मैदान लेकर दोनों ओर से दोनों रण-रंगिणियों ने तरकस से चुन-चुनकर विषाक्त तीरों की ऐसी धुआँधार तीरन्दाजी शुरू की कि इस महाभारत के तमाशे को देखने के लिए अगर अमरावती से देवता भी उतर आये हों, तो कोई तअज्जुब नहीं।

बेला इस रण-क्षेत्र से पहले ही कान-पूँछ दबाकर सटक-सीताराम हुई; पर जब उसकी नज़र कोठे पर झाँकते हुए गिरिधारीलाल के वेदना-पीड़ित चेहरे पर पड़ी, तब उसने अचानक आगे बढ़कर दोनों रणबाँकुरों के दरमियान सन्धि का प्रस्ताव पेश किया।

नतीजा यह हुआ कि मिश्रानी इस दस्तन्दाज़ी से और भी गाज फेंकती हुई भूखी शेरनी की तरह उलटकर बेला पर टूट पड़ीं, और कोने में सटके हुए नेता भगत को ललकारकर इस हरामज़ादी का झोंटा पकड़ घर से बाहर निकाल देने का जरनैली ऑर्डर दिया।

वैद्यजी की माता तो वाण बरसाती हुई बाहर निकल गईं; लेकिन मिश्रानी का निखिल आक्रोश न जाने किस युद्ध-धर्म की नीति के अनुकूल बिचारी बेला के सर पर टूट पड़ा।

नेता भगत ने तो मुँहमाँगा इनाम पाया और बेला पर हाथ साफ़ करने का एक अच्छा मौक़ा समझा। बेला हमेशा इस गुमाश्ती गुनी की छाया से कटी-कटी फिरती थी। पर ज्यों-ज्यों वह कन्नी कटाती त्यों-त्यों नेता की चुन्धी चितवन उसके एक-एक क़दम के इर्द-गिर्द चक्कर काटती

थी। इतनी मजाल तो थी नहीं कि उस घर के भीतर वह कुछ बेहूदा इंगित कर सके; और बेला कभी घर के बाहर जाती नहीं थी। मिश्रानी, श्रीधर तथा कमला की मौजूदगी में नेता को नेता बनने की हिम्मत नहीं थी। इतना ज़रूर था कि मिश्रानी की जानिब से उसे खुलम-खुल्ला मदद न मिले; पर अव्यक्त सहानुभूति ज़रूर थी; वरन अकेले श्रीधर उसकी आँखों में उँगलियाँ देकर पुतलियाँ निकाल लेने को काफ़ी था।

मनोविज्ञान के बड़े-बड़े धुरन्धर भी स्त्रियों के स्वभाव-सागर की थाह लेने में डुबकियाँ लेते रह जाते हैं। नारी के मन के भीतर पैठकर एक-एक तरंग की छान-बीन कर समझ लेना पुरुषों क्या—देवताओं की बुद्धि के भी परे है।

शायद बेला के स्वभाव और गुण की चर्चा कमला, श्रीधर और गुरुवर के मुख से सुन-सुनकर मिश्रानी को बेवजह ईर्ष्या होती थी। किस तरह उनकी आँखों के सामने बेला के मुख का पानी उतरे, यह उनकी दिली तमन्ना थी। मुमकिन है, यही वजह हो कि नेता मिश्रानी की ओर से निःशङ्क था और उनके सामने भी औरों की आँखें बचाकर आँखें मटकाने का कलेजा रखता था।

मिश्रानी के विश्वास-ऑफ़िस का नायब अफ़सर मूँगा सुनार था और नेता मुनीम। मूँगा बिचारा भला आदमी था और एकाध लुकी-छिपी निगाह के अतिरिक्त बेला के मामले में वह बिलकुल उदासीन था। वह मकान की पिछवाड़ेवाली कोठरी में बैठकर हुक्के की निगाली को मुँह में लगाये सुबह से शाम तक सोने

के पत्तों में पत्तियाँ काटता और नये पैटर्न के गहनों की फ़िहरिस्तें दिखा-दिखाकर मिश्रानी के अलङ्कार-प्रवण प्राणों की बुभुक्षा को सदा जाग्रत रखता था। उसे नेता भगत की चिलम भरने में कभी आपत्ति नहीं थी, जब वह यह देखता था कि मिश्रानी की आत्मा की बागडोर उसके हाथों में है। यही वजह थी कि मूँगा ने पिछले साल नेता के सात साल के बेटे के ब्याह में चाँदी के झविये और जोशन अपनी ओर से भेंट दिये थे। आज भी नेता बहू की तमाम फ़रमाइशों को बिना मजूरी लिये खुशी से पूरा करता था। जब कभी मिश्रानी के मन-चमन में शीतल मन्द समीर चलता और उनके चेहरे पर मुस्कान की अनोखी छटा नज़र आती, तभी मूँगा की हिम्मत बँधती कि मालकिन के सुर में निरन्तर ताल देने के अलावा कुछ अपना अरज़-गरज़ भी नज़र कर सके। पर, अपनी कथा उठाने के पहले नेता के अद्भुत चमत्कारों के गुणगान की भूमिका देनी ज़रूरी थी; क्योंकि उसका रोआँ-रोआँ इतना अवश्य समझता था कि इस दरबार में उसकी सुर्ख़रूई उसी दम तक है, जबतक की वह नेता के सरोद का तबलची है। इसीलिए जब नेता ने आकर मिश्रानी की मर्ज़ी सुनाई और बेला को इस महल से निकालकर अपने खंड में ले जाकर रखने के लिए मदद माँगी, तब मूँगा लहू के घूँट की तरह अपने ग़ुस्से को पी गया, और एक आधी सेकेंड तक दाँत पीसकर नुमाइशी खुशी के दाँत दिखा दिये।

मूँगा भाई, बिल्ली के भाग से छींका टूटा! चलो, इस मुनिया को उठा ले चलें!"

"भाई, मिश्रजी तो घर पर हैं ?"

"हुआ करें ! मिश्रानी के आगे उनकी नानी मरी रहती है !"

"और कमला बच्ची ?"

"कहीं बाहर गई हैं। उठो, देर न करो।"

मूँगा को ऐसी चाल हर्गिज़ पसन्द न थी; पर बिचारा करता क्या ? नेता का साथ न देता, तो अपनी रोटी पर जवाल लाता।

बेला अपनी कोठरी में जाकर बुत की तरह खड़ी है। उसकी आँखों के सामने ज़लज़ले का तमाशा चल रहा है। ज़मीन थरथराती है, दीवारें हिलती-सी नज़र आतीं और आसमान चक्कर काट रहा है। वह सोचने लगी—"भगवन्! अब आगे क्या होगा ? क्या अभी तक मेरी सज़ा पूरी नहीं हुई ? कर्म का भोग अभी बाक़ी है ? कमला मुहल्ले में न्योते पर गई है; मिश्रजी कोठे से उतरकर कहाँ तक पत्नी के वार की ढाल होंगे ? और श्रीधर ? श्रीधर चचानी के सामने मैदान ले सकेगा ? गङ्गा और यमुना भी बाहर चरने गई हैं। वे भी यहाँ रहतीं, तो दम में दम पड़ता।"

वह आगे सोच न सकी। किवाड़ के पास नेता और मूँगा आ धमके। नेता की आँखें ग़ुर्राती हुई बिल्ली की आँखों की तरह चमक रही थीं। मूँगा पुछल्ला बना पीछे खड़ा था। मिश्रानी लोल लटकाये बेला के पहलाम का तमाशा देखने के लिए आँगन में खड़ी थीं। मिश्रजी कोठे से उतरकर दख़ल देने के लिए कमर कस रहे थे; पर मिश्रानी उनको सुना-सुनाकर धमकी दे रही थीं कि अगर उन्होंने अपनी उँगली भी

हिलाई, तो दूसरे दक्षयज्ञ की रचना इसी आँगन में होगी। इसी गीदड़-भवकी की वजह उनके क़दम सीढ़ियों पर रुक-रुककर पड़ रहे थे।

नेता और मूँगा मिश्रानी की ललकार पर कमरे में दाख़िल ही हुए थे कि कमला को लिए हुए श्रीधर आ टपका! श्रीधर की अड़तीस इंचवाली गठीली छाती पर नज़र पड़ते ही नेता का तमाम ताव हिरन हो गया। कमला की चेष्टा और चितवन से कुछ ऐसी रुखाई टपक रही थी कि नेता भीगी बिल्ली की तरह दुम दबाये बाहर निकल गया। मूँगा भी हटुए बटेरवाली चाल से फुदककर दरवे में घुस गया। वह तो ख़ुश था कि नेता के सर की पगड़ी धूल में जा गिरी; पर ज़माने की रविश देख कर चुप था। किसी को न कुछ कहना पड़ा, न करना पड़ा। सारा सीन जादूगर की फूँक पर आप-ही-आप बदल गया।

श्रीधर ने एक बार बेला को भर-आँख देखा और बेला ने आँखें मिलाकर अपनी कृतज्ञता जताई। कमला से उसने दबी जबान से कहा—"बहन! आज तुम न आतीं, तो मैं लुट गई रहती!"

मिश्रानी के गले की ऊँची टीप धीमी पड़ गई और उन्होंने कमला से ज़रा हँसकर पूछा—"क्यों कमली! मुन्नी को कहाँ छोड़ आई?"

"उसे रामू बहू कल्लू बिसाती की दूकान पर ले गई है। आती ही होगी।"

"मैं तो समझती थी कि तुम ज्योनार के बाद आओगी!"

कमला ने इस सवाल का कोई जवाब नहीं दिया। श्रीधर दौड़ा जाकर उसे बुला लाया था—यह ख़बर देना वह संगत नहीं समझती थी।

"बेला ! ज़रा इधर तो आ ! सर का तेल चू रहा है, इसे मिला दे।"—मिश्रानी ज़रा पुचकारती आवाज़ से बोलीं।

बेला धीरे-धीरे नज़दीक चली गई और तेल मिलाने लगी। करती क्या ? मार भी खाती, दुत्कार भी पाती और पुचकार पर दुम भी हिलाती। हिन्दू विधवा थी न !

जो तूफ़ान दस मिनट पहले इस आँगन में प्रलय-हुंकार से बह गया था, उसका नामोनिशान भी कहीं आँखों के सामने बाक़ी न था। जो कुछ चिह्न रह गया, वह बिचारी बेला के कलेजे पर था और वहीं टभक रहा था।

सप्तम परिच्छेद

जब दोपहर को बेला भक्तमाल की पुस्तक हाथ में लेकर दैनिक रूटीन के पाबन्दी के लिहाज़ से ऊपर दुतल्ले पर गई, तब गुरुवर ने देखा कि उसका चेहरा बिलकुल ज़र्द है, और भवें बेतरह खिंची हैं। उस पर एक करुण कमनीय कान्ति बिखरी हुई है। वह कुछ देर तक चुप बैठी रही। फिर भर्राई हुई आवाज़ में बोली—"महाराज! मेरे मन में रह-रहकर उठता है कि किसी तरह यह देह छूट जाती....."

"शिव! शिव!"—गिरिधारीलाल ने बात तराशकर कहा—"इसे ज़बान पर भी न लाना। दुनिया में सबसे बड़ी न्यामत मनुष्य-देह है। इसी देह से हम विदेह होते हैं। इसी सीमा के सहारे हम असीम को

पाते हैं। जबतक हम इस बन्धन में नहीं आते, तबतक हमें मुक्ति मिलती नहीं। यद्यपि आत्मा सर्वत्र एक है, तो भी माया या नाम-रूप का आवरण कहीं सघन और कहीं विरल होकर इस सृष्टि में सचेतन और अचेतन दो भेद हो गये हैं। इस सचेतन की पाँति में मनुष्य की जो सत्ता है, वह पशु की नहीं। पशु ने सब कुछ पाया—इन्द्रियों की दौड़ उसे पूरी मिली; पर बुद्धि और मन के विकाश से वह वञ्चित ही रहा। यही विकाश तो मनुष्य-योनि का मुकुट-मणि है। इसी कारण तो मनुष्य-योनि दुर्लभ योनि है। इन्द्रियाँ तो महज़ नाम-रूप तक जाती हैं; आगे उनका गुज़र नहीं। पर इन नाम-रूपों का जो आधार-भूत है, वही सत्, अव्यक्त और अचिन्त्य है। उसी का सम्यक् ज्ञान जीव का चरम कल्याण है और उस ज्ञान की प्राप्ति हमारी बुद्धि और मन के विकाश पर ही निर्भर है, अन्यथा एकान्त असम्भव है। बुद्धि और मन इसी मानव-शरीर के अनुगत हैं। इसीलिए, बेला! शरीर की रक्षा हमारा सबसे पहला और सबसे महत् धर्म है। इसी कोश के भीतर तो निखिल विश्व का रहस्य छिपा है और यही अकेला उस अनन्त का सोपान है। इसी शरीर पर सब कुछ निर्भर है। जब यह क़ायम है, तभी हमारा लोक-परलोक सुलभ हो सकता है; नहीं तो नहीं। देखो, जिसके जीवन-पथ पर किसी मधुर अतीत की छाया नहीं, जिसके हृदय की गोद में किसी सुकोमल मनोरथ की चुलबुलाहट नहीं, जिसकी मानस-दृष्टि के आगे किसी रंगीन आशा की मधुरिमा नहीं, वह भी अगर पेट के लिए जीता है, तो इससे बढ़कर और दूसरी विडम्बना क्या होगी? पर नहीं,

उसे भी जीना जरूरी है; क्योंकि अगर शरीर क़ायम है तो वह एक-न-एक दिन तख़्ता उलट सकता है !"

गिरिधारीलाल एक क्षण रुक गये। दो पान की गिलौरियाँ मुँह में रखीं और फिर शुरू किया—"बेला ! नीति का वचन है—'आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि धनैरपि।' यदि ब्राह्मण को शरीर की रक्षा के लिए अभक्ष्य भी खाना पड़े, तो जायज़ है। वह कुल से या परिवार से—जाति से या समाज से—च्युत हो जाय, तो हो जाय; पर शरीर से च्युत कदापि न हो। यदि स्त्री को रूप की हाट में बैठकर पत भी बेचना पड़े, तो वह पातक शरीरपात के पातक के आगे कौड़ी का तीन है। फिर पेट पालने के लिए वेश्यावृत्ति तो कोई पातक नहीं !"

"क्यों महाराज, वेश्यावृत्ति से बढ़कर तो कोई दूसरा पाप नहीं ! यह तो साक्षात् नरक का द्वार है !"

"कदापि नहीं ! पाप बुद्धि में है, कुछ कर्म में नहीं। जिसकी यह वृत्ति महज़ गन्दी प्रवृत्ति नहीं—जीविका है, तो वह उसके सर का सिर-मौर है। जिस दिन तुमने अपनी प्रकृति की मर्ज़ी से या मजबूरी से इस धंधे को स्वीकार किया, उसी दिन वह व्यवसाय तुम्हारा धर्म हो गया। 'स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोषि किल्विषम्!' कोई भी रोज़गार लो, उसमें कहीं-न-कहीं छिद्र अवश्य दीख पड़ेगा। सिपाही पेट के लिए अपना बल बेचता है—वकील अपनी बुद्धि बेचता है—डॉक्टर अपना कौशल और अनुभव बेचता है—गुरु अपनी विद्या बेचता है—कलाकार और कवि अपनी प्रतिभा बेचते हैं—वेश्या अपना रूप

बेचती है, और सच पूछो तो धर्मगुरु भी अपना पुण्य बेचता है! तुम महाभारत के ब्राह्मण-व्याध संवाद को पढ़ो, तो तुम इस तत्त्व को आसानी से समझोगी। जीव-हत्या करके, पेट के लिए, मांस बेचनेवाला व्याध, शरीर बेचनेवाली वेश्या से, सामाजिक दृष्टि से, कुछ कम नीच नहीं। पर तुम जब इस कथा को पढ़ोगी, तब तुम्हें ख़ुद ही खुलेगा कि सामाजिक दृष्टिकोण का परिसर किस क़दर संकुचित है। मैं यह नहीं कहता कि वेश्या-वृत्ति निन्द्य नहीं; लेकिन मनुष्य को नीच या ऊँच महज़ उसके रोज़गार पर ठहराना कदापि सङ्गत नहीं। जिस बुद्धि से वह अपना कर्म करता है, वही बुद्धि उसके भले या बुरे होने की कसौटी है। अगर वकील गाँव के गँवार मवक्किल को मुक़द्दमेबाज़ी के चक्कर में फँसाकर उसकी जायदाद हड़प लेता है, या डॉक्टर फ़ीस के लालच पर मर्ज को टटोलता हुआ बिल चुकाने के लिए मरीज़ की बीवी के ज़ेवर बन्धक रखवाता है, किंवा पुरोहित यजमान को ग्रहों की शान्ति के फेर में डालकर उसके तरी के खेत पर मक़फूली दावा लिखवा लेता है, तो वह वकील, वह डॉक्टर, वह पुरोहित उतना ही सज़ावार है, जितना वह वेश्या, जो अपनी फ़ीस पर सब्र न कर अपने नखरे-तिल्ले के जाल में मर्द को उल्लू फँसाकर उसकी जेब कतरती है। कोई भी वृत्ति कभी निन्द्य नहीं। जिस वृत्ति में जैसी तुम्हारी प्रवृत्ति होगी, वैसा ही तुम्हें फल मिलेगा। क़साई हो, व्यापारी हो, पेट के लिए रूप बेचनेवाली रंडी हो, माला तिलकधारी पुरोहित हो, सबका दरजा बराबर है। यदि कर्म में बुद्धि का निष्काम हो, तो प्रत्येक परलोक का

अधिकारी है। इसलिए तुम किसी को उसके कर्मों के कारण कभी नीच मत समझना। तुम्हें पारखी बनना है, तो तुम यह देखो कि वह उस कर्म को किस भाव से करता है। उसकी हरकतों को नहीं, उसकी नीयत को देखो। यही जौहर है; यही किल्ली है। वेश्या करुणा का पात्र जो हो, घृणा का पात्र कदापि नहीं। आज समाज की निगाहों में यह रोज़गार लाख निन्द्य और निकृष्ट हो; पर मैं तो समझता हूँ कि उस समाज में भी अच्छे और बुरे वैसे ही हैं, जैसे हर जगह हैं; उनके लिए भी परलोक उतना ही सुगम या दुर्गम है, जितना हमारे लिए।"

बेला थोड़ी देर चुप सोचती रही। फिर बोली—"महाराज! मैं कभी-कभी सोचती हूँ कि किसी तीर्थ में मुझे शरण मिल सकती है या नहीं!"

"बेला! आज के भीषण कांड के बाद तुम्हारे मन में विराग होना ज़रूरी है; पर मैं सच कहता हूँ, भारत में कोई भी तीर्थ आज निरापद नहीं है। मुझे डर है कि तुम तवे से गिरकर आग में जा पड़ोगी। आज भी पंचवटी में माया-मृग चौकड़ियाँ भरते हैं। आज भी साधु के वेश में रावण की ऐयारी देखने में आती है। राम तो जल्द नज़र नहीं आते, पर छद्मवेशी रावण तीर्थों के कन्दरे में भरे पड़े हैं। पहले तो वन के निशाचर तपस्वियों के खून के प्यासे थे; पर इन दिनों के सफ़ेदपोश निशाचर भोरी स्त्रियों के सर्वस्व के भूखे हैं। तुम भूलकर भी कभी तीर्थ का नाम न लेना। तुम्हारे लिए वहाँ राम का नाम लेना हज़ार मुश्किल है।"

"महाराज! किसी तरह वह प्रेम का रस मेरे रोम-रोम में भिनता! वह नन्हीं-सी प्रेम की चिनगारी भभक उठती, मेरे दिल की तमाम जलन को जलाकर फूँक देती! मुझे दशरथ के पुत्र राम की झाँकी·····"

"बेला! राम कुछ दशरथ के बेटे नहीं हैं, न लक्ष्मण के भाई हैं। वे न लव के पिता हैं, न सीता के पति हैं। यह सब तो उनकी लीला है; रूप के दायरे में छन-भर खुल खेलना है। उन्हें महज़ लव के पिता नहीं, जगत् के पिता समझो; सीता के पति नहीं, विश्व के पति समझो। 'गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।' उनका न रूप है, न वे रूप के श्यामल हैं; उनके न कान हैं, न कानों में कुंडल हैं; उनके न हाथ हैं, न हाथों में सायक हैं; उनके न सर है, न सर पर मुकुट है। वे तो 'बिनु पग चलै सुनै बिनु काना, बिनु कर कर्म करै विधि नाना' हैं। उस अनाम को तुम 'राम' कहो या 'श्याम', यह रूप का आकार तो तुम्हारे मन के लिए एक आधार है, और कुछ नहीं। इसे तख्ती की मश्शाक़ी समझो। जो मन यों ही नहीं ठहरता—सदा चंचल है, वह शून्य पर कहाँतक ठहरेगा? इसीलिए उसे एक खली भरा देना है। जिस रूप पर तुम्हारा मन ठहरे, वही अनूप रूप है—वही सनम है—वही राम है—वही कृष्ण है—वही शिव है—वही सब कुछ है। यद्यपि जब रूप है, तो प्रत्येक रूप वही रूप है; जब रस है, तो प्रत्येक रस वही रस है; जब गन्ध है, तो प्रत्येक गन्ध वही गन्ध है; जब शब्द है, तो प्रत्येक शब्द वही शब्द है; पर याद रखो, रूप के

करिये तुम्हें अरूप में जाना है। इसी सोपान पर चढ़कर तुम्हें ज्ञान के बाम पर जाना है; सीमा के सहारे असीम से मिलना है। सौ बात की एक बात, रूप चाहे जितने हों, स्वरूप तो बस एक है। बेला! तुम समझी? तुम्हें उस अमृतत्व को पाने के लिए रूप के सहारे अरूप पर जाना है; उधर भगवान् को भी तुम्हें उठाने के लिए अरूप से उतरकर रूप में आना है।"

"महाराज! मैं नहीं समझी।"

"बेला! इन्द्रियाँ अपने विषयों में स्वभाव ही से रमण करती हैं। इसीलिए रूप पर रीझना स्वभाव है, रूप से खिंचकर अरूप में रुझान स्वभाव का पराभव है। यहाँ दिल की लगन है, वहाँ दिल को लगाना है। इधर तबीयत की रवानी है, उधर वृत्तियों की गोशमाली है। यह प्रवाह पर बहना है, वह गंगा की धारा को उलटना है। यही वजह है कि मन्दिरों में भी रूप और रस का, गन्ध और गान का आयोजन जरूरी है—यहाँ तक कि भगवान् को भी उस इन्द्रियातीत अरूप की दुर्गम मंज़िल से किसी अपरूप रूप के सुगम तबके में उतरना पड़ता है, नहीं तो जीव की प्रकृत प्रवृत्ति उस अमृतत्व की ओर क्योंकर होगी? भव-ताप को मिटाने के लिए उस भव-भंजन कुनैन की ज़रूरत निरन्तर है; मगर जबतक हम कुनैन पर चीनी का पाग नहीं देते, तबतक अबोध के गले उतार देना मुमकिन नहीं। तुलसीदास ने एक ही चौपाई में भक्ति और ज्ञान दोनों का तत्त्व समझा दिया है—'सो जानै जेहि देहु जनाई; जानत तुमहि तुमहिं है जाई।'—'जबतक तुम्हारा

आशीर्वाद नहीं होता, तबतक जीव तुम्हें जानता नहीं।' यही भक्ति है। और, 'जब जान गया, तब फिर तुममें और उसमें कुछ अन्तर नहीं रहा।' यही ज्ञान है।"

"महाराज! तब तो जीव के कल्याण के लिए भक्ति और ज्ञान दोनों ज़रूरी हैं!"

"ज़रूर! दोनों ज़रूरी हैं। ज्ञान विवेक है, भक्ति भाव है। ज्ञान कस है, भक्ति रस है। ज्ञान बुद्धि है, भक्ति हृदय है। ज्ञान वीर्य्य है, भक्ति माधुर्य्य। ज्ञान तत्त्व है, भक्ति सत्त्व। ज्ञान नेम है, भक्ति क्षेम। ज्ञान सिंह है, भक्ति गऊ। ज्ञान चैतन्य है, भक्ति प्राण। ज्ञान सत्य की रौशनी है, भक्ति प्रेम की चाँदनी। ज्ञान प्रकाश है, भक्ति उच्छ्वास। ज्ञान सारथि कृष्ण का शङ्ख-निनाद है, भक्ति मुरली-मनोहर की मुरली-ध्वनि। तुम्हारे हृदय में प्रेम की मुरली हो, तुम्हारे मानस-पट पर ज्ञान की तजल्ली हो। भक्ति के बिना ज्ञान वीरान है, ज्ञान के बिना भक्ति बोदी। दोनों का सङ्गम मानव-जीवन का आनन्द-तीर्थ है।"

"महाराज! मैं पूरी समझी नहीं!"

"समझी नहीं? बेला! ज्ञान सुर है, भक्ति लय है। ज्ञान बल है, भक्ति शील। ज्ञान तेज है, भक्ति लावण्य। बल और शील दोनों ज़रूरी हैं; तेज और लावण्य दोनों ज़रूरी हैं। एक विजय है, दूसरी विनय है। देखो—

'अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान्॥'

यही ज्ञान है; यही विजय है। फिर—

'पापोऽहं पापकर्म्माऽहं पापात्मा पापसम्भवः।
त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्व्वपापहरो हरिः॥'

यही भक्ति है, यही विनय है।"

"महाराज! मैं तो राम के रूप की दीवानी हूँ, जानकी के चरणों की चेरी हूँ; मेरा दुखिया मन उस युगलमूर्त्ति की झाँकी ढूँढ़ता है—एक श्यामल; एक गौर! मैं रूप चाहती हूँ, अरूप नहीं। मैं राम चाहती हूँ, ब्रह्म नहीं। मुझे ध्यान चाहिए, ज्ञान नहीं। मैं भक्ति की भिखारिनी हूँ, मुक्ति की नहीं। राम मेरा राजा है, सीता मेरी रानी है। मैं उनसे मिलकर एक होना नहीं चाहती। मैं तो उनको 'मीरा' की तरह नाच-गाकर निरन्तर रिझाना चाहती हूँ। मैं तरस-तरस कर तड़प रही हूँ। मेरी तरस मिटती नहीं। दुनिया के आँधी-पानी ने मेरे मन के चिराग़ को गुल कर दिया है। वह रोशनी न जल पाती है, न मैं उस छवि को देख पाती हूँ। आज तो मेरी भीतरी आँखों पर अँधेरा है, और इस अँधेरे में मुझे रास्ता नहीं सूझता। न राम का पता मिलता है, न इस लोक में कहीं सुख मिलता है। आप ही कहें, मेरे मन का यह दुख कैसे मिटेगा?"

"बेला! जब सुख की तालाश बन्द होगी, तभी तुम्हारी गर्दन से दुख की फाँस छूट सकेगी। जबतक तुम सुख ढूँढ़ती हो, तबतक तुम दुःख झेलती हो। जीवन के रङ्गमञ्च पर जब सुख सामने आता है, तब दुख नेपथ्य में रहता है; और जब दुख आगे है, तब सुख पीछे है।

ये दोनों अभिनेता बारी-बारी से इस जीवन-अभिनय में साथ-साथ खेलते रहते हैं। शायद दुख का पार्ट हमेशा बड़ा होता है और सुख का पार्ट हमेशा छोटा। पर यह मुमकिन नहीं कि कोई एक भी अकेला रहे। एक दूसरे का अभिन्न सहचर है। कहीं भी ज़मीन इस पृथ्वीतल पर समतल नहीं है। अगर समतल रहती, तो फिर किसी को ऊँच-नीच का ज्ञान ही न होता। दुख ही से न सुख का ज्ञान है! तुम हँसना चाहती हो, तो तुम्हें रोना भी पड़ेगा। यह कभी सम्भव नहीं कि तुम केवल हँसो और रोओ नहीं, या केवल रोओ और कभी हँसो नहीं। जब तुम बिलखकर रोओगी, तो कभी खिलखिलाकर हँसोगी भी। इन्हीं द्वन्द्वों के छन्द-बन्द में इस जीव का नाटक़ा बन्द है। ये सुख-दुख तो जीवन-नद के ज्वार और उतार हैं। जब वेग मन के अनुकूल है, तो सुख अनुकूल नहीं, तो दुख। ये दोनों हमारी तृष्णा की सन्तान हैं। जबतक मन में रस का संचार जारी रहेगा, तबतक सुख और दुख मन की घाटियों में झाड़पात की तरह पनपते रहेंगे। मगर जहाँ वैराग्य की लू से यह रस का सोता सूख जाता है, फिर इन द्वन्द्वों की उपज आप-ही-आप बन्द हो जाती है। सच मानो, हमारी आत्मा के लिए जिस क़दर एक घातक है, उतना ही दूसरा भी। जो निःस्पृह है, वह इन दोनों वेदना तरंगों के अतीत है और वह उस पद पर पहुँचा है, जहाँ न दुःख है, न सुख है। उस दिव्य धाम पर जाने के लिए दुःखों का ज़रिया सहज है और सुखों का मार्ग मुश्किल। तुम्हारे दुःखों का अन्त तभी होगा, जब तुम्हें दुःखों के आलिङ्गन में भी वही रस मिले, जो सुख की

पुष्पशय्या पर मिलता है। यानी दुःखों का अन्त वहीं है, जहाँ न दुःख है, न सुख है। दुःखों के ज़रिये दुःखों के अन्त की तलाश की प्रेरणा होती है, और सुखों के मोह में पड़कर कभी कोई सुख के अन्त को नहीं ढूँढ़ता। मनमोदकों से मन का खट्टा हो जाना मुमकिन नहीं, मीठा ही होना स्वाभाविक है। इसीलिए दुःखों का दंशन हमारे कल्याण का साधन हो सकता है और सुखों का प्रावन हमारे पतन का वाहन। ईश्वर करे, तुम्हारे जीवन के अपमान तुम्हारी गति को उस स्थिति की ओर मोड़ दें, जहाँ न मान है, न अपमान। मान की शान के भीतर उस पद की तलाश तो देवता का आशीर्वाद समझो, ऐसे तो कभी सम्भव नहीं। यही द्वन्द्व तो मनुष्य के जीवन को छन्दमय बना रखता है। और, बेला! जबतक तुम्हारा मन निर्द्वन्द्व नहीं होता, तबतक तुम्हारे व्योम के छिद्र कभी बन्द नहीं हो सकते। जबतक ममता जाती नहीं, तबतक समता आती नहीं; और जबतक समता नहीं आती, तबतक न आत्मा की महत्ता आती है, न अन्तर की प्रसन्नता। इस मोर-तोर के भरोड़ में पड़कर हमने अपनी आत्मा की सत्ता को बोर दिया है। सुख की तलाश तो मरीचिका की तलाश है। तुम्हें ढूँढ़नी है शान्ति—प्रसन्नता। बेला! वह दिन क़रीब है, जब इन दुःखों के निर्माल्य के लिए तुम भगवान् के सामने ऋणी होगी और उसी क्षण तुम्हारे नव-जीवन के अभिसार के मार्ग पर असीम की मंगल रागिनी ध्वनित हो उठेगी!"

ज़रा पुरुषों के इन्साफ़ का मुलाहिज़ा हो। अपने लिए तो सफ़ेदी

में भी नित्य नवीन रस का सिञ्चन और युवती विधवा के लिए आत्मज्ञान और वैराग्य का परिशीलन! सुख-दुःख के जिन सूक्ष्म तत्त्वों का आन्वीक्षण बड़े-बड़े ज्ञानियों के दिमाग़ में भी नहीं धँसता, उन्हें गाँव की एक अबोध बालिका हृदयङ्गम कर सके, यह कहाँतक सम्भव है!

गिरिधारीलाल ख़ुद इन पर कहाँतक अमल करते थे, इसे वे ही समझें! उनकी ज़बान से जो सुरभित पारिजात झड़ रहे थे, वे उनकी आत्मा की बोध-वाटिका के फूल थे या काव्य के छींटों से पनपे हुए उनकी प्रतिभा की क्यारियों के सुमन थे, भगवान् जाने!

क्या इस विडम्बना को वे स्वयं नहीं समझते? समझते थे ज़रूर; मगर उनकी दलील यह थी कि समाज की जैसी परिस्थिति है, उसमें बेला के लिए दूसरा पथ और है ही कौन? वे संसार के सुख-दुःख की निस्सारता की व्याख्या देकर उसके दिल के शोले को शीतल नहीं करते, तो फिर उसे और क्या समझाते?

पंडितजी कभी ज्ञान छाँटते, कभी भक्ति की तन्त्रणनियों का पुल बाँधते। कभी गोपाल-तापनी छिड़ती, कभी पञ्चदशी चलती। महाभारत की चर्चा होती, उपनिषत् की वार्त्ता होती। भक्तमाल भी पढ़ाते, गीता भी समझाते। कभी नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—के गुण गाते; कभी पञ्च भावों—दास्य, शान्त, सख्य, वात्सल्य, मधुर—की व्याख्या करते। कभी योग के आठ अंगों की—उसके नौ चक्रों की—हामी भरते; कभी अगोचरी, भूचरी और चाचरी के चक्कर में डालकर चमत्कृत करते;

ईडा, पिंगला और सुषुम्ना के करश्मे सुनाते; और कभी अणिमा, लघिमा, महिमा की महासिद्धियों की विभूतियों का वर्णनकर बेला के दिल और दिमाग़ को तहोबाला कर देते थे। वे जो कुछ समझाते, उसे बड़े चाव से समझाते। इधर वे कुछ दिनों से 'गीतगोविन्द' के दो-चार सरस छन्द भी याद कराते और काव्य की क्यारियों की भी सैर कराते थे।

"महाराज!"—बेला ने आँचल को सर पर सरकाकर कहा—"आपके वचन मेरे सर पर हैं; मगर मैंने तो दुःखों के बादल के साये में कभी सुख की एक हल्की झलक तक न देखी! मेरे लिये तो दुःख अकेला ही आया, अपने सहचर को साथ नहीं लाया। और, जब एक बार आ गया, तो फिर घर बनाकर बैठ गया। मेरे निर्मम भाग्य की ठोकरों ने इस सुख-दुःख के दौर के अटल नियम को भी तोड़ डाला। पति का सुख गया, सन्तान का प्यार गया, नारी की आबरू गई; घर की शरण छूटी—बाक़ी क्या रहा? एक मन है, कबतक ठहरा रहेगा?"

बेला आगे न बढ़ सकी। उसका गला रुँध आया। वह चुप हो गई।

"सुनो, बेला!"—गुरु महाराज ने बड़े तपाक से फ़रमाया—"दुनिया की बिसात पर तुम्हारी कश्ती और फ़र्ज़ी पिट गई, तो महज़ इसी छवि से तुम्हारी बाज़ी ज़िच्च नहीं होगी; न गर्दिशों के हाथ से तुम मात होगी। मीर तो मन है। अगर वह किसी घेरे में नहीं

पड़ा, तो तुम आगे चलकर ज़रूर बाज़ी मार लोगी। पति और पुत्र, घर और परिवार, शरीर और सौन्दर्य, दौलत और इज्ज़त सब दो दिन की चकमकी चाँदनी हैं। यदि तुम्हारी प्यासी मनोवृत्ति इसी माया-मरीचिका पर दौड़ती रह गई, तो फिर शान्ति की मन्दाकिनी तुम्हें कहाँ मिलेगी? तुम्हारे जीवन का ज्वार इसी सीमा पर टकराकर रह गया, तो फिर उस मृत्युञ्जयी असीम का पता कहाँ पाओगी? और तुम्हारी आत्मा को मुक्ति क्योंकर मिलेगी? बेला! भक्ति हो या मुक्ति, मन में सांसारिक सुख की वासना दोनों के लिए समान कतरनी है। मन की मैल बिना आत्मगंगा में डुबकी दिये कभी धुल नहीं सकती।

तबतक मिश्रानीजी के कर्कश स्वरों की कड़क, बिजली की कड़कड़ाहट की तरह, कानों में पड़ी; और महंतजी की विचारधारा अचानक टूट गई। घर का बच्चा-बच्चा भी जान गया कि चंडी महारानी ख्वाब-ग़फ़लत से बेदार हो गईं और उनकी तीसरे पहर की नींद की अवधि पूरी हो गई। अब इस वक्त से लेकर ग्यारह बजे रात तक उनके रेंकने की रागिनी—उस रागिनी की प्रतिध्वनि—मकान की तमाम दीवारों पर टकराती रहेगी।

"बेला, तुमको यहाँ आये महीनों गुज़र गये। अब तुम समझ गई होगी कि मेरी स्त्री मेरे जीवन का अभिशाप है। सूरत ही बिगड़कर रह जाती, तो ख़ैर थी; मैं किसी तरह सर ठोककर सह लेता। यहाँ तो ज़बान भी बिगड़ी है और तबीयत भी। आजतक मैंने नहीं समझा कि उनके मिज़ाज की सूरत क्या है—स्याह या सफ़ेद! एक रस

रहता, तो पता भी चलता। किस बात पर कब उनकी रंजिश होगी, इसकी ख़बर उनके फ़िरिश्तों को भी नहीं। आज जिस बात पर वे खिलकर हँसती हैं, कल उसी पर लाल-पीली होकर खसोट सकती हैं। मत पूछो, उनका मिज़ाज बिलकुल बरसाती आसमान है। कब घटा घिर जायगी, कब साफ़ होगा; कब फट पड़ेगा, कब बिजली कड़केगी—किसीको पता नहीं चलता। सुबह को पछुवा है, तो दोपहर को पुरवा; शाम को कोनी है, तो रात को दक्खिनी। शायद स्त्री का स्वभाव ही विचित्र है। यह ब्रह्म की तरह अचिन्त्य, अज्ञेय और अपरिमेय है। तुम महाभारत में वह कथा पढ़ चुकी होगी, जहाँ ग्राह ने अपने सवालों का जवाब न पाकर जब चारों पाँडवों को निगल डाला, तब युधिष्ठिर ने सम्यक् उत्तर देकर उन्हें पाशविक जठराग्नि के सन्ताप से बचाया था। अगर मैं उस वक़्त मौजूद रहता और काश वह ग्राह मुझसे सवाल करता—'किमाश्चर्यं'—आश्चर्य क्या है, तो सच मानो, मैं बरजस्त जवाब देता—'नारी-प्रकृति'!"

तबतक उन्हें ख़याल हो आया कि सामने बेला भी नारी है और पत्नी के प्रति उनके पुञ्जीभूत विद्वेष ने उन्हें सीमा से बाहर फेंक दिया। इसलिए चट से उन्होंने मसविदे की तरमीम कर दी—"मगर बेला, जब मैं तुम्हें देखता हूँ, तो मुझे नारी की प्रकृति में प्रतीति हो जाती है। मैं समझता हूँ कि स्त्री का स्वभाव गंगा के निर्मल जल की तरह सरल और स्वच्छ भी हो सकता है। अगर तुम नहीं आती, तो शायद मुझे नारी की कल्याण-मूर्त्ति—उसकी सुकोमल प्रकृति—देखने का कभी अवसर न आता।"

बेला शर्म से काँप उठी। उसका चेहरा लाल हो गया। वह पूछ बैठी—"महाराज! आप कमला दीदी को क्यों भूल रहे हैं?"

"ख़ैर, उसका ज़िक्र छोड़ो। वह तो मेरी कन्या है। सच कहता हूँ बेला, तुम्हारी मालकिन की ज़बान नीम से भी कड़वी है; पर सुगन्धि नीम की नहीं। नीम की डली जब फूलती है, तब उसकी भीनी ख़ुशबू गुलाब की गन्ध से कुछ कम मनभावनी नहीं होती। जब कभी वह गहनों से लदकर फूली नहीं समाती, मुहल्ले की दो-चार मुँहलगी औरतों के साथ नेता या कुल्लू के देवघर गाती-बजाती जाती है, तब उस वक़्त मेरे सर पर हज़ारों घड़े पानी पड़ जाता है और मैं चुल्लू-भर पानी में डूब मरने की जगह ढूँढ़ता हूँ। तुम ख़ुद देखती होगी, भगवान् के मन्दिर में कभी वह झाँकती तक नहीं। वह बदज़ात नेता उसकी आत्मा की जड़ में कीट है; उसने उसे बिलकुल खोखला कर डाला, धर्म का एक क़तरा रस तक नहीं रखा। रात-दिन भूत और प्रेत, जिन और कीचिन! कमर में दर्द हो, तो भूत; मुन्नी को दाँत-उठी का दस्त हो, तो भूत। ये भूत तो सर पर सवार हैं ही, साथ-साथ गहनों का भूत भी सवार है। मुँह में एक दाँत नहीं; पर काटने के ज़हरीले दाँत मौजूद हैं। शायद मुँह में जब दाँत नहीं रहते, तब ज़बान के दाँत बड़े चोखे हो जाते हैं! आधे से ज़्यादा सर के बाल गिर गये, खाल भी लटक गई; पर ज़ेवरों की लक-दक की चाट दुगनी हो गई है। लाश पर कमख़ाब का कफ़न! न सूरत है, न सीरत; पर हसरतों की यह कसरत! बेला! अगर

गरदन सुराहीदार न हुई, तो फिर सतलरी नक्काशीदार होकर क्या करेगी? जब होठों के भीतर मोती के दाने नहीं रहे, तो फिर उनके बाहर मोती-भरी झुलनी झूलकर क्या रंग लायेगी? लटकी हुई खाल पर ज़ेवरों के कुन्दन की दमक, साँप की आँख की चमक-सी डरावनी होती है। सफ़ेद बाल पर हीरे का टीका फीका नज़र आता है। बाल से सूने सर पर मोतियों की फ़ैयाज़ी कुछ माँग नहीं भरती। देखो विधि की विडम्बना, तुम्हारे सोने-जैसे गात पर मारकीन की मोटी धोती और उस ख़ब्बीस भूतनी के बदन पर सैकड़ों भर बटर सोने की बरबादी! जिस मुख की सहज आभा के आगे कौस्तुभ की ज्योति भी फीकी नज़र आती है, उसी कमलानन पर विषाद का सनातन निकेतन होना प्रजापति का कितना कठोर फ़रमान है! बेला, जब मैं तुम्हें देखता हूँ·····"

उसी दम बेला ने आँखें उठाईं और गुरुवर की नज़र को अपने चेहरे पर मूर्च्छित पाया! वह ज़रा-सी सहमी, आँचल में सिमटी और फ़ौरन आँखों को ज़मीन पर झुका दिया। वह मन-ही-मन सोचने लगी—"आज पंडितजी कहाँ से कहाँ आ गये? मेरे मुख की इतनी सरस आलोचना की ज़रूरत क्या थी? मेरे सामने पत्नी के ऊपर ऐसी फबतियाँ क्यों चुस्त कीं? क्या आज सुबह के—मिश्रानी के ख़ूनी नाख़ून से—खुरचे हुए मेरे दिल के फफोलों पर मरहम देने की यह विचित्र चेष्टा है?"

गिरिधारीलाल ने उसी क्षण बेला के चेहरे पर उठते हुए संशय के प्रतिबिम्ब को ताड़ लिया और बात को पलट देना चाहा; पर बेला उसी

तरह सर झुकाये बोली—"महाराज! मालकिन मेरी बाट जोहती होंगी; देर होने से फिर·····"

"ठहरो"—मिश्रजी ने ज़रा ज़ोर देकर कहा। बेला उठती-उठती बैठ गई।

"हाँ, मैं क्या कह रहा था? बेला! जब मैं तुम्हें देखता हूँ"—उन्होंने इस जुमले को दुहराकर शुरू किया, ताकि यह न झलके कि बात पलटी है—"और फिर निगाह फेरकर अपने-आप को देखता हूँ, तो मेरे जीवन का चिरन्तन लक्ष्य मुझे धूमिल नज़र आता है। मेरे विश्वास की भित्ति मसकी जाती है; मेरा धर्म का सोता बालू की रेती में सूखता नज़र आता है। बेला, मैंने अपने जीवन में सैकड़ों मन्दिरों की स्थापना कराई—राम-मन्दिर, शिव-मन्दिर, दुर्गा-मन्दिर, कृष्ण-मन्दिर और न जाने कितने छोटे-बड़े देवालय! मेरी शिष्य-मंडली में कितने ऐसे धर्म-प्राण धनकुबेर हैं, जिन्होंने मन्दिरों के भीतरी प्राङ्गण में मोहरों और मणियों का गच्च पिटवा डाला। उन मन्दिरों के साये में अशर्फ़ियों का बघार देकर तरह-तरह के तर माल तैयार होते हैं और इस षट्रस प्रसाद को पाकर कितने पुजारियों और आचारियों के तन पर मोटी चर्बियाँ चढ़ गईं। और, इतना ही नहीं; यह समझकर कि यज्ञ-द्वारा देवतागण तृप्त होकर मानव-जीवन को आनन्दमय करते हैं, मैंने इन्हीं हाथों से कितने यज्ञ-याग—सोम और रुद्र, शिव और शक्ति, शतचंडी और गायत्री महायज्ञ—करा डाले। और, एक-एक अनुष्ठान के आयोजन में—एक-एक पुरश्चरण के हवन में—सोने और चाँदी की, साकल और मनों घी की,

वर्षा करा डाली है। मेरे शिष्यों के घर जन्माष्टमी, रामनवमी, शिवरात्रि, नवरात्रि, सरस्वती-पूजा, लक्ष्मी-पूजा, गणपति-पूजा, सूर्य-पूजा आदि मुख्य-मुख्य पर्व और पार्व्वण पर, तर्पण और पूजन पर, उपनयन और ध्वजा-रोपण पर, तालाब-इँदारा और वाटिका के विवाह-संस्करण पर जो शहाना ख़र्च और धूमधाम होती है, उसे तुम देखती, तो दंग रह जाती! मैं अबतक अपने शिष्यों को निरन्तर उपदेश देता रहा कि यही विधि-विधान और उनके जीवन का पथ—उनके कल्याण का सोपान है; पर आज मेरे गुरुपद का सिंहासन एक बालिका की आहों से पीपल की पत्ती की तरह हिल रहा है; मेरे सर पर मेरे धर्म-गौरव के छत्र और चमर शायद मेरी खिल्लियाँ उड़ा रहे हैं! आज मैं समझता हूँ कि यदि मैं शिष्यों को शास्त्रविहित पारलौकिक पुण्य-चयन की ओर न ले जाकर दुनिया की गलियों की ओर ले जाता और उन्हें अत्याचार की फ़ौजों से लोहा लेने को ललकारता—उन्हें स्वर्ग का सब्ज़बाग़ न दिखाकर दुनिया के दर्द की तसवीर दिखाता—उन्हें धर्मात्मा न बनाकर इन्सान बनाता—कर्मकांडी न बनाकर कर्मनिष्ठ बनाता—यज्ञ-याग एवं पर्व-पार्वण के साये में न बिठाकर उन्हें सेवा और त्याग की तपिश में तपाता—उनसे मन्दिर न उठवाकर समाज-हित के बीड़े उठवाता—उनके दिमाग़ में शास्त्रीय विधि-निषेधों की रूढ़ियाँ न ठूँसकर उनकी हड्डियों में दधीचि की फ़ौलादी शक्ति भरता—और ख़ुद मैं हिन्दू-धर्म की ठीकेदारी न कर हिन्दू-समाज की पहरेदारी करता, तो बहुत मुमकिन है कि जीवन की इस गोधूली में आकर मुझे आत्म-दर्शन का

सन्ताप न उठाना पड़ता; और मेरे शिष्यों की शक्ति और सामर्थ्य का सुन्दर सदुपयोग तो होता ही, उनकी आत्मा का सच्चा उत्कर्ष भी होता।"

"तो महाराज! अभी बिगड़ा ही क्या है! आपकी मेधा और बुद्धि, तेज और तेज़ी, दोनों क़ायम हैं। दीन और दुनिया दोनों का बराबर अनुशीलन सोने में सुगन्ध है। फिर इन दोनों का मेल तो कुछ नामुमकिन नहीं। आप लोक और परलोक दोनों की···"

"नहीं बेला! लोक के साथ परलोक का परिशीलन ज़मीन पर क़दम रखे आसमान से सितारे तोड़ना है। तुम लोक के आवर्त्त में रहकर परलोक की सेवा पूरी नहीं कर सकती। परलोक के चिन्तन में डूबकर दुनिया के ज़ालिमों के सर पर पैर रख यशजटित तख़्त पर बैठना मुमकिन नहीं। जबतक तुम्हारे सर पर छत्र और चमर का वितान है, तबतक कोपीन और कमंडल की महत्ता तुम्हारे हृदय में कदापि नहीं धँसती। दोनों को बराबर सँभालकर चलनेवाला विरला ही कोई कर्मयोगी होगा। बल्कल की चादर पर कमख़ाब की पट्टी नहीं पड़ती, न कोपीन की कोर पर कलाबत्तू का काम मुमकिन है। लोक से परलोक सधता है या नहीं, भगवान् जाने; पर परलोक के साथ लोक को साधना टेढ़ी खीर है। जनक का ज़िक्र छोड़ो—वे तो देह रहते विदेह थे। यहाँ तो हमारा-तुम्हारा सवाल है। किसी को एक साथ दो लगन नहीं होती। मन की गति ही ऐसी है। दो-तरफ़ी खिंचाव में पड़कर यह किसी का नहीं रहता। वह एकरस है, एकबगा है—'एको देवः केशवो वा शिवो वा, एका नारी सुन्दरी वा दरी वा।' इसीलिये बेला! आज मैं मंजिल के

किनारे आकर जब पीछे मुड़कर देखता हूँ, तो तुम्हारे चेहरे की करुण कोमल कान्ति मेरे जीवन के धूमिल आकाश को उद्भासित कर देती है, और मेरी तमाम परलोक की कमाई कानी चिल्ली के बराबर नज़र आती है। सच कहता हूँ, मेरी इतने दिनों की सींची हुई खेती बेकार हो गई। आज जब फ़सल काटने का दिन आया, तो कोई मेरी आँखों में उँगली देकर कह रहा है—"देखते नहीं, तुम्हारी फूली-फली फलियों में दाने तो बैठे नहीं और अब डाँठ बटोरकर क्या करोगे? आज अरमानों का जनाज़ा·····"

"नहीं, आप ऐसा न कहें, आपकी खेती कभी व्यर्थ न होगी। इसी ढेरी के दाने से तो बहुतों का गुज़र होता है!"—बेला ने बात काटकर आँखों को तर करते हुए कहा!

"बेला! मैं क्या कहूँ? यह कहने की बात है? जब रस की ओर हाथ बढ़ाता हूँ, तब जीवन में यश नहीं मिलता; और जब यश की ओर बढ़ाता हूँ, तब जीवन में रस नहीं मिलता। मैं जानता हूँ, यश मृत्यु-क्षयी है और रस चार दिन की चाँदनी; मगर जब यश मिलने का नहीं, तब रस भी क्यों छोड़ दूँ? सच कहता हूँ, वैद्य होकर भी रोगी के आगे आज मैं अपने छुपे मर्ज़ का इज़हार कर रहा हूँ। शायद तुम न आती, तो मुझे इस तड़प का पता न चलता। मेरी पत्नी के जहरीले दाँत मेरी नस-नस में चुभे न रहते, तो शायद मेरी धमनी का रक्त न आज इतना चंचल होता, न गरम। पर, अब तो यह दर्द कलेजे से उठकर ज़ब्त के बाँध को—मेरी मर्यादा की किल्ली को—हिलाने लगा। अब

तुम्हीं कहो, इस मर्ज़ की दवा कहाँ मिलेगी ! मुझ पर तरस खाकर···"

गिरिधारीलाल की आवाज़ इतनी कमज़ोर पड़ गई, मानों कलेजे से उठकर दर्द ने उनकी ज़बान ऐंठ दी।

बेला ज़रा-सी घबराई, कुछ सहमी और आँखें उठाती हुई दुबारा उठ खड़ी हुई। गिरिधारीलाल की अधखुली अपलक आँखें, सिकुड़ी हुई भवें और उनका विचित्र विकृत मुख उसकी समझ के परे के सिगनल थे। उसके मन में एक अनिश्चित आशङ्का-सी छा गई। वह एक क्षण बुत-सी खड़ी रही। फिर आँचल सँभालती हुई दाहिनी ओर मुड़ी कि खुले हुए किवाड़ के पल्ले से झटका खाकर उसके आँचल का एक छोर सामने से सरक गया।

मिश्रजी ने इसी क्षणिक उलझन में जिस रहस्यमय स्वप्न-सुमेरु की बुलन्दी की झलक देख ली, वह दृष्टिपथ से होती हुई कलेजे तक उतर गई। एक अभूतपूर्व पुलक, एक मीठी वेदना, एक उग्र उल्लास, एक अस्पष्ट आतङ्क—एक साथ उनके हृदय में आलोड़ित होकर एक विचित्र रस—क़माम—बन गये। चारों का ख़मीर उठकर उनकी चेतना पर छा गया। वे ख़ुश हुए, मुस्कुराये ; पर उसी क्षण इस ख़ुशी के आविर्भाव से सन्न हुए और सोच में डूब गये—"भगवन्! आज यह कैसी प्रेरणा है कि अचानक मेरी अन्तःशीला भाव-लहरी इस अबोध बालिका के आगे उबल पड़ी। मेरे हृदय की निहित वेदना—मेरे विप्लवी विचार क्योंकर आज परदे से बाहर आ गये ! क्या सचमुच मेरे मन पर इस चितवन का जादू चल गया ! यह वसन्त-स्पन्दन—यह

मलय-सिहरन—कहाँ से आया ? साथ-साथ, यह आकुलता कहाँ से आई ? शिव ! शिव !! मैं पागल तो नहीं हो रहा हूँ ?"

पंडितजी फ़ौरन् उठ खड़े हुए और आलमारी को खोलकर 'तेजोबिन्दूपनिषत्' को निकाला, कुशासन पर आकर बैठ गये और चूर्णकुन्तल की तरह बिखरे हुए मन को समेटने की कोशिश करने लगे।

रसाल-मुकुलों के सौरभ से लदी हुई अपराह्न-वायु खुली हुई खिड़कियों से आकर उनकी गर्दन की चादर के छोर से उलझ रही थी। आँगन में फूले हुए नीम का मर्मर, मुन्नी के मचलों की आवाज़ से मिलकर, तीसरे पहर की निरानन्द निस्तब्धता को चीर रहा था।

पंडितजी ने न जाने किस उत्तेजना पर विजय पाने की ग़रज़ से गरज-गरजकर पढ़ना शुरू किया—

"न मे दोषो न मे लिङ्गं न मे चक्षुर्न मे मनः।
न मे श्रोत्रं न मे नासा न मे जिह्वा न मे करः॥
न मे कालो न मे देशो न मे वस्तुर्न मे मतिः।
न मे स्नानं न मे सन्ध्या न मे दैवं न मे स्थलम्॥
न मे तीर्थं न मे सेवा न मे ज्ञानं न मे पदम्।
न मे पुण्यं न मे पापं न मे कार्य्यं न मे शुभम्॥
न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम्।
न मे तुभ्यं न मे मह्यं न मे त्वं च न मे त्वहम्॥"

अष्टम परिच्छेद

उपनिषत् के पन्ने चाटने से किसी की रस की चाट नहीं जाती ; ब्रह्म-सूत्रों के पठन-पाठन से किसी के मन का मनन नहीं होता। प्रतिभा का विकाश और है, आत्मज्ञान का प्रकाश और ; तत्त्व जानना और है, ममत्व छूटना और; उँगली पर मिज़राब चढ़ाना और है, तारों से सुर उठाना और। दर्शन की छान-बीन होकर क्या हुई, जब मन की छान-बीन नहीं हुई ? उधर शास्त्र-वासना से तर्क बढ़ता है ; इधर तमाम वासना को तर्क करना है ! मञ्च पर बैठकर गीता के पदों पर बाल की खाल खींचनेवाले कुछ उसके तत्त्वों पर चलनेवाले नहीं होते।

मन से मन को तोड़ना घी से आग बुझाने के बराबर कठिन है। उत्तर-मीमांसा की विद्वत्ता से किसी को समता नहीं आती, न ममता जाती है। कर्तृत्व का अभिमान किंवा भीतर-बाहर का व्यवधान मिटाना दर्शन के इम्तहान में स्वर्णपदक का इनाम लेना नहीं है। विद्या-वारिधि की उपाधि पाने से कुछ उस परा विद्या की उपलब्धि नहीं होती।

मगर इससे यह न समझना चाहिये कि वेदान्त और उपनिषत् का अनुशीलन निरर्थक है। जिज्ञासा आती है; विचार पनपता है। पीतल और सोने की पहचान आती है। मुमकिन है, मन में ज्ञान की सत्ता अङ्कुर दे उठे; पर जबतक वैराग्य और अभ्यास का सिञ्चन अहर्निश नहीं चलता—सत्सङ्ग का अनुकूल वायुमंडल नहीं रहता, तबतक वह अङ्कुर कभी पल्लवित नहीं हो सकता, और एक ज़रा-सी वासना की आँधी में उखड़कर लापता हो सकता है।

गिरिधारीलाल के मन की हाँड़ी में अभी चावल फूट ही रहे थे—कुछ भिने नहीं थे, चूँकि वैराग्य की आँच बड़ी पतली लगती थी। यही बात थी कि ज्योंही बेला के आँचल की हवा से वह आँच ठंढी हो चली, त्योंही उन्होंने हाँड़ी को उठाकर टटोला, तो कुल चावल अधपके या कच्चे निकले! उनके मन में तो वैराग्य लहरा नहीं था, महज़ धुआँ दे रहा था, इसीसे रस पका नहीं—कच्चा ही रह गया!

काम के कीटाणु कुछ ऐसे कठजीव हैं कि संन्यास के हज़ार इंजेक्शन देने पर भी जल्द नेस्तनाबूद नहीं होते। वे हमारे रक्त

के परदों में इस तरह छिप जाते हैं कि ऊपर से पता नहीं चलता; पर जहाँ ज़रा-सी अनुकूल हवा चली कि धमनी के भीतर इनके पनपने में देर नहीं लगती और मन की सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लेना इनके बायें हाथ का खेल हो जाता है। अक्सर देखा गया है कि गीता और गायत्री के जप पर भगाया हुआ जवानी का भूत बुढ़ापे में लौटकर गरदन टीपता है!

गिरिधारीलाल ने कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा था। उन्होंने एक-एक उपनिषत् को घोख डाला था, प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्गों के धर्मग्रन्थों पर आँखों को फोड़ डाला था, गीता के अठारहों आध्यायों को कंठस्थ कर रखा था; और तमाम मीमांसा और पञ्चदशी उनकी ज़बान पर थी। उन्हें अभ्यास का भी काफ़ी तजरबा था। वे पद्मासन पर बैठकर ठुड्डी को कंठकूप में डालते, प्रणव का ध्यान करते, त्रिकुटी पर दृष्टि की कुटी बाँधते, तथा त्राटक के काँटों पर लोट भी चुके थे। उन्होंने कुछ दिनों तक खेचरी-मुद्रा से प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में रोकने की दीक्षा भी ली; पर इस अवरोध से न तो बोध हुआ, न समाधि में चित्त का निरोध हुआ। ज़माने तक वे 'शिवस्वरोदय' की बारीकियों को हल करते रहे; पर वह वांछित ज्ञानोदय कहाँ हो सका? विषयों के पाश से वृत्ति की निवृत्ति टेढ़ी खीर निकली।

पंडितजी तो मन के तबक़े से कभी ऊपर उठ न सके थे; उनकी साधना कभी मन की साध का श्राद्ध करके शुद्ध न हो सकी थी; फिर उस पारस-मणि का स्पर्श मिलता तो कहाँ मिलता! हाँ, इतना अवश्य

हुआ कि मन में ठहराव—एक मंज़िल—का पता चला। कर्मकांड की उलझनों से तबीयत ऊब चली। दुनिया का रंग ज़रा फीका पड़ा; पर नारस नहीं हुआ। दुनिया की हवा ज़रा तबदील होने लगी, कुछ रुकी नहीं।

पर, आज बेला ने अचानक आकर हवा भी पलट दी, रंगत भी भर दी। चमन के फूलों से फिर ख़ुशबू मिलने लगी। 'गीत-गोविन्द' के छन्दों से फिर रस टपक पड़े। मन के कोने में कामना फिर कुनमुनाई, कालिदास की क्यारियों में कोयल की कूक फिर सुन पड़ी। यौवन के जिस ज्वर को उन्होंने वेदान्त की कुनैन देकर दबा दिया था, उसे फागुन की हल्की बयार ने फिर उभार दिया और कलेजा इस अचानक उत्ताप से दहल उठा। तकिये के नीचे वह परिचित ज्वराङ्कुश की बटी मौजूद थी; लेकिन उसे पुरअसर करने के लिए उनकी प्रकृति की ओर से कुछ मदद नहीं थी।

वे बार-बार सोचते—आख़िर गीता तो इसी मर्ज़ की दवा थी, फिर कारगर क्यों नहीं होती? गीता न सही, पञ्चदशी है। पञ्चदशी न सही, उपनिषत् हैं। विवेक-चूड़ामणि है, वेदान्त-सार है—ब्रह्मसूत्र हैं। किसी में असर न रहा?

बिचारे गिरिधारीलाल सब समझकर भी भूल रहे थे। संस्कार तो था नहीं, वैराग्य तो फूँकता नहीं था, फिर किताब किस मर्ज़ की दवा होती?

बादाम और घी की तासीर तभी खुलती है, जब उन्हें पचाने की शरीर में सत्ता होती है। अमावरी हाथी की पीठ पर बँधती है, तर्क कुछ बकरी के पीठ पर नहीं। शास्त्र-वासना भी एक वासना है; तर्क की प्रवृत्ति भी एक प्रवृत्ति है। हमारी मानसिक प्रतिभा की दीप्ति हमारे मोह के अन्धकार को चीरती नहीं, वरञ्च उस तिमिर के तूषार में चार चाँद लगा देती है।

वे घबरा उठे—'अब क्या करूँ? मन को कैसे मना लूँ?' वे कमरे की खिड़कियों को बन्द करके दीवार पर टँगी हुई श्रीकृष्ण की तसवीर के सामने खड़े होकर गद्‌गद् कंठ से पुकारते—

"चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥"

और उसी वक्त उनके कानों में आवाज़ आती—

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥"

वे उठकर खिड़कियों को खोल देते और सिद्धासन पर बैठ कर मन को लय करने का अभ्यास करते या चित्त को संयत करके गायत्री के मन्त्र जपते। तबतक अचानक उनकी आँखें नीचे आँगन पर फिरतीं और कुएँ पर पानी खींचती हुई बेला के परिपुष्ट अङ्गों की चापल्य-लीला—उसकी सुगौर सुडौल भुजाओं की संचालन-भंगिमा—उनकी चितवन को थाम लेती; और फिर चित्त-निरोध का सारा फिल्म हो जाता!

वे आँखें गड़ाकर देखते कि बेला की गोद के गागर से रस छलक रहा है और छाती के रसकलश पर आँचल की कोर भींग-भींगकर झलका रही है। उस कसरत से बेला का चेहरा तमतमा उठा है और पसीने की नन्ही-नन्ही बूंदें उग आने से वह नीहार-हाराङ्कित यूथिका की तरह खिल रही है।

ज्योंही सुबह को उनकी आँखें खुलतीं और 'नारायण-नारायण' कहते वे चारपाई से उठते, तो क्या देखते कि नीचे आँगन में नीम के पेड़ के साये में खड़ी वह बाँस की लग्गी के सहारे दाँतून के लिये नीम की टहनियाँ तोड़ रही है; और ज्यों-ज्यों वह हाथों को ऊपर उठाकर झटके देती है, त्यों-त्यों उसका आँचल माथे से खिसक कर कमर पर सरक आता है और उसके उभरे हुए उत्तुङ्ग उरोज के शतदल पर बालार्क की गुलाबी किरणों का वितान बर्फानी चोटियों पर उषा की मुस्कान का मज़ा दे रहा है। दोनों हाथ उठाकर डालियों को थामती हुई वह तसवीर आँखों में खुब जाती, फिर वह प्रातः-रूटीन की रटन—"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि सनातनोऽसि, सत्योऽसि मुक्तोऽसि निरञ्जनोऽसि"—तालू के तले लापता हो जाती, और दिल की दुआ 'बिहारी' के दोहे के रूप में ज़बान पर बरजस्ता उठ आती—'नीके है छींके छुए, ऐसी ही रहु नारि'!

उठते-बैठते, सोते-टहलते—हर वक्त वह सूरत उनकी बरौनियों के अन्तराल में चक्कर काटती और उनके मनोयोग की तमाम चेष्टाओं को व्यर्थ कर देती थी। कभी-कभी वे तंग आकर झीलवाले मठ पर चले

जाते और मठ की पाठशाला में जाकर छात्रों को पढ़ाने बैठ जाते। लेकिन, जहाँ कालिदास और श्रीहर्ष के सरस श्लोकों की व्याख्या शुरू होती कि उनका मन उनके हाथों से निकलकर सरपट घर पर वापस दौड़ जाता, और वे शकुन्तला और दमयन्ती के चित्र खींचते वक्त बेला का चित्र देखने लगते थे!

एक दिन मन की इस कमज़ोरी पर वे बेतरह झल्ला उठे और शिष्यों के सामने बेवजह तैश में आकर उन्होंने कालिदास, श्रीहर्ष, अमरु इत्यादि की शृंगारपूर्ण रचनाओं को ब्रह्मचारियों के लिए पढ़ना नितान्त निन्दनीय ठहराया। उन्होंने घोषणा की कि 'जिन लोगों ने दंडधारी छात्रों के लिए ऐसे कुरुचिपूर्ण ग्रन्थों का चुनाव किया है, उनकी विवेक-बुद्धि नष्ट हो गई है' और नैषध को उठाकर कमरे के बाहर फेंक दिया! ऐसे ग्रन्थों को बन्द कर देने का आदेश देकर उन्होंने शङ्कराचार्य-कृत 'प्रश्नोत्तरी-मणिरत्नमाला' उठाई और बड़े चाव से पढ़ना आरम्भ किया, और—

"द्वारं किमेकं नरकस्य नारी,"
"सम्मोहयत्येव सुरेव का स्त्री,"
"किं तद्विषं भाति सुधोपमं स्त्री,"
"किमत्र हेयं कनकं च कान्ता"—

आदि कई पदों की घंटों व्याख्या की। फिर, कामिनी को जगत् के तमाम अनर्थों का मूल बताया, और अचानक उठकर कमरे से बाहर निकल गये।

शिष्य-समाज में एक अजीब सनसनी-सी फैल गई। एक मज़ाक़-पसन्द अध्यापक ने अपने सहयोगी के कानों में झुककर कहा—"आज महंतजी औरतों से बेहद बेज़ार नज़र आते हैं! बात क्या है? वह पुरानी हवा हवा हो गई! ज़रूर मिश्रानी ने जनाब को हल्दी-गुड़ पिलाया होगा! नहीं तो, आज नारी के नाम पर इस क़दर लाल-पीले न होते!"

जब वे घर से मठ पर आते, तब कम-से-कम हफ़्ते या पखवारे का प्रोग्राम बनाकर आते। श्रीधर को वे अब साथ लेकर आते, ताकि उसके पाठ में कोई क्षति न हो। घर पर भगवान् की सेवा-पूजा के लिए मुहल्ले के बूढ़े जयदेव मिश्र की नियुक्ति हुई। नियमपूर्वक वे श्रीधर को पञ्चदशी पढ़ाते थे। कभी कभी भगवद्गीता भी हो जाया करती थी। यद्यपि श्रीधर के चित्त की स्वाभाविक प्रवणता साहित्य और काव्य की अनुचरी थी, तथापि वेदान्त के सिद्धान्तों के परिशीलन में उसने काफ़ी दिलचस्पी दिखाई। वह गाने-बजाने में भी निपुण था। जब वह हारमोनियम पर 'ललित-लवङ्ग-लता-परिशीलन कोमल-मलय समीरे'—जैसे छन्दों को ललित स्वर से गाता, तब सुननेवालों की आंखों में भक्ति छलछला उठती। उसके मुख से 'गीत-गोविन्द' की सरस पंक्तियाँ माधुर्य की निर्झरिणी बनकर कानों में पीयूष ढालती थीं। उठते-बैठते वह सदा कुछ-न-कुछ गुनगुनाया करता था और एक-एक पद पर उसके मुख से फूल झड़ते थे।

श्रीधर के चेहरे पर प्रतिभा की निसर्ग ज्योति थी। उसके शरीर की

कान्ति पर प्रतिभा की यह दीप्ति एक विचित्र आभा लाती। वह आधे घंटे तक शीर्षासन पर खड़ा हो सकता था। जोड़ियों के फेरने में उसमें ख़ास निपुणता थी। उसका बदन पाहन था, तो मन मक्खन। शरीर में प्राण था, रक्त में तूफान। भुजाओं में इस्पात था, छाती में हृदय। उसके विचार कुछ आधुनिक ढाँचे पर ढले थे। समाज और राष्ट्र के प्रश्नों पर तर्क करना उसे विशेष प्रिय था। बेला के दुख-दरद पर उसका कलेजा पसीज उठता। कभी-कभी तो वह अपने चचा से भी इन भावों को प्रकट कर देता था। यद्यपि यह हमदर्दी तरल थी, तो भी गिरिधारीलाल के मन में यह आशङ्का झाँकने लगी थी कि बेला की चितवन में गर्म होकर यह गाढ़ी हो सकती है। इसलिये उस पर एक आँख रखना और बाहर जाते समय उसे साथ ले जाना उन्होंने ज़रूरी समझ रख था।

इस बार मठ पर आकर उनका पखवारे का प्रोग्राम अचानक उथल-पुथल हो गया और दो-चार दिनों में ही वे वापस जाने को तैयार हो गये। किसी ने नहीं समझा कि इस अचानक उदासी का सबब क्या है। एक दिन उन्हें पिनक आई, तो खिचड़ी मूँछों का भी सफ़ाया करा डाला और यह आवेग भी ख़लल-दिमाग़ी का मज़ाक़ होकर रह गया। चौर से निवृत्त होकर वे घंटों किसी सोच में पड़े रहे और उनकी आँखों से आँसू बह चले। शायद इस कारगुज़ारी से उनको बड़ी ग्लानि हुई और खीस का असर उन्होंने पान की गिलौरियों के सर पर उतारा। बे-बान के वे पचीसों बीड़े पान चट कर गये। जिस

मन को मुट्ठी में करने के लिए वे इतनी बन्दिशें करते, वही मन उनके रुख़ को कब किधर मोड़ देगा, इसका ठीक पता उन्हें ख़ुद भी नहीं चलता और काठ के पुतले की तरह वे उसकी उँगलियों पर नाचते रहते।

अपनी दुर्बलता पर उनको बड़ा मलाल हुआ और मन की इस निरङ्कुशता पर वे मन-ही-मन बहुत नादिम हुए। वे कमरा बन्द करके भगवान् के चरणों में जा गिरे, और रुँधे गले से आत्मबल की भीख माँगी—"भगवन्! क्या सचमुच मेरा पतन ही तुम्हारा ध्येय है? क्या तुम्हारी इतने दिनों की सेवा बे-असर हो गई? सच कहो, मुझ पर किसी ग्रह का फेर है या मेरे सर पर शैतान सवार हो गया है? आख़िर मेरा अंजाम क्या है? अब इस सफ़ेदी में मुझे स्याही लगेगी—सर पर चन्दन के बदले चूने का टीका होगा? प्रभो! क्या वासना का तन्दूर कभी ठंडा नहीं होता? यह मेरे अपराधों की सज़ा है या मेरे क्षुधित प्राणों का तक़ाज़ा? यह कैसी विडम्बना है, नाथ! मैं अपने हाथों अपनी नाक तराशने चला हूँ—अपना पतन अपनी आँखों से देख रहा हूँ, फिर भी न जाने किस प्रेरणा पर उसी ख़न्दक में खिंचा जा रहा हूँ। 'केनापि-देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि।' नहीं-नहीं, यह मेरे मन का चोर है। मुझे इस दूध की मक्खी को निकालकर फेंक देना होगा। मैं अपने भविष्य को नष्ट नहीं कर सकता। मैं हरगिज़ नारी की चितवन का शिकार नहीं बनूँगा। बेला को कहीं दूर भेज दूँगा। इस मकान में रखना हरगिज़ निरापद नहीं है। अपना तो कशम-कश है ही,

मिश्रानी से रोज़मर्रे की खच-खच भी है। श्रीधर पर भी चौकसी रखना ज़रूरी हो गया है। मैं इस बला को अपने सर क्यों ढोने लगा ? आख़िर नारी की जाति नारी की जाति है। मेरी सरकन्दनी क्यों हो ? और, मैं उसके दर्द की दवा ही क्या करूँगा ? जिसने दर्द दिया है, उसी को दवा भी देना है।"

पंडितजी का चित्त शान्त हो गया और वे देर तक खड़े-खड़े भगवान् की प्रार्थना में मसरूफ़ रहे। आज बड़े प्रेम से उन्होंने पूजन किया। अपने हाथों से पञ्चामृत-स्नान कराया, शुद्धोदक-स्नान कराया, बिल्वपत्र चढ़ाया, मन्दार की माला डाली, चन्दन छिड़का, केसर और कुमकुम रखा, आरती उतारी, भोग लगाया और अपराध-भंजन-स्तोत्रों को चाव से पढ़ा। फिर श्रीधर ने हारमोनियम पर सरस भजन छेड़ा। कमरे के ज़र्रे-ज़र्रे पर संगीत का सुर थिरकने लगा। श्रीधर के सुर में कुछ ऐसा दर्द था—गले में कुछ ऐसा लोच कि सुननेवाले बरबस कलेजा थाम लेते थे।

बाहर चौखट के पास कमला और बेला भगवान् का पुण्य प्रसाद पाने को कभी से खड़ी थीं। बेला की गोद में मुन्नी चुन-मुन कर रही थी, फिर भी बेला ध्वनिमुग्ध मृगी-सी उस ब्राह्मण-कुमार को—हारमोनियम के दूध-से होठों पर नाचती हुई उसकी सुन्दर उँगलियों को—एक टक देखने लगी। उसकी आँखों में एक विचित्र आभा थी—उसके चेहरे पर एक विचित्र सुषमा !

रात हो आई। यामिनी के जूड़े पर सप्तर्षियों की सतलरी चमक

उठी। गाना बन्द हुआ। श्रीधर ने एक लम्बी साँस ली और उठकर प्रसाद बाँटा। बेला के पास ज़रा ठमककर मुन्नी को प्यार किया और गोद में लेने को हाथ बढ़ाया। मुन्नी ने तिनककर बेला की गर्दन पकड़ ली। श्रीधर ने पंजीरी और मिसरी दिखाई। मुन्नी ने गोद से उचककर हाथों को बढ़ा दिया। बेला हँस पड़ी; श्रीधर ने भी मुस्कुरा दिया। कुशासन पर बैठे-बैठे पंडितजी की तेज़ नज़र जो इधर पड़ी, तो उनके हृदय के भाव एकबारगी खौलकर ज़बान पर आ गये। उन्होंने ज़रा तीखे स्वर से पुकारा—"बेला! ज़रा सुनती जाना।"

पंडितजी के कंठ में दृढ़ता का आभास है। आवाज़ कोड़े के सपाटे की तरह कानों में पड़ी। सभी सकते में आ गये।

बेला ने झट मुन्नी को कमला की गोद में दे दिया और ज़रा सकपकाती हुई सामने आकर खड़ी हो गई।

पंडितजी ने निगाह उठाकर बेला के चेहरे पर रखा, और गंभीर आवाज़ से बोले—"सुनो बेला! मैंने तुम्हारे भविष्य के बारे में बहुत-कुछ सोचा है। यहाँ की उलझन में रहकर तुम्हें भजन-पूजन की कभी फ़ुरसत नहीं होगी। तुम सुबह से शाम तक खटती रहोगी और इस बेकाम के काम में तुम्हारी मिट्टी पलीद होगी। मैं घर से मजबूर हूँ। जो कुछ सोच-समझकर मैंने तुम्हें यहाँ रखा, वह तो फला नहीं।"

"तो महाराज! मुझे आदेश है?"—बेला ने उन्हें चकित दृष्टि से देखा और सर झुकाकर पूछा।

"तुम कुछ दिन जाकर तीर्थ में रहो। मैं तो समझता हूँ कि

तुम्हें जयदेव मिश्र के साथ अयोध्या भेज दूँ। वहाँ आठों पहर हरिकथा का सोत उमड़ा रहता है और उसी में डुबकियाँ लेकर तुम्हें शान्ति मिलेगी। तुम्हारे सर पर तीर्थ की रज·····"

"महाराज! आपके चरणों की धूलि ही मेरे लिए तीर्थ-रज है। इस मकान के बाहर जाने में भी मेरा कलेजा काँप उठता है!"

"चाचाजी!"—श्रीधर ने बात काटकर कहा—"अकेली अबला के लिए कोई भी तीर्थ निरापद नहीं है। वहाँ पुजारियों और पंडों के रूप में बहुरूपियों की टोलियाँ हैं—भेड़ के भेष में भेड़िये भरे हैं। मेरा तो ख़याल है कि बेला का यह आश्रय-केन्द्र अगर छूटा·····"

"मैंने तुम्हारी राय नहीं तलब की है श्रीधर!"—पंडितजी ने कुछ चिढ़कर कहा—"यहाँ तुम्हारी चची की ज़बान चाबुक की चोट रखती है—शान-चढ़ी क़ैंची हो रही है; बिचारी बेला की पीठ पर सैकड़ों साटें उखड़ गई होंगी। आज यह कलमुँही होती है, कल जलमुँही। इस लोलालोली में यह कबतक पड़ी रहेगी? यहाँ ख़ाक धर्म की चर्चा होगी?"

"महाराज! सच कहती हूँ, मुझे मालकिन की झिड़कियों का ज़रा भी मलाल नहीं है। सैकड़ों झंझट में भी मुझे जो यहाँ शान्ति है, वह दुनिया के किसी कोने में मुझे मिलने की नहीं।"

"चचाजी! यह बिलकुल अनाथ हो जायगी। चची की ज़बान लाख कड़ी हो, पर तबीयत कड़ी नहीं। उनकी रसना में रस न हो सही, हृदय तो रस से आप्लुत है!"—श्रीधर ने बड़ी आजिज़ी से कहा।

"तुम्हें दख़ल देने की ज़रूरत नहीं। मैं तुम्हारी चची को तुमसे ज़्यादा समझता हूँ। उनके अन्तर में जो रस है, उसे मेरा रोआँ-रोआँ जानता है!"—पंडितजी ने ज़रा रुख़ बदलकर बात कही।

श्रीधर को चोट-सी लगी। आज तक चचा की जानिब से उसे ऐसी रुखाई कभी न मिली थी। वह धीरे-धीरे कमरे से बाहर निकल गया और किवाड़ की आड़ में ठमककर खड़ा हो गया। वह चचा की बात का प्रतिवाद नहीं कर सकता था, और बेला के निकाले जाने के सवाल से उसका कलेजा निकल रहा था। वह सोचने लगा—"बेला के सर पर तो चचा की सहृदयता की छाया निरन्तर रहती थी, आज वह कृपा-दृष्टि उचटती क्यों नज़र आती है? तीर्थवास की सज़ा तो सूली की सज़ा होगी। यह घर की परकटी कबूतरी बाज़ों के चंगुल से कबतक बचेगी?—भेड़ियों के घेरे में बकरी कबतक ख़ैर मनाएगी?"

"सुनो बेला!"—पंडितजी ने एक ही बार चार बीड़े मुँह में ठेलते-ठेलते कहा। फिर उनकी ज़बान क़ैद हो गई। वे अचानक रुक गये और उनकी आँखें बन्द हो गईं। कुछ कहा जाता न था, और बिना कहे चैन न था। इस हैस-बैस में उनकी पेशानी पर शिकन पड़ गई; भवें सिकुड़ गईं। उनके चेहरे पर एक रंग आ रहा था, दूसरा रंग जा रहा था।

"तुम्हें कल पौ-फटते यहाँ से यात्रा कर देनी ज़रूरी है। तुम्हें ख़र्च-वर्च की कोई दिक्क़त न होगी। मिश्रजी तुम्हें अयोध्या पहुँचा देंगे और किसी निरापद स्थान में तुम्हारी सुख-सुविधा का तमाम

इन्तज़ाम कर देंगे।"—काँपती ज़बान से किसी तरह इतना फेंककर लड़खड़ाते पैरों से वे फ़ौरन् बाहर निकल गये—इस ख़याल से कि बेला सूखे होठों की करुण कातर चेष्टा—मानसिक वेदना के भार से झुकी हुई उसकी आँखों के बेबस आँसू—उनकी सुकुमार मनोवृत्तियों को कहीं पराभूत न कर दें; वे एक क्षण भी उस कमरे में ठहर न सके।

बेला कुछ देर तक चुप खड़ी रही। फिर धीरे-धीरे बाहर निकल गई। किवाड़ के पास आकर वह फिर मुड़ी और गरदन में आँचल बाँधकर भगवान् शंकर के चरणों पर गिरी—टूटा हुआ दिल दिखलाया—सिसकियों में समेटकर प्रार्थनाएँ कीं, और लौट पड़ी।

कि हठात पीछे से किसी के हाथ का सुकोमल स्पर्श उसके दाहिने कंधे पर पड़ा। वह चौंक पड़ी—इतना कोमल और ऐसा मर्मस्पर्शी! कानों में एक धीमी आवाज़—"बेला! ज़रा भी उदास न होना। तुम जहाँ रहोगी, तुम्हारे इर्द-गिर्द इन भुजाओं की छाँह तनी रहेगी।"

बेला ने मुड़कर देखा, तो श्रीधर के कंधे की चादर उसकी पीठ को सहलाती हुई आँखों से ओझल हो गई। उसकी आँखों के कोनों पर ठमके हुए आँसू न जाने किस आवेग से उछल कर उसके गालों के किसलय पर चू पड़े, और कलेजा न जाने किस अव्यक्त आशङ्का से धक्-से कर गया।

जब वह आँगन में आई, उसने कमला को खड़ी पाया।

वह अपने को ज़ब्त न कर सकी—"बहन, मैं तो अब चली! कल पौ-फटते यह सब सपना हो जायगा!"—कहती बेला आँगन में आई।

कमला मुन्नी की नन्हीं उँगलियाँ पकड़े प्यार कर रही थी। बेला ने मुन्नी को गोद में उठा लिया; मुन्नी उसकी गर्दन में हार बन गई।

"मुन्नी! तू भी चलेगी मेरे साथ? तुझे राम की झाँकी दिखाऊँगी!"—बेला ने मुन्नी के होठ चूमे और उसकी हरी-हरी आँखों में आँख डालकर पूछा। उसका घायल दिल मानों उस दूध-पीती बच्ची से भी हमदर्दी की भीख माँग रहा हो!

"क्यों री कमली? आँगन में खड़ी-खड़ी क्यों शीत खाती है? भीतर चली आ!"—दालान से मिश्रानी की आवाज़ गूँजती हुई आई।

"आती हूँ। चलो बेला! माँ से तो मिल लो।"

"बेला तो कल जा रही है, माँ!"—कमला ने ज़रा रुँधे गले से माँ से कहा।

"कहाँ?"—मिश्रानी ने लिहाफ़ से सर निकालकर पूछा।

"अयोध्या!"

"अयोध्या? क्यों? मुझे तो ख़बर नहीं!"—मिश्रानीजी खाट पर उठ बैठीं।

"बाबूजी ने कहा है कि यहाँ रहकर क्या करोगी? तीरथ में तो धरम-करम बनेगा।"

"कब कहा है—आज ? ठीक, तो···"

"बेला ने तो जब से सुना है, सूख गई है। यहाँ मज़दूरनी-सी खटती थी ज़रूर, पर कम-से-कम छाँह में तो थी! और, तीरथों में अकेली कहाँ मारी फिरेगी ? मुझे दस-पन्द्रह दिन और यहाँ रहना है, कम-से-कम तबतक तो रह जाती! यों तो बड़ा सूना मालूम होगा! तुम्हीं कहोगी तो बाबूजी फिर सकते हैं। तुम्हें भी तो तकलीफ़ होगी ? घर के कितने काम सँभाले हुए थी। चौका-बरतन, सानी-पानी···"

"मुझे कोई तकलीफ़ नहीं। जब यह नहीं थी, तब क्या यहाँ सब शीत पीकर रहते थे ? ऐसा सिर मत चढ़ा दो। मैं ही जानती हूँ, इस छिनाल के कारण मेरी कैसी किरकिरी होती है! अपने तो यह दस घाट का पानी पीकर आई है और मुझे दस के सामने पानी-पानी होना पड़ता है। तुम्हारे लिहाज़ से मैं चुप रही हूँ; नहीं तो यह देवी-देवता का घर है! कभी झाड़ू मारकर·····"

"अच्छा, माँ! झाड़ू न मारो—बस करो—जाने दो। अब तो बिचारी कल जा ही रही है। बाबूजी से तुम न कहोगी, तो न कहो। मैं तो एक बार कहकर देख लूँगी— मानें या न मानें। तीरथ की भगतिन से घर की मज़दूरनी कहीं अच्छी है।"

"तुम्हें पड़ी है, तुम कहो। मैं कुछ रोड़े तो नहीं अटकाती। बेला, ज़रा पैर तो टीप दे! आज शाम से फिर पिरा रहा है!"—श्रीमतीजी लिहाफ़ खींचकर लेट रहीं, और बेला ने पैर टीपने का आदेश भी स्नेह का आशीर्वाद समझा।

इधर पंडितानी का पैर पिरा रहा था और उधर पंडितजी का सर! जब कमला पिता के लिए खीर और पूरी थाल में सजकर दबे पांव उनके सोने के कमरे में घुसी, तब उन्हें सर पर हाथ रखे और आँखें बन्द किये पाया। उनके चेहरे पर किसी गंभीर चिन्ता की छाया थी। सामने रोशनी में 'मुंडकोप-निषद्' की पुस्तक खुली पड़ी थी। जब वह बिलकुल नज़दीक आ गई, तब उसके पैरों की आवाज़ पर उन्होंने चौंककर आँखें खोल दीं।

"कौन—कमला? मैंने तो समझा···"—वे सहसा रुक गये।

"आपका चेहरा ऐसा खिंचा क्यों है? मुझे तो देखकर डर मालूम हुआ!"—कमला ने बड़े स्नेह से पूछा।

"शाम ही से सर टीस रहा है। इसीलिए कुछ पढ़ भी न सका।"

"तो मैं टीप दूँ?"—कहकर कमला ने थाल को चौकी पर रख दिया, और पिता के सर के दोनों पुटपुरों को मुलायम उँगलियों से टीपने लगी।

पंडितजी ने दो-एक बार उफ़ भी की, और कराहते हुए बोले—"आज बिलकुल भूख नहीं; थाल उठा ले जाओ!"

"नहीं-नहीं, दो फुलकियाँ भी तो खा लीजिये! ख़ाली पेट से तो और पित्त चढ़ जाता है।"

"क्यों सिर हो रही हो, कमली? सिर उड़ा जा रहा है!"

पंडितजी थोड़ी देर तक सर लटकाये बैठे रहे। फिर एक गहरी साँस ली, और ज़रा आँखें मींजकर बोले—"अच्छा लाओ, मुँह मीठा कर लूँ। क्यों कमली, बेला उदास है?"

"उदास ! उस बिचारी का आँचल तर हो गया। चौधारे आँसू बहा रही है।"

"सच ?—क्यों ? मैंने तो कुछ उसे कहा नहीं !"

"वह आपका आश्रय छोड़कर और कहीं जाना नहीं चाहती। उसे दुनिया में कोई दूसरा सहारा भी तो रहा नहीं।"

"सुनो, कमली ! मुझे बराबर एक खटक है। तुम किसी और पर ज़ाहिर मत करना। ज़रा ग़ौर करो—यह जवान छोकरी है और तुम्हारे घर में श्रीधर है या और....."

"नहीं-नहीं"—कमला ने बात काटकर कहा—"बेला वैसी छुच्छम नहीं। मुझसे कुछ परदा नहीं है। वह बिचारी किसी पर आधी नज़र भी नहीं डालती, ख़ुद अलग सिमटी रहती है; और न श्रीधर इस चाल का है।"

"सच कहती हो। मैंने भी बेला में कोई चुलबुलापन नहीं पाया। उसकी क़िस्मत जो बुरी हो, कुछ चाल बुरी नहीं है।"

कमला बाप की बेटी थी। बात पर कुन्दन करना जानती थी। उसे किसी तरह बेला को कुछ दिन रोक रखना ज़रूरी था। घर में और कोई दूसरा नहीं था जो मुन्नी के मचलने पर उसे सँभालता। साथ-साथ उसका हृदय भी नरम था; ज़रा-सी आँच पर पिघल पड़ता। वह बेला को खुलकर चाहती थी और उसकी दिली तमन्ना थी कि वह इसी घर में रोटी-दाल से ख़ुश रहे; पर इतनी समझ कमला को ज़रूर थी कि पति के घर उसे साथ ले जाना कदापि निरापद न था !

"बाबूजी! वह दिन-रात आपका गुन गाती रहती है। आपके स्नेह के साये में वह फिर पनप चली; नहीं तो, कभी सूखकर झर गई होती। वह अक्सर अपना दुखड़ा रोकर कहती है कि आपके चरणों को छोड़कर न उसे किसी का भरोसा है, न सहारा। आप उसे आज़मा कर देख लें। आप उसे कुएँ में भी भठ दें, तो भी वह ख़ुशी से घड़ा बाँधकर कूद जायगी।"

"क्या बकती हो!"—पंडितजी ने खीर के कटोरे को पोंछते हुए कहा।

"भगवान् जाने, मैं सच कहती हूँ, ऐसी श्रद्धा और भक्ति आज कलिकाल में मुहाल है।"

"अच्छा, थाल ले जाओ।"

पंडितजी उठे और हाथ-मुँह धोने के लिए बाहर बरामदे की ओर बढ़े।

"तो कल जाने के बारे में·····बिचारी अधमरी-सी हो गई है!"—कमला ने हिम्मत बाँधकर लड़खड़ाती ज़बान में असल मंशा को पेश किया।

"जाओ, तंग मत करो। मैं इसी उधेड़-बुन में हूँ।"

कमला ने थाल उठाया, और चल दी। उसे कुछ समझ में न आया कि हवा किधर की है। आशा भी बँधती और निराशा भी झाँकती।

पंडितजी मुँह-हाथ धोकर कम्बल पर जा बैठे, और पनडब्बे से पान के बीड़े लगा-लगाकर चबाना शुरू किया।

हमारी चिन्ता के लहमों में पान और तम्बाकू दो कैसे प्राण-स्पर्शी सहचर हैं! हमारे तरद्दुद के दिनों में जब अपना भी बेगाना हो जाता है, नींद भी पलकों को सपना हो जाती है, तब हमारी तप्त कराहों की राह में पान के पत्तों की छाया कैसी शीतल होती है—तम्बाकू की सुरभि कैसी मीठी लगती है!

पंडितजी की आँखों में नींद तो थी नहीं। यह मायाविनी फ़िक्रमन्दी की बेचैन घड़ियों में कहाँ साथ देती है? प्राण एक विचित्र उलझन में पड़े थे। एक ओर उनकी संस्कृति, दूसरी ओर प्रवृत्ति। इधर विवेक का तमंचा, उधर भावविह्वल हृदय का तक़ाज़ा; इधर मन की टेक, उधर विचार का ब्रेक; इधर तमतमाती हुई मर्यादा, उधर लहराती हुई लालसा; इधर देव, उधर दानव! बस, 'बचाऊँ किधर की चोट, उठाऊँ किधर की चोट' वाला मज़मून था!

उनके कानों में कमला की मर्मस्पर्शिनी वाणी गूँज रही थी—"ऐसी श्रद्धा और भक्ति आज कलिकाल में मुहाल है!" वे सोचने लगे—"तो क्या मैं इस श्रद्धाञ्जलि के अर्घ्य को ठुकरा दूँ? क्यों—किस लिए? सिर्फ़ इसलिए कि इस पुष्पांजलि के परदे में तक्षक का वास है, जो मेरे यश-जीवन को विषमय कर देगा? तो मैं अपने बचाव के लिए उसे तीर्थ के भूखे कुत्तों के मुँह में झोंक दूँ? उसे भठ दूँ, चूँकि मेरा मनमतंग मतवाला झूम रहा है, विवेक का गज-बाग नहीं सुनता? नहीं-नहीं, मैं इस उन्मत्त मन के क़दमों में लोहे की जंजीर डालकर थान पर बाँध रखूँगा; उसे छूटने ही न दूँगा कि किसी की श्रद्धा के चमन को तबाह

कर सके। तो क्या मैं बेला को जाने न दूँ, रोक दूँ ? ठीक है, अभी उठकर कह दूँ—"बेला ! तुझे जाने की ज़रूरत नहीं; तू यहीं रहकर देव और गुरु की लगन में मगन रह।"

गिरिधारीलाल हाथ टेककर उठे, पर पूरे उठे भी न थे कि फिर बैठ गये। उनकी दिमाग़ी दुनिया में फिर तूफ़ान उठा—"उफ़ ! मैं यह क्या करने जा रहा हूँ ? अभी भगवान् के मन्दिर में मुझे प्रेरणा हुई थी कि इस माया-मोहिनी को दूर ही करने में कुशल है। ·····माया-मोहिनी ? नहीं-नहीं, वह देवी की प्रतिमा है। जो हो, मुझे तो हुकुम बजा लाना ज़रूरी है, मैं इतना जल्द इस संकल्प को भूल गया ! ·····तो आख़िर क्या करूँ—जाने दूँ या न जाने दूँ ? भगवन् ! तुम्हीं कहो। निर्णय करने की मेरी शक्ति जाती रही। किससे सलाह लूँ ?—दिल से या दिमाग़ से—मन से या बुद्धि से ? नहीं-नहीं; हरि-इच्छा बलवती। जो भगवान् की मरज़ी होगी, वही होगी।·····पर मुझे मालूम कैसे होगा कि मरज़ी क्या है ? अब आकाशवाणी तो होती नहीं·····हाँ, एक सूरत है। भगवद्गीता तो भगवान् की वाणी है। आँखें बन्द कर उसी को देखूँ। जो श्लोक सामने नज़र आए, उसी पर अमल करूँ। देखूँ तो सही, इस तरकीब से कोई रास्ता मिलता है या नहीं।"

गिरिधारीलाल का उद्विग्न मन इसी साधन पर आकर ठहर गया। उन्होंने गीता को ढूँढ़कर निकाला, रोशनी के सामने लाकर रखा, आँखें बन्द करके सजल-जलद-स्निग्धकान्त गोपीवल्लभ का ध्यान किया, गीता की पुस्तक पर छन-भर मस्तक रखा और फिर 'जय-जय हरि'

कहकर ग्रन्थ को झटका देकर खोल दिया। उनकी आँखों के सामने पड़े—

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति॥
स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

फिर सोचने लगे—"तो इससे क्या आशय निकला? उसे जाने दूँ या नहीं? मेरी प्रकृति किधर झुकेगी? अबतक मैंने जो कुछ किया है, अपनी प्रकृति के अनुकूल ही किया होगा। और, आगे भी उसी के हाथ में मेरे मन की डोरी रहेगी। चलो, कल सुबह तक मेरी प्रकृति का भी पता चल जायगा, किधर खींच ले जाती है। फिर आधी रात तक इस माथा-पच्ची से फ़ायदा?

पंडितजी ने पान के बीड़े को मुँह से थूक डाला, गड़ुए के पानी से कुल्ला किया और चौकी पर चादर तानकर लेट रहे। कभी आँखें झिपतीं, कभी खुलतीं। रात के पिछले पहर में उन्हें नींद आ गई। घंटे-दो-घंटे मानसिक विप्लव के चपेटों से छुटकारा मिला।

अकस्मात् मकान के पीछे बैलगाड़ी की खड़-खड़ पर उनकी आँखें खुल गईं। पौ फट चुकी थी। आकाश के पूर्वी छोर पर उषा की लाली खिल रही थी। नीचे मैदान में पैरों की आहट उनके उतावले कानों पर पड़ी। उन्हें खट से खटका—"कहीं बेला चली तो नहीं गई? जयदेवजी उसे बैलगाड़ी पर बिठाकर चल

तो नहीं दिये ! मैंने शाम को उन्हें कह दिया था, दुबारा कहने की ज़रूरत न थी। तो वह चली गई ! मैदान ख़ाली—घर सूना·····!"

वे आगे कुछ सोच न सके। लूक की तरह नीचे टूटे।

बेला के बायें हाथ में कपड़े की एक छोटी-सी गठरी है और दाहिने से वह मुन्नी को सुनके खिला रही है। गङ्गा और यमुना दोनों बग़ल खड़ी हैं। वह झुककर उनकी पीठ सहला देती। रात-भर वह गङ्गा और यमुना से लिपट कर रोती रही है। उसके चेहरे पर गंभीर वेदना की छाया है और चितवन के कोने में शायद किसी प्रतीक्षा की रेखा।

पंडितजी गिरते-पड़ते ज़ीने से नीचे उतरे। सामने बेला पर नज़र पड़ी, तो मुँह से बेसाख़्ता निकल पड़ा—"न जाओ, बेला ! ज़रूरत नहीं जाने की !"

बेला और कमला उनका मुँह ताकने लगीं। उधर बाहर जयदेव और श्रीधर ने भी इस आदेश को सुना, तो चौंक पड़े।

पंडितजी सर लटकाये बाहरी ड्योढ़ी से निकले, तो उनका चेहरा सफ़ेद था, मानों विचारों के बोझ से वह नीचे गिरा जा रहा हो। आँखें चढ़ी हुई हैं और शरीर के ज़र्रे-ज़र्रे पर एक निविड़ जड़ता-सी छा रही है।

'हरि इच्छा बलवती' कहकर उन्होंने एक लम्बी साँस ली और चौड़े बरामदे की चौकी पर गुम-सुम बैठ गये।

और उसी वक़्त सड़क के उस पार कोई हारमोनियम पर भैरवी छेड़े हुए है—एक दर्द-भरी आवाज़ में झूम-झूमकर गा रहा है—

"हम हुए तुम हुए या मीर हुए,
इन्हीं ज़ुल्फ़ों के सब असीर हुए''हम हुए०।"

नवम परिच्छेद

कितना निदारुण सत्य है—"तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णाः"! जब चिराग़ गुल होने पर आता है, तब उसकी लौ की दमक दुगनी हो उठती है। शायद जबतक जवानी का नशा आँखों पर रहता है, तबतक मनुष्य सात समुन्दर फाँदकर निर्दय दैत्य के पंजे से कल्पना-कानन की अपरूप सुन्दरी को छुड़ा लाने का गुर्दा रखता है और अपने ख़यालों में मस्त बड़े-बड़े मनसूबे बाँधता है; लेकिन सात समुन्दर पार जाते-जाते जब वह चालीस के उस पार हो जाता है और वह स्वप्न-तुषार फट कर माया-निकुञ्ज की काकली को मूक कर देता है, तब तो जीवन के तमाम अरमानों को व्यर्थ होते देख सामने की किसी हाड़-मांस की हरी-भरी प्रतिमा पर वह बेतरह चिपक जाता है—दामन पकड़कर हिलाने पर भी नहीं हिलता।

मानव-प्रकृति का यह उलट-फेर कितना करुण है! और, क्यों न हो? जब यौवन के मद का उतार आता है और भाव-प्रवण हृदय पर जीवन के धूमिल सत्य साफ़ हो-होकर टकराते हैं, तो अक्सर क्षुधित प्राणों की पुञ्जीभूत आकांक्षा अवसर पाते ही विवेक के मोरचों को तोड़कर खौल उठती है, और यही वजह है कि चालीस का सिन कभी-कभी भयङ्कर परीक्षा का दिन है।

तरुणी के रूप-रंग की बिल्लौरी चिकनाई पर मन का फिसलना एक साधारण बात है। फ़र्क़ यही है कि जवान फिसल कर गिरता भी है, तो दामन झाड़कर खड़ा हो सकता है और अधेड़ गिरता है, तो कमर टूट जाती है। चितवन का चोखा तीर, अक्सर जवान के सीने पर मुड़कर टूटते और अधेड़ के जिगर को पार करते देखा जाता है। और, यदि कोई यौवन की किसी उदार उत्तेजना के अंकुश पर कमर में कसकर कोपीन बाँधता है, तो अक्सर पाया जाता है कि चालीस के पार जाकर वह कोपीन का बन्धन शिथिल हो जाता है और अतीत की निखिल तपस्या ख़ाक में मिल जाती है।

क्या बात है कि जवानी का परहेज़गार पचास के पड़ोस में आकर एक घूँट तलछट के लिए सुराही का पेंदा चाटता है। काले बाल पर भस्म चढ़ाकर जिसने उसे सफ़ेद रखा, वही जब सफ़ेदी में ख़िजाब के लिए सिर धुनता है, तो इससे भयङ्कर प्रकृति का प्रतिशोध और क्या होगा?

क्या बात है कि जवान की नई बीवी ग़ुलामी करती है और

अधेड़ की नई बीवी हुक्मरानी। जवान बीवी के क़दमों की सलीमशाही की सलामती गंगा-जमुनी या चाँदी की चाँद पर ही चलती है, काले काकुल पर नहीं।

अक्सर जवानी की एड़ी-चोटी के पसीने की कमाई मोक़ब्बी और मोब्बही की दूकानों में खपती है; चूँकि चालीस के बाद एक ओर कीमिये और कुश्ते की तलाश होती है, दूसरी ओर कलाबाज़ कबूतरी की।

काश पंडितानी सिन में दस वर्ष बड़ी न रहतीं, उनके मिज़ाज में कदाचित् शोले की भड़क न होती, उनकी ज़बान का नेज़ा बेवजह इतना चोखा न चलता, उनके हृदय के रस का सोत उनकी प्रकृति की रेती में सूख न जाता, दाँत और बाल पर बेवक़्त नज़ला नाज़िल न होता—ग़रज़ यह कि गिरिधारीलाल की जवानी में उनकी पत्नी प्रेतनी न बनी रहती, तो बहुत मुमकिन था कि बिचारे को प्राणों के अवरोध के लिए सहस्र-दल कमल की तलाश न होती, उनके दिमाग़ में न ब्रह्मसूत्र के मसले हल होते, न बेला की चितवन की कोर में किसी नन्दन का मञ्जर नज़र आता, और न उनके अन्तर के अखाड़े में देव और दानव का दंगल ही छिड़ता।

गिरिधारीलाल विद्वान् ही नहीं, बुद्धिमान् भी थे। उन्हें दीन-दुनिया की पहचान थी, सुयश की तलाश थी, भले-बुरे की तमीज़ थी। वह आदमी दिलदार थे ज़रूर पर होशियार भी ऐसे थे कि कहीं किसी आवेश पर छाती में दिल ने छलांग भरा तो चट उसे

मुट्ठी में थाम लिया। वे माया और राम दोनों को मिलाकर चलते; और गर्चे वे धर्म के मुरब्बी की हैसियत से स्नान, शौच, सन्ध्या, वन्दन आदि में अपनी धुन के पक्के थे, तो भी विचारशील शिष्यों की मंडली में इन बहिरंग साधनों की अपेक्षा अन्तरंग साधनों पर वे ज़्यादा ज़ोर देते रहे। उन्होंने ख़ुद भी अन्तःशौच के लिए किसी तरकीब को उठा नहीं रखा था। यहाँ तक कि हथेली पर जान रखकर इसी मरकत-मणि की तलाश में उन्होंने सुषुम्ना और कुंडलिनी के बिल में भी हाथ डाला—यद्यपि वे जानते थे कि प्राण-अपान को लेकर खेलना विषैले नाग के फन के साथ खेलना है।

यह सब होते हुए भी बचपन ही से उनके हृदय में मधुर रस का सोत गतिशील था, जो शृङ्गार-काव्य के अनुशीलन से और भी प्रखर हो गया था; लेकिन जब शुष्क वेदान्त ने आकर उस फौव्वारे के स्फुरण का मुँह घेर लिया, तब वह अन्तःसलिला चेतन से उतरकर अवचेतन की तह में भर गई।

उनकी छाती में कलाकार की आत्मा थी। वे सौन्दर्य के उपासक थे। उनके प्राणों में कला की अनुभूति थी।

उषा के आँचल का गुलेनार गोट, सन्ध्या-सुन्दरी का सीमन्त-सिन्दूर, आकाश-गंगा पर सप्तर्षियों का दीप-दान, नववसन्त के अभिसार में प्रकृति-वधू की मनोहारिणी फूलशय्या, प्रकृति के ज़र्रे-ज़र्रे पर फाल्गुन का वसन्त-स्पन्दन, फूलों से लदी लोनी लताओं के साथ मलयानिल की छेड़खानियाँ, पूर्णिमा की रात में जल-तरंग पर रजत-रश्मियों की

रँगरलियाँ, निचाट निशीथ का रहस्यमय पल्लव, मर्मर, किसी लज्जाशीला वधू की विलास-चञ्चल अङ्ग-भङ्गिमा, किसी सरल चितवन की प्रसन्न जिज्ञासा, उनके सुकोमल मन-पटल पर आप-से-आप खिँच जातीं और उनका वेदना-प्रवण हृदय इस रूप-रस-गंध-भरी पृथ्वी में किसी एक निविड़ रस—एक अपरूप रूप—की कल्पना में डूब जाता था।

अब ऐसे कला-परायण रसिक-राज का चुलबुला दिल रमा-देवी के आँचल के खूँट में कहाँ तक बँधता? वह चोंच में गुल लिये न जाने किस परी की तलाश में कल्पना के कंगूरों पर मँड़राने लगा था और उसकी चटुल चहक से उनका समग्र अन्तर झंकृत हो उठता। माया-पुरी की जिस परी की तलाश थी, वह तो कभी मिली नहीं; लेकिन जीवन के कठोर सत्यों ने उस स्वप्न-सौध के गुम्बजों को ज़रूर तोड़ डाला। नतीजा यह हुआ कि शून्य जीवन की व्यर्थता की करुण अनुभूति और भी सूक्ष्म और तीव्र हो उठी।

विवेक ने उनकी कल्पना की दौड़ को परिधि में रखना चाहा—उनके मन की वृत्तियों को लगाम देकर संयत करना चाहा, और वह बहुत-कुछ इस साधु प्रयत्न में सफल भी हुआ; पर इस रोक-थाम की सीन पर बेला के आकस्मिक आविर्भाव और प्रतिदिन के घनिष्ट मिलन ने इस समस्या को एकबारगी जटिल कर दिया। जिस अभाव की अनुभूति क्षीण हो चली थी, वह फिर तीव्र हो गई। रमादेवी की कुरूपता अब और भी खलने लगी। जो क्षुधा मिट चली थी, वह अचानक दुगनी हो गई।

हाँ, अगर रमा के मुँह में दाँत बरक़रार रहते, तो बहुत सम्भव था कि बेला के दाँत उज्ज्वल मोती के दाने बनकर न चमक उठते—उनके सर के बाल बेवक्त झर न गये होते, तो शायद बेला की लटों की वेणी काली नागिन बनकर कलेजे पर न लोटती—सिरगिटान की टाँग की तरह उनकी टाँगें सूख न गई होतीं, तो बेला की पतली कमर के पहलू से उभरे हुए नितंब की मंडल-रेखा काव्यकुञ्ज के कदली का तोरण बनकर दिमाग़ को न चकराती—तथा गरदन की सतलरी समतल सीने पर झूलती हुई कटकी करधनी को न चूमती, तो बहुत मुमकिन था कि उस विधवा के आँचल की धूमिल कुज्झटिका के भीतर किसी कैलास की कल्पना जगह न पाती।

जो प्रतिदिन पुलाव और क़लिया चखता है, वह पुलाव और ज़र्दे की असलियत को खूब समझता है; पर माँड़-भात और नमक पर ज़िन्दगी बसर करनेवाले की नाक में पतीलियों से उड़ती हुई ज़ाफ़रानी पकवान की बू किसी बहिश्ती पारिजात की सुगन्धि से कम नहीं होती।

बेला का आसमान से गुरुवर के घर उतरना, उसके मुलायम हाथों की प्रवीण सेवा, उसकी आन्तरिक श्रद्धा और शुश्रुषा रोज़मर्रे की ख़िल्वत की बातचीत, उसके शरीर पर धीरे-धीरे रूप-रंग का निखार, उसके लज्जा रक्तिम चेहरे की करुण-कोमल कान्ति, वेदान्त के नितान्त शुष्क ज्ञान से उनके भाव-विह्वल हृदय पर कहीं ज़्यादा पुर-असर निकलीं। विवेक ने संयम के जिस कवच-कुंडल को उनके मन की

रक्षा के लिए अर्पित किया था, उसे बेला की चितवन ने दो दिन में उतरवा लिया।

मन की वृत्ति जब हिल गई, फिर इन्द्रियों की प्रवृत्ति कबतक रुकी रहेगी! इन्द्रियों के व्यापार कुछ अपने पैदा किये नहीं हैं, वे स्वभाव-सिद्ध हैं। हमारे ऊपर कारचोबी के शहनशीं का साया हो या तपोवन की पंचवटी की छाया—हमारे सर पर छत्र और चँवर हो या शरीर पर कोपीन और वल्कल, हमारी इन्द्रियों के स्वभावसिद्ध व्यापार कभी छूटते नहीं।

वैराग्य की आग लाख उग्र क्यों न हो; पर काम के कीटाणु कभी ख़ाक नहीं होते। हमारे रक्त में कोई कालकूट का प्रयोग क्यों न करे, ये कठजीव कभी बरबाद होने के नहीं। और, जहाँ इर्द-गिर्द की हवा में नमी आई, फिर तो बरसाती बीरबहूटी की तरह न जाने कहाँ से हमारी धमनी के स्रोत में ये पनप उठते हैं। शास्त्र और सत्सङ्ग से एक पॉलिश चढ़ती है ज़रूर—रंग बदलता है सही, पर जड़ नहीं कटती; चोरी छूटती है, तुम्बाफेरी नहीं छूटती।

तो क्या प्रकृति कभी कटती नहीं? ज़रूर कटती है। मनुष्य तो आसमान से सितारे तोड़ सकता है; पर ख़याल रहे, प्रकृति के पाश से छूटना तो ईश्वरता पर आरूढ़ होना है। आदमी और ईश्वर के दरमियान यही प्रकृति का अन्तराल है, और यह परदा हटा, तो दोनों एक हो गये।

गिरिधारीलाल अपनी परिस्थिति को ख़ूब समझते। एक ओर उनका काव्य-जीवन—उनके हृदय का रस-स्फुरण; दूसरी ओर उनका

क्षुधित यौवन, उनका निरानन्द भवन। इधर गुरु-पद की मर्यादा की चेतावनी, उधर लावण्यलीलामयी बेला की मोहिनी। उनके अन्तर में जो जंग छिड़ी थी, उसकी धमक से उनका दिमाग़ दहल रहा था। वे दिन-रात इसी मीन-मेष में पड़े रहते कि किसी तरह दैव बीच में पड़कर इस झगड़े को सुलह करा देता। किसी एक दल की हार-जीत के वे क़ायल नहीं थे। वे इस क्षेत्र में भी समझौते की नीति का दम भर रहे थे। विवेक का पहलू भी रहे, दिल की आरज़ू भी रहे।

इधर एक 'काम' था, उधर खड्गहस्त भय, लज्जा, मान, मर्यादा, धर्म और विचार एक-से-एक महारथी थे; पर वह अकेला फूलों का बाण ताने मैदान लेकर इतने रणबाँकुरों के दाँत खट्टे कर रहा था!

क्या वजह थी कि पंडितजी उसे तीर्थ जाने का आदेश दे महज़ ज़बान जूठी करके रह गये? उन्होंने सोचा—और कुछ नहीं, तो बेला की समीपता से दिल की तसल्ली तो होगी! दो घड़ी की तफ़रीह ही सही। उसके ईर्द-गिर्द एक हल्के 'रोमांस' का लुत्फ़ तो था! उनके रूखे-सूखे जीवन में यही क्या कम है? सूखे तत्त्वज्ञान का काढ़ा पीते-पीते जी ऊब चला था, अब दो घूँट शरबत तो चखने को मिला।

इतनी समझ उनको ज़रूर थी कि आत्मा के स्वास्थ्य के लिए यह काढ़ा कड़वा होकर भी हितकर है और शरबते-दीदार मज़ेदार होकर भी मुज़िर है। पर, आख़िर कोई तमाम ज़िन्दगी काढ़ा ही पीता रहेगा! ऐसा स्वास्थ्य रहा या न रहा, दोनों बराबर है।

इसमें कोई शक नहीं कि बरसों के मोतवातिर इस्तेमाल से इस काढ़े

के कड़वापन को उनकी ज़बान क़रीब-क़रीब भूल चली थी और अगर बेला न आती, तो कुछ दिनों में यही काढ़ा शरबत का मज़ा देता; मगर अब तो इसकी तिताई चिरैते-सी खलने लगी। अब तो निरा तत्त्वज्ञान ज्ञान का जवाब हो गया।

हमारे शरीर की मज्जा-मज्जा में जिस क़दर पशुत्व का माद्दा है, उतना ही अगर देवत्व का अंश रहता, तो फिर दुनिया पान की सीठी की तरह नीरस हो जाती और फिर किस दिल से यह तमन्ना उठती कि 'जन्नत में भी दुनिया के मज़े याद करेंगे!'

आख़िर सोचते-सोचते पंडितजी ने यह निश्चित कर लिया कि बेला तीर्थ न जाकर यहीं रहे; और उसी क्षण उनकी समझौतेवाली बुद्धि ने यह भी तय कर लिया कि दो घड़ी की महज़ दिलबस्तगी के फ़ाज़िल बेला को कहीं और गुज़र देने की ज़रूरत नहीं। दुनिया का मज़ा भी किरकिरा न हो और तत्त्वज्ञान का अनुशीलन भी चलता रहे। बेला जहाँ तक आ चुकी है, उसी हद तक वह रहेगी। उसके आगे उसे एक क़दम भी जगह नहीं दी जायगी।

गिरिधारीलाल ने अपने दिल के चारों ओर एक दीवार खींच दी; और उसी चक्र की परिधि पर मान, धर्म और मर्यादा का त्रिशूल हाथ में देकर विवेक का पहरा बैठा दिया। उसी दायरे के अन्तःप्राङ्गण में चुलबुले दिल को जितनी अठखेलियाँ क़बूल हों, उसे मुबारक रहें। इसी शर्त्त पर उन्होंने प्रेय और श्रेय के दरमियान सुलह करा दी; और यह सुलहनामा तामील कराकर वे निश्चिन्त हो गये।

बेला दिन में जब चाहे उनके कमरे में आकर पुस्तकों की झाड़-पोंछ करे, उलटे-पलटे, आलमारी-चौकी वग़ैरह को साफ़-सुथरा करे, उनके आसन के चारों ओर प्रदक्षिणा करे, दुपहरी में दो घंटे धर्म की चर्चा करे, या मौक़े-बे-मौक़े काव्य के मसले हल करे, और फिर चुपचाप चार बजते-बजते वापस चली जाय। रात-भर फिर अकेले मन का मनन होगा; वेदान्त और ब्रह्मज्ञान का परिशीलन होगा।

पंडितजी सोच-समझकर इस निदान पर आये कि बेला की दो मीठी बातें, दो-एक स्निग्ध सलज्ज चितवन, एक-आध औचक की अनावृत अङ्ग-झलक, उसके आँचल सँभालने की मधुर भङ्गिमा, कभी-कभी अँगड़ाई की दिलफ़रेब तरकीब उनके दिल के ताप के ऊपर काफ़ी शीतल प्रलेप होगी, और अब इससे विशेष किसी निविड़ रस की तलाश किसी हालत में हितकर न होगी। बेला भी सोलहो आने उनके क़ब्ज़े में रहेगी और बेखटके धर्म की चर्चा कर सकेगी। इस इन्तज़ाम से लोक और परलोक, माया और ब्रह्म, दोनों मज़े से निभ सकेंगे; और उनमें आपस की छीना-झपटी की नौबत न आयेगी।

पंडितजी इस तरीक़े से झगड़े को मिटाकर बाग़-बाग़ हो गये। दोनों पहलू को सँभाल लिया। वे ख़ुश थे कि दिल का दिमाग़ से, संसार का संन्यास से, काम का विवेक से, राग का विराग से समझौता कराकर उन्होंने चिरन्तन फूट की जड़ ही काट डाली; पर इस तमाशे को देखकर भगवान् भले ही चुप हों, शैतान तो मुँह पर रूमाल रखकर हँस पड़ा!

देव और दानव के जिस अनादि विद्रोह को विश्वपति भी न सुलझा पाये, उसे कलिकाल का एक ब्राह्मण अपनी नैतिक दृढ़ता के बल पर साध्य करने का जीवट रखता है—यही क्या कम है ?

पर प्रश्न यह है कि यह जीवट—यह दृढ़ता उनमें थी ? साँप से अपनी उँगली को कटवाना, फिर जड़ी देकर या मंत्र पढ़कर उस विष को उतार देना—किसी ने कभी किसी सँपेरे को साध्य करते देखा है ? दो-चार जाम शराब पीकर फिर घड़ों पानी से सर धोकर सुस्थ हो जाना कहाँ तक मुमकिन है ?

राजा जनक ने सुलभा से कहा था कि हमारे एक हाथ में यदि चन्दन लगाओ और दूसरे को छील डालो, तो भी दोनों सुख-दुख मेरे लिए बराबर हैं। पंडितजी को शायद इसी साम्यबुद्धि का भरोसा था। वे समान प्रिय और अप्रिय में समान भाव से बरतनेवाले कर्मयोगी बने थे। कई बरसों तक ब्रह्मज्ञान के निरन्तर मन्थन से वैराग्य की जो पतली किरण उनके अन्तर में झाँक जाती थी, उसी की सुनहरी आभा में उन्होंने अपनी आत्मा को अलिप्त देखा था। इस आन्तरिक निःसङ्गता का उनको नाज़ न होता, तो कभी मुमकिन न था कि वे एक ओर मायावी रूप की आग से खेलते और दूसरी ओर अरूप की तलाश का दावा भरते। उनको सचमुच विश्वास हो आया कि वे निष्काम बुद्धि से दोनों को चलाकर कर्मयोग के पथ पर अटल रहेंगे। उन्होंने घंटों रात में जगकर मन को इसी समता के स्तम्भ से बाँधा और कुछ दिनों तक इस संकल्प को दृढ़ता के साथ निबाहा भी; पर विष और अमृत के क़माम का

परिसेवन कुछ आसान काम नहीं है। कहीं कालकूट मानव-कंठ का आभूषण बन सका है?

दोनों प्रतिद्वन्द्वी पार्टियाँ चन्द हफ़्तों तक तो अहदनामे की शर्त्त पर क़ायम रहीं। इधर दिलचस्पी भी रही, उधर विवेक की चौकसी भी। कामिनी भी रही, कुंडलिनी भी रही। काव्य की लहरी भी चली, तत्त्व-ज्ञान की मन्दाकिनी भी बही।

पर 'काम' की नीयत तो कभी साफ़ थी नहीं। वह घाघ अपने घात पर बैठा छिद्र ढूँढ़ रहा था। जब उसने पहला मोरचा दख़ल करके अपना दबदबा क़ायम कर लिया, तब धीरे-धीरे उसने विवेक की क़िलेबन्दी पर गोलेबारी शुरू की।

अब तो पंडितजी की पिलही चमकी! बेला तो चार बजते-बजते वापस चली जाती; पर उसकी रूह उनकी आत्मा की परिधि की प्रदक्षिणा करने लगी। जिधर निगाह डालते, उसी की छाया नाचती नज़र आती।

यह तो अनधिकार चर्चा—शर्त्त के ख़िलाफ़ बात थी। राग की अवधि तो चार तक थी; चार के बाद तो विराग का प्रोग्राम था। यहाँ पर उसे मुख़िल होने का कोई हक़ न था। पर विवेक की फ़रियाद को सुनता कौन?

ध्यान में, पूजन में, भजन में, हवन में, तर्पण में, पठन में—हर जगह बेला की रूह उनका पीछा करने लगी। अब श्वेतकेतु और तत्त्वमसि की वाणी, अश्वपति और उद्दालक की वार्ता, याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी की कथा बे-असर हो चली। अब गीता की पीयूष-वाणी पर प्यास

बुझती न थी। रेचक और पूरक का क्रम अचानक टूट जाता। जप-मालिका में रुद्राक्ष के मनके पर उँगलियाँ छलाँगें भरतीं।

जब शाम को चन्द्रमौलि के सिंहासन के सामने पुष्पाञ्जलि लेकर वे महिम्न-स्तोत्रों का गान करते और उनकी आँखों से प्रेम के आँसू का तरारा चलता, तब उस पुनीत प्रवाह की साफ़ सतह पर काली लटों से घिरी किसी के मुख की चाँदनी तैरने लगती और उनके चेहरे की चेष्टा इस कुहुक-रश्मि के अचानक फूट पड़ने से घबराकर ऐसी भीत और विकृत हो जाती कि दूर से मालूम पड़ता—इबादत के बदले वे मर्सिया-ख़्वानी में मसरूफ़ हैं!

जब कभी वे गोधूली की नीरवता में दुतल्ले की खुली छत पर बैठते और वृत्तियों को बटोरकर नादानुसन्धान में प्रयत्नशील होते, तब अचानक नीचे आँगन से हवा पर थिरकती आती हुई एक मीठे गले की सुरीली आवाज़—'अभी आई, दीदी! मुन्नी को सुला रही हूँ न'—उनके कानों के परदे को चीरती प्राणों में पैठ जाती, और वह अन्तर्गत नाद की सूक्ष्म ध्वनि एक मधुर कंठ की सुर-लहरी के भँवर में डूबकर न जाने कहाँ विलीन हो जाती। फिर तो धीरे-धीरे तेज़ होती हुई उस मधुर कंठ की काकली—'आ जा निंदिया आ जा, मुन्नी को गोद सुला जा'—और साथ-साथ मुलायम हाथों की थपकियों की ध्वनि, उस सान्ध्य विजनता के तले, उनके प्राणों के पहलू में कुछ ऐसे सुर और लय की रचना करती कि पंडितजी इस धुनि में शराबोर होकर दीन-दुनिया की सारी सुध-बुध भूल जाते।

उनके चारों ओर बिखरी हुई उपनिषत् और गीता, आरण्यक और संहिता की पुस्तकें टक बाँधे खड़ी रह जातीं; उनकी इतने दिनों की मशक्कत पर सुलझी हुई भ्रामरी और प्लावनी की विभूतियाँ मनोयोग के अभाव से विफल हो चलीं; और उधर छज्जे से सूखी धोती समेटते हुए दो निपुण सुडौल हाथों की गति-लीला, कमर में आँचल लपेटे दर्जनों बाल्टी पानी उड़ेल-उड़ेलकर आँगन धोती हुई बेला के सुगठित सलोने अङ्गों की एकाध उड़ती झलक, तथा आधी नींद में मचली हुई मुन्नी को बहलाने की ग़रज़ से गुनगुनाती हुई ज़बान की मीठी लोरियाँ—उनकी कल्पना की तमाम क्यारियों में एक विचित्र मधुर रस का प्लावन उठाये आच्छन्न हो गईं।

एक दिन दोपहर को उन्हें ज़रा-सी झपकी आई और उसी तन्द्रा के आवेश में स्वर्गीय गुरु के अवज्ञापूर्ण लाल-लाल नेत्र नज़र आये। आँखों से आग के शरारे बरस रहे थे और वे तर्जनी उठाकर फटकार रहे थे—

"गिरिधारी! जिस चितवन के कटार की नोक तुम्हारे दिल में चुभी है, वह मिसरी की पगी नहीं, विष की पगी है। याद रखो, इस विष का काटा आजतक लौटा नहीं!"

सहसा आँखें खुल गईं। सामने बेला के दो निष्पलक लोचनों को देखा। वह आँचल सरकाये देख ही रही थी कि पंडितजी सोये हैं या जगे कि उनकी नींद उचटी और आँखों ने आँखों में देखा।

बेला का चेहरा शान्त था। उसकी आँखों की किरण प्रसन्न थी।

इस चितवन में विष नहीं, पीयूष है; यह डँसती नहीं, जीवन देती है। दिन का सपना महज़ उद्विग्न मस्तिष्क का स्फुरण है—बिलकुल तथ्यहीन!

उन्होंने उस वक्त दिल को समझा तो दिया, पर हसब-बदस्तूर बेला को पढ़ाया नहीं, उसे बैरँग वापस कर दिया—"आज सर में दर्द है, बेला!"

बेला चली गई, तब वे घंटों बुत की तरह चुप पड़े रहे—चिन्ता के स्रोत में डूबते-उतराते। दिल पर सिल रखकर बेला को निकाल देना उनके लिये मुहाल था; साथ-साथ किसी उत्तेजना की चोट पर एक क्षण के लिए भी दिल के चाञ्चल्य का प्रकट हो जाना उनका मरण था।

अब एक ही उपाय था—मन की दृढ़ता, आत्मा की निःसंगता। काम उलटा टँग जाय, तो टँग जाय, पर कभी मुमकिन नहीं कि भगवान् चन्द्रमौलि के चरणों का सेवक प्रभु की प्रतीति की हत्या करे।

उन्होंने क़लमदान से एक तेज़ छुरी निकाली। जी कड़ा करके छाती के ऊपर एक चीस दे डाला। ख़ून का फ़व्वारा फूट पड़ा। हिम्मत की हद करके वे रक्तचन्दन की छोटी कटोरी ज़ख्म के मुँह पर टेके रहे। जब कटोरी ख़ून से लबरेज़ हो गई, तब उसी शोणित में क़लम भिगोकर पान के एक बड़े पत्ते पर उन्होंने लिखना शुरू किया—"नाथ! सच मानो, तुम्हारे साथ कभी विश्वास-घात नहीं कर सकता; तुम्हारे आसन को कभी अपवित्र नहीं करूँगा। अगर कदाचित् ऐसा करूँ, तो फिर आजीवन तुम्हारे स्नेह की शरण से वञ्चित रहूँ। इस कठोर दंड के आगे मरण की यातना भी फीकी है।"

वे हृदय के रक्त से इस शपथ को लिखकर मन्दिर में गये और उसी वक्त उसे विल्वपत्रों के पुट के भीतर डालकर उन्होंने भगवान् के चरणों में समर्पित किया। घंटों खड़े-खड़े अपराध-भंजन-स्तोत्रों को पढ़ा। धीरे-धीरे उनके चित्त की ग्लानि दूर हो गई।

पंडितजी को तरकस से ब्रह्मास्त्र भी खींचना पड़ा—यह उस विकट संग्राम का चरम मुहूर्त्त है। आख़िर परलोक का तमाम पुण्य-संचय उनको दाँव पर रख देना पड़ा। क़िस्मत की चित्ती किधर पड़ेगी, कुछ ख़बर नहीं; पर उन्हें विश्वास था कि भगवत की सेवा कभी व्यर्थ न होगी। उसी के बल पर वे सङ्कटों की भीड़ चीरकर बे-दाग़ निकल सकेंगे।

मगर हाय रे ढुलमुल यक़ीन आदमी का मन! यहाँ किसी देवता की मदद का तो सवाल न था; सवाल था आत्मबल की दृढ़ता का।

हम हज़ार ज्ञान छाँटें, जब लटपटे दिनों में हमारी लट दबती है, तब देव और दैव के बग़ैर दम में दम नहीं पड़ता। जब जीवन के किसी आकस्मिक उतार-चढ़ाव पर चित्त विच्छिप्त हो उठता है, तब ब्रह्मज्ञानी भी दुआ-तावीज़ की ग़ैबी मदद का सहारा ढूँढ़ता है।

मनुष्य की इसी क़ुदरती हौलदिली पर—इसी प्रकृति-गत कमज़ोरी पर—तो तमाम देवताओं की स्थिति है, हमारे तमाम धर्म की भित्ति भी। इसीलिए जब आत्मिक बल नहीं है, तब एक ऐसी बलवती दैवी शक्ति रहनी ज़रूरी है, जिसे दुःख में हम अपना सकें और जिससे सुख में हम डर सकें। उसी के डर से किसी हद तक हमारी प्रवृत्ति भी काँपती है और उसी की रहमत की उम्मीद पर हमारी मुसीबत भी हँसते-हँसते कटती है।

इधर उनके हृदय में प्रलय-विप्लव का ज़लज़ला था, उधर बिचारी बेला बिलकुल बेख़बर थी। वह क्या जानती थी कि उसकी सरल सीधी चितवन की कोर में कुछ ऐसी बिजली है, जो उसके पितातुल्य धर्मगुरु के हृदय पर वज्र बनकर टूटती है।

बिचारी मृगी को कब पता रहता है कि उसके जिस्म के परदे में कस्तूरी छिपी है और वह कस्तूरी उसके गले की छुरी है !

दशम परिच्छेद

लोक में परलोक की धाक देखनी हो, तो भारत के ग्राम्य-जीवन को आकर देखिये। परलोक का दबदबा घर-घर है—घर के भीतर प्रत्येक दिल पर है। बचपन ही से दैव का आवाहन और तर्पण जो चला, उसकी पूर्णाहुति जाकर चिता की वेदी पर ही होती है।

गर्चे देहातियों के जीवन में विधि और निषेध, छूत और अछूत, हलाल और हराम के मसले क़दम-क़दम पर हैं, तो भी सब मसलों का चचा दैव का मसला है। देव और देवी, भूत और भूतनी, हर जगह, हर बात में, टाँग अड़ाये खड़ी हैं! घर-घर इनकी चर्चा है; घर-घर इनकी पूजा। मर्दों के सर पर देव है, औरतों के सर पर भूत।

यदि चमाइन की दक़ियानूसी छुरी से नाल न कटा और बच्चे के होठों से माता का स्तन छूट गया, तो यम ने छू दिया! अगर सरदी की शिद्दत से पलई चली, तो भूत का दौरा हुआ। अगर न सहने की वजह से बच्चे को टीका न दिया गया—चेचक निकल आई, तो महारानी की मर्ज़ी हुई। अगर गाँव में दूषित पानी के कारण हैज़े की बीमारी आई, तो देवी की सवारी आई! रोग हुआ, तो दैव; रोगी मरा, तो दैव! सन्तान नहीं, तो दैव; फ़सल गई, तो दैव! गेहूँ पर हरदा गिरा, तो दैव; कीड़े चाट गये, तो दैव! अनाज का भाव पलटा, तो दैव; भाव आया, तो दैव!—ग़रज़ यह कि सुख-दुःख सब दैव के अधीन है या ग्रह का फेर है!

पुरोहित के जन्तर-मन्तर से यदि दैव पसीजा या ग्रह फिरा, तो ख़ैरियत; नहीं तो, माथा ठोंककर सब्र करना है। गुनी के पचरे और तमावन पर भूत भागा तो भागा; नहीं तो ब्रह्म के चौरे पर जाकर 'खेलना' पड़ा या मुहल्ले के किसी धोबी या चमार के घर की जागती देवी के चबूतरे पर ख़स्सी कटा।

यहाँ जीवन का प्रत्येक उलट-फेर—बीमारी हो, गिरानी हो, मुक़द्दमेबाज़ी हो, या किसी तरह की परीशानी हो—दैव का तेवर है। जप-जाप होगा, कथा-पुरान होगा, मन्दिरों में महादेव का अरघा दूध से भरा जायगा, देवघरों में मन्नतें होंगी—ग़रज़ यह कि दैवी बल का आवाहन हर-एक तबक़े में अलग-अलग अन्दाज़ से ज़रूर होगा।

आज दुनिया के किसी हिस्से में सुहाग की सलामती के लिए न इतने

दैवी उपचार हैं, न इतने व्रत-जप-तप के तूमार हैं; मगर क्या बात है कि किसी देश में उतनी विधवाएँ नहीं, जितनी यहाँ भरी पड़ी हैं! किसी मुल्क में बच्चों की ज़िन्दगी के लिए न इस क़दर जन्तर-तन्तर का हुजूम है, न दुआ-तावीज़ के रसूम हैं; मगर क्या बात है कि किसी देश में बच्चों की मृत्यु की तादाद वैसी भयङ्कर नहीं, जैसी यहाँ है! इस आर्यभूमि में जितनी धार्मिकता और पारलौकिकता की चर्चा है, उतनी और कहीं नहीं; मगर क्या बात है कि इस देश के बाशिन्दे से बढ़कर न कोई अभागा है, न दरिद्र!

क्या पराधीन का आश्रय परलोक है?—ग़ुलाम का भरोसा राम है! क्या आठों पहर भजन-पूजन की लपेट में पड़ कर हम अपनी आत्मा का वज़न भूल जाते हैं—दैव का सहारा लेते-लेते विवेक का सहारा खो बैठते हैं!

दैव के उपचार से कहीं ज़्यादा ज़रूरी हमारे जीवन में विचार का आधार है, इसे गँवार बिचारे कहाँ तक समझेंगे! जीवन की तमाम संभावनाओं को कोरी भावनाओं के स्रोत में डुबोकर वे हाथ बाँधे चुप बैठे हैं।

यहाँ गाँव में प्रत्येक मनुष्य की यह मज्जागत धारणा है कि वह प्रारब्ध के हाथ में मोम है, और उसे किसी भी क्षेत्र में आत्म-स्वातन्त्र्य नहीं। वह अनादि कर्म-प्रवाह पर तिनके की तरह बह रहा है और हाथ फैलाने पर उसे तिनके का सहारा भी नहीं मिल सकता। जब बिचारी बहू की मांगलिक चुनरी की मनोरी-पंक्तियाँ बिकती हैं और चूहे घर में दंड पेलते

हैं, तब वह हाथ रखकर गुज़श्ता ज़माने के घी के बघार और दूध के पूए की चर्चा करता है, और प्रतिकूल दैव के सर पर तमाम इलज़ाम मढ़कर क़िस्मत पलटने का इन्तज़ार करता है। उसे शायद यह जानकारी भी नहीं होती कि और जगह मनुष्य की बुद्धि और कारगुज़ारी ने परलोक के दायरे को कितना संकीर्ण कर दिया है और दारिद्र्य, रोग, खेती की उपज आदि क्षेत्रों से दैव के दबदबे को कहाँ तक उठा दिया है!

उसे कहाँ पता है कि 'कमाल' ने दैव के धुर्रे उड़ाकर टर्की का तख़्ता उलट दिया। उसके फ़िरिश्तों को भी ख़बर नहीं कि जापान ने विवेक और अध्यवसाय के ज़ोर पर 'दैवी' ज़लज़लों की गरदन टीप कर जापानियों की काया और क़िस्मत पलट डाली—और विज्ञान का पिनाक लेकर प्राकृतिक ज़लज़लों का भी नातक़ा बन्द कर रहा है! उसने शायद सुना भी नहीं है कि रूस निखिल सभ्य संसार के सीने पर सवार राजा और रंक, ऊँच और नीच, बड़े और छोटे के भेद-भूत को छू-मन्तर करने का प्रयत्न उठाकर कर्मवाद का एक-एक दाँत किस हिम्मत से तोड़ रहा है—एक चोले के क़ब्ज़े में करोड़, और करोड़ों पेट के लिए एक जून रोटी की मुहताजगी—इस सनातनी ईश्वरता की जड़ हिल चली है।

उसे न तो अनुभूति है, न विभूति; न इच्छा है, न इच्छा-शक्ति। उसे न मुँह में ज़बान है, न छाती में आन। और, उसी ग़रीब के सर पर सभी होली खेलते हैं—लठधारी ज़मींदार, दंडधारी सरकार, खद्दरधारी लीडर, त्रिदंडधारी पंडित, क़लमधारी वकील और थैलीधारी मुग़ल! एक मालिक का रोब गाँठता है, दूसरा हाकिम की आँख दिखाता है; एक

दोस्त बनने का दम भरता है, दूसरा परलोक का भर्रा देता है; एक दलील का जाल फेंकता है और दूसरा सूद का जाल फैलाता है।

पर इन सबसे कहीं ज़ोरदार दैव का जाल है और इसी जाल का तमाम जंजाल है। यह उसकी सारी आत्मशक्ति की जड़ में कीट है। यह परलोक का मालख़ौलिया उसके दिमाग़ी दिवालियापन का सबूत है। यही वजह है कि उसके मन की वृत्तियाँ वैराग्य और सन्यास की ओर झुकती हैं। तभी देहातों से साधुओं और वैरागियों की आमदनी आज इतनी कसीर है। जब और कुछ नहीं बनता, तब ललाट रँगकर माला फेरना या ख़ाक चढ़ाकर धूनी रमाना चलता प्रोग्राम है। जब हाथ से हल छूटता है, तब कमंडल उठता है; धोती नहीं, कोपीन सही।

क्या अकर्मण्यता और पारलौकिकता सहोदर हैं? कर्मवाद और नैराश्यवाद यमज हैं?

अक्सर जब वह विज्ञान के चमत्कारों को—मानव-शक्ति के करश्मों को देखता है, तब वह दाँतों उँगली काटकर माथा खुजलाता है। उसके लिए तो ये दिल्ली के लड्डू हैं। जभी तो वह इन्हें जानने को सर भी नहीं खपाता।

जो आज भी चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण को राहु का आक्रमण समझ कर पचासों मील गंगा में डुबकी लगाने के लिए दौड़ता है, वही जब आकाश पर हन्-हन् करते हुए वायुयान को आँखें फाड़कर देखता है, तब उसका माथा ठनकता है कि व्योम-विहारी देवता के पुष्पक-विमान पर इन

हाड़-मांस के पुतलों का गुज़र कैसे हो गया। गाँव का पंडित या गुनी कलिकाल की लीला या म्लेच्छ की माया कहकर इस रहस्य—इस कुतूहल—को हल करता है। और कोई दलील तो सूझती नहीं!

आज सैकड़ों बरस हिमालय के कन्दरे में हवा पीकर समाधि लगाये बिना भी मनुष्य दस हज़ार मील की दूरी से बातें कर सकता है, इसकी कौन-सी दैवी व्याख्या या शास्त्रीय प्रमाण गाँव के पंडितों ने आविष्कृत किया है, पता नहीं!

पंडितजी ने तो बेला को यह समझा दिया था कि उसके जीवन के ज़लज़ले दैव की मार नहीं, कल्याण के उपहार हैं। इस निर्माल्य को आँखों से लगाकर वह सर पर रखे, चूँकि यही एक दिन उसे परलोक का राज्य देगा। यह पारलौकिकता की पराकाष्ठा नहीं तो क्या है?

जिसे दुनिया में खड़े होने के लिए भी एक बालिश्त ज़मीन नहीं, उसके लिये दुनिया के उस पार साकेत की गद्दी-नशीनी धरी रखी है, यह कल्पना कितनी मनोहारिणी है!

पंडितजी ज़बान के उस्ताद थे, और बात भी बड़े पते की थी; दुखिया के दिल में बड़ी आसानी से जगह कर सकती थी। ऐसे ही चकमे देकर साधु संन्यासी गाँवों में विपद् के मारे निराधार गँवारों को चेला मूँड़ते हैं। इसी तरह अकर्मण्यता और आध्यात्मिकता की फेटी हुई फुलौरियाँ ग्राम्य-जीवन के कड़ाह में छनती हैं।

बेला के लिए तो यही फुलौरियाँ हलाल हैं—दुनिया की बाक़ी तमाम चीज़ें हराम! इसे पंडितजी अच्छी तरह समझते थे। उन्होंने परलोक

का सब्ज़बाग़ दिखाया उसके चेहरे पर ताज़गी लाने के लिए। और किस उमीद पर उसकी आँखों के आँसू रुकते?

कोई चीज़ दुनिया में न निरी अच्छी है, न बुरी। दैव का भरोसा हमें सिड़ी और आलसी जो बनाता हो; पर अक्सर उसका नशा इतना तेज़ होता है कि दुनिया की मुसीबतों पर बादल बनकर छा जाता है।

पंडितजी का वश चलता, तो बेला बस्ती का टेम भी न झाड़ती; मज़े से पाँव पर पाँव धरे चैन की बंशी बजाती और धर्म की तसबीह फेरा करती। पर मिश्रानी अपने आँगन में किसी साधुनी को टिकाने के ख़िलाफ़ थीं। वे दोनों जून की रोटियों की क़ीमत कौड़ी-कौड़ी वसूल लेती थीं, और इसीलिए बेला को सुबह से शाम तक कोल्हू का बैल बनना पड़ता था।

सुबह का वक़्त है। बेला बैठी जाँता पीस रही है। सामने खाट पर गेहूँ पसारा हुआ है। तड़के ही बेला ने धो-धाकर पसार दिया था। एक गिलहरी खाट की पाटी पर बैठकर दो-एक दाने कुतर रही है। बेला चुप देख रही है। वह रुक्खी पहले तो कुछ सहमी-सी थी, पर बेला की जानिब से हरकत न पाकर इतमिनान से दाने तोड़ने लगी। तबतक गनेस बहू आँगन में ठुमुकती हुई आ पहुँची और हाथ बँटाने के लिए जाँते के पास बैठ गई।

गनेस का खपरैल का घर पंडितजी के पिछवाड़ेवाले खंड में है। वह जात का नाई और पंडितजी के घर का नेगी है।

वह गोबर-गनेस ही था; पर उसकी बहू मुहल्ले का 'नारद-मुनि'

थी। घर-घर उसका गुज़र था और चंडमुंड लड़ाने के फ़न में विशारद थी। वह आसमान में भी पैवन्द लगा देती और बिना मेघ के भी बिजली गिरा सकती थी। उसके होठों के ऊपर पतली लोम-राजि उसके काँड्रियाँपन की निशानी थी। मर्दानी सूरत, मर्दानी आवाज़, क़दो-क़यामत भी काले देव की नाक काटती—लम्बी, मोटी, चौड़ी और कलूटी! वह मर्दों से भी पंजा लड़ाती और अनाज से भरा हुआ बोरा पीठ पर लादकर मिश्रानी के भंडार में पहुँचा देती।

गनेस बिचारा दुबला-पतला, मेंगना और कमज़ोर है। यह मुहल्ले-भर का मज़ाक़ था कि गनेस बहू की मांसल जाँघ की धमक से बिचारे की छाती की पञ्जरियाँ भी मड़मड़ा जायेंगी। उसकी चुटिया बहू के कानों का झुमका चूमती। पर, दोनों का आपस का बनी-बनाव मज़े का था। खेती-बारी तो कुछ थी नहीं; महज़ थोड़ी-सी ज़मीन उसी खंड में थी, जिसमें सागसब्ज़ी होती; कद्दू और तरोई, घुइयाँ और भिंडी। दो-चार कट्ठे आलू की खेती। बहू खेत कोड़ती, घास सोहती, लट्ठे से पानी देती; गनेस सुबह-शाम तरकारी तोड़ लाता, काटता, छीलता और छौंकता। बहू इधर-उधर से सूखी टहनियाँ तोड़ लाती; गनेस चूल्हा फूँकता। बहू बाज़ार करती; गनेस रोटियाँ सेंकता। वह इंदारे से घड़ों पानी भरती; गनेस घर लीपता और बरतन माँजता।

बिचारों के कोई सन्तान न थी। ज़माना हुआ, एक हुई भी थी, तो उसे सौरी में यम ने छू दिया! इतना बूता न था कि हरवंश सुन सकें। इसलिए दैव का भरोसा था! पंडितजी ने जड़ी-तावीज़ दी

नेता गुनी ने लवंग-भभूत खिलाई, देवघरों में बरसों चहलक़दमी भी हुई; पर नतीजा कुछ न निकला !

गनेस बहू परसों मायके से लौटी और आज मिश्रानी के दरबार में हाज़िरी देने आई। वह कुछ घर की महरी नहीं थी; पर परब-तिहवार पर आकर दस का काम अकेली कर जाती। वह जब आती, मिश्रानी के भर-माँग सिन्दूर की सलामती मनाती, लाग-लपेट की बातें बनाती और एक फाँड़ चना-चबेना लेकर वापस चली जाती।

इस घर में बेला की अमलदारी उसे फूटी आँखों भी न सुहाती। लेकिन, चूँकि कमला की करुणा की छत्रच्छाया उस पर आठों पहर तनी रहती थी, इसलिए वह अपने ग़ुस्से को जी जाँत कर पी जाती थी। वह समझती थी कि बेला बड़ी घाघ है और नदी में डूबकर पानी पीती है; यह भजन-पूजन का रंग महज़ रंग जमाने की तरकीब है।

बेला का रूप मर्दों की आँख में गुलाब का फूल जो हो, औरतों क आँख में वह गुलाब का काँटा था।

"कहो बेला ! कमली दीदी ससुराल कब जाती हैं ?"—उसने बैठते ही एक झिझक से पूछा।

"अबतक तो वे गई रहतीं, मगर मुन्नी की आँख उठ आने से रुकी हैं।"—बेला ने सर झुकाकर जवाब दिया।

"यहाँ मालकिन को नहीं देखती ?"

"वाह ! वह क्या दालान में नेता भगत के साथ बैठी हैं।"—बेला ने उँगली उठाकर दिखाया—"रात ही से कमर में बिथा उठी है"

"और कमली दीदी ?"

"मन्दिर में होंगी। ख़बर नहीं।"

"तुम तो घी की पूरियाँ तोड़ रही हो न। चक्की भी नहीं चलती। पसीने से तुम्हारी लटें भीग गईं। लाओ, मैं चार फेरे में गेहूँ पीस दूँ कबतक खटती रहोगी।"—गनेस बहू ने ज़रा आँखें मटकाकर कहा।

"पीस लूँगी!"—बेला सिटपिटाती हुई धीरे से बोली। पर गनेस बहू ने हाथ लगा ही दिया, और देखते-देखते चक्की के चारों ओर आटे का अम्बार खड़ा हो गया।

जब गनेस बहू कपड़े झाड़कर उठी, तब अचानक उसकी आँखें ऊपर कोठे पर पड़ीं, और वहाँ खिड़की के डंडों की फाँक में गुरुवर गिरिधारीलाल के आवेग-मंडित चेहरे को देखा, आँखों की पुतलियाँ न जाने किस आवेश से काँप रही हैं और ललाट की रेखाएँ तनकर त्रिपुंड बन गई हैं। मुमकिन है कि वे कोठे से उतरते वक़्त इधर झुक पड़े हों, और चक्की चलाने की मिहनत से बेला के बदन के सुनहले रंग पर जो लालिमा दौड़ रही थी—उसके अनावृत ललाट पर जो हीरे की कनियाँ चमक रही थीं, उस शिशर-सिक्त प्रभात-कमल की सुषमा ने क्षण-भर उनकी चितवन का दामन थाम लिया हो।

गनेस बहू ने फ़ौरन् मुड़कर बेला को देखा। शायद उसने समझा कि पंडितजी की इस आकुल चेष्टा का रहस्य बेला के मुखमंडल पर खुलेगा। पर बेला के चेहरे पर तो एक टेढ़ी-मेढ़ी रेखा तक न थी। वह तो सर झुकाए आटे को बटोरने में मसरूफ़ थी—अंजलियों में उठा-

उठाकर दौरे में रख रही थी। उसे क्या ख़बर थी कि किसी प्यासी चितवन उसके चेहरे के पानी को पी रही है। उसे क्या ख़बर थी कि हाथ बटानेवाली गनेस बहू के दिमाग़ में उसके प्रति उस क्षण कैसी ईर्ष्या-प्रज्वलित शरारत की बिजली खेल रही है!

गनेस बहू ने बेला के चेहरे पर कोई मनोनुकूल इंगित न पाया, तो वह ज़रा हताश-सी हुई; क्योंकि पंडितजी की निगाह के निखार में उसे वासना का सञ्चार ही नज़र क्यों न आया हो, उस नाइन के सात पुश्त का भी गुर्दा न था कि उनकी शान में चूँ भी कर सके; पर बेला के मान-मर्दन के लिए उसे काफ़ी मसाला मिल गया। अब धूल में रस्सी बटना कोई उससे सीखे!

उसकी कल्पना के घोड़े पर शैतान सवार हो गया! बेला को, उसके रंग-रूप के अक्षम्य अपराध के लिए, सज़ा देने की तरकीब उसकी बुद्धि के परदे में खेल गई; वह फ़ौरन् मिश्रानी के निकट पहुँची।

मिश्रानीजी, लिहाफ़ में लिपटी हुई, कमर की व्यथा से कराह रही थीं। नेता वहीं खाट के पास बैठकर, कुछ बुदबुदाता हुआ, दकनी की आग में धूना डाल रहा था। वह रह-रहकर वदन तोड़ता, झिझकता, भवें तानता, दाँत पीसता, मुट्ठी बाँधकर शून्य पर वार करता और एकबारगी ऐसा तड़पकर हाथ चलाता, मानों किसी का गला घोंटना चाहता हो।

जब मिश्रानीजी की कमर से टीस उठती और 'मरी-मरी!' पुकार वे चमककर चीख़ उठतीं, तब नेता मिश्रानी के मुँह पर तर्जनी

दिखाकर—'बोल, कौन है ? नहीं तो, जलाकर ख़ाक कर दूँगा !'—इतने ज़ोरों से कड़ककर डाँटता कि खम्भे की आड़ में पतीली में रखी हुई रात की बासी खीर-पूरी को चाटती हुई बिल्ली सहमकर दूर भाग जाती !

ऐसी डपट पर करिहैंयाँ की पीरा भी डरकर दब जाती और फिर जहाँ उठती, वहीं डाँट खाती। इस डाँट-डपट और तड़प-झड़प के ज़न्नाटे पर मिश्रानीजी के मन से पीड़ा का सूत्र आप-से-आप छिन्न हो जाता। ख़याल पलटने से पहली अनुभूति जो शिथिल हो जाती, तो वे समझतीं कि नेता ने अपनी पटुता से भूत को मार भगाया !

हमारे शरीर की कितनी ही व्याधियाँ हमारे मन की कमज़ोरी पर पनपती हैं, और जिस प्रयोग से श्रद्धा उठकर मन को उसके निहित तेज का पता दे सके, वही प्रयोग चिकित्सा का प्राण है। जिस मन की आन्तरिक सत्ता का सञ्चार झाड़-फूँक या काँस-कराहों की माया पर निर्भर है, उसे रसायन की बटी किस मर्ज़ की दवा होगी ?

गनेस बहू ने मिश्रानी की कमर को टीपना शुरू किया और मौक़ा देखकर मनचीती बात छेड़ी—"क्या कहूँ, मालकिन ! यह देखने में तो गाय है, पर है घुघुरमुँहा साँप।"

"कौन ?"—पंडितानी ने कान खड़े किये।

"यही, बेला।"

"क्यों ?"

"यह ढिठाई तो देखो !"—गनेस बहू 'नेता' की गरदन की दाद

की तलाश में उस ओर झुकी—"जिस पत्तल में खाना, उसी में छेद करना·····।"

"बात क्या है, साफ़ क्यों नहीं कहती?"—पंडितानी ने ज़रा झिझककर पूछा। दरद अब हिरन हो गया! वे हाथ टेककर उठ बैठीं।

कुत्ता का लखलखा किस दिमाग़ को तरोताज़ा नहीं करता?

कुत्ता की मीठी गन्ध मिश्रानी की नाक में पड़ी और दिमाग़ में ताज़गी आ गई। नेता भी सरककर नज़दीक आ गया।

गनेस बहू ने आवाज़ और भी धीमी की, गरदन कुछ और टेढ़ी की, चितवन में एक और भी मटकी भरी, और साँसी में बोली—"कहूँ क्या, कुछ कहने की बात है? वह छोकरी अपने को इन्दर की परी समझती है। इधर चक्की पीसती थी, उधर कोठे पर निगाह टकराती थी। तुम्हीं कहो नेता! यह नैन का टोना महाराज पर डालना और सती-सावित्री का दिमाग़ रखना!"

स्त्री की ईर्ष्या—अकारण ईर्ष्या—कितनी कठोर, कितनी निर्मम है! जब यह उठती है, तब लूक बनकर उठती है; और जब फटती है, तब प्रलय बनकर बरसती है। इस जगत् में न ऐसा कोई निविड़ नाता है, न ऐसी स्नेह की शृङ्खला, जिसे चकनाचूर कर यह भुरसियाँ नहीं बना देती। इसकी संहारिणी सत्ता तमाम सांसारिक बन्धनों की धज्जियाँ उड़ाकर वर्त्तमान और भविष्य का तख्ता उलट सकती है।

अगर राम के तिलकोत्सव की ख़ुशी में कौसल्या की बधाई हुई दाई का आनन्द-चञ्चल नथ कैकेयी की महरी की आँखों में चिनगी न

फूँकता, तो बहुत सम्भव था कि न राजा दशरथ का मरण होता, न युवराज का वन-गमन; न सीता का हरण होता, न लङ्का का दहन, और न पौलस्त्य-परिवारका दलन।

मन्थरा की ईर्ष्या कौसल्या की महरी से थी, कुछ राम से या राम की माता से नहीं। ईर्ष्या बराबरी से होती है, बड़े या छोटे से नहीं। उस ईर्ष्या की शिखा देखने में एक नन्हीं-सी लुत्ती जो हो, पर भभककर दावानल से भी प्रबल हो गई और सरयू से सागर तक हहास बाँधे फैल गई! उस विस्फोट के दायरे में निखिल भुवन खिंचकर आ गया। एक-से-एक धुरन्धर महारथी और ज्ञानी, जिनकी भुजाओं के तेज के आगे गन्धर्व और देवताओं के भी होश ठंढे हो जाते थे, महज़ दो पैसेवाली बाई की ईर्ष्या के शिकार हो गये!

बाहर मैदान लेकर चक्रव्यूह के एक-एक मोर्चे को आसानी से कोई भले ही तोड़ सके, लेकिन अगर वह घर के एक फाँक से—आँगन की दीवार के एक सूराख़ से—लापरवाह रहता है, तो विश्वविजयी होने पर भी उसे घर की चौखट पर मुँह की ही खानी पड़ती है।

झन-झन रात में हमारे पलँग की मसहरी के भीतर, कभी आँख के खारे जल के साथ, कभी होठों के मीठे रस के साथ, जो-जो विष-मंत्र हमारे कान में फूँके जाते हैं, वे तांत्रिक के मारण और उच्चाटन-मंत्रों से भी कहीं भयङ्कर होते हैं।

अब तो पंडितानी का चेहरा तमतमा उठा। मारे ग़ुस्से के दाँत पीसनेवाली रगड़ पर जबड़ों के भीतर से गाज निकल पड़ा। ख़ैरियत थी

कि बेला सामने मौजूद न थी, वरना भगवान् जाने, उसपर क्या बीतती ! मिश्रानी उसे मुअल्लक़ कच्चे निगल जातीं या बोटी-बोटी काटकर रख देतीं !

"उस निगोड़ी को कुत्तों से न नुचवा दूँ, तो कहना !"—मिश्रानीजी काली नागिन की तरह फुङ्कारकर बोलीं।

गनेस बहू ने आग लगाकर अब पानी डालना शुरू किया। यह उसकी हरगिज़ नीयत न थी कि मिश्रानी सामने से वार करें और गिरिधारीलाल या कमला के कानों तक यह बात उठे। उसे डर था कि बात अगर बढ़ी और छान-बीन चली, तो यह बला पलटकर उसीके सर पर आ धमकेगी और लेने के देने पड़ जायँगे।

मिश्रानी का रुख़ देखकर वह डरी कि कहीं जामे से बाहर होकर वे हंगामा न बरपा कर दें और आख़िर उसे दस के सामने सबूत पेश करना पड़े। इस पैंतरे में तो वह पीठ खा जायगी और बेला सुर्ख़रू बनी रहेगी।

तबतक मशवरे में मूँगा भी आकर शामिल हो गया। मिश्रानी ने साँस लेकर फिर शुरू किया—"मैं तो पहले ही से जानती थी कि वह हरामज़ादी मुझे तबाह करने आई है। 'मुँह में राम, बग़ल में छुरी'! कमली नहीं समझती, सर पर बिठाये रखती है। उस टोनही ने सारे घर पर जादू डाल रखा है। जिससे कहो, वही उसका गुन गाता है। अकेली मैं ही बाग़ी बनी हूँ। मैं मुँह न झौंसवा दूँ तो बाप की बेटी नहीं! मेरी रोटी के टुकड़े पर पेट पालना और मेरे ही घर में सेंध देना !"

"मगर मालकिन !"—मूँगा ने दबी ज़बान से भूत उतारने की कोशिश की—"सेंध डालकर वह कलमुँही करेगी क्या ? कुछ मिट्टी की

दीवार तो है नहीं कि डर है। वह डँड़कुटी कहाँ तक पत्थर तोड़ सकेगी! गुरु महाराज पर निगाह उठाएगी, तो ख़ुद ही जलकर ख़ाक हो जायगी। वे ख़ालिस सोना हैं, कुछ काँसे-पीतल तो हैं नहीं कि चीस का डर हो।"

"सो तो ठीक है मुँगा! लेकिन पुरुष-जाति का मन बड़ा तुनुक होता है। कोई मुझे तो निगाह डाल के हिला ले; आँखें निकलवा लूँ!"

मिश्रानी शायद आइने में अपना मुँह देखतीं, तो यह बेतुकी बात ज़बान पर न लातीं! उनके यौवन पर अगर आँखें गरम होतीं या जुड़ातीं, तो मिश्रजी को इसी सिन में अजगुत जगाने की हाजत न होती!

"सूत की रगड़ से भी एक दिन पत्थर घिस जाता है। काम का घुन उनके सब धरम-करम को खोखला कर देगा!"—मिश्रानी ने फिर अपना मन्तव्य पेश किया।

"नहीं मालकिन! पत्थर में घुन नहीं धरता। और, हमारे सरकार का न वह सिन है, न कभी की ऐसी धुन है। एक नहीं, सैकड़ों बेला आकर रूप का मेला हज़ार खड़ा करें। यह तो रोज़ जाकर घंटों रामायण पढ़ती है, इससे क्या होगा? उनके दिल पर भला बल आने को है?"

"सत्तर चूहे खाकर बिल्ली चली हज करने!"—मिश्रानी ने फिर फुंकारकर कहा।

रामायण का ज़िक्र होते ही पंडितानी के मिज़ाज का पारा ऊपर खिंच गया। बेला पढ़-लिख सकती है—रामायण पढ़ती-समझती है, यह सत्य उनके कलेजे में काँटे की तरह चुभा करता। पंडितजी की हज़ारों बलीग़ कोशिश पर भी वह ख़ुद तो महज़ 'क-ख-ग' के आगे न

बढ़ सकी थीं, और यह दो दिन की छोकरी मोटी-मोटी किताबों को मथ डालने का दिमाग़ रखती है, यह बात उनको जामे के दायरे के बाहर फेंक देती। यही वजह थी कि वे बेला को कभी दम लेने की फ़ुरसत नहीं देती और रात में चिराग़ के तेल के ख़र्च की जाँच पर कड़ी निगाह भी रखतीं।

बेला बिचारी जो कुछ पढ़ती, मिश्रानी से नज़र चुराकर। उसका रूप—रूप पर रंग, उसका यौवन—यौवन का निखार, उसका शील—शील का बरताव, उसकी तालीम—तालीम की तारीफ़, एक-एक रमादेवी के कलेजे में आग लगाने के लिए काफ़ी होती—अगर बेला के मुँह का उतरा हुआ पानी उस शोले की भड़क को ठंढा न रखता। ख़ैरियत यही थी कि वह पतिता की उपाधि से भूषित थी। नहीं तो, रूप-रंग और शील-स्वभाव के 'दुर्गुन' रहते उसे मिश्रानी के घर में एक क्षण भी टिकने की इजाज़त मिलती? उसके तमाम अवगुणों का जवाब थी उसके सर के कलंक की छाप!

बेला के मुँह पर सोने का पानी क्यों न हो; पर आबरू का पानी तो रहा नहीं। वह अरबी फ़ारसी की शान पर लाख इतराती फिरे, भजन-पूजन और नेम-नियम की लाख माया-रचना करे; पर ये तमाम कोशिशें और तरकीबें जब उसके दामन के दाग़ को नहीं धो सकतीं, तब मजाल नहीं कि वह किसी कुलवाली के रू-ब-रू आँखें बराबर कर सके!

दिल में यही तसल्ली रखकर मिश्रानीजी थाली की गरम-गरम खीर-पूरी को उँगलियों से मीसकर इतमीनान से निगल जातीं। अगर उनके

दिल में इस दिमाग़ की जगह न रहती, तो मुमकिन न था कि एक लुक़मा भी हलक़ के नीचे उतर पाता। उन्होंने कभी ख्वाब में भी न समझा था कि बेला की चितवन का जादू पंडित-प्रवर के सर पर भी सवार हो सकता है। एक हल्की-सी आशङ्का मन के कोने में कभी झाँकती भी, तो पंडितजी के खिचड़ी बाल, उनकी गर्दन में रुद्राक्ष के दाने, भगवान् चन्द्रमौलि के पद-प्रान्त पर झुके हुए उनके ललाट की भस्म रेखा, उनकी उठती हुई बेकली की जड़ काट डालती। फिर, उनकी निगाहों में बेला के रंग रूप में कोई ऐसी ख़ास बावत नहीं थी कि किसी आशङ्का की जगह हो!

अव्वल तो किसी के गरदन पर दो सर नहीं थे कि वह बेला के रूप-गुण का बखान उनके सामने ज़बान पर ला सके; क्योंकि एक तो दुनिया की किसी हाड़-मांस-चाँमवाली स्त्री का कौन ज़िक्र—इन्द्रसभा की उर्वशी की मोहिनी सूरत का भी वे क़ायल नहीं थीं; और दूसरे, घर के सभी बूढ़े-बच्चे इस अम्र से वाक़िफ़ थे कि मिश्रानी के दरबार में ऐसा तज़किरा कुफ़्र की चर्चा की तरह मकरूह था।

जब इन सरगर्म बातों की आवाज़ कमला के कानों में पड़ती, तब उसका जी मानों रो उठता। वह अपनी माँ के मिज़ाज के इस अन्दाज़ से परिचित थी; लेकिन जब कभी वह किसी बात पर खिझी रहती, तो बेवजह उनकी कनपटी के नज़दीक छेड़ बैठती—"आह! भगवान् का इन्साफ़ तो देखो! बेला को रूप तो दिया ऐसा लहालोट और भाग दिया ऐसा खोटा! यही करना था, तो यह सोने की पुतली बनाने को क्या पड़ी थी।"

यह बात क्या थी, बर्रे के छत्ते में छड़ी घुसेड़नी थी। मिश्रानीजी फ़ौरन् जामे से बाहर हो जातीं—"क्या बकती हो कमली? जवानी में कूबड़ी भी किन्नरी बन जाती है—दुमकटी कुतिया भी किलोल करती फिरती है। उस कलमुँही को रूप! तुम भी सपना देखती हो? गाल क्या हैं, तेल के गुलगुले हैं; फूलकर कुप्पे बने हैं, मानों बर्रे ने काट खाया हो! ऊँट की-सी लम्बी गरदन, हाथी के सूँड़ की तरह रान, बड़ी-बड़ी डरावनी आँखें! इसे भी तुम रूप में शुमार करोगी? मेरे भी कभी दिन थे। मैं भी दस में एक थी! तुम्हारे नाना जब नवरातरे में कुमारी-पूजन कराते, तब मैं ही चंडिका बनती! जानती हो, देवी की प्रतिमा की तरह मेरे रूप की छटा थी और फूल-माला पिन्हा कर मेरी आरती उतारी जाती थी!

कमला चुपचाप सुनती, होठों में मुस्कुराती और मन-ही-मन ख़ुश भी होती। वह ख़ुद तीस के पड़ोस में आ चुकी थी; और यद्यपि उसे हुस्न का दिमाग़ न था, मिज़ाज भी बिलकुल सीधा-सादा था, सिन्दूर से भरी माँग और बच्चों से भरी गोद होने के कारण बेला से ख़्वार खाने की कोई वजह भी न थी; फिर भी वह स्त्री थी और सब कुछ होने पर भी आख़िर अपनी माँ की बेटी थी।

कब कोई स्त्री दूसरी स्त्री के रूप-गुण की बड़ाई पर मन से मुग्ध हो सकती है? ऐसा स्तुति-गुंजन कब उसके कानों में पीयूष का क़तरा हो सकता है?

आपको इस कलाम पर यक़ीन न हो, तो आप अपनी प्रेयसी के

रू-ब-रू मुहल्ले की किसी चन्द्रमुखी या नहीं तो अपनी साली या सलहज ही की लावण्यलहरी की चर्चा छेड़िये, और फिर ज़रा आड़ी आँखों से उनके चेहरे के रंग के उतार-चढ़ाव को—उनकी चितवन के कोने की झलक को—उनके होठों के प्रान्त की रेखा को—ग़ौर से मुलाहज़ा कीजिये।

अगर श्रीमतीजी ने आपकी नीयत को भाँप लिया, या यह समझ लिया कि यह तर्ज़े-सख़ुन उनको बनाने की या उनके दिल को टटोलने की तरकीब है, तब तो कुछ रंग खुलेगा नहीं और वे हँसकर बात टाल देंगी; नहीं तो आप कुछ मज़ेदार टीका-टिप्पणी सुनेंगे—"हाँ, रंग तो चटक है, मगर चेहरे पर काफ़ी नमक नहीं!····उससे तो निर्मला दीदी की बेटी रमा कहीं खुलती है। रंग उतना साफ़ न हो, मगर कैसा सलोना चेहरा है! अलबत्ता दाँत उनके बिलकुल अनार के दाने की तरह गुँथे हैं; मगर ज़रा होठों पर बेतरह लटक आये हैं! आँखें ज़रूर हिरन की-सी बड़ी और रस से भरी हैं; मगर पेशानी न होने से रंग नहीं लातीं! बाल तो ऐसे लम्बे और काले मैंने देखे नहीं; पर अगर घने भी होते, तो बे-मिसाल होते!"

और, कहीं वेश-भूषा पर चर्चा छिड़ी, तो फिर आप उनकी नपी-तुली जाँच की रिपोर्ट सुनिये—"साड़ी तो सुआपंखी लहालोट थी; मगर कहीं खसखसी रहती, तो और खुलती। ब्लाउज़ का पैटर्न तो बिलकुल नया था; मगर इस क़दर खुली गरदन थी कि मैं तो शर्म के मारे चौखट से बाहर न होती! मीरा की सन्दली साड़ी थी तो बारीक; पर उनके जिस्म

के रंग के साथ चलती नहीं थी! अगर मैच करती हुई बेल रहती, तो सच मानिये, आज पार्टी में श्यामा की मासी साड़ी लाल में एक होती। जूली के जैकेट की काट तो चटक थी; मगर भाई! आस्तीन पर बेवजह झालरी लेस चढ़ाकर उसे भद्दा कर डाला।"

नेता के शिकम के चूहे उछल रहे थे। वह अबतक इसी घात पर टक लगाये बैठा था कि मछली किनारे पर आती है या नहीं। मिश्रानी के मिज़ाज का उभरा हुआ बादल महज़ गरज-तड़पकर खुल जायगा या किसी ओर बरसेगा भी। अगर बरसना है, तो मेरी बारी पर आकर बरसता कि सूखी लालसा की लता लहलहा उठती।

उस दिन तो कमन्द बाम तक पहुँचकर टूट गई थी। वह असफलता उसे आज भी खल रही थी।

मिश्रानी भीतर-ही-भीतर फूल रही थीं और गुमसुम बैठी थीं। तीनों दरबारी एक दूसरे का मुँह ताक रहे थे। ऐसी ऊमस हो गई कि पता न चलता, किधर की हवा है।

नेता का दिमाग़ खौल रहा था। वह गनेस बहू को कनखियों से इशारा देता रहा। भगवान् जाने, यह तमाम बन्दिश दोनों की बुद्धि की सम्मिलित उपज थी या महज़ गनेस बहू के ज़रख़ेज़ दिमाग़ की फ़सल थी। जो हो, गनेस बहू ने बड़ी ख़ूबी से घाट चरा दिया था; अब नेता को डोरी डालकर शिकार निकाल लेना था।

मिश्रानी की जानिब से आख़िर बेला की क़िस्मत का फ़ैसला क्या

होता है ! कुत्तों से नुचवा देना या मुँह झौंसवा देना तो इस ज़माने में न मुमकिन है, न मुनासिब।

नेता हरगिज़ इस नादिरशाही का पक्षपाती नहीं था। वह तो चाहता था कि किसी तरकीब से, बग़ैर शोर-ग़ुल के, बेला के क़दम इस मकान से उठ जायँ; फिर तो उसे उड़ा ले जाना बाएँ हाथ का खेल था।

इसीलिए जब उसने देखा कि ऊँट किसी करवट नहीं बैठता है, तब नकेल थामकर उसे अपनी ओर बैठाना ही होगा। उसने ज़रा गला साफ़ किया और अपनी राय पेश की—"बहूजी ! मूँगा भाई ने जो कहा, सो ठीक ही कहा। सरकार पर चितवन का वार चलाने के लिए बेला को नया जनम लेना पड़ेगा। सो, डर नहीं है। लेकिन इस ढिठाई की सज़ा देनी ज़रूरी है। वार ऐसा हो कि साँप भी मरे, लाठी भी न टूटे। किसी तरह की हलचल होने से हमारी ही बदनामी होगी; सरकार को भी नागवार होगा। बेला को चालाकी से खपा देना ठीक होगा—किसी को कानों-कान ख़बर तक न हो।"

गनेस बहू की जान में जान आ गई। उसने तड़-से इस राय की तसलीम की—"हाँ, बहूजी ! नेता गुनी की बात सौ में एक बात है। मैं इसे पीर मियाँ के मेले में लिवा जाती हूँ। और, नेता काका ! तुम वहाँ से टरका देना !"

नेता का कलेजा बाँसों उछल गया, पर उसने उस उछाह के रंग को चेहरे के आइने तक आने नहीं दिया—"वाह बेटी ! यह तो पते की बात बताई ! तुम दोनों शीरीनी का चढ़ावा लेकर चलो, वहाँ

से फिर·····फुर्र !"

"नेता भाई ! तुमने तो गोटी लाल कर दी ! पौ-बारह का हाथ है यार !"—नेता के तानपुरे के तबलची मूँगा ने फ़ौरन् थाप दी।

"ठीक तो, नेता !"—मिश्रानीजी की ज़बान खुली—"जब से वह सबुजपैरी मेरे घर पर आई, मुझे चैन नहीं। अब किसी तरह तुम इस बला को दूर करो !"

फिर तो चारों आध घंटे तक फुस-फुस बातें करते रहे। प्लैन की रचना पूरी हुई। फूल-माला पिन्हाकर उसे पीर मियाँ के मज़ार की बलिवेदी पर ले जाने का नक़्शा बैठ गया। गनेस बहू और नेता ने वहाँ से उड़ा ले जाने का बीड़ा उठाया।

मिश्रानी ने गिरगिटान की तरह सिर हिलाकर स्वीकृति दी। उनका मेघाच्छन्न मन फिर साफ़ हो चला, और बादल फटते ही प्रसन्नता की किरणें चेहरे पर खेलने लगीं।

एकादश परिच्छेद

इधर तो बेला के सत्यानाश का प्लैन तैयार हो रहा था, उधर वह बिचारी गङ्गा और यमुना की गरदन में माला डाल कर आरती उतार रही थी। जब कभी वह फूल और कपूर पा लेती, गङ्गा और यमुना पर चढ़ा देती थी। जब गनेस उन्हें बाहर चरागाह पर ले जाने के लिए पहुँचा, तब उसकी आँखों के सामने आरती-शिखा की क्षीण ज्योति से उद्भासित बेला का मुखमंडल दीख पड़ा, और वह ठमककर खड़ा हो गया।

जो आँखें सदा एक दानवी के भूधराकार स्वरूप के अभ्यस्त थीं, वे आज किसी देववाला की दिव्य दीप्ति के दुर्लभ दर्शन पाकर क्यों न निष्पलक हो जातीं?

वह बेला को प्रतिदिन देखता रही ; पर आज उसी बेला की काया में जो रूप का निखार उसने देखा, उसे उसने अपनी आँखों की ख़ुशक़िस्मती समझी। वह इस तरह आँखें फाड़कर देखने लगा, मानों वह बेला को खड़े-खड़े उनमें रख लेना चाहता हो! वह ख़ुद की बेख़ुदी में इस क़दर डूबकर गुम हो गया कि उसके दिमाग़ से यह ख़याल बिलकुल जाता रहा कि बेला की भी आँख हैं और उसकी आँखों की यह चोरी की लत कहीं पकड़ ली तो!

जब बेला की निगाह उस ओर फिरी और उसने गनेस को इस स्थिति में पाया, तब वह न जाने किस आवेग से हँस पड़ी—"क्यों गनेसी! क्या देखते हो? तुम्हें भी आँख हो गई क्या?"

गनेस ऐसा लजाया, मानों भाई के घर में सेंध देते पकड़ा गया हो ; मुँह से आवाज़ नहीं निकली, जैसे ज़बान तालू में सट गई हो। वह झुककर भूसे का खाँचा उठाने लगा।

"यह क्या कर रहे हो? पगहा इधर है! गायों को खोल ले जाओ। देखते नहीं, कितना दिन चढ़ गया!"

गनेस इस चेतावनी पर सँभल गया और खूँटे की ओर मुड़ा।

जब दो घंटे बाद श्रीधर खाने के लिए आँगन में आया, तब कमला ने चौके में आसनी डालते हुए कहा—"आज तो भाई, माँ ने बेला को नई रंगीन साड़ी दी है और गनेस बहू ने सर पर तेल देकर पाटी सँवार दी है। मुन्नी तो आज उसकी गोद से उतरती ही न थी।"

श्रीधर हाथ-मुँह धोकर कम्बल पर बैठ गया। कमला ने थाली

लाकर सामने रखी। श्रीधर ने रोटियाँ तोड़कर दाल में भिगोईं, और मुन्नी को गोद में लेकर खिलाने लगा। उसके चेहरे से प्रसन्नता चुई पड़ती है।

"सच! बेला ने आज रंगीन साड़ी पहन ली?"

"न पहन लेती, तो करती क्या? माँ के सामने किसी की एक चलती है? वह भी मख़मली किनारे की हल्की पियाज़ी साड़ी!"

"तुम भी वहीं थी?"

"मैं तो तड़के मोहन मिश्र के घर मुन्नी को लेकर गई थी। जब दिन चढ़े लौटी, तो देखा कि बेला सिटपिटाती हुई कोने में खड़ी है, और गनेस बहू सूखे बिखरे बाल पर तेल उँड़ेल रही है। मैंने तो आकर नेता और मूँगा को टरकाया और बेला को अपनी कोठरी में ले जाकर चोटियाँ गूँथ दीं। जानते नहीं, आज वह चढ़ावा लेकर मेले जा रही है!"

"मेले जा रही है! कौन-सा मेला?"

"वही, पीर मियाँ का मेला!"

"राम! राम!! वहाँ कोई शरीफ़ भी जाता है? और बेला वहाँ क्यों जाने लगी?"

गाँव से थोड़ी दूर उत्तर जानिब पीर मियाँ का मज़ार है। वहाँ जुमे के दिन रमज़ान के दिनों में ख़ासा मेला उमड़ आता। दूर-दूर से औरतें नियाज़ की शीरीनी लेकर आतीं और अपना अर्ज़-गर्ज़ लगातीं। पुजारी एक लफंगा कलाली है। जब मुरादें पूरी होतीं, तब मुर्ग़ियाँ

कटतीं। मुसलमान औरतों का तो हुजूम लग जाता; मगर सैकड़ों हिन्दू औरतें भी शामिल होतीं। बड़े-बड़े घर की औरतें भी लुक-छिपकर आतीं और मनचीती दुआएँ माँगतीं। कितनी परदानशीं अपनी प्रकृति के तक़ाज़े के वश मेले के बहाने दो घड़ी की तफ़रीह ढूँढ़तीं।

परदे की बद्ध वायु के भीतर अक्सर बेपर्दगी के अंकुर पनपते हैं; बुतपरस्ती के सङ्कीर्ण निर्मम प्राङ्गण में अक्सर बुतशिकस्त की आत्मा शरीर पाती है; आचार की कठोरता के परदे में व्यभिचार की सत्ता सर उठाती है; पूँजीपतियों के मख़मली गाव-तकियों की तह में साम्यवाद के कीटाणु अंडे देते हैं।

देहातियों के जीवन में न सिनेमा है, न थिएटर; न क्लब है, न रेस। उनके लिए तो देवघर और स्नान का मेला है; मेले की छोटी-मोटी दूकानें हैं; दूकानों की कंघी, चोटी, बिन्दी, टिकुली है; बिन्दी-टिकुली में लहालोट पाटी-गुँथी औरतें हैं; औरतों की चौड़ी-चिपटी झुलनियाँ हैं, और सब पर बाला थिरकती हुई झुलनियों की बहार है!

पीर मियाँ के मेले में हर तबक़े की औरतें इकट्ठी होतीं। बूढ़ी आकर बेटी के लिए बेटे माँगती, जवान आकर जवानी का भूत उतारती, बच्ची आकर पेट की तिल्ली कटवाती। घूँघटवाली आती, दिल-फेंक निगाह-वाली भी आती। कोई मन की खाज, कोई देह की खाज मिटाने आती। कितने छैल-छबीले, लुच्चे-लफंगे, लुंगी और काछा बाँधे, पान चबाते, बीड़ी फूँकते, सोने की चिड़ियों की तालाश में, मँड़राते फिरते। गाँव के बाँके-तिरछे बाबू-भैया, टेढ़ी टोपी सर पर तानकर, कुँअर-कन्हैया बने, इंद्रों में

तेल देकर इतराते रहते।

कमला ख़ुद जानती थी कि यह मेला भले आदमी के जाने की जगह नहीं। पिता की मरज़ी के ख़िलाफ़ बात थी। पर मिश्रानीजी की आस्था तो देवघर और मज़ार में थी। यद्यपि वे इधर ख़ुद नहीं जाती थीं; पर गाँव के जागते देवता 'पीर मियाँ' की दिलजोई के लिए चढ़ावा भेजना तो ज़रूरी था।

जब श्रीधर ने दरियाफ़्त किया कि मेले में बेला क्यों जा रही है, तब कमला ने सर झुका लिया। जवाब क्या देती? वह तो ख़ुश थी कि बेला की क़िस्मत खुल गई और माँ ने आज उसे अपने हाथ से धराऊ साड़ी पहनाई और गुलफुल उसके दोनों गाल चूम लिये।

ऐसी ख़ुशनसीबी के वक़्त बेला अगर जाने से इनकार कर देती, तो बहुत मुमकिन था कि बनी-बनाई बात बिगड़ जाती और मिश्रानी की दिलशिकनी होती। आख़िर घंटे-भर के लिए जाने में हर्ज़ ही क्या है? कोई उसे खा तो जायगा नहीं। और, वह कौन ऐसे बाप की बेटी है या रूप की रानी है जो दस क़दम चलने से कुम्हला जायगी? इसीलिए कमला ने बेला को समझा-बुझाकर जाने पर राज़ी किया था।

"जाने में हर्ज़ ही क्या है? माँ का मन रख लेगी, तो यहाँ चैन से दिन काटेगी।"—कमला बोली।

"वहाँ मेले में इर्द-गिर्द के सैकड़ों आवारे इकट्ठे होते हैं और बुरी तरह की बेपर्दगी चलती है।"

"अकेली तो जाती भी नहीं, गनेस बहू भी साथ जाती है। चिराग़

जलने के पहले दोनों वापस चली आयँगी।"

इसी वक्त बेला, गङ्गा और यमुना के लिए जूठ का बरतन उठाए, सामने चौके से गुज़री। श्रीधर ने देखा, प्याज़ी साड़ी के आवेश में बेला के शरीर की पोर-पोर से लावण्य की किरणें छन रही हैं, और सुलझे-सुथरे बाल के बादल से चमकता हुआ मुखड़ा क्या है, चाँद का टुकड़ा है!

बेला ने आँखें उठाकर श्रीधर को देखा, और फिर आँखें झुकाकर निकल गई। इस देखादेखी में तो कोई बात नहीं; पर आज अचानक बेला चौका उठने के पहले बरतन तलाशती इधर क्यों आई? यह कुछ सधी-बँधी बात थी या मन की उड़ती मौज थी? क्या वह नई रंगीन साड़ी के भीतर से रूप का निखार दिखा गई—वही नारी की शाश्वत प्रकृति? पर, वह तो कभी की विलास-चंचला नहीं थी! अभी तक तो उसके दिल में चुहलों का चाञ्चल्य कभी पाया नहीं गया! यह इंगित भी उसके साथ अन्याय हो सकता है। भगवान् जाने, कौन ऐसी प्रेरणा थी, जिसे वह शायद ख़ुद भी नहीं जानती थी।

द्वादश परिच्छेद

"अरे यार! यह सोने की चिड़िया कौन उड़ा लाया?"

"पता नहीं। आख़िर है यह किस डाल की बुलबुल?"

"म्याँ! बस, दूर से आँखें सेंक लो! यह कुछ इस चमन की चाँदनी....."

"भई! इस खटमीठी चटनी का मज़ा....."

"क्यों बे उल्लू! तुम्हारी ज़बान भी तर होने लगी क्या?"

"और क्यों न हो?—'मुझको ख़ुदा जो सब्र दे, उस-सा हसीं बनाये क्यों'?"

"क्यों लाला! तो क्या यह मेले से बैरंग वापस चली जायगी? किसी की छाती में कलेजा नहीं रहा क्या यार!"

"अरे कलेजा न सही, दिल तो है।"

"यहाँ कलेजे का काम है बच्चू! दिलवाले तो दिल थामे खड़े हैं! किसी को गुरदा हो, तो इस माल पर हाथ डाले। नहीं तो—टुकुर-टुकुर दीदम, दम न कशीदम!"

"जाने मन! आधी नज़र इधर भी हो!"

इन चौतरफ़ी बेतुकी आवाज़ों की भनक बेला के कानों में भी पड़ी। वह गनेस बहू के पीछे सिमटी जा रही थी। वह हज़ार लुकती, हज़ार सिमटती, हज़ार सिकुड़ती; पर यहाँ हज़ार-हज़ार कुतूहली लोचनों की दूर-बीनें तनी थीं। छिपने-छिपाने से वह कहाँ तक बच पाती! एक ओर चुराती, तो दूसरी ओर उघरती; एक से बचती, तो दूसरे से टकराती। आँखों पर लम्बा घूँघट खींचती, तो मुँह के बल पड़ जाती; अगर घूँघट सरकाती, तो मुलायम गालों पर चितवनों की अनी गड़ती। वह ज्यों-त्यों लजीली बधू की तरह अपने-आपको चुराने की कोशिश करती, त्यों-त्यों वह देखनेवालों के लोचनों को ललचाती।

वह बिचारी अकेली थी और चारों ओर से गुलछर्रे के छर्रे तथा चितवनों के चोखे तीर बरस रहे थे। वह बिंधी जा रही थी। वह प्याज़ी साड़ी जान की आफ़त हो गई। बेनी का फुलना सर्पिणी की फणा बन गया। ज़मीन फटती न थी; आसमान फटता न था!

नेता एक दूकान पर बैठा गाँजे का दम लगा रहा था। उसकी आँखों के डोरे सुर्ख़ हो रहे थे। उसकी पेशानी की नसें तनी थीं। वह बेला को बेशर्मी से घूर रहा था और झुक-झुक कर मूँगा के कानों में

शोख़ी भर रहा था।

जब नियाज़ की रस्म तामील करके गनेस बहू की विशाल काया के साये में सिमटी हुई बेला वापस जाने के लिए उतावली हो रही थी, तब नेता ने आकर मीठा मुँह करने के लिए दोनों को निमंत्रित किया—"गनेसी बहू! चलो, ज़रा ठंडा तो हो लो; मुँह तो मीठा कर लो। क्या खाओगी? गुलाब-रथोड़ियाँ—मोतीचूर—पन्तुए? जो कहो।"

गनेस बहू मुड़कर बेला के कानों में फुसफुसाई—"जल्दी क्या है? इतने दिनों पर तो मकान के बाहर पैर रखा है। मेला तो देखती चलो! हाँ, कुछ चख भी लो!—जिलेबी या रथोड़ी?"

बेला ने सर हिलाकर इनकार कर दिया। तबतक मूँगा वहाँ आ टपका।

"न सही मीठा, नमकीन तो कुछ चखो! ताज़ी फुलौरी, गरम-गरम चुघनी, दही-बड़े, कचालू-समोसे—जो जी चाहे, सब तैयार है।"

"नहीं, भूख नहीं। घर चलो, हाथ जोड़ती हूँ, देर न करो। मुझे डर·····"—बेला अपने को ज़्यादा ज़ब्त न कर सकी।

"यह लो! यहाँ डर किसका? मजाल है कि कोई चूँ भी करे?"—नेता ने ज़मीन पर लाठी पटकते अकड़कर कहा और मूँछों पर ताव दिया।

गनेस बहू आगे बढ़ी और तमककर बोली—"तुम न खाओगी, मत खाओ। मैं तो बग़ैर जलखई किये लौटती नहीं!"

वह एक मिठाई की दूकान पर ठमककर खड़ी हो गई। नेता ने बढ़कर हलवाई से कहा—"दो सेर गुलाबजामुन तौल दो, ज़रा देखकर।"

हलवाई ने डंडी उठाई और मिठाई तौल दी। गनेस बहू ने आँचल के खूँट में मिठाई बाँध ली।

"घर जाकर खाऊँगी। यहाँ बड़ी भीड़ है"—कहती हुई वह ज़रा आगे बढ़ गई। बग़ल में ही सटी बेला खड़ी थी। तबतक एक धक्का आया और वह ज़रा दूर पड़ गई। मेले का रेला और बीच में पड़ी बेला! किसी ढीठ ने झटके देकर उसका घूँघट उलट दिया और बेला का अनावृत मुखमंडल निगाहों के सामने उभर गया।

"अरे, सोने का चाँद है यार!"—कहते हुए एक रँगीले ने बेला के कंधे पर हाथ रखा ही था कि मूँगा ने आकर एक धौल जमाई।

लड़खड़ाती बेला सँभल गई। गनेस बहू ने आकर उसे अपनी गोद में खींच लिया, और आगे बढ़ी। उसके साये में बेला बादल में बिजली की तरह चमक रही थी। मसख़रों ने फबतियाँ कसीं; भूतनी और परी की उपमा दी, और गनेस बहू दाँत पीसकर ख़ून पी गई।

जब वे मेले के दायरे से बाहर निकल आये, तब नेता ने गनेस बहू को कनखियों से इशारा किया और फिर मुड़कर मूँगा से कहा—"भाई, किसी एक्केवाले को हाँक दो। अभी दो मील बस्ती है। पाँव-पियादे रास्ता नापना मुमकिन नहीं। बेला बिचारी थक गई होगी।"

पार्टी ठमककर खड़ी हो गई। अबतक तो ख़ैर मज़े से निभ आया। अब इसे उड़ा ले जाने की आख़िरी गोटी थी। मूँगा के पाँव उठते नहीं थे; लेकिन शामिल न होता तो कहाँ का रहता! उसके साथ तो नेता की ताबेदारी रोटी का सवाल था।

जो परान्नजीवी है, उसकी छाती में लाख हृदय हो, उसकी आत्मा में न ओज है, न भुजाओं में तेज। यदि दुर्योधन का अन्न भीष्म और द्रोण का तेज-हरण न करता, तो कभी मुमकिन था कि उनकी आँखों के सामने आततायी के हाथों से राज-कुलवधू की साड़ी भरी सभा में खींची जाती?

फिर मूँगा की क्या बिसात? वह किस खेत की मूली है?

गनेस बहू रास्ते में अँगड़ाई लेने लगी। गाँव का सीवान आ चुका।

शाम का झुटपुटा। दरवाजों पर पनियों का कलरव शुरू है। आम की बौर हवा से उलझ रही है। मेला टूट चला है। औरतें झूमर गाती हुई लौट रही हैं। उनके गात की चुनरी, उनकी नाक की झुलनी, उनके हाथ की चूड़ियाँ देखनेवालों की आँखों पर तरावट डालतीं। चलती बैल-गाड़ियों पर औरतें और बच्चे ठसाठस भरे हैं। बालू में बैलों के कंधे लच रहे हैं। एक बिसाती पीठ पर बुक्चा बाँधे गुनगुनाता हुआ लौट रहा है। खोंचेवाले गरम-गरम चने की आवाज़ भर रहे हैं।

इस हलचल और चहल-पहल में बेला काठ की पुतली-सी खड़ी है। गोधूली की तमाम आभा खिंचकर उसके चेहरे में समा चली। गालों की लालिमा झीने पट से छन रही है। उसने गनेस बहू से झुककर कहा—"यही सामने तो गाँव है, एक्के की ज़रूरत नहीं!"

नेता ने भड़ककर कहा—"नहीं-नहीं, एक्के पर चढ़ लो! अभी काफ़ी दूर जाना है!"

तबतक मूँगा एक एक्के पर दनदनाता हुआ आ पहुँचा। गनेस बहू

बग़ैर किसी दुविधा के एक्के पर जा बैठी, और बेला को बैठने का इशारा किया। पर बेला अब दूध-पीती बच्ची नहीं थी। उसने गनेस बहू के आकुल चाञ्चल्य को देखा, नेता के चेहरे की चमक को समझा, और एक आसन्न विपत्ति की आशङ्का से काँप उठी। उसके क़दम उठते नहीं थे। वह बुत बनी चुप खड़ी थी।

"सवार क्यों नहीं होती? खड़ी क्यों हो?"—नेता ने ज़रा तुर्श होकर कहा।

"आओ बेला! देर न करो!"—गनेस बहू ने दाद दी।

"चढ़ती हो या उठाकर रख दूँ?—नेता की आवाज़ में दृढ़ता का आभास था।

एक्केवाला एक्के से उतरकर नेता के कान में कुछ फुसफुसा रहा था। बेला ने दोनों के चेहरे के काँइयाँपन को देखा। वह समझ गई कि एक्के पर चढ़ने से चिता पर चढ़ना उसके लिए कहीं आसान होगा। लेकिन, अगर वह इनकार करती है, तो नेता उसके सीने पर सवार होकर उसे एक्के पर सवार करा देगा। अब तो जान को हथेली पर रखकर खेल जाना है। अगर झुकी, तो गई!

उसने आँचल को जूड़े पर खींच लिया और आँखें उठाकर इधर-उधर देखने लगी—किसी जानिब से मदद मिल सकती है या नहीं?

"क्या देखती हो? आती क्यों नहीं?"—गनेस बहू ने वज्र-गंभीर स्वर में झिझककर कहा—"न मानोगी तो झोंटा पकड़कर घसीटी जाओगी! हुँह! बड़ी सतवाली बनी है!

"मूँगा ! आओ तो, इसे टाँगकर पहिये में बाँध दूँ।"—कहते हुए नेता ने आगे बढ़कर बेला के कंधों पर दोनों हाथ रख दिये। बेला झपटकर दूर सरक गई और कड़ककर बोली—"ठहरो ! अलग रहो !"

पर कड़ककर वह करती क्या ? भागती तो कहाँ भागती—और कहाँ तक भाग सकती ? वह अकेली थी, इधर चार थे; और, चारों तैयार !

सहसा बेला की निगाह सड़क के किनारे चरागाह से लौटती हुई गायों के झुरमुट पर पड़ी। उसने गंगा और यमुना को देखा और तत्क्षण वेदना-भरी ऊँची आवाज़ से पुकारा। पलक मारते, शब्द-भेदी बाण की तरह टूटकर, दोनों गायें उसकी कमर से आ लिपटीं।

आदमी से मदद न मिली, पशु से मिली ! द्रौपदी को भी ऐसे ही सङ्कट में चीर से मदद मिला थी, किसी वीर से नहीं।

बेला दोनों के बीच में आ गई और आगे बढ़ी। नेता ने गङ्गा और यमुना के चोखे सींग को और उनकी पली हुई दोहरी देह को देखा, फिर उलटकर गनेस बहू के चेहरे पर निगाह डाली, तो फ़क़ ! एक दूसरे का मुँह ताकने लगे। दोनों का चेहरा स्याह हो गया।

मूँगा ने मौक़ा अच्छा देखकर भर्राई हुई आवाज़ में कहा—"नेता भाई ! आगे न बढ़ना। कहीं जो उसने ललकार दिया, तो दोनों सिलौधी गायें आँत उलट देंगी। मेरी तो धोती ढीली हो गई !"

शिकार पंजे से छूटता देख जैसे भूखी शेरनी तड़पती है, वैसे ही गनेस बहू एक्के से कूदकर नेता के पास चली आई और दोनों हाथों से उसके कंधे को झकझोरकर बोली—"देखते क्या हो ? चुल्लू-भर पानी

में डूब नहीं मरते ? मूँगा तो जनम का जनख़ा है ! तुम्हें भी कलेजा नहीं ? हो गई धोती ढीली ? टायँ-टायँ फिस ! पट्ठा बनते हो ! देखते नहीं, कहाँ निकल गई ? एक्के पर आओ, दौड़ाकर पकड़ लें ! मैं साथ दूँगी, मूँगा को छोड़ो। गाय में भी कहीं दम होता है ? कसकर दो डंडे जमा देना, आप भाग चलेंगी !"

गनेस बहू की ललकार पर नेता की नसों में जान आ गई। वह एक छलांग में एक्के पर जा बैठा। गनेस बहू भी उचक कर सवार हो गई। घोड़े की पीठ पर चाबुक चटका। घोड़ा हिरन हुआ।

बेला दौड़ती हुई दूर निकल गई थी। गङ्गा और यमुना के बीच में सरस्वती की धारा आजतक किसी ने देखी नहीं; पर एक ओर कृष्णा और दूसरी ओर दूध में नहाई गङ्गा के बीच में खुली हुई लटें और खुले हुए आँचल में खिलती बेला के रक्त-चंचल कपोलों की लालिमा किसी अलौकिक लावण्य-लीला की छटा दिखा रही थी। राह के चलनेवाले ठमककर उसे आँख-भर देखते और दुबारे-सेबारे देखने के लिए तरसकर रह जाते।

इधर पीछे से एक्का पहुँचा और उधर सामने के पेड़ों की आड़ से श्रीधर की उड़ती हुई साइकिल नज़र आई !

"लो गनेसी बहू ! सारा खेल किरकिरा हुआ ! यह बिछु-खोपड़ा कहाँ से फट पड़ा ! मैं तो मिश्रानी से इसको अटका कर रखने को कह आया था, न जाने कैसे निकल भागा ! बस, लौट चलो। मिश्रानी को तो ख़बर करनी ज़रूरी है ! जाल में आई हुई मछली फिर तड़पकर पानी में चली गई !"

ऐन मौक़े पर कमन्द टूट गई ! नेता की तमाम कमनीय कल्पनाओं पर पानी फिर गया। गनेस बहू तो खीस पी रही थी, दाँत पीस रही थी। पर अब पीकर और पीसकर करती क्या ? गाज फेंककर रह गई। श्रीधर ने आकर सारा गुड़ गोबर कर दिया !

श्रीधर नज़दीक आकर साइकिल से उतर पड़ा। बेला खड़ी-खड़ी हाँफ रही थी। उसकी जान में जान आ गई। वह लजा गई।

श्रीधर ने वह लजाने की भंगी देखी, उसकी पेशानी पर हीरे की कनी देखी, तरबूज़ की लाल फाँक की तरह उसके होंठ देखे, गालों पर खेलती हुई उसकी चंचल लटों को देखा, गर्दन पर तनी हुई नसों के उभार को देखा, खुले हुए आँचल के साये में स्वास्थ्य के संचार को देखा, और देख-देखकर सलज्ज निगाह झुका दी।

बेला फ़ौरन् संयत हो गई, और आँचल को सर पर खींच लिया। चाँद बादल में डूब गया। श्रीधर की आँखों पर अँधेरा छा गया।

"कौन, बेला ? क्यों, ऐसी हाँफती क्यों हो ?"

"....."

"तुम अकेली क्यों हो गई ? नेता और गनेस बहू कहाँ हैं ?"

"कहाँ बताऊँ ! आज गंगा और यमुना न रहतीं, तो भगवान् जाने, मेरी कौन-सी गति होती !"—बेला दोनों गायों की पीठ सहलाती हुई बोली—"क्या कहूँ, कुछ कहने की बात है ?"

"तुम कहोगी क्या, मैं समझता नहीं ? वे दोनों छँटे हैं। गनेस बहू तो जो बाहर है, वही भीतर है; बल्कि चेहरे की स्याही से सीने की स्याही

कहीं शोख है। चच्ची मुझे चचा के पास झीलवाले मठ पर न भेज देतीं, तो मैं एक क्षण भी यहाँ से अलग रहता ? इतनी दूर साइकिल से सरपट दौड़ा आ रहा हूँ !"

"महाराज घर पर वापस आ गये ?"

"नहीं, आज चचाजी घर पर नहीं लौटते। वहाँ शिवदास के घर किसी अनुष्ठान की पूर्णाहुति है। उसी में फँसे हैं।"

इतना कहकर श्रीधर चुप हो गया।

गोधूली के धूमिल दुकूल पर रजनी की नीली ओढ़नी धीरे-धीरे जा पड़ी। ठौर-ठौर पर आम की बारियाँ अँधेरे में डूब गईं। तपस्विनी सन्ध्या की समाधि लग गई। हर ज़र्रे—हर पत्ते—पर एक भावमय निविड़ निस्तब्धता छा गई।

दोनों चुप हैं। आगे बेला, बायें गङ्गा, दाहिने यमुना, एक ओर श्रीधर। बेला कुछ सोच रही है; श्रीधर भी कुछ सोच रहा है। वह 'कुछ' क्या है, कौन जाने ! यही रहस्य तो तारों की मौन निर्निमेष झिलमिल में है। यही रहस्य तो आकाश की मूक वाणी में, सन्ध्या की समाधि में तथा चांद की चहचहाती चाँदनी में छिपा है ! यही रहस्य तो शायद हृदय की तह का चरम रहस्य है !

आध घंटे तक दोनों चुप। अचानक श्रीधर ने कहा—"बेला ! देख-कर चलना, आगे झाड़ी है।"

"हूँ !"

"बेला ! आसमान पर तारे छिटक आये।"

"हूँ।"

"सुनती हो, बेला ! आम की डाल पर कोयल कूक रही है—कितनी मीठी, कितनी तीखी !"

"हूँ !"

"जानती हो, बेला ! मैं भी दुनिया में तुम्हारी ही तरह अकेला हूँ—बिलकुल अकेला !

"हूँ !"

भगवान् जाने, श्रीधर की इन बेतुकी बातों का आशय क्या है ! बेला ने क्या समझा, इसे वही जानती होगी !

त्रयोदश परिच्छेद

मेले से लौटकर श्रीधर ने भगवान् की सन्ध्यारती उतारी। महिम्न का सस्वर पाठ किया। पुष्पाञ्जलि भेंट की। भोग लगाया। प्रसाद बाँटा। कमला को थोड़ी देर शिवपुराण की कथा सुनाई। मुन्नी को गोद में लेकर थपकियाँ दीं, लाचीदाने चखाये।

जब मुन्नी ऊँघने लगी, कमला उसे सुलाने ले गई।

श्रीधर अलसाया हुआ कुशासन पर बैठ गया। वह बार-बार ज़ीने पर निगाह डालता। ज़रा-सी आहट पाकर चौंक उठता, मानों किसी की बाट जोहता हो। उसने कटोरी के सूखे चन्दन को पानी देकर पतला किया। दो-चार बेल के पत्ते पड़े थे; उन्हें चादर से साफ़ किया। फिर अनार की डंटी उठाई और चन्दन की कटोरी में डुबो-डुबो कर विल्वपत्रों पर दो अक्षर न जाने क्या लिखा! एक पर लिखा, दूसरे पर लिखा,

तीसरे पर लिखा। कुछ ठिठका, कुछ झिझका। फिर एक को मिटाया, दूसरे को मिटाया, तीसरे को मिटाया। थोड़ी देर तक बुत बना बैठा रहा। फिर चम-से उठा, भगवान् के चरणों में सर झुकाया और खिड़की पर आकर खड़ा हो गया।

आँगन में फैले हुए अन्धकार पर क़ब्ज़ा करने को कोने में पड़ी हुई लालटेन की धुँधली रोशनी छटपट कर रही है। सहसा बेला के आँचल का एक छोर सामने सरक आया। दोनों हाथ की कलाई शून्य है—एक चूड़ी तक नहीं। एक में एक काला धागा-सा कुछ बँधा है। गोरी कलाई पर वह कितना भला खुलता है! हाथ में पानी की डोलची है। शायद गायों को कुछ खिला-पिला रही थी। देखते-देखते ओझल हो गई।

श्रीधर ने दूसरी ओर निगाह डाली। मिश्रानी दालान के माँचे पर बैठी गनेस बहू से कुछ फुस-फुस बातें कर रही हैं। नेता खड़ा सर हिला रहा है! आज यह बेवक्त की शहनाई कैसी! उसे खटका हुआ। नेता का मनहूस चेहरा देखकर उसकी कनपट्टी गरम हो गई। पुटपुरों की नसें उभर आईं। उसका दिल तड़प उठा—काश मेरे हाथ में तमंचा होता, तो यहीं से इस शैतान की खोपड़ी उड़ा देता! दूसरी गोली कलूटी गनेस बहू की मैल-भरी छाती में दागता। बला से फाँसी पड़ता या डामल जाता। दो दोज़ख़ी कुत्तों से तो दुनिया को नजात मिलती!

उसने दाहिने हाथ का तमंचा बनाकर नेता के सर पर निशाना ताना। तर्जनी की लबलबी बनाई। सहसा उसे ख़याल हो आया

कि भगवान् के रू-ब-रू खड़ा होकर वह यह कहाँ का ख़याली पुलाव पका रहा है! वह अपनी मानसिक उत्तेजना पर लज्जित हुआ और फ़ौरन् नीचे उतर आया।

बाहर आकर वह जलपान करने लगा। लेकिन आज कचौरियों और इमरतियों में वह स्वाद—वह रस—उसे न मिला। जैसे-तैसे निगलकर पानी पी लिया, और चौकी पर लेट रहा। उसे बाहरी दालान में आये अभी कुछ घंटे भी न हुए होंगे कि दीवारों को तोड़ती हुई किसी की चीख़ की तेज़ आवाज़ उसके कानों में पड़ी। वह घबराया-सा उठा और लूक की तरह भीतर दौड़ा।

आँगन में सामने ही कमला मिली—फ़क़, डरी-सी, चकराई-सी! श्रीधर ने छूटते ही पूछा—"क्या बात है, दीदी! यह आवाज़ कैसी?"

"आवाज़ बेला की है! वह ज़रूर कुएँ में जा पड़ी है, दौड़ो—बचाओ! मैं तो अभी सोई भी न थी, भरम ही रही थी कि उसकी चीख़ और कुएँ में धराम से गिरने की आवाज़ साफ़ सुन पड़ी। भगवान् जाने, वह कूद पड़ी है, या उसके पैर फिसल गये हैं, या किसी कमीने ने....."

श्रीधर सन्न हो गया। पाँव-तले से ज़मीन सरक गई। क्या करे? किससे मदद ले? जान हथेली पर रखकर वह कुएँ में कूदने को तैयार हो गया। उसने चारों ओर निगाह डाली। गंभीर रजनी। मौन भवन। निस्तब्ध आकाश। निश्चल पवन।

नेता खम्भे की आड़ में छिपा खड़ा है। महज़ कुरते का दामन

किसी क़दर दीख रहा है। लालटेन की रोशनी में उसके पैरों की थरथरी की हिलती हुई छाया साफ़ नज़र आती है।

गनेस बहू आंगन से भीगी बिल्ली की तरह निकली जा रही है; श्रीधर को रास्ते पर देखकर कोने में सटककर खड़ी हो गई। अँधेरे में मुजस्सिम भूतनी बनी है! उसके चेहरे पर की उठती ग़ुर्राहट ज्यों ही लीन हुई, उसी क्षण वह आबनूस का टुकड़ा और भी मनहूस दीखने लगा। मुख की स्याही पर मन की स्याही की झलक आकर उस रू-सियाह की स्याही को और भी घनी कर रही है।

खाट पर मिश्रानी चादर ताने चुप लेटी है, मानों कुछ हुआ ही नहीं! जब श्रीधर और कमला की आवाज़ कानों में पड़ी, तब ज़रा ऊँची टीप से उन्होंने पुकारा—"क्यों रे नेता! यह क्या हल्ला है?"

श्रीधर ने मिश्रानी में निस्पन्द निश्चेष्टता की चरम सीमा देखी—एक निरपराध जीवन की हत्या हो रही है और चेहरे पर एक शिकन तक नहीं! जो कुछ छटपटी उसे नज़र आई, वह गंगा और यमुना की गति में थी। वे एक अदम्य बलप्रयोग से खूँटे तोड़कर कुएँ की जगत पर टूट पड़ी हैं। उनके रँभाने की आवाज़ दीवारों से प्रतिध्वनित हो रही है। जैसी आकुलता उन पर थी, वैसी बेला की प्रिय सहचरी कमला पर भी न थी। उसे तो शायद काठ मार गया था। जो हो, गङ्गा और यमुना की बेकली तमाम मकान में अकेली थी।

क्या यह सच है कि जानवर के जिगर में जितनी आदमीयत है, उतनी आदमी में भी नहीं; और मनुष्य के अन्तर में जितनी

पशुता है, उतनी पशु में भी नहीं ? यहाँ कौन मनुष्य है, कौन पशु ?—कौन इन्सान है, कौन हैवान ?—किधर ममता है, किधर निर्ममता ? किधर चेतना है, किधर जड़ता ?

गनेस बहू इन्सान है या गङ्गा ? मिश्रानी हैवान हैं या यमुना ? किसकी छाती में हृदय है, किसकी छाती में पत्थर ? यमुना की मति में इतनी ममता और मिश्रानी के मर्म में इतनी निर्ममता !

हैवान के मन में इतनी समवेदना—ऐसी अनुभूति—ऐसी चेतना, और मनुष्य के मानस में इतनी पिशुनता—ऐसी पशुता ! क्या आदमी इन्सान नहीं हो सकता, तो उसे हैवान होना भी मयस्सर नहीं ?

जब श्रीधर ने हैवान के कलेजे में इस इन्सानियत के स्फुरण को देखा, तब उसकी हिम्मत दुगनी हो गई। वह कुएँ की जगत पर लपककर चढ़ गया। अगर उसके आने में एक क्षण भी देर हो जाती, तो मुमकिन है, गङ्गा और यमुना तड़पकर इँदारे में जा गिरतीं और बेला के साथ ही डूबकर जान दे देतीं।

श्रीधर ने कड़ककर पुकारा—"क्यों रे नेता ? तू वहाँ खड़ा-खड़ा तमाशा देख रहा है ? तुझसे और कुछ नहीं बनता, तो गङ्गा और यमुना को तो खूँटे में दोहरी रस्सी देकर बाँध दे ! ये बिचारी छटपटाकर जान दे देंगी।"

नेता ने आकर रस्सी थाम ली और काँपते हाथों से उन्हें बाँधने की कोशिश की। कमला ने भी आकर हाथ बँटाया और गनेस बहू को डाँटा—"खड़ी क्या है, कलमुँही ? बाहर से जयदेव चाचा को बुला ला ! बाबा के साथ मठ गये हों, तो गनेस को भेज !"

गनेस बहू के चेहरे का रंग उड़ रहा था, मानों हत्या सवार हो! श्रीधर सीकड़ पकड़कर कुएँ में उतर गया, और डूबती-उतराती बेला की लम्बी बिखरी लटों को मूठ में थाम लिया। उसका शिथिल शरीर श्रीधर के कन्धे पर अवश पड़ गया।

कुएँ के ऊपर से रस्सी लटकाई गई और बेला की अचेतन देह खींच ली गई। श्रीधर ने ऊपर आकर उसे हाथों पर उठा लिया, और फ़ौरन् बाहर अपने कमरे में शुश्रूषा के लिए ले गया।

कमला ने बेला की इस दुर्गति को देखा, तो वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी। उसका दिल बहुत कमज़ोर था। उसके मर्म का किसलय इतना नाज़ुक था कि ज़रा-सा ताप पर पीला पड़ जाता। परिवार का प्रत्येक व्यक्ति उसकी इस कातरता से परिचित था। गनेस सहारा देकर उसे उसके कमरे में ले गया और बार-बार उसे दिलासा देता रहा कि बेला सुबह होते-होते चंगी हो जायगी। वह पलँग पर लेट गई।

इसी सुयोग में गनेस बहू और नेता आँगन से चम्पत हो गये। मिश्रानी खाट पर पड़ी जैसे पहले मुलुक रही थीं, वैसे अब भी मुलुक रही हैं। भगवान् जाने, उनकी ज़बान तालू में क्यों सटी है और आँख की पुतलियाँ कोने में क्यों पड़ी हैं।

नारी का हृदय जब पिघलता है, तब नवनीत को भी नरमी में मात करता है; लेकिन जब ठिठुरता है, तब बर्फ़ की चट्टानों से भी कहीं कठोर हो जाता है। जब वह कोमल है, तब रसाल-किसलय से भी कहीं सुकुमार; और जब निदारुण है, तब वज्र-टङ्कार से भी कर्कश—"वज्रादपि कठोराणि

मृदूनि कुसुमादपि !" बात ही वह ऐसी है; जो रंग है, वह गाढ़ा है। बर्फ़ है या आग। आकाश है या पाताल। देवता है या पशु। पीयूष है या विष। जब प्रेम है, तब त्याग की चरम चूड़ा है; जब द्वेष है, तब शेष की सहस्र फणा है।

श्रीधर ने बेला के संज्ञाशून्य शरीर को खाट पर लिटा दिया। उसकी प्याज़ी साड़ी भीगकर जिस्म पर चिपकी हुई है। पानी से शराबोर काली-काली लटें चेहरे पर, कन्धे पर, पीठ पर और सीने पर छिटकी पड़ी हैं। न उसके मुख पर घूँघट है, न छाती पर आँचल। हाँ, जलसिक्त केशों का वितान अवगुंठन बनकर परदे का काम ज़रूर कर रहा है। वह कुन्तल-जाल-विजड़ित मुखमंडल, मृणाल-मेखला कमलिनी की तरह, कितना कमनीय है।

श्रीधर की प्राण-विह्वल चितवन छनभर उस शिशिर-सिक्त सुषमा पर अटकी रही।

श्रीधर ने उसकी उलझी हुई भीगी साड़ी को जगह-जगह पर सीट-साट कर ठीक कर दिया। उसकी आतङ्क-चञ्चल उँगलियाँ काँप रही हैं, और उसके हृदय का एक-एक स्पन्दन घड़ी की टिक-टिक आवाज़ बनकर उसके कानों पर स्पष्ट गूँजती है।

"बेला! बेला!! बोलो, मुँह खोलो! बेला! मैं हूँ—श्रीधर। कहो, कहाँ चोट है?" – श्रीधर ने बेला के कानों में पुकारा।

बेला ज्यों की त्यों।

निचाट आधी रात—जड़-चेतन सभी अचेत! वह करे तो क्या करे?

पल भर वह भौंचक-सा आँखें फाड़कर बेला का मुँह निहारता रहा।

आख़िर उसकी अक्ल ने मदद की! वह झम-से उठा और आलमारी खोलकर मृतसंजीवनी की शीशी निकाली। एक पूरी ख़ूराक बेला के मुँह में उँड़ेल दी। कभी वह उसे बिठाता, कभी लिटाता, कभी उसके हाथों को समेट कर छाती के पास लाता और धीरे-धीरे दबाता, ताकि किसी तरह निःश्वास जारी हो। कभी उसकी कलाई हाथ में लेकर नब्ज़ का अन्दाज़ करता, उसकी नाक पर हाथ रखकर साँस देखता। कभी तलवों को सहलाता, कभी हाथों पर झटका देता। कभी उसकी धड़कन को जाँच के लिए घबड़ाकर उसकी छाती की ओर हाथ बढ़ाता और आँचल को छूकर हाथ समेट लेता। उसके चेहरे का रंग सफ़ेद हो चला है। पेशानी पर पसीना निकल आया है और सैकड़ों अशुभ चिन्ताएँ फन फैलाए मन की दरारों से झांक रही हैं।

तीस बजते-बजते वह ज़िन्दा लाश सगबगाई। उसके चेहरे पर प्राणों की गति स्पष्ट होने लगी। श्रीधर की जान में जान आई। उसने बेला के सर्द हाथों को उठाकर अपने गरम हाथों में रखा। उँगलियों की उँगलियों से दबाया; तलहथी को तलहथी में समेट लिया। मुँह पर के बिखरे बाल को पीछे सरका दिया। चादर से मुँह पोंछ डाला।

उधर बेला के शरीर में गरमी आने लगी, इधर श्रीधर की वाणी में। जो ज़बान बन्द थी, वह खुल पड़ी। वह बेला की सेवा में तत्पर रहा और साथ-साथ आप-ही-आप गुनगुनाता रहा—"तवस्पर्शेस्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो—"

वह स्पर्श की बिजली उसके शरीर में चली गई। उसका रोआँ-

रोआँ सिहर उठा। उसने बेला की उँगलियों को मुँह पर रखा, आँखों पर रखा और सर पर रखा। एक तीव्र कम्पन के साथ बेला की आँखें खुल गईं। देखा—श्रीधर की आँखें टप-टप बरस रही हैं!

"बेला!"—श्रीधर रुँधे कंठ से बोला।

बेला की आँखें बन्द हो गईं।

"बेला!"—श्रीधर ने इस बार बेला के मुँह तक झुककर कहा, और दोनों आँखों के दाहने कोनों से दो धाराएँ कानों तक दौड़ गईं।

"तुम्हें कहीं चोट है?"

"नहीं।"

"थोड़ा गरम दूध पी लो।"

"भूख नहीं।"—बेला ने सर हिलाया।

थोड़ी देर बाद श्रीधर ने एक ख़ूराक मृतसंजीवनी फिर पिलाई। बड़े इतमीनान से वह पी गई, और आँचल को चारों ओर से समेट लिया।

"बेला! तुम कुएँ में कैसे जा पड़ी?"—श्रीधर ने झुककर बड़ी उत्सुकता से पूछा।

"क्या बताऊँ, कैसे जा पड़ी! अँधेरे में कुछ दीखता भी तो न था!"

"फिर भी·····!"

"मैं तो झुककर घड़ा खींच रही थी। जाने कैसे झटका लगा। बस, पैर उखड़ गये!"

"सच कहो, किसी ने तुमको धक्का दिया क्या?"

"भगवान् जाने, मैं किसे·····"

"नेता था ?"

"·····"

"गनेस बहू थी ?"

"·····"

"तुमने किसी को देखा नहीं ?"

"नहीं !"

"तो फिर ?"—

"बस, मेरे बाँट में जो पड़ी है, वही विपत्ति हमारी सब कुछ है। यही मेरी पीढ़ा का सुहाग बना रहे।"

× × × × ×

बेला की आखें फिर डूबने लगीं। श्रीधर सिरहाने बैठ गहरे सोच में डूब गया। विपत्ति के चरणों में बेला की यह रति देखकर उस पीड़िता के मन की गति का अन्दाज़ उसे मिल गया। ओफ़ ! समाज ने नारी को यहाँ तक मसल कर चूर कर दिया है न। सहते-सहते वह लगी है विपत्ति को अङ्क भरने।

मिनट पर मिनट बीतने लगा। श्रीधर की छाती में लगा तूफ़ान उठने—

"ओफ़ ! जिस समाज में नारी की ग़ुलामी की बन्धन-शृंखला उसके सुहाग की मेखला है, जहाँ नारी के सौभाग्य की चूड़ा उसके हाथों की चूड़ी है, जहाँ उसके निखिल ऐश्वर्य की किल्ली उसके सीमन्त की

धूल है, जहाँ सर का सिन्दूर धुल जाने और हाथ की चूड़ियाँ चूर हो जाने पर उसे चिता की ज्वाला या तपस्या की पर्णशाला के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं, वही समाज इस विराट् हाहाकार को हृदय में रखकर कुतुब-मीनार की तरह आज भी खड़ा है—और, आज भी वह निरपराध जीवन-मुकुलों के प्राण-रक्त से अभिषिक्त अपने गैरिक वसन की महत्ता की घोषणा करने से बाज़ नहीं आता—यही आश्चर्य है।

जभी तो आज नारी का अपना न कोई व्यक्तित्व है, न स्वातंत्र्य। वह पुरुष के कामनाकुंड का ईन्धन है या एक कुल-परम्परा चलाने की मशीन! उसे न शिक्षा है, न दीक्षा। जो तालीम मिलती है, वह केवल पुरुष की ज़बान की चाट के लिए लड्डू और मालपूए की बारीकियों पर ख़त्म है; और जो दीक्षा मिलती है, वह लम्पट और अत्याचारी पति की आयुवृद्धि के लिए निर्जला रहकर वटवृक्ष के सैकड़ों फेरे देने पर सीमित। बस, वाह रे शास्त्र और वाह रे धर्म का आदेश!

और पुरुष, जो जी चाहे, करे! वह सैकड़ों नारियों के सत को लेकर दो घड़ी की तफ़रीह रखे और फिर उसे रात के बासी फूल की तरह तोड़-मरोड़कर गली के कूड़े पर फेंक दे; इससे न उसका मुँह काला होगा, न उसका बाल बाँका। स्त्री की मिट्टी-पलीद ही हुई तो क्या हुई। क्या पिद्दी, क्या पिद्दी का शोरबा!

और क्यों न हो, नारी तो नरक का द्वार है न—वह पुरुष की आत्मा के उत्कर्ष की कतरनी ठहरी। वह पिशाच है, विष है, शृंखला है—वह क्या नहीं है? पुरुष के लिए तो वह विष ठहरी; पर नारी के

लिए पुरुष है—देवता-स्वरूप—सर्वस्व! वह तो न विष हो सकता है, न पशु।

हमारे कतिपय शास्त्रकार पुरुष थे—मनुष्य नहीं। उन्होंने जो कुछ लिखा है, पुरुषों के स्वार्थ की ओर दृष्टि रखकर लिखा है। नारी को भी स्वार्थ होना सम्भव है, उसकी भी आत्मा हो सकती है, उसके मन-चमन में भी अरमानों के मुकुल पनप सकते हैं; इस ओर उनकी दृष्टि कभी फिरी नहीं। क्या नारियों के जीवन की सार्थकता उनकी आशा-आकांक्षा की हत्या पर, उनकी वासना की चिता पर, निर्भर है?

जिमि स्वतंत्र होइ बिगरहिं नारी"—ठीक है, विश्व की आज़ादी पुरुषों का मौरूसी पट्टा है—और स्त्रियों की कलङ्क-रेखा! मर्द के हिस्से में नवाबी, औरतों के हिस्से में ग़ुलामी! यही सनातन दृष्टिकोण है! यही न्याय का विधान—

सुत-बनितादि जानि स्वारथ-रत, न करु नेह इनही ते'—सच है, वे स्नेह के पात्र नहीं हैं; पुरुषों को यह चेतावनी देनी ज़रूरी है। पर, मेरी निगाह में इन्साफ़ की दृष्टि तो तभी होती, जब नारी को भी साथ-साथ चेतावनी मिलती—'सुत पति आदि जानि स्वारथ-रत,न करु नेह इनही ते।' लेकिन, यह कहना तो कुफ़्र की चर्चा होगा। और कहे कौन? स्त्रियाँ तो शिक्षा देकर अँखफोर बनाई नहीं गईं। वे तो आज भी ग़ुलामी की साँकलों को नारीत्व का एक ज़ेवर समझती हैं!

मगर हाँ, वह दिन क़रीब है, जब नारी के अन्तर की रुद्ध यातनाएँ—उनकी कराहों के गर्भ में पुंजीभूत चिनगियाँ—ज्वालामुखी-विस्फोट की

तरह अचानक फट पड़ेंगी और समाज के कील-काँटों की धज्जियाँ उड़ाकर दम लेंगी।"

सोचते-सोचते श्रीधर का जोश दून पर उठ आया। वह चाहता है कि कुछ करके दिखा दे, कुछ तोड़-फोड़ कर धर दे। मगर क्या और कैसे कुछ तय न कर पाता।

जो बात इतने दिन से चुपचाप उसके हृदय के निभृत कोने में पुंजीभूत थी, आज बेला के आँसुओं ने उसे ठेलकर ऊपर कर दिया। उसका शरीर न जाने किस आवेग से काँप उठा। काश वह इस बेदर्द समाज की चूल-चूल हिला कर धर देता!

वह एकबारगी मुट्ठी कसकर उठ पड़ा। खड़ा-खड़ा पल भर जाने क्या सोचता रहा? फिर कटे पेड़ की तरह धम-से बैठ गया। हठात् बेला की नब्ज़ पर हाथ रखा।

बेला आँखें बन्द किये चुपचाप पड़ी थी। उसकी उँगलियों के स्पर्श से वह चौंक पड़ी और धीरे से बोली—"गुरु महाराज ने तो कहा है··· दुःख ही को वरण करो·····यही तुम्हारे परलोक का सहारा·····।"

"बेला! गुरु महाराज अगर परलोक की चर्चा न करते, तो दूसरी तसल्ली तुम्हें क्या देते? उनके ख़याल से तुम्हारे मर्ज़ की दवा तो दूसरी रही नहीं! उन्होंने कलाकार के निपुण हाथों से परलोक की दिलफ़रेब तसवीर खींचकर तुम्हारी सन्तप्त मानस दृष्टि के सामने उद्घाटित कर रखा है; पर और कोई जाने या न जाने, मैं तो जानता हूँ कि यह महज़ उनके रोज़गार का प्रचलित चकमा है, यह माया-मंडित मरीचिका के

अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। जीते-जी जिसके जीवन पर मलय-हिल्लोल का सिहरन नहीं पड़ा, मरने के बाद किसी मंत्र की फूँक पर उसकी ख़ाक के ज़र्रे हरिचन्दन की क्यारियों में जा पड़ेंगे—ऐसी तो कुछ सम्भावना नहीं। पर गुरु महाराज को मैं इलज़ाम नहीं देता। तुम्हारे दुःखों के ताप को शीतल करने के लिए उनके व्यवसाय की झोली में दूसरी कोई बटी है ही नहीं! परलोक के करुणा-चन्दन का प्रलेप ही उनके पास एक मरहम है।

सच पूछो, तो यह परलोक का कीट हमारे उद्यम की जड़ को खोखला कर रहा है। अध्यात्मवाद के इस विष ने हमारी धमनी के रक्त के चाञ्चल्य को शिथिल कर डाला है। हमलोग बे-वजह हर बात में—यहाँ तक कि प्राकृतिक घटनाओं में भी—परलोक का पचड़ा घुसेड़ते हैं। दैव के मारे तो नाकों दम है।"

"मगर यह भाग्य तो बराबर साथ है।"

"बेटा! तुम्हारा यह समझना कि निर्मम भाग्य ने तुम्हारे जीवन के निखिल परिमल को लूट लिया है, और अब इस सूखी बारी में कभी जीते-जी हरियाली नहीं पलट सकती, तुम्हारी सरासर भूल है। तुम्हारे मन की हवा बदलने की देर है; फिर तो तुम्हारे अन्तर के कोने-कोने में वसन्त की लपटें कुलेल करेंगी। तुम जिस कुसंस्कारों से परिपूर्ण निदारुण वातावरण में पली हो, उसी का यह विषाक्त फुत्कार है कि तुम्हारी यह दुर्गति होती चली आई।

"बचपन में तुम्हारे माता-पिता तुम्हें एक अधेड़ रोगी के हाथों में न

सौंपते, तो कभी मुमकिन न था कि तुम्हारी गोद का बच्चा उठता और तुम्हारे सुहाग का सिन्दूर धुलता। तुम्हारे सास-ससुर अगर कुशिक्षा और सनातन के शिकार न रहते, और जघन्य परदे के संकीर्ण वायुमंडल में तुम्हारी आत्मा की सत्ता पिस न जाती, तो कभी सम्भव न था कि तुम्हारे शरीर पर तुम्हारे देवर का कोई वार होता और आगे चलकर पुलिस का अत्याचार होने पाता। तुम्हीं कहो, इसमें दैव का सवाल कहाँ है?"

"बेला! तुम अकेली नहीं हो। तुम-जैसी कितनी ही अबलाएँ दकियानूसी विधि-निषेधों की तिकठी पर लटक रही हैं और माता-पिता, भाई-बन्धु, गुरु-पुरोहित को न कोस कर निरंतर अपने भाग्य को ही कोस रही हैं। अगर आज भी कोई दिल-दिमाग़वाला पैदा होकर इन सामाजिक कुरीतियों की धज्जियाँ उड़ा देता, घर-घर स्वास्थ्य-विज्ञान और शिक्षा का प्रचार होता, तो तुम देखती कि दैव का दायरा सुई की नोक के बराबर आकर रह जाता, और नारियों के भाग्य के कपाट की अर्गला आप-से-आप खुल जाती।"

"इसीलिए मैं फिर भी कहता हूँ कि जो हो चुका, वह हो चुका; अब तुम परलोक के हवाई क़िले के कुहुक में न पड़कर इस लोक की छाती से रस लूटो।"

"और लोक और परलोक दोनों से हाथ धो बैठूं?"

"बेला! जो लोक को जीतता है, वही परलोक को भोगता है। भगवान् की मदद उसी को मिलती है, जिसे दैव की मदद का भरोसा

नहीं। तुलसी की माला फेरनेवाले से हक़ पर तलवार उठानेवाला कहीं ज़्यादा भगवान् का कृपापात्र है। जो हाथ-पैर तोड़कर देवता की ओर नज़र रखता है, वह ख़ुशामदी टट्टू का दरजा पाता है—कुछ देवता का कृपा-कटाक्ष नहीं। कर्मनिष्ठ की दुआ में जादू का असर है, और अकर्मण्य की दुआ-गिरी बेकार की दिलबस्तगी है। राजा का गुण गानेवाला भाट दरबार में कुर्सी का हक़दार नहीं होता। जो हृदय में राज-भक्ति रखकर दुनिया के मैदान में लोहा लेता है, वही दरबार में उच्च पद का अधिकारी होता है। जो ईश्वर में आस्था रखकर अपने हाथ के गांडीव का भरोसा रखता है, वही लोक और परलोक का विजयी वीर है; दूसरा नहीं। परमार्थ—पुरुषार्थ का ही फल है। भगवान् भी बलवान् पर मेहरबान है।

"तुम आज दामन झाड़कर खड़ी हो जाओ, और समाज के कुटिल कटाक्ष में अपनी तर्जनी घुसेड़कर ला-परवाह बनी रहो। मैं दावे से कहता हूँ, तुम्हारा खोया हुआ वैभव तुम्हें वापस लौट मिलेगा। तुम्हारी झुलसी हुई खेती फिर हरी-भरी···"

"महाराज!"—बेला ने बात काटकर कहा—"इस लोक में तो हरी होने की नहीं। और, परलोक में भी हरी होगी या नहीं, भगवान् जाने!"

"इसी लोक में हरी होगी और हज़ारों में हरी होगी। मैं अपने अन्तर का निखिल रस उँड़ेलकर तुम्हें सींचकर लहालोट कर दूँगा। प्रेम वह मृतसंजीवनी है, जो दो दिन में तुम्हारे झंझर अन्तर को जवान कर देगी—तुम्हारी काया पलट देगी।"

बेला ने आँखें उठाकर श्रीधर को देखा। उसका तेज से भरा चेहरा कितना भाव-विह्वल है। उसकी मुहब्बत से भरी चितवन कितनी भावमयी है।

श्रीधर ने आँखें उठाकर बेला को देखा। उसका शर्म से भरा चेहरा कितना रहस्य-मधुर है! उसकी प्राण से भरी चितवन कितनी प्राण-स्पर्शिनी है!

आकाश में चाँद ने उठकर दोनों के आवेग-मंडित मुख को देखा। उसकी सुधा से भरी किरणें कितनी पुलकमयी हैं।

"यह कह क्या रहे हैं आप? मुझसे·····प्रेम की बात?"—बेला भर्राई हुई आवाज़ में बोली।

"बेला, तुमने जीवन में कभी प्रेम नहीं पाया। तुमने आज तक पुरुष का काम देखा, उसका प्रेम नहीं देखा। काम विष है, प्रेम पीयूष। काम तोड़ता है, प्रेम जोड़ता है। काम आग है, प्रेम त्याग। काम शैतान का अट्टहास है, प्रेम देवता का निर्माल्य। काम में अनुकम्पा नहीं होती, प्रेम में वासना नहीं होती। काम चंचल है, प्रेम अचल। काम क्रान्ति है, प्रेम शान्ति। काम कलुष है, प्रेम निर्मल। बेला! प्रेम प्रकृति का अनुपम दान है। मैं इसी मृत्युञ्जयी प्रेम के सहारे तुम्हारे जीवन में नवीन जीवन, तुम्हारे प्राणों में नवीण प्राण, तुम्हारे यौवन में अभिनव यौवन भर दूँगा। मेरा मन पवित्र है, मेरी वाणी पवित्र है; मेरे कर्म भी पवित्र होंगे।"

"मानती हूँ, आपका प्रेम पवित्र है। पर मैं तो पवित्र नहीं! यह

प्रेम का दान नाबदान में देकर क्या होगा ? यह पीयूषधारा पनाले में बहकर क्या करेगी ? इस शरीर की गन्दगी तो मिटने की नहीं !"

"बेला, देवता के अरघे को अपवित्र समझना तुम्हारी भूल है। जिसका अन्तर पवित्र है, उसके शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा पारिजात की पाँखुरी है। मेरी प्रेम-पुष्पाञ्जलि का सौरभ कभी उड़नेवाला नहीं।"

"नहीं-नहीं ; मैं प्रेम का अर्घ्य लेकर क्या करूँगी ? मेरे सर पर तो अब सिन्दूर की शोभा नहीं होगी—मेरे शून्य हाथों में तो अब सुहाग की चूड़ियाँ नहीं आ सकतीं।"

"कौन कहता है, नहीं आ सकतीं ?"

"समाज !"

"मैं इस पाशविक समाज को नहीं मानता !"

"धर्म !"

"प्रेम ही धर्म है, प्रेम ही कर्म है। प्रेम के आदेश को तुम्हें सर झुकाकर मानना पड़ेगा—न मैं इसे टाल सकता हूँ, न तुम।"

"आप भूल गये, आपने मुझसे क्या कहा था ? आप इस जोश में भूले भी हों; पर मैं तो भूली नहीं हूँ।"

"कब ?"

"वही, जिस दिन मैं पहले-पहल आपकी शरण में आई थी।"

"क्या कहा था मैंने ?"

"यही कि 'बेला, तुम्हारे लिए भगवद्भक्ति के अतिरिक्त कोई दूसरा पथ नहीं है'..."

"वह गुरु का वचन शिष्य से था।"

"और आज ?"

"आज यह पुरुष का वचन नारी से है; प्रेमी का वचन प्रेयसी से है। तुम नारी हो, और नारी के जीवन की सार्थकता प्रेम है—भक्ति नहीं। तुम्हारा क्षेत्र परिवार है, संन्यास नहीं; भवन है, भुवन नहीं। तुम्हारी प्रकृति रस का दान है, सूखा ब्रह्मज्ञान नहीं। तुम्हारी स्थिति हृदय है, दिमाग़ नहीं। तुम्हारे ललाट की भूषा सुहाग-भरी लज्जा है, तपस्या की तेजोमयी आभा नहीं। तुम इसी के ज़रिये लोक और परलोक दोनों को एक कर सकोगी। मुझे आशा नहीं, विश्वास है कि मैं अपने प्रेम के पुलक-स्पर्श से तुम्हारे सुषुप्त नारीत्व को जगा सकूँगा; और तुम्हारी अपनी प्रकृति—तुम्हारी सहज अनुभूति—फिर सचेत होकर तुम्हारे जीवन को पूर्ण कर देगी।"

"लेकिन, महाराज ! मेरे हृदय में न तो आवेश है, न आवेग। जो जीवन-तरी बिलकुल झाँझर हो गई है, उस पर प्रेम की पतवार भी एक भार ही होगी। यह तिर तो सकती नहीं। पानी में पैंदा पड़ा, और यह डूबी। मुझे अपने डूबने का तो डर नहीं, मैं तो डूब ही चुकी हूँ; पर साथ-साथ आपको भी डुबो दूँ, यह मेरे लिए मरण से भी कहीं भयङ्कर है।"

"बेला ! मैंने अपनी आत्मा में डूबकर देख लिया, तुम्हारे बिना न मेरा जीवन है, न मरण है। मैं अपने जीवन-सर्वस्व को तुम्हें भेंट कर आज निःस्व हो गया हूँ, और इस त्याग के वैभव से मेरा अन्तर आप्लुत

है। अगर तुम्हारे हृदय में मेरी प्रेम-मुरली की प्रतिध्वनि नहीं जगती—कोई आकुल आह्वान नहीं उठता, तो सच मानो, मुझे इसका ज़रा भी दुःख नहीं। मैं इसे एक-न-एक दिन जगा लूँगा। मुझे तो पतंग बनकर जलने का अवसर दो, यही काफ़ी है!"

बेला चुप है। उसकी आँखों का कोना तर हो गया। उसने गीले आँचल से गीली आँखों को पोंछ डाला।

निशीथ वायु, बौरे रसाल की मंजरी से छकी, बेला की छाती के आँचल से और श्रीधर की गरदन की चादर से उलझ रही है। उसका सुरभित निःश्वास कमरे में भर चला है।

बेला ने आँखें उठाकर श्रीधर के पद्मपलाश लोचनों को देखा, और उसकी दीप्ति से सहम उठी। श्रीधर के ललाट पर रक्त-चन्दन का तिलक पानी से भींगकर पसर गया है। वह वङ्किम रेखा चन्द्रमौलि के ललाट की चन्द्रलेखा की तरह चमक रही है।

बेला बड़ी धीमी आवाज़ से बोली—"आप जन्म की इस कंगालिनी को जो अतुल ऐश्वर्य देने पर तत्पर हैं, उसकी आशा तो मुझे स्वप्न में भी न थी। यह मेरे जीवन का एक अनन्त मुहूर्त्त है। इसकी स्मृति सौ जनम में भी नहीं भूल सकती। पर भिखारी के आँचल के खूँट में स्नेह का दो मुट्ठी चावल काफ़ी पाथेय है। इस कुबेर की सम्पद की तो मैं अधिकारिणी नहीं, न मेरी झोली में इसके लिए जगह ही है।"

बेला का सर झुक गया। उसने एक सर्द आह खींची—"हाय! मेरे क्षुधित प्राणों के सामने रस का सागर उमड़ रहा है और मैं एक बूँद

भी पी नहीं सकती !"

"बेला !"—श्रीधर ने बेला के दोनों हाथों को अपनी उँगलियों के दाब में थाम लिया और थम-थमकर सहलाना भी शुरू किया। उसकी उँगलियों में आवेग की थर्राहट थी।

बेला इन थपकियों के पुलक से अवश हो चली। उसके हाथ ढीले पड़ गये। उसके प्राणों की सनसनी दुगनी हो गई।

लेकिन दूसरे ही क्षण वह सचेत हो गई, और धीरे-धीरे हाथों को समेट लिया।

"बेला ! चलो, हम-तुम दोनों वहाँ चले चलें, जहाँ कोई भी हमारा अपना न हो ; किसी अज्ञात देश में, किसी शैल-प्रदेश में, किसी विजन वन के किनारे, किसी नदी के कछारे—जहाँ पशु-पक्षी हमारे सहचर हों, जहाँ चिरवसन्त की हलचल हो। वहाँ न लोक का कुतूहल होगा, न समाज का अङ्कुश। चलो बेला, वहीं किसी निकुँज में हम-तुम अपना घोंसला बाँधें, और खेती करके, कन्द-मूल-फल खाके, आनन्द से जीवन का रस लूटें। तुम्हारी गर्दन में फूलों की लड़ी होगी, सर पर फूलों की पटमौरी ; हाथों में फूलों के कँगन होंगे, कानों में फूलों के झुमके।"

बेला ने लम्बी साँस ली और खाट पर करवट बदली—"या भगवन्! मैं आज कुएँ में डूब क्यों नहीं गई !"—सहसा साँसी में वह बोल उठी। उसका चेहरा न जाने किस आवेग से खिंच गया, और वह सिर से पैर तक थर्रा उठी। उसकी शिथिल कबरी छूटकर छाती पर छा गई। उसके लोचनों के कोनों पर ठमके हुए आँसू उछलकर आँचल पर आ

पड़े। एक आन्तरिक आवेग का धक्का खाकर वह चट खाट पर उठ बैठी।

श्रीधर ने फिर हाथ थाम लिया—"बोलो, बेला! अपने दिल को तौलो—टटोलो—हिम्मत बाँधो। चलो, हम-तुम उँगली में उँगली देकर निकल चलें।

बेला ने असम्मति-सूचक सर हिलाया, और उठकर चलने लगी।

"नहीं नहीं, तुम मुझे ठुकरा नहीं सकती। तुम्हें साथ चलना होगा!"

"नहीं"—बेला ठमककर खड़ी हो गई और उलटकर बोली। उसका चेहरा दूध का धोया सफ़ेद था।

"मैं उस नीच नेता के साथ जाने को तैयार हो सकती हूँ; मगर··· मगर आपके साथ हरगिज़ नहीं जा सकती। मैं बाज़ार के कोठे पर जाकर बैठ सकती हूँ; मगर आपके पवित्र प्रेम के आश्रय में एक क्षण भी नहीं बैठ सकती!"

"क्यों, बेला? क्या मेरे इस प्राणोत्सर्गी प्रेम का यही प्रतिदान है?"—श्रीधर ने ज़रा खीजकर पूछा।

"मेरी समझ में यही प्रतिदान है।"—कहती हुई बेला प्रलय-आवेग के नशे में चूर लड़खड़ाती हुई कमरे से बाहर निकल गई। वह उसी तरह अटपटे क़दमों से आँगन में आई और आकुल बाट जोहती हुई गङ्गा और यमुना से कन्नी कटाकर सिसक-सिसक रोने लगी।

निशीथ के पल्लव-मर्मर से मिलकर एक सूक्ष्म क्रन्दन-ध्वनि आँगन में बिखरने लगी। आकाश ने सुना। चाँद ने सुना। सितारों ने सुना।

नीम की डालियों ने सुना। मकान की दीवारों ने सुना। गायों ने भी सुना। पर, कौन उससे पूछता कि उसकी वेदना क्या है और कहाँ है!

गङ्गा ने कान फटफटाकर, पूँछ डुलाकर, पूछा। यमुना ने उसका कपोल सूँघकर, कंधा चाटकर, पूछा। पर बेला किसी पर भी कुछ खुली नहीं—न चर पर, न अचर पर; न जीव पर, न जड़ पर।

आज तक तो वह गङ्गा और यमुना से कोई राज़ छिपाती न थी। निचाट रात की निस्तब्धता में हर रोज़ उनके कानों में अपने दुःख की कथा सुना देती रही। उनकी हमदर्दी की मूक चेष्टा उसके दिल की लगी को शान्त कर देती। मगर, भगवान् जाने, आज बात क्या है कि गङ्गा और यमुना कान पाते खड़ी रह गईं। शायद वह अपने कलेजे की टीस को अपने दिल से भी चुरा रही है। जब दिल शरीक न हो सका, तो फिर और कोई कहाँ तक दर्दशरीक होता!

चतुर्दश परिच्छेद

बेला ने सुबह उठकर विश्व में एक नवीन युगान्तर देखा। हर ज़र्रे, हर पत्ते पर नया चमत्कार पाया। फूलों पर नया रंग, पल्लवों पर नवीन उमंग। भोर का आकाश गान से भरा है, लता का वितान मुस्कान से। समीर की गति में वसन्त की चंचलता है—उसकी सरस सर्राहट में रहस्य की कथा।

बेला ने तड़के नहा-धोकर साड़ी बदली। एक किनारदार धुली धोती पहनी। उलझे बाल को कंघी देकर सुलझा डाला। जूड़ा बाँधा। पाँच मिनट तक जगत पर खड़ी होकर कुएँ के जल में झाँकती रही—भगवान् जाने, क्यों! बालटी भरकर उसी जल से नहाया। चुल्लू भरकर उसी जल को पान किया। फिर पिछवाड़े की फुलवारी से फूलों को चुन लाई।

दो मालाएँ गूँथीं। एक यमुना की गरदन में पड़ी, दूसरी गंगा की। कटोरा में कपूर की डली जगाई और आरती उतारी। उन्हें प्यार किया। नाँद में भूसा और खली देकर उन्हें खिलाने ले गई। वे उसका प्यार पाकर अघा गईं। वे उसका मुँह देखतीं, उछलतीं, पूँछ डुलातीं और चाटने का आग्रह करतीं। कल की रात में कैसी कसक थी और आज के प्रभात में कैसा पुलक, इसे थाह लेने की ज़रूरत नहीं।

बेला ने देखा कि कल शाम को मेले में नेता ने गनेस बहू के लिए जो मिठाई ख़रीद दी थी, उसे गनेस बहू पत्ते में लपेटकर आँगन के एक कोने में छोड़ गई है। रात के गोलमाल में वह उसे उठा ले जाना भूल गई। ख़ैरियत थी कि बिल्ली को गंध न मिली।

बेला ने मिठाई के दोने को आँचल में बाँध लिया। कल कमला ने उसे चार पके आम दिये थे, उन्हें भी लिया, और धीरे से आँगन का किवाड़ खोलकर पिछवाड़े के खंड में चली गई।

गनेस बहू अभी सोकर उठी है। खाट पर बैठकर अँगड़ाई भर रही है। गनेस कोने में दबका चिलम भर रहा है। गनेस बहू के सर के बाल खुले हैं। छाती का आँचल कमर पर आ गया है। उसकी बिल्ली-सी पीली आँखें कीचड़ से भरी हैं और वह बार-बार आँचल के खूँट से उन्हें साफ़ कर रही है।

बेला को आते देख वह स्याह हो गई। उसके रूप की बहार को देखकर वह चौंधिया-सी गई। देखा कि बेला की बोटी-बोटी फड़क रही है। उसके चेहरे पर मुस्कान की लहर है, निगाह में किरनों की कुलल।

गनेस बहू चकराई—बात क्या है ? यह तो कभी की ऐसी हँसमुख न थी। नाक-भौं सिकोड़े, घूँघट ताने, गुम्मी बनी रहती। क्या कुएँ में डूबकर इसकी काया पलट गई ? ज़रूर इसके सर पर देवी की सवारी होगी। परी नहीं रहती, तो मरी नहीं जाती।

बेला ने सामने आकर कहा—"गनेसी बहू ! यह लो अपनी मिठाई। बिल्ली चट कर गई होती। तुम्हारे भाग की थी, बच गई।"

बेला ने मिठाई का दोना खाट पर रख दिया—"और कुछ लोगी ? यह देखो, तुम्हारे लिए आम लाई हूँ !"

"आज क्या है, बेला ! इतने दिनों तक तो ईद का चाँद बनी थी ! कभी इधर झाँकती भी नहीं थी ! कल मैंने कौन तेरा उपकार किया जो आज इनाम पाती हूँ ?"

"तुमने मुझे नई ज़िन्दगी दी, गनेस बहू !"

"मैंने ?"—गनेस बहू सिट हो गई। उसके चेहरे की स्याही पर स्याही का पुचारा फिर गया। उसने समझा, बेला बड़ी दूर की कौड़ी लाई है। शायद उसने उलटकर पैंतरे का हाथ मारा है !

बेला की 'नई ज़िन्दगी दी' की वाणी में कौन-सा गूढ़ आशय निहित है। व्यंग्य या उमंग, कौन कहे !

गनेस बहू सँभलकर बोली—"मैंने ? वही, जो तुझे कुएँ से ऊपर खींचने के लिए रस्सी लटकाई ?"

"जाने दो। मुझे तो यही रह-रहकर टीसता है कि मैं कुएँ में डूबकर भी जीती क्यों निकली, मर क्यों नहीं गई ! लो, आम खाओ।"

"तू मरेगी, तेरे सर पर जिन सवार है।"—गनेस बहू ने सूखी हँसी के साथ कहा। उसके दाँतों की पाटी काजल से काली टाटी की ओट से दीपक की धुँधली दीप्ति-सी चमक उठी।

बेला ने देखा कि कोने में बैठा गनेस एक टक उसकी ओर मुँह बाये देख रहा है! चिलम की आग ताव से उतरी जा रही है, पर उधर उसकी आधी नज़र तक नहीं। उसकी एक आँख बेला पर है, दूसरी बहू पर। कहीं वह कलूटी देख न ले कि उसकी आँख बेला पर टँगी है; इसीलिए उसे अपनी आँख पर भी आँख रखना ज़रूरी है।

"अच्छा, गनेसी! सुन तो जाओ!"—कहती हुई बेला झम-से लौट चली। गनेस ने चिलम को कोने में खड़ा कर दिया, और साथ हो लिया।

"क्यों रे पागल! तू मुझे इस तरह आँखें फाड़कर क्यों देखता है? तेरी बहू से कह दूँगी, तो तेरी मूँछ का एक-एक बाल उखाड़ लेगी!"

गनेस सिटपिटा गया। क्या जवाब देता? दाँत निपोर दिया! "मेरी ओर क्यों घूर रहा था? बोल!"—बेला ने बनावटी डपट से पूछा।

"यही कि एक तुम हो और एक वह है। एक तुम भी औरत हो··· एक वह भी है। पर, तुम इन्दर की रानी हो और वह·····"

"और वह?"

"भस्मासुर की नानी!"

गनेस लगा सर खुजाने। बेला खिलखिला पड़ी।

"कहीं वह सुन पाएगी तो ?"

"सुना करे !"—गनेस ने ताव में आकर कहा—"यह चुड़ैल मेरा क्या बिगाड़ लेगी ? मिश्रानीजी भी सरकार को निगलने को मुँह फैलाती हैं ! दाँत रहते तो जाने कच्चा चबा जातीं !"

"तुझे लुगाई से पटती है न, गनेसी ?"—बेला ने ज़रा मुस्कुरा कर पूछा।

"पटती क्यों नहीं ? मैं उसका रास्ता तो काटता नहीं ? जानती हो, बेला ! तुमसे वह कलूटी आठों पहर जला करती है ! तुम्हें कुएँ में ढकेलने में उसका भी एक हाथ हो, तो·····।"

"इसी उपकार के लिए न उसे आम खिलाने आई थी !"

हँसती हुई बेला भीतरी आँगन में दौड़ गई। गनेस मुँह ताकता रह गया। बेला की बातों में उसे न सिर ही मिला, न पैर।

जब बेला ने आँगन में क़दम रखा, उसे सिसकती हुई मुन्नी मिली। वह माता को सोती हुई छोड़कर उठ आई थी और बेला को आँगन में न पाकर ऊँ-ऊँ कर रही थी। बेला ने उसे गोद में उठा लिया और पीठ पर थपकियाँ दे-देकर 'राम-नाम लड्डु गोपाल-नाम घी; हरि-नाम मिसरी, घोल-घोल पी' की आवृत्ति मीठे स्वर से करने लगी। इसी मंत्र पर मुन्नी वश होती।

बेला मिश्रानी की पतीली से मूँगफली उठा लाई। छीलछीलकर उसे खिलाती और कंधे पर सवार कराकर आँगन में भाँवरी देती।

तबतक कमरे से कमला निकली और फूली-फली बेला को देखकर

उछल पड़ी। वह बेला की छाती से लिपट गई और हँस कर बोली—"वाह बेला! मैं तो रात-भर हौलदिल से तड़प रही थी कि सवेरे तुझे किस सूरत में देखूँगी। मैं क्या जानती थी कि तुझे ऐसा हरी-भरी पाऊँगी। कुएँ के पानी ने तो तेरे चेहरे पर नई रंगत चढ़ा दी है! तेरी बोटी-बोटी पर जवानी बरस रही है!"

"तुम्हारे आशीर्वाद से बच गई, बहन!—बेला झुक से झुक कर कमला के पैर छूती हुई बोली—"और, अगर मर ही गई होती, तो किसकी सेज सूनी करती?"

"क्या बकती हो, बेला! पुरुषों की सेज भी कहीं सूनी होती है! एक गई, दूसरी आई। और, तुम्हारी सेज सूनी हुई, तो ज़िन्दगी सूनी हो गई!"

"बहन! मेरा तो मरना ही जीना है!"

"इसीलिए तो तुम मरकर जी गई; डूबकर चंगी हो गई!"

कमला बात की धारा को पलटती हुई फिर बोली—"आओ, चोटी गूँथ दूँ।"

कमला सीने पर सवार होकर चोटी गूँथने पर तुल गई। बेला लजाकर लाल हो गई। उषा की लाली गालों की लाली में डूब गई।

इधर मिश्रानीजी कुम्भकर्णी नींद से बेदार हुईं, और वज्रपात की कड़क की तरह उनका गंभीर गर्जन आँगन में गूँज उठा। कमला और बेला चौंक पड़ीं।

"बेला, ज़रा इधर तो सुन जा।"

मिश्रानी के कंठ की टीप ऊँची थी। बेला ने मुँह पर आँचल को खींच लिया, और दौड़ती हुई सामने आई। पहले तो वह भीत हरिनी-सी डरी थी; पर जब मिश्रानीजी के गाल पर नमूदार गड्ढों पर नज़र पड़ी, तब वह फ़ौरन् सँभल गई।

"बेला, रात तेरी जान बच गई। जानती है, यह पीर मियाँ की बरकत है। मैं तुझे मज़ार पर कल शाम को न भेजती, तो तुझे पनाह मिलती? अबतक तेरी लाश में चींटियाँ रेंगती होतीं। तुझे इतनी अक्ल नहीं कि सुबह उठकर वहाँ शीरीनी तो चढ़ा आती! ख़ुद न जाती, तो गनेस बहू को भेज देती! जा-जा तुलसी के तले दीप तो दिखा दे।"

मिश्रानीजी माया शास्त्र में विशारद थीं। कभी लोलजिह्वा चामुंडा का रूप—हाथ में खड्ग और खप्पर; कभी सौम्यमूर्त्ति सरस्वती का रूप—हाथ में वीणा और पुस्तक। मगर सरस्वती के दर्शन कभी किसी को भाग्य से ही मिलते!

बेला हँसती हुई लौट गई।

जब दोपहर को श्रीधर आँगन में रोटी खाने आया, तब छन-भर उसकी चकित दृष्टि चारों ओर फिरती रही। वह चौखट ही पर ठमका रहा; अन्दर चौके में न घुसा। कमला ने औचक देख लिया, और मुड़कर पूछ बैठी—"किसे ढूँढ़ते हो?"

"मुन्नी कहाँ है?"—श्रीधर ने ज़रा शरमा कर कहा।

"मुन्नी तो बेला के घर में खेल रही है।"

"कहो कि मुन्नी को दे जाय. मैं उसे बहला लूँगा।"

कमला ने बेला को पुकारकर कहा—"मुन्नी को उठा लाओ। मामा के साथ बैठकर रोटी खाएगी।"

मुन्नी के आने में देर हुई, तो श्रीधर ने फिर टोका—"वाह! दे क्यों नहीं जाती?"

"तुम्हारे सामने आने में लजाती होगी। मैंने आज उसकी चोटी गूँथ दी है।"—कहती हुई कमला हँस पड़ी।

वही चोटी बेला के गले की फाँस हो रही थी—उसके पैर में जंजीर बनकर पड़ गई। जब वह उठती, लज्जा उसकी चोटी थाम लेती। वह उठ-उठकर बैठ जाती और रह-रहकर सोचती—"भगवन्! मुझे क्या हो गया है? यह जड़ता कैसी? मुन्नी को तो मामा के निकट पहुँचा देना है। अकेली तो वह जा नहीं सकती। आँगन में आग बरस रही है। उसे आँचल के साये में गोद में रखकर पहुँचाना होगा, नहीं तो कमला क्या समझेगी?"

पर रात की बात के बाद वह श्रीधर के सामने—

बेला आकाश और पाताल के बीच टँग गई। लज्जा उसे रोकती थी—आकुलता उसे ठेलती थी। एक ओर हृदय खींचता था, दूसरी ओर विवेक। वह शायद जाना चाहती थी; पर जा नहीं पाती थी।

सहसा मुन्नी मचल पड़ी। बेला विवश हो गई। उसे जाना ही पड़ा। आख़िर मन ने बुद्धि को मनाकर उस खैंचातानी का निबटारा कर दिया। बुद्धि बिचारी शालीनता का कवच देकर सम्मत हो गई। शील की कील मन के कपाटों में कस दी गई।

बेला ने आँचल के छोर को आँखों पर खींच लिया, और चल पड़ी। वह मुन्नी को लिये आँगन पार हो गई। चौके के सामने आकर जब वह मुन्नी को उतारने के लिए झुकी, तो उसकी विद्रोही चितवन अवगुंठन की दीवार को उचककर श्रीधर के दृष्टि-पथ पर कूद पड़ी। बुद्धि और मन के सुलहनामे पर आँखों की तो गवाही थी नहीं—आँखें चार हो गईं!

श्रीधर ने बेला की चटक धोती को देखा, पीठ पर लटकती हुई काली चोटी को देखा, लज्जा-लोहित कपोल को देखा, सुकुमार कर-कमलों की चिकनाहट को देखा और झुककर मुन्नी को गोद से उतारने की सलज्ज सलील सहज सुन्दर भङ्गिमा को देखा।

बेला ने आँचल के पट की फाँक से क्या देखा, यह वही जाने। उसने श्रीधर के चन्दन-चर्चित उन्नत पेशानी को देखा, चेहरे के तरुण तेज की कान्ति को देखा, स्फीत छाती के पीत यज्ञोपवीत को देखा, कंधों पर शुशोभित ज़री-कोर के उत्तरीय को देखा, या एक ही निगाह में नखसिख तक सब कुछ देख लिया।

जो हो, इस देखादेखी की तो बदी नहीं थी। हो क्या?

आखिर बुद्धि कबतक नज़र को नज़रबन्द कर सकी है? और जब मन की क़िलेबन्दी न होगी, तब घूँघट की नज़रबन्दी किस मर्ज़ की दवा होगी? विवेक का शासन न मन पर चलता है, न चितवन पर! आँखों ने जब चाहा, मन के कवच-कुंडल को पल में उतरवा लिया। जिस तरह तरुणी-परायण पलित पति की हुकूमत परिवार के प्रत्येक मेम्बर पर बे-असर-

होती है, उसी तरह अव्यवस्थित बुद्धि की हुकूमत अधीनस्थ इन्द्रिय-कुल पर है।

मुन्नी दौड़कर श्रीधर की गरदन से लिपट गई। श्रीधर आसनी पर बैठे रोटी को दाल में भिगो रहा है। कमला कटोरे में कढ़ी डालने लगी, तो बेला ने वापस लौटने को पैर बढ़ाया। इतने में श्रीधर ने आँखें उठाकर बेला का घूँघट टटोला। बेला ने आँचल की ओट से झाँका। फिर वही चारु चितवनों के चाह-भरे चुम्बन! आँखों के आँखों से चोंचले—आँखों के आँखों से पैंतरे!

आँखों से आँखों का मिलना कैसा निविड़ मिलन है! प्राणों से प्राणों का परिचय तो यही आँखें कराती हैं! अनुभूति के इस चरम मुहूर्त्त पर भाषा तो जैसे एक बाधा हो जाती है। यह असीम तो किसी वाणी में समा नहीं सकता। इस योग की साधना के लिए तो मौन ही माध्यम है, ध्वनि नहीं। इस निःशब्दता की मौज पर हृदय की निखिल कथा, निखिल संगीत, निखिल वेदना, निखिल प्रार्थना किस आसानी से तैरती हुई हृदय तक पहुँच जाती है! भाषा तो इस निसर्ग स्फुरण का पर बाँध देती है!

आँखों से आँखों का मिलना कितना मधुर है! आँखें बचा-बचाकर आँखों का उलझना कितना प्राणस्पर्शी है! फूल-शय्या के निविड़ स्पर्श में वह माधुरी नहीं मिलती। चुम्बन के रसाल-नन्दन में वह चाशनी नहीं मिलती। दर्शन में जो पुलक-स्पन्दन है, वह भुजान्तराल में नहीं। इन्तज़ार में जो लज़्ज़त है, वह विसाल में नहीं। घूँघट के साये में जो माया-

मंडित रहस्य-लोक है, वह अक्सर घूँघट उठते ही कङ्काल बन जाता है।

आँचल की कोर की प्रत्यञ्चा से छूटा हुआ चितवन का तीर कलेजे को चलनी कर डालता है, फिर भी उस वेदना-मधुर चोट की चाट कलेजे से नहीं छूटती। यह वह ज़ख्म है, जिसका मरहम उसी तीर की चीस है; यह वह दर्द है, जिसकी दवा उसी दर्द की टीस है। यह वह ज़ख्म है, जिसे भरने देने के बदले ताज़ा रखने में ही ज़िन्दगी की लज्ज़त है। जिसकी छाती में यह ज़ख्म है, वह टीस से तड़प रहा है; जिसकी छाती में यह ज़ख्म नहीं, वह उस टीस के लिए तरस रहा है। यह वह हलाहल का हाला है, जिसके उफान में पीयूष की बूँद छलकती है। यह वह तमंचे की चोट है, जिसकी मार में ज़िन्दगी का क़रार है। यह वह दिल की जलन है, जिसकी आँच से कलेजे को ठंढक मिलती है। इस दर्द की मिठास से—इस आँसू के मकरन्द से—जिस जीवन में रस नहीं आया, इस उसास की सुरभि से—इस व्यथा के पराग से—जिस प्राण में सौरभ नहीं भरा, इस रुदन के संगीत से—इस टीस की भीड़ से—जिस हृदय के तार स्पन्दित-झंकृत नहीं हुए ; वह जीवन, वह प्राण, वह हृदय इस धरातल पर किसी इन्सान के नहीं, हैवान के ही होंगे।

जब दिन-भर के काम से निबटकर बेला अपनी कुटिया में चारपाई पर जा बैठी और बायें गाल पर हथेली रखकर पत्थर की मूर्त्ति बन गई, तब उसके अन्तर-पट पर एक उदास स्वप्निल रेखा सघन होने लगी और वह गम्भीर चिन्ता में डूब गई। 'प्रेम-सागर' की पुस्तक गोद में औंधी पड़ी रही। झुककर वरक़ उलटने की सत्ता भी उँगलियों में बाक़ी नहीं थी।

जाने किस ख़याल से वह लट की बेनी खोल देती है। लम्बे-लम्बे बाल उसके मुख, कंधे, पीठ और सीने के इर्द-गिर्द फर्र-फर्र बिखर आते हैं। और वह सोचती है—"भगवन्! यह किस धारा में बही जा रही हूँ मैं·····! सच! मैं आज हरी-भरी नज़र आती रही! सचमुच मेरे पैर ज़मीन नहीं छूते! क्यों—किस लिए! भला कुएँ में डूबकर कौन-सी ऐसी विश्व की अलभ्य सम्पद मिल गई! दीवानी नहीं हूँ। आख़िर क्यों बे-वजह धधाई हुई इठलाती चलूँगी!·····। मगर, मेरे दिल में यह चाञ्चल्य कहाँ से आया! प्रभो! सच कहो, यह क्या है! चंचलता है या आकुलता; वेदना या पुलक-लीला; उद्वेग या उमंग; टीस या उच्छ्वास; दुःख या सुख; विष या मधु; ताप या प्रलेप; या दोनों का एक विचित्र मेल-जोल है!··· क्या जाने, क्या है!····· श्रीधर की जगह तो मेरे प्राणों में—मेरे जीवन में—कभी हो नहीं सकती। वह तो मेरा कोई अपना नहीं, न मेरा अपना हो सकता है। फिर उसकी समीपता मेरे प्राणों में मलयहिल्लोल की लपट कहाँ से लाती है! उसके कंठ की काकली सितार के तार की झङ्कार कहाँ से पा गई! उसके गले की आवाज़ में वह मीठा लोच, लोचनों में वह सरस सावलील संकोच, क्या सचमुच मुझे किसी सुदूरवर्त्ती मायालोक की आलोक-लीला बनकर प्रतीत होता है!·····कमला की ज़बान भी तो मीठी है, मुन्नी की तोतली वाणी भी तो मीठी है, गुरु-महाराज के वचन भी तो मधुर हैं; मगर यह मिठास और वह माधुर्य-निर्झर क्या एक हैं! कमला की चितवन में भी सुधासिञ्चन तो है, गुरु-महाराज की चितवन भी कैसी शान्त प्रसन्न है;

मगर यह करुणा-प्रवण चितवन और वह प्राणविह्वल जीवन्त चितवन क्या एक हैं! भला, एक कैसे होंगी! सबकी ज़बान तो बराबर नहीं होती, सबकी चितवन तो एक-रस नहीं होती! फिर, इसमें तर्क की गुंजाइश कहाँ है? जो हो, मगर श्रीधर की ओर आज मेरे दिल में अभूतपूर्व भाव कहाँ से आ गये?·····अच्छा! मैं समझी! उसने मुझे अकालमृत्यु के मुख से जान पर खेलकर खींच निकाला है; इसीलिए मेरा हृदय उसके आगे बरबस झुक पड़ा है। यह प्रेम नहीं, कृतज्ञता है—कृतज्ञता! मगर·····।

वेला सोचते-सोचते सहसा रुक गई। उसने चंचल लटों को समेटकर बाँध डाला। गोद की किताब को समेट कर रख दिया। एक लम्बी साँस ली। फिर डूब गई—"श्रीधर ने रात मुझे अपना प्रेम जताया। क्या यह सच है? तो उसके हृदय का निखिल परिमल मेरे चरणों पर लुंठित है! नहीं-नहीं; यह कभी सम्भव नहीं। पुरुष की ज़बान में दिल नहीं होता; उसकी चितवन में तो कामना होती है, वेदना नहीं। पर, श्रीधर तो 'दिनेश' नहीं है—इसका साक्षी तो मेरा अपना हृदय है। अगर उसकी वाणी में भी हृदय नहीं है, तो कोई भी आदमी इन्सान नहीं। उसने जो कुछ कहा, झूठ कहा? आकाश के तारे! तुमने तो रात सुना है! तुम्हीं कहो, श्रीधर की बातें बिलकुल ज़बानी थीं? तारापति चन्द! तुम तो देख रहे थे—सुन रहे थे! कहो तो, श्रीधर की ज़बान में काम था या प्रेम? विश्वव्यापी पवन! तुम भी तो कल रात उसकी गर्दन की चादर से उलझ रहे थे! बोलो, तुमने उसके हृदय में क्या पाया—अनन्त सौरभ या क्षणिक उच्छ्वास?·····मगर इस

पूछताछ से मतलब ? श्रीधर को तो न प्रेम जताने का हक़ है, न मुझे उसे पाने का हक़ है। मेरे हृदय में तो प्रेम हराम है। प्रकृति का यह शाश्वत दान तो मेरे जीवन का अभिशाप है। भला, इस मरुभूमि में कहीं मन्दाकिनी बह सकती है ? मैं न इसे हृदय में जगह दे सकती हूँ, न ज़बान पर इसे ला सकती हूँ। मेरे लिए तो परलोक का अभिसार है, चिता की फूल-शय्या है। मनोवांछा मेरी यंत्रणा है, हुलास मेरा सत्यानाश। तो क्या मैं इस शून्य जीवन की मन्दाकिनी के कूल पर पहुँचकर प्यासी रह जाऊँगी ? इस रसाल-नन्दन की लज्जत से मुझे मुँह मोड़ना पड़ेगा ?·····मुझे तो बस 'हाँ' कह देना है और विश्व का निखिल ऐश्वर्य आप-से-आप मेरे आँचल में चू पड़ेगा।····· ओह !·····नाथ ! यह क्या सोच रही हूँ मैं ? यह मनमोदक लेकर मैं क्या करूँगी ? मुझे तो तुम्हारा चरणोदक चाहिये !"

बेला उठ खड़ी हुई। कोठरी के बाहर चाँदनी में निकल आई। अपने दिल की लगी किसको सुनाती, किससे कहती; किससे सलाह लेती ? और बिना कहे, पेट में बात फूलने लगी। वह गङ्गा से लिपटकर बोली—"गङ्गा ! मैं तो अपनी मर्मकथा को—अपनी अन्तर्व्यथा को—यहाँ किसी मनुष्य के आगे प्रकट नहीं कर सकती; न सहानुभूति तलब कर सकती। देवता के आगे भी तो ज़बान पर ला नहीं सकती। पर, तुम्हारे सामने तो मैं जी खोलकर रो-गा सकती हूँ।"

वह गायों से लिपटकर न जाने क्या-क्या कहती रही, और वे दोनों चुपचाप उसके कंधे के आँचल को चाटती रहीं।

पञ्चदश परिच्छेद

बेला ने निश्चित कर लिया कि श्रीधर के सामने वह हरगिज़ न जायगी। न सामने जायगी, न लौ लगेगी। वह ज़िन्दा रही या मरी, दोनों एक ही है। वह जीकर न किसी घर को रोशन करेगी, न मरकर कहीं एक क्षण भी अँधेरा करेगी।

पर, श्रीधर की बात और है। उसके कंधों पर हज़ारों की सद्गति का दारमदार है; गुरुपद के सिंहासन का भार है। उसके सर पर एक दिन छत्र और चमर होगा; उसके पद पर एक दिन सैकड़ों का सर होगा। उसके भविष्य को वह कभी कलङ्कित न होने देगी। नहीं—कभी काँटा नहीं बो सकती।

अब वह श्रीधर से कन्नी कटाती चलती। जब कभी उसकी मनमौजी आँखें आँचल से उचककर उसे देख लेतीं, वह आँखों को आँख दिखाती।

यह देख-रेख सुबह से रात तक चलती। वह मन को मनन करती; आँखों पर आँख रखती। उसके मन के मर्म में विवेक की अनी चुभी रहती। वह इस निरन्तर दंशन से लाख तड़पती; पर सचेत रहती। आँसू पीकर रह जाती, पर आँख सेंक-सेंक कर आँखों का पानी ढलने न देती।

उसने आसमान से तारे उतारने के लिए आस्तीन तो चढ़ा ली; पर क़दम-क़दम पर ठोकरें खाती रही। विवेक और हृदय में निरन्तर द्वन्द्व जारी रहा। पर वह अपने कर्त्तव्य-पथ पर पल-पल दृढ़ होती गई। उसने निश्चय कर लिया कि यहाँ से उसका टल ही जाना उचित होगा, और जहाँ तक जल्द हो सके, उसे इस संकल्प को पूरा करना पड़ेगा। देर होने से बेलुत्फ़ी होगी।

वह सोचने लगी—"यही न डर है कि इससे मैं अशरण होकर दो दाने चावल के लिए बाज़ार के कूड़े कुरेदती फिरूँगी? मैं कुरेद लूँगी। मुर्दे पर जैसे दस मन मिट्टी, वैसे सौ मन! मैं तो सर से कफ़न बाँधे तैयार बैठी हूँ। इससे उसका तो कल्याण अवश्य होगा। उसी का कल्याण तो मेरे जीवन का चरम कल्याण है। उसने परसों रात जो प्रस्ताव किया, वह उसकी आत्मा की महत्ता है। वह अपनी तमाम उमीदों को—अपने निखिल यश-मुकुल को—कुचलकर, मेरे श्मशान-जीवन को प्राणों से सींचकर रसमय करने के लिए बद्धपरिकर है। उसकी हड्डियों में दधीचि की आत्म-सत्ता है। उसके प्राणों में कर्ण की त्यागशीलता है। यह

कभी मुमकिन नहीं कि वह मुझ पर मरता हो। उसकी नस-नस में तेजस्विता की बिजली भरी है। वह किसी कामिनी के आँचल को अपने सर का सेहरा नहीं बना सकता। मुझ जैसी अधम स्त्री पर उसका मर मिटना न कभी सम्भव है, न समुचित। और, मुझमें रखा ही क्या जो कोई मेरे कलुषित आँचल के खूँट में अपना कलेजा निकालकर बाँध देगा? उसे चार आँखें हैं। वह क्या समझता नहीं कि मेरे शरीर का सौरभ जल्लाद के हाथों लुट चुका है? मैं विधवा हूँ; पतिता हूँ। मुझ-जैसी सैकड़ों स्त्रियाँ उसकी पदांगुली के नख पर लोटती रहेंगी। उसे क्या रूपवती गुणवती कुमारी नहीं मिलेंगी जो वह मुझ पर आसक्त होगा? मैं न उसकी सहधर्मिणी हो सकती, न जीवन की सहचरी। फिर भी वह मेरे दुःखों से पसीजकर मेरे शून्य जीवन के साये में अपना यश, कुल, तेज, धन, यौवन—सब-कुछ तिलाञ्जलि देने को तत्पर है! यह महत् आवेग! यह विराट् त्याग! जब वह पुरुष होकर इस कलङ्किनी के लिए अपना कलेजा निकाल सकता है, तो क्या मैं नारी होकर उस वीर-कुञ्जर के लिए अपने हृदय पर पत्थर भी नहीं रख सकती? त्याग तो पुरुषों का सिरमौर नहीं, हमारा ज़ेवर है। जीते-जी पुरुष तो चिता पर नहीं चढ़ता, स्त्री चढ़ती है। पुरुष रण में खेत आता है, स्त्री चिता पर खेत आती है। वह उसका वीरत्व है, यह मेरा नारीत्व। वह उसका गौरव है, यह मेरा सौरभ। पुरुष के सर का ताज उसका तेज है, उसके ललाट का तिलक उसका मान है। उसी मान को वह एक मानवती के लिए—नहीं, एक मान-हीना के लिए—क़ुरबान कर सकेगा; और मुझसे प्राणों के अरमान की क़ुरबानी मुमकिन नहीं? ज़रूर मुमकिन

है। सीतापति राम! मुझ अबला को बल दो। मेरे क्षोभ के आँसुओं की धारा में वह प्रलय की सत्ता भर दो, जो मुझे बरबस बहाकर तुम्हारे चरणों के तले तुम्हारी भक्ति के रस-स्रोत में बोर दे! नाथ! मैं और कुछ नहीं माँगती। मैं मँझधार में पड़ी हूँ, मेरी बाँह पकड़कर अपनी शरण में खींच लो।'

सुबह का वक्त। बेला, गङ्गा और यमुना को खिला-पिलाकर, आँगन में बैठी थाल में चावल से कंकड़ी चुन रही है। कंकड़ी क्या चुनती है, काँकरी चुन रही है। चेहरे पर उदासी भरी है। इस कदर डूबी हुई कि एक ढीठ कौआ धीरे-धीरे नज़दीक सरकता हुआ थाल में जब खट से चोंच मार चावल के दाने उठाकर भागा और उसके पंख की फ़रफ़राहट कनपटी के पास अचानक खटकी, तब कहीं उसका ध्यान टूटा। उसने निगाह उठाकर देखा कि कहीं मिश्रानीजी की नज़र तो इधर नहीं पड़ी। ख़ैरियत थी कि मालकिन की पीठ उधर थी; नहीं तो आज पीठ छिल जाती।

तबतक कमला हँसती हुई सामने चली आई। बेला सिटपिटाकर कंकड़ी चुनने लगी।

"जानती हो, बेला! बाबा तो आ गये। अभी कोठे पर गये हैं!"

कोठे की खिड़की आँगन में खुलती है। कमला का यह कहना था कि बेला की निगाह कोठे पर जा पड़ी। उसने मिश्रजी की आँखों को अपनी आँखों पर सवार पाया!

"महाराज की आँखों में यह कैसी विचित्र लौ है आज!"—सोचती

हुई बेला तड़ से झुक पड़ी, और सर पर आँचल खींच लिया—"दीदी, महाराज सामने हैं। उधर सरक चलो।"—कहती हुई थाल को उठाए कुएँ की आड़ में चली गई।

मिश्रजी ने चन्द्रमौलि के हुज़ूर में अपने शरीर के रक्त से जिस क़बलियत को लिखा था, उस पर अमल करना ज़रूरी था, और शायद उसकी शर्तों की तामीली में आसानी समझकर वे यहाँ से दो-चार दिनों के लिए टल गये थे। जो हो; पर कई दिनों के फ़ाक़े से तड़पती हुई भूखी आँखें इस क़दर मुँहज़ोर हो गई थीं कि कोठे पर मिश्रजी के क़दम रखते ही उन्होंने अपने शिकार पर उछलकर दाँत गड़ा ही तो डाला—और मिश्रजी के हाथ में विवेक की जंजीर झनझना कर रह गई! शायद यही वजह है कि बेला ने उनकी आँखों में एक विचित्र दीप्ति देखी उनकी सतर्कता छन-भर भी शिथिल पड़ी और आँखों ने चारों ख़ाने चित फेंका।

बेला सर झुकाए कंकड़ियों को थाल में एक ओर जमा कर रही है। कमला नज़दीक आकर बोली—"जानती हो, बेला! श्रीधर का ब्याह तय हो गया। कल तिलक है।"

"सच, दीदी?"—बेला चार अंगुल और झुक गई। कमला की निगाह उसकी ठुड्डी तक थी।

"तो क्या झूठ? बाबा ने कल ही बात पक्की कर दी। उनके एक शिष्य की लड़की है—'सुधा'। कल रात को वे वहीं रुक गये थे। नहीं तो शाम ही को यहाँ आ जाते। उन्होंने कन्या भी देख ली।"

"सच, दीदी ?"

"हाँ भाई ! कन्या क्या है, कंचन की पुतली है !"

"सच, दीदी ?"

"बाबा तो कल उसके हाथ की चीज़ें भी खा आये। केले की पूरी, मूँग की कचौरी, खटमिठी कढ़ी, करैले की कलौंजी, आलू की बड़ी, दही की जलेबी, मखाने की फ़ीर्नी, और न जाने क्या-क्या कह रहे थे; मैंने तो इतने नाम भी नहीं सुने हैं। मत पूछो; बाबा तो उसके हाथ की सफ़ाई का पुल बाँध देते हैं।"

"सच, दीदी ?"

"और, जानती हो, बेला ? वह मिडिल-पास भी है; रामायण का अर्थ लगा लेती है !"

"सच, दीदी ?"

"बाबा तो कहते थे, सीने-पिरोने में भी वह अपना सानी नहीं रखती। बेल-बूटे तो ऐसा काढ़ती है, मानों कल के बने हों। उसके हाथ की कारीगरी देखोगी; बाबा एक तश्तपोश साथ लेते भी आये हैं। क्या कहूँ, बेला ! मैंने तो ऐसी फूलपत्ती की बारीकी नहीं देखी।....."

"सच, दीदी ?"

"अब तो मेरा ससुराल जाना फिर रुक गया। मोहन और उसके बाप नवेद मियाँ यहाँ ज़रूर आएँगे ही।"

"सच, दीदी ?"

"और क्या ? तुम्हें मोहन को देखने का मौक़ा मिल गया।"

कमला तो मन की तरङ्गों पर थिरक रही थी। यह 'सच दीदी—सच दीदी?' की रटन उसे ज़रा भी न खली।

"अरे! यह क्या कर रही हो? चावल से कंकड़ी अलग कर रही हो या दोनों की खिचड़ी?"

सचमुच बेला ने चुनी हुई कंकड़ी और चावल को मिला कर एक कर दिया था! उसकी नज़र थाल पर जो पड़ी, तो सिटपिटा गई। उसने बड़ी आज़िज़ी से शर्माते हुए कहा—"माफ़ करो बहन, मैं जाने कहाँ भटक चली थी।"

कमला ने देखा कि बेला के चेहरे पर चूना पुत गया है; आँखें डबडबाई-सी नज़र आती हैं।

"बेला, तुझे हो क्या गया है? रोती तो नहीं?"

"क्या कहूँ, दीदी, मेरे भी वे दिन याद आ गये!"—बेला कुछ लजाई-सी सहमी हुई बोली।

बात की सफ़ाई कोई औरत से सीखे! बेला भी तो नारी है। किस ख़ूबी से आँखों का काजल चुरा ले गई!

"दुर पगली! बीती बात पर कुढ़ुँककर क्या होगा? जो इस घड़ी सामने है, उसे देख। तेरे गले में लोच है, तुझे गा-बजाकर माँड़ो गुलज़ार करना पड़ेगा!"

"मुझे? मैं कब की गानेवाली? बचपन में कुछ रो—गा लेती थी; अब तो न रोने आता है, न गाने।"

"रहने भी दो। मुझी से उड़ रही हो? तुम रामायण गाती हो।"

तो कलेजा निकाल लेती हो !"

"मगर, दीदी ! मैं इस ब्याह में शामिल नहीं हो सकती। मुझे आख़िर एक दिन यहाँ से जाना ही है, तो फिर क्यों न इसी वक़्त चल जाऊँ !"

"वाह ! इतने दिनों तक जब रह गई, तब ब्याह के मौक़े पर न रहोगी ? यह भी कोई बात है ! अपने मन से न सही, हमारे मन की तो रख लो !"

"नहीं, दीदी ! मुझे मुआफ़ करो, मैं न रहूँगी !"—बेला की आवाज़ में एक हल्की दृढ़ता का आभास है।

"क्यों ?"—कमला ने ज़रा खीजकर पूछा।

"तुम समझती नहीं। मैं किसी मंगल कार में तो हाथ बँटाने नहीं पाती। जब इन हाथों से चूड़ी उतर गई, उसी छन इनका पानी भी उतर गया !"

"दुर पगली ! तू हाथों से वर को नहीं चूमेगी—बहू को नहीं परछेगी, तो क्या और कामों से भी हाथ खींच रखेगी ?"

"मालकिन कभी आँगन में मुझे फटकने भी देंगी; काम करना तो दूर रहे !"

"देख लेना, तुम्हारी कमर में भंडार की कुंजी झूलती रहेगी। माँ को इतनी समझ तो ज़रूर है कि तुम एक दाना भी सरका नहीं सकती। तुम्हें न घर है, न परिवार; तुम कहाँ चुराकर ले जाओगी ? जब ख़ुद न लोगी, तो फिर दूसरों को क्यों लेने

दोगी। तुम खुद देखती हो, माँ की ज़बान ऐसी तीखी है कि यहाँ दो दिन भी कोई ठहर नहीं पाता। तुम्हारी पीठ पर घट्टे पड़ चुके। और, ब्याह का घर है। यहाँ चोटी का पसीना एँड़ी पर लाना होगा। तुम्हारी तरह कोई भाड़े का टट्टू भी खट सकेगा?"

बेला चुप सुनती रही। अब कौन दलील पेश करती? कमला ने देखा कि उसके चेहरे पर बादलों का वितान उसी तरह छाया हुआ है।

कमला नज़दीक चली आई और उसके कंधों पर हाथ रखकर बड़ी नरमी से बोली—"मानती हूँ, बहन! तुम्हें बीते दिन याद आ जाते हैं। पर तुम जो कुछ खो चुकी, वह तो तुम्हें इस लोक में लौटता नहीं! अब फ़िज़ूल कलपकर क्या करोगी? मान भी लो, तुम्हें ब्याह में असमंजस पड़े या तुम्हारे भरे हुए ज़ख्म फिर ताज़ा हो उठें। पर करोगी क्या? तुम हँसकर चिता पर चढ़ सकती हो; फिर तुम कलेजे पर पत्थर रखकर इस ब्याह में नहीं भिड़ सकती?"

"सच कहती हो, बहन! मेरे लिए फूल-शय्या नहीं, चिता है। संसार नहीं, संन्यास है।"

बेला ने इस तरह कहा, मानों अपने मन से कहती हो। उसने चट से थाल को उठा लिया, और सर झुकाए अपनी कोठरी में चली गई।

वह चटाई पर लेटे गहरे विचारों में डूब गई। श्रीधर का ब्याह! क्यों? मुझे तो चटपट मुँहमाँगी मुराद मिल गई। भगवान् ने मुझे मँझधार से उबार लिया। अब मेरी आँखों में आँसू कैसे? मेरे सर के ऊपर छाये हुए बादल आप-से-आप मिट गये।

उसने भगवान् का ध्यान किया, हाथ जोड़ा और जुड़े हाथों को सर तक ले गई; पर चेहरे पर कृतज्ञता की किरनें झलकीं नहीं।

वह फिर सोच में डूब गई—"तो क्या श्रीधर ने जो कुछ कहा था, वह महज़ मुखपात था? उसकी आँखों में मर्म की व्यथा नहीं, कामना की शिखा थी? वह पुनीत प्रेम नहीं, काम था? मेरा ख़याल सरासर ग़लत निकला। मैंने उसे मनुष्य समझा था, वह पुरुष निकला। जिसे मैंने रत्न समझा था, वह काँच ठहरा। देवता कौन कहे, वह इन्सान भी नहीं; पशु है! नहीं तो, उसे एक नारी के हृदय के साथ यह निदारुण खेल खेलने की ज़रूरत क्या थी? पर, मैं भूलती हूँ। मैं तो नारी नहीं, पतिता हूँ!"

कि हठात् चारों ओर से चीं-चीं की आवाज़ उसके कानों में पड़ी। वह चौंक पड़ी। दो गिलहरियाँ उसके इर्द-गिर्द तड़प-तड़पकर पूँछें पटक रही हैं। उनके रोएँ खड़े हैं। आँखों में आतङ्क भरा है। वे ज़ोर-भर चीं-चीं चिल्लाती और थर-थर काँप रही हैं।

बेला इन दोनों से परिचित थी। उनके आगे वह प्रतिदिन फल और सब्ज़ी के छिलके या रोटी का एकाध छोटा टुकड़ा फेंक देती। आगे के दोनों पैरों से छिलके या दाने को थाम कर उनका कुतरना उसे बड़ा भला लगता। इसीलिए वे ज़रा ढीठ थीं—बेला के नज़दीक स्वच्छन्द थिरकती रहतीं।

सामने आँगन में एक छोटा-सा केतकी का गाँछ है। उसी पर उनका घोंसला है। बेला ने देखा कि केतकी के गाँछ के नीचे एक बड़ी-

सी बिल्ली दबकी बैठी है और हिंसा-भरी आँखों से ऊपर गुरेर रही है। बेला समझ गई कि यह गिलहरी के बच्चों की ताक में पैंतरे कर रही है।

आँगन में एक कुहराम-सा मचा है। कौए और मैने नीम की डालियों पर काँव-काँव चेंन्चें करते मँड़रा रहे हैं। नीचे चारों ओर गिलहरियों की फ़रियाद है।

बेला भाँप गई कि यह चीं-चीं उससे इमदाद की प्रार्थना है! मगर जाने क्यों वह ज्यों की त्यों बैठी रही।

बिचारी गिलहरियाँ लाख गला फाड़तीं; पर बेला के कानों पर जूँ तक न रेंगती—"मुझे क्या पड़ी है कि मैं किसी के मुँह का आहार छीन लूँ! मेरे दो-दो बच्चे काल के गाल में चले गये, मैंने चूँ तक न किया। तिल-तिल मर रही हूँ मैं; मुझे तो कोई सहारा देता! मैं ही ज़माने-भर के ज़ुल्म से भिड़ूँ?"

उसने मन-ही-मन इतना कहा और मचलकर उन पर लात चला दी। वे बिचारी अनाथ होकर चिल्लाती रहीं।

स्त्रियों के मिज़ाज की रविश को समझना कुछ खेल नहीं है। यह तत्त्वज्ञान से भी बढ़कर चक्कर में डालनेवाला मसला है। बेला तो कभी की चिड़ही नहीं थी। इस बेवजह ज़िद की जड़ कहाँ है, इसे शायद वह ख़ुद नहीं समझती थी!

उसके ज़ाती मसले से और बिचारी गिलहरियों के सर पर मँड़राती हुई आफ़त से क्या निस्बत?

जो हो, जब बिल्ली ने भाँप लिया कि बेला की जानिब से कोई

जुम्बिश नहीं है, तब वह उचककर डाल पर कूद गई। परिन्दों और गिलहरियों के आर्त्तनाद से आँगन गूँज उठा।

वह 'बाघ की मौसी' खेंते में सटके हुए मासूम बच्चों पर पंजा उठा चुकी थी कि एकाएक बेला ज़ोर से चिल्लाकर लपकी और बिल्ली धम से कूदकर नौ-दो-ग्यारह हो गई।

गिलहरियाँ दौड़कर गाँछ पर चढ़ गईं। बेला मुस्कुराती हुई चटाई पर लौट आई। उसने सोचा क्या, और किया क्या!

शायद औरतों के मिज़ाज और कलेजे में आकाश-पाताल का अन्तर है।

तबतक कमला किवाड़ के पास आकर खड़ी हो गई और बोली—"ग़ज़ब हो गया, बेला! श्रीधर ने शादी करने से इनकार कर दिया।"

"क्यों?"—बेला ने उतावली होकर पूछा।

"भगवान् जाने! मैं तो कुछ समझ ही नहीं पाती।"—कमला ने मुँह बनाकर कहा—"उसे अभी और पढ़ना है या पहाड़ तोड़ना है। पढ़कर लाट होगा! बाबा की तो तमाम उमीदों पर पानी फिर गया। उनकी ज़बान लौटानी पड़ेगी। वे तो शर्म से पानी-पानी हो गये हैं। वे क्या जानते थे कि जिसे बचपन से पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाया, वह पलटकर एक दिन उन्हीं के चेहरे का पानी उतार लेगा! बिरादरी में वे अब अपनी आँख सीधी कर सकते हैं? यही न कहा है कि पराया कभी अपना नहीं हो सकता—चाहे उसे लाख कंचन का कौर खिलाओ। तुम्हीं कहो, बेला! अगर आज बाबा निगाह पलट दें, तो श्रीधर की क्या हस्ती रहेगी?"

"हाँ दीदी, महाराज की बात को उठा देना अपने पैरों में कुल्हाड़ी मारना है। उन्हें यह क्या सूझी है?"—बेला ने आँखें मटकाकर कहा।

"बाबा ने उसे कल सुबह तक सोचकर जवाब देने को कहा है। मुझे भी उसे समझा-बुझाकर रास्ते पर लाने को कह गये हैं। मैं तो, बहन, हर पहलू से समझाकर थक गई। वह टस-से-मस नहीं होता।"

"मालकिन क्यों नहीं बुलाकर कहतीं? उनके सामने उनकी एक न चलेगी!"

"माँ तो गुम बैठी है। उसे तो अपने पेट का बेटा है नहीं, इसी पर हौसले निकालती। मूँगा को बड़े तड़के ही बुलाकर गहनों का दर-भाव ठीक कर रही थी कि तबतक यह बखेड़ा उठ खड़ा हुआ। जानती हो, बेला, वह बहू की मुँह-दिखाई में अपने गले की सतलरी देती। श्रीधर की अक्ल में तो भंग पड़ी है। नहीं तो कंचन से उसकी बहू लद जाती। माँ तो अलग बाबा पर लाल-पीली हो रही है कि 'तुम्हीं ने दूध पिलाकर साँप पाला और अब ज़हर का दाँत तोड़ो—मैं उसे बुलाकर झाड़-फूँक नहीं करती'।"

बेला के लब पर—"मैं उन्हें मना लूँगी, दीदी!"—आया ही था कि विवेक ने अन्तराय होकर ज़बान थाम ली। वह घूँट पीकर रह गई।

"देखूँ, क्या गुल खिलता है। इस घड़ी मोहन मिश्र भूत उतारने आये हैं।"—कहती हुई कमला लौट गई।

बेला सोच में डूब गई—"तो क्या श्रीधर की शादी रुक गई? मेरे सर पर तो बला नहीं आई? भगवन्! तुमने मुझे मँझधार से उबारकर फिर अथाह में डाल दिया! शायद मेरी कृतज्ञता की वाणी सच्चे दिल से

जयध्वनि बनकर नहीं निकली थी ; उसीका यह दंड है। पर, यह दंड मेरे हृदय पर वज्र का आघात बनकर क्यों नहीं टूटता ? यह तो पुष्प-वृष्टि बनकर कलेजे पर उतर गया। मेरे अन्तर के कोने में वसन्त की लपट चलने लगी। क्यों—किस लिए ? क्या अब वह मेरा होकर रहेगा ? उफ़ ! यह क्या सोच रही हूँ मैं ! नाथ ! क्या मुझे भी दुनिया की हवा लग गई ? क्या सचमुच मेरे मन की जड़ में पाप का कीट है ? उसे चाहती हूँ मैं ? भगवन् ! क्या श्रीधर मुझे तुमसे भी दूर कर देगा ? या तुम्हीं ने उसे मेरी कसौटी बनाकर भेजा है ? वह तो कभी मुझे मिलने-वाला नहीं। तुम्हारी भी शरण छूटी ! तुम तो अब इस कलुष की कोठरी में झाँक भी नहीं सकते। हाय ! मेरा शेष संबल भी लुट गया। कैसी अभागिनी हूँ ! लोक भी छूटा, परलोक भी टूटा। न सुहाग मिला, न विराग। न पति-प्रेम का रस मिला, न भक्ति का पीयूष। मैं न सीता हो सकी, न सती ; न मीरा हो सकी, न शबरी। मैं पतित हूँ, और तुम पतित-पावन। तुम्हीं कहो, इस पतिता की कोई गति भी है ?"

"यह हो नहीं सकता। श्रीधर को विवाह करना ही पड़ेगा। नहीं तो, वह जीतता है और मैं हारती हूँ। मेरे कारण वह सर से ताज उतारकर कोपीन पहने, उसके कंधों पर दुशाले के बदले भीख की झोली चढ़े, यह होने का नहीं। मेरे साथ तो उसकी भाँवरी पड़ेगी नहीं। और, मैं उसके उज्ज्वल भविष्य की क्षति के बदले उसे क्या दे सकूँगी ? उसके विफल जीवन की शून्यता को क्या देकर भरूँगी ? मुझे क्या है—एक जीवन है, जिसके तमाम पुर्ज़े हिल गये हैं; एक जिगर है, जिसके तमाम

रेशे छिल गये हैं ; वह यौवन है, जिसका पानी उतर चुका है ; वह दामन है, जिसकी सीवन उभर चुकी है। और है ही क्या ! पुरुष भोग करता है, स्त्री त्याग करती है। यह सनातन प्रथा है, उलट नहीं सकती। वह ख़ुश रहे ; मैं ख़ुश हूँ। वह फूले-फले ; मैं सुनती रहूँ। मेरा दुःख उसका दुःख न हो। उसका सुख मेरा सुख हो। बस, मुझे फ़ौरन् यहाँ से टल जाना ज़रूरी है ; नहीं तो यह मोह का बन्धन और भी निविड़ होता जायगा। और, कहीं यह बात फट पड़ी, तो—मेरा जो होगा, वह तो होगा ही—उस बिचारे पर तो सौ-सौ घड़े पानी पड़ जायगा''''''। उसे शादी करनी ही पड़ेगी। मेरी उमीद पर वह क्वांरा रहे और अपने सर पर गुरुजनों का अभिशाप बटोरे, यह मैं जीते-जी कभी देख नहीं सकती। मैं विष खाकर जान दे दूँगी या कुएँ में डूब मरूँगी ; पर उसके जीवन के पथ पर काँटा न बनूँगी।"

बेला फूल सूँघकर रह गई। उसे न भूख थी, न कौर उठता। वह हथेली पर गाल रखे ख़याली पुलाव पकाती रही। वह कैसे अपने हाथों आसमान के तारे तोड़कर श्रीधर के यश के मुकुट में गूँथ सकेगी, यही असंभव कल्पना तरह-तरह के रूप धरकर उसके अन्तर-मुकुर में झलकती रही। यही मानसिक उत्तेजना उसकी क्षुधा को खा गई—प्यास को पी गई। श्रीधर के लिए वह समुद्र में डूबकर कौस्तुभ निकालती, अमृत का घड़ा चुराती, हरिचन्दन की डालियों को झुकाकर अमरफल तोड़ती तथा चन्द्र की किरनों को छीनकर उसकी चादर में पिरो देती और स्वयं उसी समुद्र में डूबकर लापता हो जाती।

इसी मीन-मेष में शाम हो गई। आकाश की लालिमा पर कालिमा छाने लगी। पर बेला तसवीर बनी बैठी रही।

षोडश परिच्छेद

उधर मिश्रजी की प्यासी आँखें बेला की झलक की तलाश में आँगन का कोना-कोना ढूँढ़ रही हैं। आँखों को सेंकना तो कभी उन्हें नामंज़ूर नहीं; पर हाँ, एक हद तक। ऐसा नहीं कि उनकी आँखों में आँख जा पड़े।

वे देव-पूत अहदनामे की शर्त्त को रात-दिन उँगलियों पर माला की तरह जपते, जभी तो वे अपनी चित्तवृत्ति को सैकड़ों उद्योग-धन्धों की परिधि में आबद्ध रखने की कोशिश करते कि उसे दायरे के बाहर दौड़ने की फ़ुरसत ही न रहे। कहीं कथा-पुराण कहना, कहीं यज्ञ-याग का अनुष्ठान, कहीं वेद-वेदान्त की चर्चा; ग़रज़ यह कि दिमाग़ को मशग़ूल

रखने के लिए और कर्त्तव्य-पथ पर उसे अटल रखने के लिए एक-न-एक आयोजन अवश्य रहता। साथ-साथ घर पर आकर एकाध घंटे बेला के दरस-परस से दिमाग़ को ताज़ा कर लेना भी उनके स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी था।

बेला क्या थी, उनके दो घड़ी के दिलबहलाव का क्लब थी; और उसी क्लब पर अपना आधिपत्य मज़बूत करने के लिए वे समझते थे कि श्रीधर की शादी करके उसके लिए एक नई बहू बुला देना ज़रूरी है; नहीं तो, वह भी क्लब की मेम्बरी के लिए उम्मीदवार हो सकता है! फिर बाप-बेटे में आपस की तनातनी की आशङ्का उठ सकती है।

उन्होंने जब घर पर आकर यह सुना कि कुएँ में डूबती बेला को श्रीधर ने जान पर खेलकर बाहर निकाल लिया, तो उनका माथा ठनका; और फिर जब घंटे-भर के बाद श्रीधर ने—बिना किसी सङ्गत कारण के—विवाह से इनकार कर दिया, तब तो उनकी पिलही चमक उठी। उनके दिल में चोर बैठा, और श्रीधर का दिल ढूँढ़ने के लिए छटपटी पड़ी। पर उसके व्यवहार-बात से, या बेला के शील-स्वभाव से, दाल में कुछ काला नज़र न आया।

उधर मिश्रानीजी कोप-भवन में पलँग पर चित लेटी हुई हैं। गनेस बहू पैर टीप रही है। कमला चटाई पर बैठी मुन्नी की पीठ सहला रही है।

एक ओर मूँगा मुँह लटकाये खड़ा है। उसके चेहरे की रोशनी बुझी हुई है; पर 'आसमानी-भवानी' की कृपा से आँखों में सुरूर

भरपूर है। वह श्रीधर पर जी-जान से गरम है। बात भी है। उसके हाथों में आई हुई सोने की चिड़िया उड़ा चाहती है। कहाँ सैकड़ों-भर सोने के गहने पिटते और उसका घर भर जाता! श्रीधर ने शादी के इनकार से उस बिचारे की सञ्चित उमीदों की जड़ काट डाली।

मिश्रानी अलग उबल रही हैं। वे दिल के फफोले फोड़तीं तो किस पर फोड़तीं? ब्याह के बहाने वे नाती को देख पातीं, दामाद को बुलाकर जोड़े पिन्हातीं और मसरफ़ी गहने बहू-बेटी को भेंट कर अपने लिए नये पैटर्न के पिटवातीं। मुन्नी के पिता के नाम की अधूरी चिट्ठी उनके सिरहाने पड़ी है। नेता गुनी श्रीधर का मत फेरने का बीड़ा उठाकर अपने तमाम इष्ट भूतों को गाँजे के दम पर उभार रहा है।

मिश्रानीजी करवट बदलकर बोलीं—"क्यों री गनेसी बहू! तू क्या समझती है? श्रीधर तो हमेशा हमारे सामने एक टाँग पर खड़ा रहता था। मैं अगर उसे सात समुन्दर-पार फाँदकर परबत की जड़ी उखाड़ लाने का हुकुम देती, तब भी वह कभी 'ना' नहीं कहता। आज उस पर क्या सवार है जो उसके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती? न हमारी बात सुनता है, न अपने चचा की। उसे किसी की दीठ तो नहीं लगी?"

"मालकिन जी!"—गनेस बहू ने आँखें मटकाकर कानों में झुककर कहा— "दाई से पेट छिपता है? यह उसी डाइन का टोना है; नहीं तो श्रीधर बच्चू कभी महाराज की बात टाल सकते? वे तो जब कुएँ में कूदे, तभी मैं समझ गई कि दाल में कुछ काला है!"

कमला के कान खड़े थे। वह ज़रा दाँत किचकिचाकर बोली—

"क्यों कान भरती हो गनेसी बहू ? ऐसी बात होती तो कानों-कान ख़बर न होती ! तुम भी अगर कुएँ में जा पड़ोगी, तो मुमकिन नहीं कि श्रीधर कभी कान दबाकर खड़ा देखता रहे। उस दिन रामू की नतिनी मन्दिरवाले तालाब में डूब ही जाती—अगर श्रीधर उसे निकाल न लाता। देखती हूँ, तेरी खोपड़ी खुजला रही है।"

मिश्रानीजी गनेस बहू का पक्ष लेकर बोलीं—"कमली, तुझे अभी दुनिया की हवा लगी नहीं। तू बेला को कहाँ तक समझेगी ? वह कुछ कच्ची गोटी नहीं खेलती। उसके पेट में पाँव है। एक तो वितलौकी, दूसरे नीम चढ़ी ! एक तो बेवा, दूसरे—घर की निकाली !"

"जो हो, तुम्हारे लिए तो महज़ पेट पर लहू-पसीना एक करती है। मुझसे तो कोई काम बन पड़ता नहीं। अकेले वही न आठों पहर तेली का बैल बनी रहती है ! अगर घर में शादी पड़ी, तो तुम्हें आटे-दाल का भाव मालूम होगा। गनेस बहू तो खाकर डकार तक न लेगी। बेला बिचारी लल्लो-चप्पो नहीं जानती; इसीलिए न किरकिरी हो रही है !"

गनेस बहू भीतर-ही-भीतर खिझी थी, यद्यपि ऊपर से हँसने की कोशिश करती। आज बेला न होती, तो कमला उस पर ऐसा लांछन न लगाती।

वह ज़रा भिन्ना कर बोली—"मेरी बात तो तीती लगती है, दीदी; मगर एक दिन जब लुटिया डूबेगी, तब आप समझेंगी !"

स्त्री जब जी से चिढ़ जाती है, तब वह चोट खाई हुई शेरनी की तरह शिकार को पंजों से नोच-नोचकर झँझोर-झँझोरकर ख़ून चूसती है।

"कुछ भी कहो, कमली !"—मिश्रानी ने हाथ मकाकर कहा—

"मैं तो उसकी झावली में नहीं आ सकती। आख़िर यहीं आकर उसे पेटी पड़ी। नहीं तो जब आई थी, पेट पीठ से सटा था!"

कमला को ऐसी बेरुखी बातें बुरी लगीं। वह उठकर बेला के पास चली आई। बिना उगले भला कमला के पेट का पानी पचता? उसने बेला के कानों में गनेस बहू की बानी सुना दी।

सुनकर बेला सन्न हो गई। उसके पाँव-तले की धरती निकल गई। ज़रा चुप होकर बोली—"मैं ग़रीब न होती, बहन! तो गनेस बहू मुझपर छींटे मारती? चूड़ी न फूटती, तो आज यों·····"

बेला आकर चटाई पर बैठ गई, कमर थामकर। गाल पर हथेली पड़ी है। पीठ पर लटें छिटकी हैं। गंगा और यमुना चरागाह से लौट आकर सामने खड़ी हो गईं। शायद बेला का भाव देखकर उन्हें छेड़ने की हिम्मत नहीं थी। वे बिचारी चुप देखती रहीं। फिर दोनों ने नाँद को टटोला। जो ही मिला, उसी पर सन्न रखा।

अँधेरा हो चला है। सामने छप्पर पर पसरी हुई लौकी की लता हवा में थर-थर काँप रही है। उसकी पत्तियों में हवा की हरीहट दुंद बाँधती। बेला चुप सुनती रही।

गनेस बहू मिश्रानी का दरबार बरख़ास्त होने पर जब आँगन में आई, तब धीरे से हाथ उठाकर उसने एक लौकी तोड़ ली, और आँचल में छिपाकर अँधेरे में चम्पत हो गई! बेला ने देखा और आँखें फेर लीं।

रात हो आई। सितारे निकल आये! चाँद उठ आया।

मिश्रानी के चौके में चूल्हा जला। छनमन कड़ाही की काकली चली। घी के कचौरी की ख़ुशबू आँगन में भर गई। मिश्रानी ने कचौरियाँ तोड़ीं। मिश्रजी कुछ अस्वस्थ थे। उनके लिए कमला साग़ू बनाकर ऊपर ले गई।

थोड़ी देर आँगन में हलचल रही। फिर सब सन्नाटा।

आधी रात। झनझन सुनसान। बेला उठी। एक लम्बी साँस ली, और आँगन में आ गई। केश खुले हैं, आँचल कंधे पर है।

आकाश पर ज्योत्स्ना की लहर। वह दूध की बौछार आँगन की दीवारों पर चाँदनी-सी तनी है। आकाश में सुदूर उत्तरी कोन पर कुछ बादल लटके नज़र आते हैं। रह-रहकर उनकी छाती को चीरती हुई एक अनल-रेखा चमक उठती है। दूर से एक गंभीर गर्जन कानों पर आ टकराता। कोनी हवा नीम की पत्तियों में—लौकी की टहनियों में—बौरी-सी फिरती है।

चारों ओर किवाड़ बन्द हैं। कहीं कोई आवाज़ नहीं।

चंचल समीर उसके आँचल को छेड़ता रहा। चाँद की किरणें उसके चेहरे पर बरसती रहीं। वह दरवाज़े पर आई, किल्ली उठाई, और बाहर निकल गई।

बाहरी बैठक को पार कर गई। दूसरे क़िते में क़दम रखा।

श्रीधर के कमरे के किवाड़ खुले हैं। मिट्टी के दीपाधार पर दीपक की क्षीण शिखा डोल-डोलकर अपने हृदय की बेचैनी रो रही है।

सहसा हारमोनियम छेड़ने की आवाज़ कानों में पड़ी; साथ-साथ एक

वीणा-विनिन्दिनी काकली भी। बेला ताड़ गई। वही उठान, वही तान; वही मूर्च्छना, वही लहरा और गले का वही परिचित लोच। वही लावण्य-लीलामयी लय की लहरी। चाँदनी की धारा में ध्वनि की धारा दूध-पानी की तरह मिल चली। ज़र्रे-ज़र्रे में जान पड़ गई।

बेला किवाड़ के पास खड़ी हो गई। कान देकर पीने लगी। श्रीधर गा रहा है—

चितवन में प्राण भरके मैं जोहूँगा प्रिया को,
नन्दन-चमन की झूमती लावण्य-लता को।
होठों पर आ गई किसी विप्लव की वेदना,
चुम्बन में लुटा दूँ अभी यौवन की सुधा को।
रग-रग में दौड़ती हैं क्यों बेताब बिजलियाँ,
प्राणों में चूमता है क्यों आनन्द व्यथा को!
क्यों भर रही है दिल में मेरे दर्द से मिठास,
घोला है क्या किसी ने हलाहल में सुधा को!
आँखें बिछा चुका हूँ मैं मन्दिर में हृदय के,
लरियों में गूँथता हूँ मैं आँसू की कणा को;
आओ, वरण करो मेरे जीवन को, मरण को,
आनन्द को, विषाद को, यौवन को, जरा को।

गाना रुका; पर उसकी प्रतिध्वनि बेला के हृदय-पञ्जर में, अन्तस्तल में, प्राण में, मन में, चेतना में गूँज उठी। वह अवश होकर श्रीधर की गोद में गेंद बन जाती, यदि कठोर कर्त्तव्य उसके तमाम अस्तित्व को

सतर्क न रखता। वह सिर से पैर तक थर्रा उठी और काँपती-झिझकती श्रीधर के सामने आ पड़ी।

"आ गई, महाराज! मगर..." कहते-कहते बेला रुक गई। गला रुँध गया।

"आओ बेला, आओ, मेरे रोम-रोम में रोमाञ्च बनकर फैल जाओ। मेरे शरीर की पोर-पोर में बिजली बनकर खेल जाओ। मेरे अन्तर में कामना बनकर उठो—मेरे प्राणों में चेतना बनकर रहो। आओ, क्षण-भर इन लोचन-पल्लवों के भीतर घुमको—दम-भर इस अधीर वक्षःस्थल पर नाच लो। आओ, खड़ी क्यों हो? तुम स्फटिक की मूर्त्ति नहीं, प्राणों से भरी परी हो। सच कहो, यह स्वप्न तो नहीं है?"

बेला कुछ देर तक चुप रही। फिर सर पर आँचल खींच सामने आई। वह होठों की ओट में दिल को छिपा भी लेती, पर चितवन के पुट में तो छिपाना आसान नहीं। वह आँख चुराती हुई बोली—"हाँ, यह स्वप्न है और स्वप्न ही में संभव है। मैं बेला हूँ, विधवा हूँ, पतित हूँ। मैं आपकी राह में....."

"....न आओगी?"—श्रीधर ने छाती पर हाथ रख कर पूछा।

"नहीं! बिदा लेने आई हूँ मैं!"

"क्यों? कहाँ जा रही हो?"

"कहीं भी!"

"तो फिर चलो, मैं भी साथ दूँगा।"

"नहीं, आपको साथ लेना रहता, तो मैं बेला न होकर कुछ और

होती। आपका जो साथ देगी, वह कभी की जन्म ले चुकी है—बस, कुछ दिनों में आपकी संगिनी होगी!"

"परन्तु, बेला, इस जीवन में तो एक ही संगिनी बन सकती है—दूसरी नहीं।"

"महाराज, तो फिर यह क्यों भूले जा रहे हैं कि स्त्री के जीवन में भी तो एक ही पुरुष होता है, दो नहीं? पुरुष के लिए तो क़ैद नहीं—एक हो, दो हो या दस हो। हाँ, आपके जीवन में एक ही स्त्री हो ज़रूर; लेकिन वह स्त्री एक कुलटा नहीं, एक कुलीन कुमारी होगी।"

विवेक ने बेला के कलेजे को मुट्ठी में कसकर थाम लिया। इसलिए उसके हृदय की वाणी रुद्ध और बुद्धि की आवाज़ खुल पड़ी।

श्रीधर हारमोनियम पर हाथ टेककर बैठ गया।

"बेला, मैं तो विवाह करता नहीं। चचा को साफ़ जवाब दे दिया है। इस संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो मुझे मजबूर कर सके!"

"महाराज, वह शक्ति मैं हूँ!"

बेला की आवाज़ में तेज की दृढ़ता है—आँखों में तेज की सुषमा।

"तुम!"—श्रीधर ने आँखें फाड़कर पूछा।

"हाँ, मैं! मैं इसी पल विष खाकर जान दे दूँगी!"—आँचल के खूँट में बंधी हुई विष की डली दिखाती हुई बोली—"मेरे जीवन पर जो कुछ लद चुका, वह लद चुका। अब आप एक और विराट् कलङ्क का पहाड़ इन कंधों पर मत डालिये। मैं पिस जाऊँगी। मुझे कहीं भी शरण न मिलेगी। आप तो दुपट्टा तानकर सो रहे हैं। इधर मेरी जो

गति हो रही है, मैं ही जानती हूँ। आपको क्या मालूम कि मैं किस तरह लहू के आँसू पीकर दिन काटती हूँ! घर में आठों पहर यह काना-फूसी चल रही है कि आपकी इस ज़िद की जड़ मैं हूँ। कमला दीदी भी अब मीठी चुटकियाँ लेने लगीं।"

श्रीधर का चेहरा ज़र्द हो गया। वह आकाश-चुम्बी उच्छ्वास पाताल में धँस गया। न वह आवेश रहा, न वह आवेग। जवानी के वलवले गर्म तवे पर दो बूँद पानी की तरह छन्न हो गये। वह फिर सँभलकर बोला—"किसी फ़िरिश्ते तक को तो ख़बर नहीं। फिर कमला कैसे....."

"क्यों भूल रहे हैं। उस रोज़ गनेस वहीं मौजूद था।"—बेला ने बात काटकर कहा।

"कब?"

"जब आप कुएँ से उबारकर मुझे यहाँ उठा लाये। गनेस चौखट पर बैठा ऊँघ रहा था। देखने में वह जो गावदी हो, लेकिन भीतर का घाघ है। और, उसकी बहू तो पानी में आग लगा सकती है। आपने शादी से इनकार किया और घर-घर मेरे कलङ्क की डुगडुगी पिट गई।"

"वह हरामज़ादी तो शैतान की ख़ाला है। वह दुलत्ती झाड़कर क्या करेगी?"—श्रीधर ने तिनककर कहा।

"क्या करेगी? आपका पानी उतार लेगी। सत्य के सामने आपकी तलवार म्यान से बाहर न आ सकेगी। आप शादी में 'हाँ' कर दीजिये; फिर देखिये—गनेस बहू ऐसा चारों ख़ाने चित्त गिरेगी कि बस! मेरे मुँह में भी चन्दन लग जाता।"

आकाश बादल से भर गया। जो मेघ का टुकड़ा उत्तरी कोने पर उठा था, वह धीरे-धीरे आलमगीर हो गया। विश्व पर अँधेरा भर चला। कभी-कभी बिजली चमककर उस तिमिर के तूमार को चीर देती। हवा तेज़ हो गई।

बेला आँचल को समेटकर ठमकी खड़ी रही।

श्रीधर सोच में डूब गया। उसके चेहरे पर भी मेघ की सघन छाया है। वह भर्राई हुई आवाज़ में बोला—"बेला, तुम्हारी आँखों की अनी मेरे दिल में चुभी है। इसे मैं निकालता हूँ, तो सच मानो, कलेजा निकल आता है।"

"तो फिर आप कहें, तो मैं इन आँखों को निकाल डालूँ। न ये रहेंगी, न किसी में चुभेंगी।"—बेला शान्त-स्थिर स्वर में बोली।

"क्या बकती हो बेला! इन आँखों का क्या क़सूर है! मेरा दिल ही ऐसा मुलायम है, मेरा मन ही ऐसा मायल है।"

"मैं यह मान नहीं सकती। आप तलवार का वार उठा सकते हैं और किसी की आँखों की फूलझरी पर मैदान हारे बैठे हैं!"—बेला ने ज़रा हँसकर कहा।

"बेला, मैं भी पहले यही समझता रहा। मगर, जब आँखों से मैदान लेना पड़ा, तभी उनका जौहर खुला। दीदार की आँच के सामने तलवार की आँच झूठ है। तुम्हारी आँखों में भी यदि आँख पड़ती, तो तुम आँखों की पीर को मानती। तुम्हारे दिल में भी अगर दिल रहता, तो तुम इस दर्द-दिल को जानती। तुम तो तड़पाती हो, तड़पती नहीं। यह दिल की लगी दिल्लगी नहीं। रस से भीगी है ज़रूर,

मगर विष की पगी है—पगी। बेला, तुम भी कभी किसी पर मेरी तरह मरती, तो तुम इस मरने के आनन्द की—इस मरने की वेदना की—थाह पाती। तुम्हें तो लौ लगी नहीं। तुम इस लौ को ख़ाक समझोगी?"

बेला ने एक लम्बी साँस ली, दिल को थामा और आँचल को सर पर खींच लिया। भला, वह क्या जवाब देती?

बरसाती नदी की तीव्र धारा समुद्र के गाम्भीर्य पर चुटकियाँ लेती है। अगर आकाश पर पूर्णिमा का चाँद रहता, तो समुद्र उभरकर अपने हृदय के आवेग को प्रकट कर देता। अगर अम्बर पर दिनकर अस्त न होता, तो बिजली की बत्ती कभी उस तजल्ली की खिल्ली उड़ा सकती? गली का कुत्ता शेर पर शेर होता है?

श्रीधर कुछ देर तक चुप रहा। उसे ऐसा महसूस होने लगा, मानों उसका दिल बैठा जा रहा हो। हथेलियों के बल सर लटकाए, बड़े गम्भीर शब्दों में, वह बोला—"और मेरा प्रेम? उसे तो मैं तुम्हें दे चुका हूँ!"

"वह परजन्म के लिए थाती रहेगा। इस शरीर में रहकर उसपर मेरा अधिकार नहीं।"—बेला ने धीमी ज़बान से जवाब दिया।

"जो हो, मैं तो इसे तुम्हें दे चुका हूँ। अब वापस नहीं ले सकता।"

"आप बेफ़िक्र रहें। मैं इसी को नई दुलहिन को देकर बधूवरण करूँगी। पृथ्वी पर इसे भोगने के लिए वही आई है, मैं नहीं।"

"तुम्हें देने का हक़ क्या है?"

"मगर मुझे लेने का हक़ क्या है? मैं तो इसे ले नहीं सकती, न आप इसे दे सकते हैं।"

"यह चीज़ मेरी है, मैं जिसे चाहूँ·····"

"आपकी नहीं"—बेला ने बात काटकर कहा—"सुधा की—सुधा की।"

"सुधा को मैं क्या जानता हूँ! वह मेरी कौन होती है! उसे तो·····"

"आप दें या न दें। हमारे यहाँ देने-लेने का सवाल ही नहीं उठता। उसपर उसी का जन्मगत अधिकार है। आपके चचा ने मिश्रानी को जान-बूझकर अपना हृदय दिया हो या न दिया हो; लेकिन न्यायतः उसपर क़ब्ज़ा किसी दूसरे का हो नहीं सकता। मैं फिर भी कहती हूँ कि कल सुबह तक अगर आपने शादी की ज़बान नहीं दी, तो बेला का ख़ून आपके सर पर होगा। मैं इस शर्म को नहीं उठा सकती। मैं जान दे दूँगी।"

"बेला, मैं विवाह-वेदी की तिकठी पर चढ़ने को तैयार हूँ। मगर यह मशहूर बात है कि फाँसी के मुजरिम की भी अन्तिम इच्छा सुन ली जाती है। मेरी भी विनती सुनती जाओ। मेरे दिल को तस्कीन तभी होती, जब मैं तुम्हारी ज़बान से सुन लेता कि तुम्हारा प्रेम मुझपर निरन्तर है और निरन्तर·····"

"महाराज, पतिता का प्रेम तो ओस की बूँद है। आप यह किस फेर में पड़े हैं? मैं तो प्रेम के नेम को जानती तक नहीं।"

वार ख़ाली गया। बेला पैंतरे पर सरक गई।

"जो हो, पतिता ही सही। मगर, तुम्हें मानना होगा कि जो कुछ तुमने कहा है, वह कर्त्तव्य की वेदना थी—विवेक की प्रेरणा; कुछ हृदय की कामना नहीं। सच कहो, तुम्हारे हृदय में मेरी जगह है या नहीं?"

"हृदय ! महाराज, हृदय तो वैधव्य के हुताशन में होम हो चुका है। आज हृदय जलकर ख़ाक न हो गया होता, तो मैं इसे निकालकर दिखा देती। मैं दिलवाली रहती, तो उमड़कर आपके चरणों पर जा पड़ती। मगर, मैं क्या हूँ, मुझे ख़ुद पता नहीं ! हाँ, इतना निश्चित है कि मैं जहाँ रहूँगी, आपके सुख में सुख पाऊँगी—आपके सुयश की चंकोरी रहूँगी।"

"तो क्या सचमुच तुम न मिलोगी ?....."

"इस जीवन में नहीं। मुझे भूल जाइये। समझिये—एक स्वप्न था, कट गया।"

बेला पलट पड़ी। श्रीधर खड़ा देखता रहा।

उसी पल प्रमत्त आँधी-पानी हुङ्कारता हुआ आ धमका। पानी की डबल बूँदें। आँधी के प्रबल झोंके। अन्धकार पर हाहाकर। मेघों की भीषण चीत्कार।

वह दो क़दम भी आगे न बढ़ी होगी कि एक भयङ्कर कड़कड़ाहट से कौंधती हुई बिजली गिरी। पृथ्वी से आकाश तक वज्राग्नि की लपलपाती हुई लोल जिह्वा चमक उठी।

श्रीधर ने आँखें मूँदकर किवाड़ थाम लिया। फिर इसी विप्लवी तूफ़ान में बेला को जाते देख वह ज्योंही कमरे से बाहर निकला कि बेला ने धक्का देकर उसे कमरे में ठेल दिया और किवाड़ लगाकर जंजीर चढ़ा दी। फिर चिल्ला उठी—"नहीं-नहीं ; बाहर मत आइये। आसमान फटकर गिरा चाहता है, बिजली गिरी !"

"तुम इस तूफ़ान में जान दोगी ! कहाँ जाती हो ! दम लो।

बिजली की कड़क·····"—श्रीधर ने भीतर ही से गला फाड़कर पुकारा।

"मुझपर, और बिजली!—मैं ऐसी ख़ुशक़िस्मत नहीं हूँ!"—कहती हुई बेला आगे बढ़ गई। वह न सहमी, न सकुची। वह युगान्त टङ्कार उसके कानों के बारीक परदे पर रेंगकर रह गया। वह अशनि-सम्पात की प्रदीप्त ज्वाला उसे सितारे टूटने की चमक-सी नज़र आई। उसे न पानी से भीगने की ख़बर थी, न बिजली के कौंधने की।

शायद जो तुमुल तांडव उसके अन्तस्तल में उठ रहा था, वह अगर निकल पाता, तो प्रकृति की यह प्रलय-विभीषिका पाताल में चली जाती। उसपर जो बीतती थी, उसे वही जानती थी; दूसरा उसे क्या जानता? यह वह आग है, जिसमें धुएँ की ध्वजा नहीं। यह वह हाहाकार है, जिसमें चीत्कार का पता नहीं!

सप्तदश परिच्छेद

शहनाई बजी। नौबत झड़ी। मिश्रानी की नाक की नथिया थिरकी। कमला के हाथों की चूड़ियाँ खनकीं। फुलझरियाँ छूटीं। फुलवारियाँ छुटीं। शादी हो गई। छुनमुन बहू की नूपुर-ध्वनि से आँगन का कोना-कोना मुखरित हो उठा।

बेला ने गाया-बजाया; गुलगुले बाँटे। उसके अंगों में उच्छ्वास की लहरी थी। उसके उछाह की किरनें आँगन में बिखरी थीं।

वह अलग रहकर भी सबसे ज़्यादा शामिल रही। उसके आँचल में बँधी भंडार-घर की कुंजियों की झनकार गनेस बहू की छाती की पंजरियों में टीस पैदा करती। बिचारी की नई लहरिया चुनरी बेकार हो गई। वह लहू पीकर हाथ मलती रही, आख़िर उसके दिन भी पलटेंगे। शादी के बाद जब कमला ससुराल चली जायगी, तब वह एक-एक घूँट के बदले दस-दस घूँट चूस लेगी। फिर बेला की एक दाल न गलेगी।

नई बहू तो नई बहू है। और, मिश्रानी को हाथ में कर लेना तो बाएँ हाथ का खेल है। कमला न रहती, तो यह निगोड़ी चक्की पीसती। मिश्रानी तो इसे फूटी आँखों न देख पातीं। शादी में यह तरक्की चार दिन की चाँदनी है।

गनेस बहू का समझना कुछ ग़लत न था। नेता के हाथ में मिश्रानी की चोटी थी और उसकी आँख पर बेला चढ़ चुकी थी। फिर, पत्ते की आड़ में वह कबतक छिपती रहेगी। अगर श्रीधर के विवाह का हंगामा न उठता, और मिश्रानी की चित्त-वृत्ति दूसरी ओर खिंच न जाती, तो कभी मुमकिन न था कि अबतक वह बाल-बाल बची रहती।

फिर, वह भी अपनी परिस्थिति को अच्छी तरह समझती थी। उसका रोआँ-रोआँ सतर्क था। वह तय कर चुकी थी कि शादी के बाद जब कमला ससुराल चली जाती है, तब वह भी किसी बहाने या चुपके-से अपना रास्ता देखेगी। वह रात-दिन इसी उधेड़-बुन में खोलती रहती। नेता की गन्दी गोद में बैठने से कहीं दूर जा सड़क के किनारे सिरकी तानकर बैठना उसे कहीं प्रिय था। यहाँ श्रीधर की आग में घी होना और खुद भी जलकर कबाब होना कबतक निभेगा? मिश्रानी से करुणा का भरोसा मरु में मन्दाकिनी की तलाश है। गुरु महाराज तो घरनी के आगे सिटपिटाकर भीगी बिल्ली बन जाते हैं। गनेस बहू जिस ताक में बैठी छुरी पर सान दे रही है, वह खेल कभी होने का नहीं। वह बन्दूक छुतिया कर ही क्या कर लेगी, जब शिकार घेरे में आने का नहीं! बला से वह वेश्या हो जायगी। इस आठों पहर काँटों पर

रँगने से तो जान बचेगी। जब लाचारी है, तब वह शरीर बेचकर शरीर की रक्षा करेगी; क्योंकि यही शरीर तो आख़िर परलोक का सेतु है? राम के चरणों में आश्रय ढूँढ़ने के लिए उसे शरीर को दाँत से उठाकर सञ्चित रखना ज़रूरी है; और अगर बिना नारीत्व का होम किये उसकी रक्षा मुमकिन नहीं, तो वह ख़ुशी से इस त्याग को भी स्वीकार करेगी। अगर सर्वस्व होम देने पर भी यह शरीर आगे चलकर साकेत का सेतु हो सकता, तो आज इसका पानी उतरा या रहा, दोनों बराबर है।

आख़िर जल-तरङ्ग पर जब नाव डूबने लगती है, तब उसमें भरी हुई सोने और मूँगे की पेटियों को भी पानी में फेंक देना पड़ता है, ताकि वह हल्की होकर तैरती रहे।

वह शरीर का सत फेंककर दुनिया की आँखों में हल्की तो ज़रूर होगी, पर जान तो बचेगी! इस चोले को क़ायम रखने का दूसरा तो कोई ज़रिया नज़र नहीं आता। गुरु महाराज की वाणी है कि वेश्या करुणा का पात्र जो हो, घृणा का पात्र कदापि नहीं। फिर हर्ज ही क्या है?

मिश्रजी की बात बेला के दिल में घर कर गई थी। जब-जब वह अथाह में डूबती, राम का नाम लेकर तिनके का सहारा पाती। वह समझती थी कि संसार में सबसे पहला धर्म शरीर का पालन है। रोटी-दाल के लिए चक्की पीसना पड़े या रूप का सौदा करना पड़े—दोनों एक-सा है। उस रोज़गार में जैसी उसकी बुद्धि होगी, वैसी ही उसकी गति होगी।

वेश्या बुरी नहीं, कुलटा बुरी है। रंडी बुरी नहीं, पुंश्चली बुरी है।

जब स्त्री की दसों दिशाएँ सूनी हो जाती हैं, तब उसके पेट की ज्वाला उस सुनसान अँधेरे में रसातल का रास्ता दिखाती है। वही रसातल बाज़ार की गली के कोठे का दुतल्ला है।

मगर, दूसरे ही पल बेला का कलेजा काँप उठता और नाबदान में दामन तर करने के बदले कुएँ में डूबकर जान दे देना वह बेहतर समझती। वह सोचती कि जीकर क्या होगा, जब वह शरीफ़ होकर जी न सकी! यह तिल-तिल मरने से एक ही बार मर जाना कहीं बढ़कर है। वह इसी हैस-बैस में डूबती-उतराती और मन-ही-मन—"होइहैं सोइ जो राम रचि राखा"—कह-कहकर सब्र कर जाती।

जब कमला ससुराल जाने लगी, तब बेला बिलकुल अनाथ होकर विकल हो गई। मुन्नो को गोद से उतारते उसका कलेजा निकल आया।

"तुम तो चली, दीदी। अब मेरी कौन गति होगी!"—कहकर वह बिलख पड़ी। कमला ने उसे बाबा की बाँह की छाँह का भरोसा देकर शान्त करना चाहा। पर, उसका ज़र्रा-ज़र्रा जानता था कि वह भुजा मिश्रानी की लाल आँखों से पनाह देने के लिए किस हद तक उठ सकती है।

श्रीधर के हाथ का कङ्कण छूटना था कि बेला के सर पर चिन्ता का पहाड़ टूट पड़ा। दूसरे ही दिन कमला जो रुख़सत हुई, तो साथ-साथ बेला के दिल की तसल्ली भी रुख़सत हुई। वह रात-दिन डरी-सकुची रहने लगी। एक-एक क़दम फूंक-फूंककर रखती। नेता और गनेस बहू की कानाफूसी उसकी आँखों के सामने जारी थी। न

जाने कब, किधर से, वार हो ! अब कमला तो थी नहीं जो ढाल होती। और, श्रीधर के रू-ब-रू अब वह भूलकर भी नहीं जाती—मदद लेना तो दूर रहे। विवेक ने संयम की मज़बूत रस्सियाँ लेकर उसकी भाव-प्रवण मनोवृत्तियों की कड़ी मुश्कें कस दी थीं; वे उलटी उसाँस लेकर रह जातीं; उनमें किसी तरफ़ हाथ-पैर फैलाने की सत्ता ही न थी।

बेला नई बधू के पास जाकर घंटों बैठती। जब कभी मौक़ा पाती, उसकी चोटी गूँथती, उसे फूलों से सजती, गिलौरियाँ बना कर देती और आँचल पर ख़ुशबू छिड़क देती।

सुधा अभी किशोरी थी—कुल चौदह साल की। वह लम्बा घूँघट डाल कोने में रंगीन कपड़े की गठरी बनकर बैठी रहती और दस बात पूछने पर एक पर सर हिलाती। उसके चेहरे का रंग साफ़ था—कुछ चम्पक नहीं। वह देखने में भोली सुन्दरी थी—परी नहीं। आँखें काफ़ी बड़ी—रस से भरी। गाल दोनों नई कोपलों की तरह चटक और चिकने। एक-एक अंग फूलों में तुला।

बेला घूँघट उठाकर उसका मुँह देखती और देख-देखकर न जाने क्या सोचती रहती। वह धीरे-धीरे बहू के दिल में घर कर गई। सुधा तो कम बोलती, पर अब बेला के लगातार इसरार पर कभी-कभी मीठे-मीठे रामायण गाकर सुना देती। जब वह ललित स्वर से राम की कथा गाकर सुनाती, तब बेला भाव से विभोर और स्नेह से सजल होकर उसकी ठुड्डी थाम लेती और भर्राई हुई आवाज़ में कहती—"तुम्हें मैं क्या दूँ बहू ? मुझ कंगालिन के पास है ही क्या ? अगर परजन्म में भी मुझे

वांछित सुख लिखा है, तो उसे भी मैं ख़ुशी से आज तुम्हें सौंप देती हूँ। तुम्हारे सुहाग की सत्ता दुगनी रहे; मैं एक जन्म और सूनी सही। तुम्हारे ललाट की सिन्दूर-रेखा मेरे ललाट की ब्रह्म-रेखा की तरह अमिट हो!"

सुधा इस स्नेह-सरस आशीर्वाद-वाणी को सुनकर मन-ही-मन बेला के चरणों में सर झुका देती।

इधर कुछ दिनों से बेला को गुरु महाराज के पास जाने की फ़ुरसत बिलकुल नहीं मिलती रही। दो-पहर की पढ़ाई का सिलसिला शादी की झंझटों की वजह से स्थगित था। कभी किसी काम से उसे उनके सामने जाना पड़ता, तो सर झुकाए जाती और सर झुकाए वापस आती।

मिश्रजी की आँखें उसकी मराल-गति की माधुरी में मधुमक्खी-सी डूब जातीं, और फिर प्यासी की प्यासी रह जातीं! भर-मुँह बात होनी सम्भव नहीं थी, और उनकी दिल की लगी दिल ही में सुलगकर रह जाती!

कङ्कण छूटने के दिन जब बेला किसी काम से उनके कमरे में गई, तब अचानक वे टोक ही बैठे—"क्यों, बेला, शादी तो ख़ुशी-ख़ुशी हो गई। कल कमला भी अपने घर चली। अब तुम्हें अध्ययन में मन देना ज़रूरी है। तुम्हारी तो दूसरी गति नहीं।"

इतना उन्होंने कह तो दिया; पर दूसरे ही क्षण उनको यह खटका कि फिर आग से खेलना—आग से खेलना होगा। दूर ही से आँखों को सेंक लेना या कभी दो-चार बातें कर मुँह मीठा कर लेना तफ़रीह के लिए

काफ़ी है। आगे बढ़ने से मन की तरावट तो विशेष होगी; पर ख़ुदा-न-ख़ास्ता कहीं वह रपटकर अथाह में जा पड़े तो···

पर उनको अपने विवेक की क़ूवत पर भरोसा था और चन्द्रमौलि के चरणों का आसरा।

उस दिन मिश्रानी को तीसरे पहर बाजे-गाजे और सखी-सहेलियों के साथ कालू कलवार के देवघर में विवाह की मन्नत उतारने जाना पड़ा। यह उसी जाबिर दरवार की मदद थी कि श्रीधर के सर का भूत सुबह होते-होते उतर गया था और मिश्रानी की मुराद पूरी हो सकी थी। अब देर होती, तो अहसान-फ़रामोशी होती; इसीलिए उन्होंने कमला के जाने के दूसरे ही दिन गुलगुले और सिन्दुरिया चुनरी, साकल और घी तथा छोकरे के नाच और शहनाई के साथ ज़यारत के लिए ख़ुद जाने की तकलीफ़ गवारा की। घर में अकेली वधू थी और बेला।

श्रीधर झीलवाले मठ पर गया था। उसकी वहशत अभी गई नहीं थी। उसके सर पर सेहरा तो ज़रूर बँध गया था, पर उसका चेहरा अभी तक वैसा ही मुहर्रमी बना था; सुधा-जैसी पत्नी मिलने पर भी उस पर उछाह या चाह नहीं थी। फूल-शय्या पर यह चेष्टा बदली या नहीं, भगवान् जाने!

आज सुधा ने पहले-पहल अपने हाथों से दाल-भरी पूरियाँ पकाई थीं। बेला ने भी आज वही पूरी खाई और दो जोड़ी गङ्गा और यमुना के लिए रख छोड़ी।

बेला कभी पान खाती न थी, पर आज सुधा के स्नेह का उपहार

गिलौरी हँसते-हँसते दाँतों में दबा ली। होठों की पपड़ियाँ गुलाब की पाँखुरी बन गईं! जब दो-पहर को सुधा थक कर सो गई, तब बेला ने रामायण उठाई, और गुरु-महाराज के निकट चली गई।

मिश्रजी आसन पर बैठे पान चाब रहे थे। घुटी दाढ़ी, घुटी मूँछें, फटी माँग, कटी-छँटी केश-राजि, खड़ी चुन्दी, गर्दन में रुद्राक्ष के दानों के साथ सोने की कंठी, कंधों पर केसरिया चादर, ललाट पर केसर का तिलक—ये सब कुछ उनकी भव्य आकृति के सर्टिफ़िकेट हैं।

कमरे की खिड़कियाँ खुली हैं। हवा और धूप से कमरा लहालोट है। वे जो चाहते थे, या वे जो डरते थे, वही हुआ। बेला सर झुकाए, हाथ में रामायण लिये, आ खड़ी हुई। मिश्रजी ने समझा, उस दिन का टोकना फल गया।

मिश्रजी कुछ ऐसे बन गये, मानों बेला के आने की उनको ख़बर ही नहीं! वे बिलकुल मुत्तवज्जिह न हुए। एक ओर मुँह फेरे बैठे रहे।

जब बेला पुस्तक खोलकर वहीं ज़मीन पर बैठ गई, तब वे मुँह फेरे-ही-फेरे ज़रा मुस्कुराते हुए बोले—"बेला, कमला की माँ कहीं बाहर जा रही हैं?"

"जी हाँ। कालू के देवघर। अब पहुँच चुकी होंगी।"

"और श्रीधर?"

"ख़बर नहीं।"

"तुम्हें बहू पसन्द आई, बेला?"—मिश्रजी ने हँसकर पूछा।

"पसन्द न आएगी! हीरे की कनी है!"

"श्रीधर के गले का हार हो, तब समझूँ। दुनिया में किसी चीज़ का जौहर उसके रंग-रूप पर नहीं, उसकी माँग पर निर्भर है। जानती हो, मेरे पिताजी मेरे लिए मुझसे सिन में दस बरस बड़ी बहू लाये, और मैं रीति उलटकर दस बरस छोटी लाया। समझती हो, क्यों?"

बेला ने सर हिला दिया।

"क्योंकि पुरुष तो साठ के इधर कभी लचता नहीं, और स्त्री तीस के पार जाते बिलकुल लच जाती है। यही सनातन विभेद है। मेरे जीवन की बरबादी की किल्ली भी दूसरी नहीं। मेरे पिता की यह भूल शूल बनकर·····ख़ैर, जाने दो, मेरा भाग्य ही खोटा है; किसी को दोष क्यों दूँ? वे क्या जानते थे कि रमा के होठों के परदे में विष की थैली होगी और वह एक दिन शंखचूड़ बनकर मेरे जीवन को विषमय कर डालेगी? मुझे तो डर है कि कहीं बहू की ज़िन्दगी भी योंही तीती न कर दे।"

"जी नहीं! मालकिन तो बहू को आँखों से लगाकर रखती हैं।"

"सच? लेकिन, बेला! आज जिस चाव से आँखों पर बिठाती हैं, कल उसी चाव से आँखों से उतार भी देंगी। आज न रेशमी हिन्डोले पर झूल रही है, दो दिन बाद तिकठी पर झूलेगी, देख लेना। भगवान् करे, बहू की पीठ की खाल मोटी हो; वह चुड़ैल तो बिना उधेड़े माननेवाली नहीं! एक दिन तो तू-तू-मैं-मैं होकर रहेगा।"

बेला क्या जवाब देती? वह चुप रही। सर झुकाए दाहिने जानिब बैठ गई।

मिश्रजी अभी उस ओर मुड़े नहीं थे; मुँह फेरे हुए ही बातें कर रहे थे। नज़र तिरछी करें या नहीं—मन-ही-मन यह उधेड़-बुन थी।

इधर कितने दिनों से प्रतिदिन का निभृत आलाप का सिलसिला टूट चुका था। आज अचानक बेला के आविर्भाव से वे ज़रा चंचल हो चले। वे अपनी चित्तवृत्ति को सँभाल लेते, तब इधर झुकते। कि बेला बोल उठी—"महाराज! मैं रामायण लाई हूँ। कहाँ से पढ़ूँ?"

"ठीक तो, मैं भूल ही गया था। इधर सामने आ जाओ। इस वक़्त तो विवाह-प्रकरण ही पढ़ना सङ्गत होगा। तुम पढ़ती जाओ—जहाँ समझ न सको, वहाँ रुक जाना; मैं समझा दूँगा।"

बेला खिसककर आगे आ गई। सामने खुली हुई खिड़की पड़ी और अपराह्न की कोमल किरणें इर्द-गिर्द झूमती मिलीं। झीने आँचल के फ़ानूस से उसके कमनीय मुख की कान्ति निखर पड़ी और होठों पर पान की लाली ज्योति की शिखा हो गई।

पंडितजी ने इधर निगाह जो डाली, तो बस टकटकी बँध गई। वे अपनी शिष्टता को भूल गये; अपनी शालीनता को भूल गये; दुनिया को भूल गये; बेला को भूल गये! उनके सामने केवल एक अपरूप रूप की लहर थी और आँखें उस लहर में डूबने-उतराने लगीं। उस लहर के रेले से विवेक के मोरचे टूटकर न जाने कहाँ विलीन हो गये। उनकी चातक-दृष्टि ने पक्ष्मान्तराल को चीर डाला।

बेला पढ़ रही है। मध्याह्न-वायु उसके मुख से आँचल को रह-रहकर उलट देती और वह हाथ उठाकर उसे थामती जाती! उसने दुहराया—

"जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।
सहज पुनीत मोर मन छोभा॥"

"क्या बात है!"—एकाएक पंडितजी के मुख से निकल पड़ा।

बेला के कानों में यह आवाज़ जो पड़ी, तो उसकी नज़र उचककर गुरुवर के चेहरे पर गई। आँखें चार हो गईं!

पंडितजी की आँखों में उसने एक विचित्र चमक देखी—वही चिर-परिचित चमक, जिसे पहले-पहल उसने मौलसिरी के पल्लवों की आड़ में खड़े 'दिनेश' की आँखों में देखी थी।

उसने सोचा, कहीं आँखें धोखा न दे रही हों। फिर आँखें उठाकर देखा, और गड़ाकर देखा। बिलकुल वही चमक—वही प्रज्वलित निष्पलक दृष्टि!

वह एकबारगी सहम उठी। मन-ही-मन पुकार उठी"—भगवन्! मैं स्वप्न तो नहीं देखती? गुरुवर की आँखें भी चटोर निकलीं! वही चमक—वही चसका!"

उससे रहा न गया। ज़रा तिनककर पूछा—"महाराज! मैं यह क्या देख रही हूँ?"

"क्या बेला?"—उनकी आँखें उसी तरह टँगी हैं।

"आप यह आँखें फाड़कर किसे देख रहे हैं?"

"बेला, सच मानो, तुम्हारे रूप में उस अपरूप-रूप—उस विश्व-सौन्दर्य—का छींटा है, जिसे देखकर फिर दुनिया में कुछ देखने की लालसा बाक़ी नहीं रह जाती। मेरी आँखों ने न जाने अबतक क्या-क्या नहीं देखा; मगर जिसे देखने के लिए ये आँखें आँखें हुईं, वह रोशनी इन्हें

आज ही नज़र आई। जगत् में जो यथार्थ सुन्दर है, वह चिरन्तन आनन्द का मन्दिर है; और अगर किसी की आँखें उसे पा गईं, तो यही जी चाहता है कि इस सुहाग से कभी विराग न हो—यह नन्दन का नज़ारा कभी आँखों की ओट न हो।"

"महाराज! मैं तो देखती हूँ कि आपकी आँखों में प्रदीप्त कामना की·····"

"नहीं, बेला, यह कामना की शिखा नहीं, पुजारी की आरती की शिखा है। यह सच है कि ये आँखें देखने ही के लिए मिली हैं; पर मैं तो उसी को आँखवाला मानता हूँ, जिसकी आँखों में कलाकार की आत्मा है—उपासक की निष्ठा है। नहीं तो, गृध्र की जैसी व्यापिनी दृष्टि और किसकी होगी?"

पंडितजी के दिलफ़रेब शब्दों के परिच्छद के साये में बेला ने उनकी नग्न वासना के कङ्काल को देख लिया। उसके तो होश उड़ रहे थे—आज लोक और परलोक के तमाम रहस्यों को अपनी उँगलियों पर रखने वाले पंडित के सर पर यह कैसी ख़ब्त सवार हो गई!

"बेला, तुम मानो या न मानो, मैं फिर भी कहता हूँ कि तुम्हारे रूप के लावण्य में उस विचित्र नूर का जलवा है, जिसे आँखों की राह दिल में उतारने के लिए विश्वनियन्ता ने मनुष्य को लोचनों का सोपान बख़्शा है। मैं उसी आनन्द-घन को ढूँढ़ रहा हूँ। यह कोरी कामना नहीं, गंभीर प्रेम है। बेला, मैं चारों ओर उपवन के एक-एक प्रफुल्ल कुसुम-कुड्मल में तुम्हारे मुख की कान्ति को देखता हूँ, सितारों

की निर्निमेष करुण चितवन में तुम्हारी आँखों की किरन को जोहता हूँ, मलय-हिल्लोल-विह्वल रसाल की एक-एक नई कोंपल में तुम्हारे अंगों के लावण्य को ढूँढ़ता हूँ और वसन्त-वैभव में विभोर प्रकृति के एक-एक ज़र्रे पर तुम्हारी विराट् आत्मा के स्फुरण को पाता हूँ।"

"महाराज! आप यह कैसी बातें कर रहे हैं? आपकी ज़बान से भी इस अपवित्र शरीर और रूप की प्रशंसा·····"

"बेला, तुम महज़ शरीर नहीं हो! तुम शरीर से परे हो। इस सुन्दर शरीर से भी हज़ार दरजे सुन्दर हो। कौन कहता है, तुम अपवित्र हो? तुम पारिजात-पुष्पांजलि की तरह पवित्र—देवता के निर्माल्य की तरह निर्मल हो! और, तुम्हारा शरीर! वह भी तुम्हारी ही तरह सुन्दर, स्वच्छ, शुचिता-सम्पन्न है। पाप का कीट शरीर में नहीं, मन के कोश में घर करता है। शरीर की गन्दगी स्नान से जाती है, मन की गन्दगी बरसों तपस्या की आग से जलकर साफ़ होती है। तुम्हारा तो शरीर भी सुन्दर है, मन भी; न कीट है, न कलुष।"

"ख़ैर, जो हो; लेकिन इन बातों से मतलब—।" बेला सिटपिटाती हुई खीजकर बोली।

"मतलब?"—पंडितजी हँसकर चुप हो गये। उनकी निगाह सामने छत की कारनिस पर क्रीड़ारत एक कपोत-मिथुन पर पड़ी। बैंगनी रंग का जोड़ा है। कबूतर कूद-कूदकर गुटरगूँ करता हुआ, अर्द्धनिमीलितलोचना रोमांचकलेवरा कपोती के कानों में चोंच सटाकर, न जाने किस रहस्य-कथा को सुना आता है। उसका रोआँ-रोआँ

उभरकर फैल रहा है और दोनों पंख न जाने किस आवेग से पुलकित हो रहे हैं। सुहाग में फूली कपोती सर हिला-हिलाकर फुदक रही है।

पंडितजी ने एक क्षण इस विलास-चंचल उल्लास को देखा, और धीरे से बोले—"बेला! तुम्हारे दर्शन में जब इतना आनन्द है, तुम्हारा स्पर्श कितना पुलकप्रद होगा! मुझे अपने अंगस्पर्श का दान करो। मेरी यही विनीत याचना है। मैं ब्राह्मण हूँ, मुझे दान लेने का हक़ है। तुम शिष्य हो, दक्षिणा देना·····"

गुरुवर गिरिधारीलाल एक सीढ़ी और भी उतर आये। आख़िर आँखों ने कलाजंग पर उठाकर चित्त फेंक ही डाला! इतने दिनों तक ज्ञान और विज्ञान की जोड़ियाँ फेरीं, अध्यात्म के डंड पेले, आज एक भी कारगर न हुआ। चारों ख़ाने चित्त गिरे!

क्या इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं? हमारे मन की वृत्तियाँ क्या इतनी दुर्बल हैं? क्या इस जगत् में कोई ऐसा शुकसवार नहीं, जो मुँहज़ोर प्रवृत्ति की पीठ से पीठ नहीं खाता?

निस्सन्देह, जिस वक्त बेला रामायण लेकर पढ़ने आई, पंडितजी के हृदय में किसी तरह के अवैध दरस-परस की उग्र लालसा उठी तक न थी। हाँ, मन-निकुंज में सहज एक मलय की हल्की लपट अवश्य थी, आँखों पर एक गुलाबी सुरूर-सा ज़रूर था। पर, यह आँधी अचानक किस निभृत कोने से दुंद बाँधकर उमड़ आई, जिसने मानस-समतल को एकबारगी विक्षिप्त कर डाला—विवेक के मोरचों की मुस्तियाँ उड़ा डालीं—कौन कहे?

आख़िर बात क्या है? इधर कई दिनों तक बेला के न आने से तिल-तिल तीव्र होती हुई यह बुभुक्षा की कशा है, सामने निगाह पर चढ़ी कपोत-मिथुन की प्रेम-लीला है, बेला के किसलय-कोमल कपोलों पर मध्याह्न-मरीचि की तरंग-भंगिमा है, या बे-आदत के ताम्बूल-रंजन पर उसके अधरों की ललाम लालिमा है, किंवा नित्यप्रति आग के साथ खेलने की यह अवश्यम्भावी परिणाम-चूड़ा है। संभव है, यह तमाम ग्रहों का ज़लज़ला पैदा करनेवाला गोल-योग हो!

जो हो, पंडितजी की याचना की वाणी सुनकर बेला सन्न हो गई। पहले कुछ समझने में कोर-कसर भी था। वह प्रथम उद्गार, छाया-वाद की कविता की तरह—'साफ़ छिपते भी नहीं, सामने आते भी नहीं'—का मज़मून था। पर, इस अंगस्पर्श की याचना ने तो अस्पष्ट रहस्य की यवनिका को एक झटके में उठा ही डाला।

बेला के हृदय में हँसी, पीड़ा, शंका और ग़ुस्सा एक साथ उठ आये। वह ज़रा हँसकर बोली—"महाराज! आज आपने कुछ भंग तो नहीं पी ली? यह मैं आपके मुख से क्या सुन रही हूँ! आप सब समझकर भी बे-समझ हो रहे हैं। मैं आपको क्या दे सकती हूँ? अभी आपने कहा था कि जब मेरा मन पवित्र है, तो शरीर भी पवित्र है! फिर आपने मुझे वेश्या समझकर ऐसी फ़रमाइश·····"

"छी-छी! क्या कहती हो?"—पंडितजी ने बात काटकर कहा—"वह तो धन के लिए अपने रूप और यौवन का सौदा करती है, बरबस बाज़ार बेचती है; और यह तो, बेला, निष्काम सेवा है—निष्काम दान।

इस दान में तो त्याग की महत्ता होगी। अगर तुम्हारे मन की सम्पत्ति लुटती नहीं, तो फिर शरीर की सम्पत्ति यदि तुम्हारे गुरुवर के किसी अभाव को पूरा करने में लुट भी गई, तो इससे तुम्हारे अन्तर की देरी में तो क्षति नहीं पहुँची। इससे तो तुम्हारे अन्तर की उदारता टपकेगी। दधीचि ने देवताओं के लिए अपने शरीर की हड्डियाँ दे डालीं—राजा शिवि ने श्येन की याचना पर उसे अपने शरीर का टुकड़ा काट-काटकर दिया था, और तुम महज़ शरीर-स्पर्श की अनुभूति के दान पर अधीर हो रही हो! तुम्हें तो शरीर-अर्पण करने में भी द्विधा न होनी चाहिये। आख़िर एक दिन तो यह शरीर जलकर ख़ाक हो ही जायगा। फिर अगर आज यह किसी पीड़ित की क्षुधा मिटाने में मदद दे सका, तो इससे इसका गौरव बढ़ेगा, कुछ घटेगा नहीं।"

"महाराज, आप जिस अंग को कहें, मैं काटकर रख दूँ। लेकिन, मैं तो देखती हूँ कि आप इन्द्रियों के वशीभूत होकर गड्ढे में गिरे जा रहे हैं।"

बेला थर-थर काँप रही है—लाज से, लिहाज़ से और आशङ्का से। वह उठ खड़ी हुई। खिड़की के पास जाकर बाहर देखने लगी। एक अधेड़ औरत गुलेनारी दुपट्टा लपेटे, सर पर थाल लिये, खड़ी-खड़ी एक बूढ़ी औरत से बातें कर रही है। थाल में थाक-के-थाक पूए और गुलौरे सजे हैं। थाल का ढक्कन हवा से उधर गया है। आकाश पर एक चील मँडरा रही है—उसकी चटुल चील अपराह्न की निस्तब्धता को चीर रही है। बेला बुत-सी खड़ी देखने लगी।

पंडितजी भी उठकर नज़दीक आ गये। एक सूखी हँसी हँसकर बोले—"सच! मैं इन्द्रियों के वश में जा रहा हूँ! बेला, भगवान् ने इन्द्रियों को बेकार तो नहीं बनाया है! आँखें देखेंगी नहीं, तो क्या अंधी रहेंगी! और, अगर अंधी रखनी रहती, तो फिर इनमें दृष्टि क्यों भरी गई—तुम्हें रूप क्यों दिया गया! जब विश्व में रूप आया, तभी आँखें आईं। जब शब्द आया, तभी कान भी आये। जब गन्ध आई, तो नाक भी आई। जब रस आया, तो जिह्वा भी आई। जब स्पर्श आया, तो त्वचा भी आई। इसी तरह इन्द्रियों की रचना हुई, साथ-साथ इन्द्रियों के विषय भी निश्चित हुए। प्रत्येक इन्द्रिय को अपने विषय में बरतना ही पड़ेगा; यह स्वभाव-सिद्ध है। आख़िर इन्द्रियों को पीड़ा देकर भूखों मारने का उपदेश तो भगवान् ने गीता में भी नहीं दिया। इन्द्रियों को तो अपना कर्म अवश्य ही करना है। हाँ, तारीफ़ यही है कि जो कुछ करना हो, निष्काम करो—

'कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥'

मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ कि मैं इनके साथ नहीं हूँ, मैं तो बेदाग़—अलिप्त—हूँ।"

बेला ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—"क्या यही आपकी निष्काम चेष्टा है! आपको शर्म नहीं आती! आप यह क्या कर रहे हैं!"

पंडितजी बेला के बिलकुल निकट आ गये थे। हाथ पसार कर आगे बढ़ ही रहे थे कि बेला सरककर दूसरी खिड़की पर चली गई।

पंडितजी को ऐसा मालूम हुआ, मानों उनका कलेजा बाँसों उछलकर अचानक धम-से गिर गया। बड़ी नरमी से उन्होंने अपनी दलील फिर पेश की—"बेला, मैं तो कुछ करता नहीं। आत्मा तो अकर्त्ता है। जो कुछ कर रही है, प्रकृति कर रही है। इसके लिए मैं ज़िम्मेवार नहीं—

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते॥"

"महाराज! मैं आपके वेदान्त की भूलभुलैयों में नहीं आती। मैं तो समझती हूँ कि आपके हृदय में शैतान ने घर कर लिया है, और आपकी चोटी थामकर....."

"शैतान? नहीं-नहीं, भगवान्!"—पंडितजी बात काटकर बोल उठे—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥'

मेरी क्या मजाल है जो मैं एक उँगली भी बिना उसकी मरज़ी के उठा सकूँ। जो कुछ तुम देखती हो, सब उसी की प्रेरणा है। मैं तो महज़ निमित्तमात्र हूँ!"

"ठीक! प्रकृति करती है, ईश्वर कराता है; और आप तो आत्मा ठहरे—बिलकुल निर्लिप्त! महाराज, अब आप उलटी गंगा नहीं बहा सकते। मैं भी गीता कुछ समझ लेती हूँ। तब तो, चोर भी ईश्वर की ही प्रेरणा पर चोरी करता है, चटोर भी उसी के नाम पर मासूम का ख़ून करता है, आप भी ईश्वर को ही बेचकर धन बटोरते हैं और आज

भी ईश्वर के ही सर बला मढ़कर एक अबला पर शेर हो रहे हैं! धन्य आप और धन्य आपका ईश्वर! सच कहिये, आपको ईश्वर में विश्वास है?"

बेला की आँखों में लहू उतर पड़ा था और पंडितजी के माथे की दोलायमान शिखा उसे विषाण-सी नज़र आने लगी थी। उनके ललाट का रक्त-चन्दन का तिलक उसकी आँखों में साँप की आँख की चमक-सा डरावना प्रतीत हो रहा था।

"विश्वास क्यों नहीं? ज़रूर विश्वास है। तुम्हारा यह सवाल ही फ़िज़ूल है।"—पंडितजी ने ज़रा तेज़ होकर कहा।

"आप मानते हैं कि ईश्वर हर जगह हर ज़र्रे में हमेशा मौजूद है और सब कुछ का साक्षी है?"

बेला का तमतमाया हुआ चेहरा होठों की लाली से लोहा लेने लगा।

"अवश्य!"—मिश्रजी ज़रा झेंपते हुए बोले।

"तो क्या वह यहाँ मौजूद नहीं है, और आपकी चेष्टा को—आपकी हरकत को—देख नहीं रहा है?"

"क्यों नहीं!"—पंडितजी ने ज़रा सहमी हुई आँखों से बेला की ओर देखकर कहा।

"अगर मिश्रानीजी या कोई एक आदमी भी यहाँ मौजूद रहता, तो—हाथ उठाना तो अलग रहे—आप कभी किसी अबला पर निगाह भी उठाते? और, जो सब देखता-सुनता है—जो सबकी गति—सबका पति है, उसकी सर्वव्यापी स्थिति में आपकी प्रतीति रहती, तो कभी आपकी

ऐसी मति होती ? उसके सामने कभी आप इस तरह पेश आते ? ख़याल तक तो उठता नहीं, हाथ उठाने की मजाल कहाँ तक होती ! बात तो असल यह है कि आपका ईश्वर में विश्वास नहीं। यह ईश्वरवाली बोली—ठठोली है या आपके रोज़गार की बनावटी बँधी हुई बोली ?"

गुरु महाराज इस कठोर कशाघात से ऐंठ गये। जवाब क्या देते ? झेंप भी आई; साथ-साथ ग़ुस्सा भी आया। चेहरा चुक़न्दर हो गया !

उन्होंने देखा कि उनकी आँखों का पानी तो ढल ही चुका—जो होना था, सो तो हो चुका—अब वे इस मुहूर्त्त पर यदि अपनी उमंगों को सिकोड़ तौबा भी कर लें, तो भी बेला की निगाह में वे परहेज़गार अब कभी हो नहीं सकते। उसकी आँखों से तो वे उतर ही गये। अब तो उनको वह रुतबा—वह सुर्ख़-रूई—कभी मिल नहीं सकती।

जब बेशर्मी की ज़िल्लत से नजात होने की ही नहीं, तब फिर बेशर्मी की लज़्ज़त से वे क्यों महरूम रहें ? जब साक़ी की आँखों में उनकी शुमार मयख़्वारों में हो ही चुकी, तब अब प्यासे होठों के सामने से रस से लबरेज़ प्याले को ज़मीन पर उँड़ेलकर क्या होगा ? हो जो हो, उन्हें तोते की तरह आँखें फेर लेनी है। यह तीनों लोक का नज़ारा फिर मिलने का नहीं !

उधर बेला ने खिड़की से झुककर देखा कि उस मँड़राती हुई चील ने झपटकर थाल के गुलौरे पर छापा मारा, और औरत के सर से उचककर थाल ज़मीन पर जा पड़ा। औरत चिल्ला उठी और छाती पीट-पीटकर धूल में सने हुए पूए और गुलौरे उठाने लगी।

इधर भी गीध मँड़राकर टूटा। पंडितजी ने झपटकर बेला के कंधे पर हाथ रखा और अपनी ओर कसकर समेटना चाहा। वह हाथ का पड़ना था—और पंडितजी के निःश्वास की लपट नाक तक पहुँची थी कि बेला बिजली की तरह पलट पड़ी और जोरों से झटका देकर दूर सरक गई।

"छी-छी! चुल्लू-भर पानी में डूब नहीं मरते! मैंने तो आपको देवता समझा था, आख़िर जानवर ही निकले!"

पंडितजी किवाड़ से धक्का खाकर ज़मीन पर लम्बे हो गये, और बेला बदहवास तिलमिलाती हुई नीचे उतर गई।

ठीक उसी पल मिश्रानीजी अपनी सखी-सहेलियों के साथ, शहनाई के सुर में सुर मिलाये, झूम-झूमकर झूमर गाती हुई, ड्योढ़ी में दाख़िल हुईं। तमाम आँगन गाने की लहर से गूँज उठा। गीत का वह लहरा, ज़मीन पर चित्त पड़े पंडितजी के इर्द-गिर्द थिरकता हुआ, अट्टहास भरने लगा। वही आवाज़ दरादीवार से गूँज उठी—

"गोरी की सेजरिया जनि जैहो मोरे सामी!
उतरि जैहैं तोरे मुँहवाँ के पानी—उतरि०॥"

अष्टादश परिच्छेद

रात आँखों में कटी। पौ फटी। उषा के प्रतिहारी कुक्कुटों ने स्वागत की आवाज़ भरी। चन्द्रमौलि ने पंडितजी की विनती एक न सुनी। आख़िर सेहर हो ही गई।

यह न हुआ कि रात क़यामत की—ब्रह्मा की—रात होती। यह न हुआ कि आसमान टूटकर ज़मीन पर चला आता। यह न हुआ कि दीवारें ज़लज़ले की जुम्बिश से मसककर ढेर हो जातीं। न ईंट से ईंट बजी, न तारे टूटे, न ज़मीन फटी। न डूबने को चुल्लू-भर पानी मिला, न खाने को विष की डली मिली। न इधर की दुनिया उधर हुई, न गंगा की धार ही पूरब से पच्छिम पलटी

उधर बेला कोठे से नीचे उतरी, इधर मिश्रजी का सुरूर उतरा। और, फिर तो तीनों लोक पल में नज़र आ गये। बस, फ़लक टूटकर दुनिया को तह्नोबाला कर दे—यही दुआ उनकी एक-एक साँस में थी। रात ने आकर उनकी ज़िल्लत की चिलक पर अन्धकार का परदा डाल रखा; उषा ने आकर परदे को खींच उस दाग़ को रौशन कर डाला।

मिश्रजी ने अपनी आँखों के आइने में जो अपने चेहरे को देखा, तो पानी उतरा हुआ है और नाक कटी हुई है। यह वह चेहरा है, जिसे न वे खुद देख सकते, न किसी को दिखा सकते। एक ही रात में उसका तमाम रंग उड़कर सियाह हो गया। एक ही रात में उसका तमाम तेज मिटकर ख़ाक हो गया। वे हाथ मलकर रह गये। अपनी ही आँखों में वे ख़ुद सैकड़ों सीढ़ियाँ नीचे गिर गये।

उनकी समझ में नहीं आता कि अचानक उनके पाँव उखड़ कैसे गये। ऐसी स्थिति तो कभी दिमाग़ में भी नहीं आई थी। बेला के होठों के अभिनव ताम्बूल-राग ने उसके चेहरे के ज़र्रे-ज़र्रे पर कुछ ऐसी छटा बिखेर दी थी कि अचानक उनके मुँह से प्रशंसा-सूचक शब्द निकल पड़े; और बेला ने आँखें उठाकर उनकी चातक-दृष्टि की चाह को ताड़ लिया। उसकी चितवन का घी पड़ना था कि एकाएक उनकी कामना की आग भड़क उठी। न इस तरह परदाफ़ाश होता, न विवेक की कील उखड़ती।

बेला के अवज्ञापूर्ण नेत्र, उसके एक-एक शब्द की ज्वलन्त फिटकार उनके कलेजे में नेज़े की नोक की तरह प्रत्येक हृत्स्पन्दन के साथ चुभती

स्मृति की तख्ती पर सैकड़ों बार लिखा; पर आख़िर इस सरकन्दनी का नतीजा कुछ भी न निकला! इनकी तोताचश्मी मुझे ज़िन्दगी-भर खलेगी। अब इनसे वास्ता? नहीं, कोई सरोकार नहीं!

पंडितजी किताबों के गट्ठर को छत पर उठा ले गये। बीच सहन में अम्बार लगा दिया। पाँच मिनट तक खड़े-खड़े उन्हें देखते रहे। फिर न जाने किस झोंक में आकर दियासलाई लगा दी। बारूद में चिनगी पड़ी; ढेरी लहक उठी। वे ठठाकर हँस पड़े। फिर दूसरे ही क्षण उबलकर रो पड़े—"हाय! यह मैंने क्या किया? इन बिचारों का क्या क़सूर है? तबेले की बला बन्दर के सर! मैंने कब इनकी चेतावनी मानी?"

नीचे मिश्रानीजी की नाक में काग़ज़ जलने की बू पड़ी। कुहराम मचा। जयदेव मिश्र दौड़कर आये। घड़ों पानी उँड़ेला गया। जो जला सो जला; जो बचा सो बचा।

किसी ने इस ख़ललदिमाग़ी की बुनियाद को नहीं समझा कि आख़िर पंडितजी के सर पर यह कैसी वहशत सवार हो गई। पूछने पर वे सिर्फ़ सिसककर रह गये। उन्हें हिचकी-सी बँध गई। किसी के सामने वे दिल के टाँकों को खोल नहीं सकते थे। वे फ़ौरन नीचे मन्दिर में उतर आये और पछाड़ खाकर चन्द्रमौलि के चरणों पर जा पड़े।

उधर बेला कल शाम ही से अचेत पड़ी थी। उसे भी पल में तीनों लोक नज़र आ गये थे। इस लोक के देवता की हमदर्दी की

कैफ़ियत तो नज़र आ गई; भगवान् जाने, उस लोक के देवता की हमदर्दी किस कमाश की होगी। अबला के लिए शायद दोनों लोक बराबर होगा।

यहाँ रहकर वह काफ़ी गंगा नहा चुकी। अब किसी तरह यहाँ से गंगा-पार जाने में ही कल्याण है। उसे नज़र बचाकर क़ैंची काटना होगा।

पर, वह जाती तो कहाँ जाती? किसी के घर जाकर चौका-बरतन पर भी वह ख़ुशी से पेट पाल लेती—अगर पुरुषों की आन्तरिक शीलता का उसे भरोसा होता, औरतों की ईर्ष्या का शिकार न होने का आसरा होता। मिश्रजी जैसे शालीन और शीलवान् पंडित की आँख की आँच से पनाह न मिली, तब और किसी की आँख तो उसे देखते ही निगल डालेगी। वह बिचारी क्या जानती थी कि गुरु महाराज का तलवा धो-धोकर पीने का परिणाम एक दिन लहू का घूँट पीना होगा?

वह रात-भर पड़ी-पड़ी आकाश-पाताल सोचती रही—

"मैं तो समझती थी कि समुद्र के तूफ़ान के थपेड़ों से कराहती हुई मेरी नाव ज़िल्लत की चट्टानों पर भुरकुस न होकर यहाँ शान्ति के बन्दर में आ लगी है। पर, मेरी भ्रान्ति आज स्पष्ट हो गई। जिसे मैंने शान्ति का मन्दिर समझा था, वह जल्लाद का घर निकला। जिसे मैंने देवता के बराबर समझा, वह आख़िर जानवर निकला। आज गुरुवर की छाया भी व्यथा हो गई। यहाँ का इतमीनान भी जान का जंजाल हो गया।

"घर में रही, तो देवर का अत्याचार; सरकार के दरबार में गई, तो सरकार के प्रतिनिधियों का अत्याचार; ईश्वर के दरबार में आई, तो ईश्वर के प्रतिनिधियों का अत्याचार! घर या बाहर, एक ही दर्दसर। सरकार की छाँह में आई या गुरु की बाँह गही, कोई भेद नहीं। उधर खाकी खाकी वरदी, इधर रामनामे का सन्दली उत्तरीय। उधर सर पर झब्बेदार साफ़ा, इधर सर पर विल्व-पत्र-शोभी शिखा। एक ओर गर्दन में सोने के तमग़े, दूसरी ओर गर्दन में रुद्राक्ष के दाने। एक के हाथ में न्याय का डंडा, दूसरे के हाथ में तुलसी की माला। उधर न्याय की पताका, इधर धर्म की ध्वजा। मगर दोनों एक ही गली के कुत्ते निकले, सरासर काम के कीड़े नज़र आये। दोनों के पैंतरे भी एक ही थे। पहले हमदर्दी की बौछार, बादहू तलवार का वार। बस, मैं भर पा चुकी। मेरे लिए न घर है, न सरकार और न धर्म का दरबार।

"अब रहा बाज़ार। दूसरा तो कोई रोज़गार नहीं। महिला न सही, वेश्या ही रही; अपनी ख़ुशी तो रहेगी! भद्रता न सही, पतिता ही रही; दाँत और नख से झँझोरी तो न जाऊँगी! घर अपना न सही, दूकान तो अपनी होगी! रात अपनी न सही, दिन तो अपना होगा! शरीर अपना न सही, मन तो अपना होगा! कम-से-कम वहाँ पुरुषों की नग्न वासना किसी न्याय या धर्म के आवरण और परिच्छद में धोखे की टट्टी तो न बनेगी! चैन की वंशी अगर न भी बजी, दम घुटने से तो जान बचेगी! वहाँ मिश्रानी की नीम की पगी ज़बान तो न होगी;

गनेस बहू की विष की पगी मुस्कान तो न होगी ! वहाँ नेता की आँख की चिनगारी तो न होगी; धर्मध्वजी गिरिधारीलाल की ऐयारी तो न होगी ! और कुछ नहीं, घड़ी-भर भी राम का नाम तो ले सकूँगी ! यहाँ तो मिश्रानी के मारे वह भी हराम हो गया है।

"मैं जानती हूँ, वहाँ भी मुझे तिल-तिल जलना ही पड़ेगा। जो हो, मैं इस जलन से तो नजात नहीं ढूँढ़ती ! जलने के लिए तो मेरा जनम ही है; लेकिन कम-से-कम जले पर नमक का छिड़काव तो बन्द रहेगा।

"मैं अब किस आशा पर यहाँ अँटकी पड़ी रहूँ ? क्या श्रीधर की समीपता मेरे कर्त्तव्य-पथ पर रोड़े अटका रही है ? क्या गङ्गा और यमुना की माया हौले-हौले मेरा दामन थाम रही है ?

"श्रीधर भी तो पुरुष ही है। आज न श्रीधर है, कल यही विषधर बनकर फुफकार उठे, तो ? आज न प्रेम की जवानी फ़ैयाज़ी है, कल वही काम की चिनगारी में पलट जाय, तो ? और, अब तो घर में बहू आ गई। आज नहीं तो कल श्रीधर का प्रेम-प्रवाह उसके आँचल के साये में गतिशील होगा ! मैं तो यहाँ रहकर उस प्रवाह की गति में मददगार नहीं होती। मैंने ही न इन दोनों को एक किया ? एक बार उनके मिलन का सेतु होकर फिर उनके प्रेम-जीवन पर धूमकेतु बनना न मेरे लिए उपयुक्त है, न उनके लिये हितकर।

"अब यहाँ एक दिन भी रहना सर पर आफ़त मोल लेना है। गंगा और यमुना की माया तो माया-मरीचिका है। उन्हें तो जो

पुचकारकर सानी-सत्तू देगा, उसी का तलवा वे चाटेंगी। बेला न होगी, सुधा रहेगी। उसकी देखरेख किस बात में कम होगी?"

बेला ने करवट बदली, तो देखा कि गङ्गा और यमुना आँचल को सूंघती उदास खड़ी हैं। उनकी डबडबाई आंखें न जाने किस वेदना से कातर होकर एक टक उसी को जोह रही हैं। बेला ने सोचा—"दिन चढ़ आया; अभी तक दोनों बिचारी भूखी तड़पती होंगी।"

वह हाथ टेककर उठी और उनकी गर्दन से लिपट गई। आँसुओं की झड़ी बँध चली। अब तो इतने दिनों का साथ छूटने का दिन आ गया। तुम कहाँ, बेला कहाँ! दो क्षण गले-गले मिलकर दिल का बुख़ार निकाल लो। फिर तो आँखों से भी मिलना मुहाल होगा।

बेला ने नाँद में भूसा डुबोया और खली डाली। दोनों ने पेट-भर खाया। फिर गनेस ने आकर रस्सी खोली, और दोनों बाहर चरने गईं।

बेला तो आँसुओं से मुँह धो चुकी थी। उसे हाथ-मुँह धोने का भी ख़याल न था। वह चटाई पर जाकर फिर लेट गई। कोठरी में धूप भर गई; हवा भी भर गई। लेकिन उसे न धूप की ख़बर थी, न हवा की। उसके मानस-लोक में जो तूफ़ानी बवंडर उठा था, उसीमें वह सूखी पत्ती की तरह उड़ रही थी। इस लोक में तो एक निश्चेष्ट शरीर-भर था।

अचानक मिश्रानी की ऊँची दीप की आवाज़ उसके कानों पर पड़ी। वे गा रही हैं या रो रही हैं। जब बेला ने ग़ौर किया, तब कैफ़ियत

खुली। वे गाती नहीं, रो रही हैं और साथ-साथ बहू के सर पर अपने दिल के फफोले फोड़ रही हैं। 'इस सबुजपैरी ने आकर मेरे भरे घर को उजाड़ डाला, मेरी मिलकियत छीन ली'—यही लांछन है।

पहले तो बेला कुछ समझी नहीं; पर जब रोने का तार बँध गया, तब धीरे से आँगन में निकल आई। गनेस बहू भी वहीं भौंचक-सी खड़ी थी। बेला ने आते ही पूछा—"क्या बात है गनेसी बहू?"

"क्या जानूँ भाई! सुनती हूँ, मालिक घर-बार छोड़कर साधू हो रहे हैं!"

"साधू हो रहे हैं? क्यों?"—बेला ने ज़रा उतावली होकर पूछा।

"मन की मौज!"—कहती हुई गनेस बहू लौट गई।

बेला सन्न हो गई। उसने सोचा—"सबुजपैरी तो मैं ठहरी। जहाँ जाती हूँ, वहीं आफ़त बोती हूँ। न मैं आती, न पंडितजी पानी-पानी होते और न आज यह गुल खिलता। बिचारी सुधा की पीठ तो नाहक उधेड़ी जाती है!"

पूजा के कमरे से आती हुई मिश्रजी की गंभीर आवाज़ को भी उसने सुना। साथ-साथ श्रीधर की आवाज़ भी सुन पड़ी।

वह और आगे बढ़ आई और कान देकर सुनने लगी—

"चचाजी! मुझे आप मँझधार में छोड़कर कहाँ जा रहे हैं! मुझसे तो गुरुपद का निर्वाह मुमकिन नहीं। सौ बात की एक बात, इस काम में मेरी श्रद्धा नहीं उपटती। मुझे तो हाथ पसारकर दान लेने में पसीना छूट जाता है।"

"श्रीधर, मुझे भी शुरू-शुरू शिष्यों के घर-घर परलोक का 'दही-दही' करते जाना बड़ा खला था। मगर, आख़िर करते-करते सब मँज गया। जो हाथ दान लेने के लिए उठता है, वही दान देने के लिए भी खुलता है। नहीं तो, न लेना होगा, न देना। छप्पर फाड़कर तो तुम्हारे घर धन बरसेगा नहीं। जिस हाथ से लेना है, उसी से देना भी। यही लेन-देन की दुनिया है। कौन ऐसा ब्राह्मण है, जिसे पुरोहिती या यजमानी से दिल की तसल्ली होती हो? लेकिन, अगर वह इसे तिलाञ्जलि दे दे, तो उसकी दाल-रोटी कैसे चलेगी? जिसे न खेती है, न बारी है, और घर में काँरी बेटी है, उसकी तो आख़िर यही रोटी है! मैं यह ख़ूब समझता हूँ कि यजमान के सामने हाथ पसारकर दान लेना कारचोबी की गद्दी पर बैठकर नज़र छूना नहीं है। इसमें शान तुम्हारी ख़ाक होती है, पर बीवी-बच्चों के चेहरे पर तो ख़ाक नहीं उड़ती! तुम्हारी आत्म-गरिमा का तेज जो ठंढा हो, पर घर का चूल्हा तो ठंढा नहीं पड़ता? याद रखो, चेहरे की आग ठंढी पड़ने से चूल्हे की आग ठंढी रहना कहीं भयंकर है। जब खेती फूलने-फलने लगती है, तब पुरोहिती का बाज़ार आप ही ठंढा पड़ जाता है। जब उद्योग-धन्धा चल निकलता है, तब परलोक का पेशा ख़ुद-ब-ख़ुद छूट जाता है। जो ब्राह्मण ज़मींदार है, वह भी इस रोज़गार से बेज़ार है!"

"मैं तो समझता हूँ, कुबेर का वैभव भी सन्तोष के संचय के आगे हेच है। आख़िर धन ही तो जीवन का सर्वस्व नहीं।"

"श्रीधर, इतना ख़याल रखो कि धन ही इस लोक और परलोक की

किल्ली है। यह कर्मनिष्ठ के हाथ की मैल है और अकर्मण्य के आकाश का कुसुम। आलसी के हाथों में पारस भी लोहा हो जाता है।"

"चचाजी, सन्तोष से मेरा मतलब निरुत्साह और निरुद्यम नहीं है। हौसला और हिम्मत रखना तो ज़रूरी है, मगर कृपणता और लोभ नहीं। दान देने से भंडार की ढेरी बढ़ती है, कुछ घटता नहीं।"

"बहुत ठीक! मैं इसे ख़ुद तसलीम करता हूँ। तुम्हें कब शेखदिल होकर लुटाना है और कब दाँतों से उठाकर रखना है, इसी समझ पर तुम्हारे जीवन की कामयाबी है। गिनी को कानी चिट्ठी समझने का हक़ तुम्हें तभी हासिल है, जब वह किसी दुखिया के दर्द की दवा होगी; नहीं तो, नहीं। जब दिल खुला रहता है, तभी हाथ भी खुलता है। पर हाथ खुलने का यह आशय नहीं कि समझ की कील भी खुल पड़े और आगे चलकर आदमी ख़ुद खोखला हो जाय!"

"चचाजी, बात यह है कि घर के झंझटों को देखकर मेरा कलेजा दहल उठता है। चचानी का मिज़ाज'''''दिन-रात कच-कच''''''"

"सुनो श्रीधर!"—गिरिधारीलाल ने बात काटकर कहा—"संसार में वही मनुष्य सुखी है, जिसके परिवार का वायुमंडल उसके मिज़ाज के अनुकूल है। पर, यथार्थ प्रसन्न वह है, जिसके मिज़ाज का समतल किसी वायुमंडल—किसी हलचल—में भी कभी चंचल-विह्वल नहीं होता। तुम्हारा वातावरण तुम्हारे हाथ चाहे न हो, पर तुम्हारा रहन-सहन, तुम्हारी चाल-चलन तुम्हारे हाथ है। तुम्हारी पाँचों उँगलियाँ

घी में तभी रहेंगी, जब तुम्हारे मन की पपड़ियाँ घी में सनी होंगी। तुम्हारा मन कोमल है, तो ज़बान भी कोमल होगी। और, ज़बान की कोमलता पारिवारिक जीवन की कितनी बीमारियों की दवा है।"

"मुझसे जहाँ तक निभेगा, मैं घर का भार उठाने में ज़रूर कंधा दूँगा। आप इतमीनान रखें।"

"ठहरो। मुझे एक आख़िरी बात और कहनी है। दुनिया में कतिपय आपत्तियों का आरम्भ इतना सूक्ष्म—इतना मासूम—है कि उसे मजाक़ समझकर छेड़ने में हमारे दिल में एक गुदगुदी-सी लगती है मगर यही लापरवाही की छेड़ख़ानी हमारे अधःपतन का अग्रदूत है। हम बोतल देखकर सहम उठते हैं; पर विष की एक बूँद को अदना समझकर ला-दिमाग़ रहते हैं। यह समझ ही हमारी भयंकर भूल है; क्योंकि इस क़तरे में कराबे की सत्ता भरी है। जो चालाक और चुस्त नहीं है, वह तो एक-एक क़दम फूँक-फूँककर चलता हुआ किसी तरह मंजिल काट भी सकता है; पर जिसे दिमाग़ का दिमाग़ है, वह लापरवाह चलता हुआ ठोकरें खाकर मुंह की खाता है। याद रखो, हमारी सबसे बड़ी भूल अपनी अदना-सी कमज़ोरी से हमारी उदासीनता है। आज यह कमज़ोरी जो कमज़ोर नज़र आती हो, पर धीरे-धीरे हमारे रक्त में फैलकर एक दिन यह इतनी प्रबल हो उठती है कि जीवन के तमाम पहलुओं पर हावी हो जाती है। जाओ, मुझे और कुछ समझाना नहीं है। ज़माना तुम्हें ज़माने की हवा का पता बता देगा। ऊपर जाकर सब देख-भाल लो। देखो, मैं तो चला; अब

तुम्हीं को घर सँभालना है। शहरी बनकर बाबूगिरी पर गये कि लुटिया डूबी। यह गृहस्थ का घर है। जब घर में दूध-दही बहता है, तभी दरवाज़े पर नौबत झड़ती है।"

पंडितजी उस पार दालान में पंडितानी के पास गये। आध घंटे तक टहल-टहलकर मीठे-मीठे समझाते रहे। मिश्रानी की तो घिग्घी बँध गई थी। अपने पति के अटल निश्चय के सामने उनकी ज़बान तालू में सट गई। आज न तेवर में बल था, न चितवन में अनल।

नेता ओसारे में दबका भीगी बिल्ली बना था। श्रीधर के सर पर छत्र और चमर होना नेता के सर पर घास का गट्ठर होना था। अबतक तो वह मिश्रानी की नाक का बाल बना रहा और उसका दबदबा तमाम परिवार पर अच्छुण्ण रहा; पर अब श्रीधर की अमलदारी में उसे चौखट के भीतर झाँकने की भी इजाज़त मिलेगी या नहीं, कौन कहे?

युवराज की गद्दीनशीनी मन्थरा 'गनेस बहू' को भी खल रही थी। पर, वहाँ कैकेयी के तो कोई बेटा नहीं था, और न पानी में आग लगाने की गुंजाइश थी।

मिश्रजी बाहर आँगन में निकल आये और कुएँ के निकट सिटपिटाती हुई बेला को पुकारा। आज उनको न आँगन में आने में द्विधा है, न बेला को बुलाने में शङ्का।

बेला सर झुकाये उनके सामने चली आई।

"बेला! डरो मत! वह काम का कुत्ता गिरिधारीलाल तो कल ही चुल्लू-भर पानी में डूबकर मर गया। सती का शाप फल गया। सच

मानो, मैं आजीवन तुम्हारा ऋणी रहूँगा। मैंने जिस तत्व की तलाश में इतने दिनों तक वेदान्त और ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषत् की छान-बीन की, उसी दुर्लभ ज्ञान ने तुम्हारी चुभती हुई फिटकार से पैदा होकर मेरे जीवन की गति को पलट डाला। तुम्हारी लाल-लाल आँखों ने मेरी आँखें खोल दीं। तुम्हारे भृकुटी-कुटिल कटाक्ष ने मेरे मर्म को चीरकर मेरे निहित शक्ति-स्रोत की तह तोड़ डाली।

"कल इसी उचाटन मंत्र को पाने के लिए मुझे आदमी से जानवर बनना लिखा था; और शायद अब आदमी से इन्सान बनना मुमकिन होगा। सच कहता हूँ, मेरी ज़िल्लत आज मेरी पेशानी पर ख़िल्लत बन गई है। मेरा कलङ्क मेरे ललाट का तिलक हो गया है। आज मेरे अन्तर में जिस चैतन्य—जिस सत्य—की उपलब्धि हुई है, वह किसी धर्मविधि की पद्धति की परिधि में, या देश-काल तथा समाज के अधिकार-भेद-सीमित सकीर्ण परिसर में, नहीं टिक सकता। मुझे आज प्रत्येक प्राचीर को तोड़कर निखिल विश्व से आत्मीयता स्थापित करना है।

"बेला! कभी-कभी नारी के मुख की फिटकार-भरी वाणी से बढ़कर पुरुष के जीवन में दूसरी मृत-संजीवनी नहीं होती। इसी भित्ति पर अक्सर पौरुष की इमारत खड़ी होती है। अगर कामिनी की विष-बुझी वाणी कलेजे में घर न करती, तो कभी मुमकिन था कि 'तुलसीदास' के जीवन की धारा पलटकर असीम अनन्त से मिलती? अगर चिन्तामणि की फिटकार दिल के परदों को न चीरती, तो कब सम्भव था कि अंधे 'सूर' को उस अपरूप रूप की तजल्ली नज़र आती?"

आप मुझे लज्जित कर रहे हैं। मैं किस योग्य हूँ! और मेरी ज़बान से फिटकार·····"

"सुनो बेला"—वे बात काटकर बोले—"मेरे जीवन में ऐसी एक क्रान्ति की ज़रूरत थी, नहीं तो कभी मेरी भ्रान्ति मिटती ही नहीं। अक्सर क्रान्ति के गर्भ में शान्ति का बीज पड़ता है। अब इस क्रान्ति का परिणाम शान्ति होगा। मेरे जीवन में वैराग्य के छींटे ऐसे प्रबल नहीं थे कि अन्तर के निभृत प्रांगण में कामना की चिता कभी ठंढी पड़ी हो। तुमने आकर उस वासना की टिमटिमाती लौ को बेतरह प्रदीप्त कर डाला, और कल अचानक जब वह अपनी चूड़ान्त सीमा पर पहुँचकर विफल हो गई—और मैं आत्मग्लानि तथा अपमान के झकोरों से पानी-पानी हो गया—तभी वह कलेजे की आग बुझकर ख़ाक हो सकी, नहीं तो आज भी अंदर-ही-अंदर वह ज़रूर जलती रहती। इसीलिए मैं समझता हूँ, तुम इस अभिशप्त जीवन में कल्याण मूर्त्ति बनकर मंगल-दीप जलाने आई, और आज मेरा रोआँ-रोआँ इस माहात्म्य के दान को पाकर कृतकृत्य है।"

"मुझे क्या आदेश है? मैं तो यहाँ अब एक दिन भी ठहर नहीं सकती।"

"तुम्हें जाना ही है, तो आज नहीं, किसी और दिन जाना। मुझे विश्वास है, तुम कहीं पर—किसी वायुमंडल में—रहोगी, तुम्हारी आन्तरिक सत्ता तुम्हें दुर्बल न होने देगी। मैं अब चला। मेरा ज़माना लद गया। देवि! मेरी श्रद्धाञ्जलि क़बूल करो।

पंडितजी ने हाथ जोड़ा, और बाहर चल दिये।

पंडितजी की इस अचानक विरक्ति की ख़बर कानों-कान मुहल्ले-भर में फैल चुकी थी। उन्होंने ड्योढ़ी में पैर रखा, तो उनके संगी-साथी अन्तिम विदाई के लिए कमरे में हाथ बाँधे खड़े थे। शिष्यों की टोली भी क़दमबोसी के लिए बाहर जमा हो चली थी। आध घंटे तक वे अपने अन्तरङ्ग संगियों से मिलते रहे, और समझाते रहे—"भाई! जाने कब से मेरे जीवन के नेपथ्य पर अनन्त का इंगित प्रतिफलित होता चला आया; पर लाख कोशिश पर भी पैमाना कभी भरा नहीं। कल की रात अचानक वह लबरेज़ होकर छलक पड़ा और मुझे दुनिया के झंझटों से बिस्तर लपेटना पड़ा। कैसे भरा और क्यों भरा, इसे जानकर तुम क्या करोगे? मुझे चेतावनी मिली, आँखें खुलीं—यही यथेष्ट है। और, अब इस जीवन की गोधूली में उस निर्वाण-निकुंज की छाया की तलाश न होगी, तो फिर कब होगी?"

पंडितजी बाहरी बरामदे में आये, तो वहाँ शिष्यों का हुजूम था। बैठक के ठीक सामने ही सदर सड़क थी। शिष्यों की भीड़ इतनी थी कि लोग नीचे सड़क तक क़तार बाँधे खड़े थे। उन्हें देखते ही सबने झुककर प्रणाम किया। सबकी आँखों में करुणा की रेखा थी।

पंडितजी बरामदे के बाहर निकल आये और समवेत शिष्य-मंडली को कुछ उसी निगाह से देखने लगे, जिस उदास दृष्टि से उस समय अस्ताचलगामी सूर्य रूप-रस गंध-भरी पृथ्वी को देख रहा था। उनकी आँखों में भी एक करुण शान्त दीप्ति थी; जो शिष्यों के चेहरे पर प्रति-

और ईसा के गिरजाघर में जगह मिल गई ! तुम्हीं कहो, कौन उद्धार हुआ—राम या ईसा ? किसका नाम पतित-पावन हुआ—राम का या ईसा का ? जो छोटे को अपनाता है, वह बड़ा है—या जो बड़प्पन की शान में छोटे को धक्का देता है, वह ? शङ्कर की जटा से छूटी हुई हमारी गंगा आज तक हिलोरे लेती रह गई; धूम तो बड़ी रही, पर किसी एक चांडाल को भी उन्हें तारते तुमने देखा है ? और, इधर ईसा के पद-तल की कलुष-क्षालिनी गंगा ने भारत के लाखों शापग्रस्त पतितों और पीड़ितों को तारकर हिन्दुत्व की वैतरनी पार करा दी। अब तुम्हीं कहो, किसकी गङ्गा पतित-पावनी निकली—हमारी या उनकी ? हम शिखा-सूत्रधारी अडंड पंडितों की जूतियाँ सर पर रखते हैं, और वे ईसाई दलितों और गलितों के ज़खम पर मरहम लगाते हैं—स्वार्थ से ही सही ! ज़रा सोचो तो, किसकी कीर्त्ति बढ़ी हुई—हमारी या उनकी ?"

"महाराज ! हमारे राम की कीर्त्ति किसी से·····"

"तुम्हारे राम या विश्व के राम ?"—पंडितजी ने बात काटकर कहा—"क्या अछूतों के राम कोई अलग हैं ? भाई ! राम या कृष्ण किसीके ख़ास हैं या सबके बराबर हैं ? आज राम होते, तो वे रामानन्दी रहते; कृष्ण होते, तो वे वैष्णव आचारी रहते; शिव होते, तो भंग पीकर गाल बजाते; भवानी होतीं, तो मदिरा और मांस पर धर्म की मुहर देकर दूकान चलातीं ! जिनका नाम बुलन्द करने के लिए ये दलबन्दियाँ खड़ी हैं, उनसे उनका नाम बढ़ा या घटा ? आख़िर वे ख़ुद किस दल के थे ? उनके सर पर—उनकी छाती पर—भी किसी मत की मुद्रा या

मुहर लगी थी ? हमने राम को रामानन्दी बनाकर क्या उनकी महत्ता—उनकी सार्वभौमिकता—क़ायम रखी ? जो समुदाय की निधि है, वह सम्प्रदाय की परिधि में पड़कर कानी चित्ती नहीं हो जाती ?

"ख़ैर, राम ने तो भिल्लिनी के जूठे बेर खाये हैं—निषाद को गले लगाया है और बन्दर-भालुओं के कर में राखी बाँधी है। उन्होंने तो जानवरों से भी भाईचारा रखा, फिर तुम उन्हीं का नाम लेकर उन्हीं के मन्दिर में आदमी से नाक-भौं सिकोड़ते हो ! क्यों ? चूंकि तुम आचार के आगार हो !

"भाई, अति आचार ही अत्याचार है। तुम्हीं कहो, क्या शास्त्रों के निर्देश से प्राणों के निर्देश का महत्व बड़ा नहीं ? तुम डूबकर देखो, किसका दर्जा ऊँचा है—मत का या मनुष्यत्व का ? एक देश और काल से सीमित है, दूसरा सनातन है।

"भाई ! आज वे अछूत आदमीयत के धरातल पर तो आ गये—मनुष्य के प्रकृत अधिकारों को तो पा गये ? उनके बाप-दादों का धर्म छूट ही गया, तो उनकी कौन-सी क्षति हो गई ? और, फिर धर्म भी तो नहीं छूटा ; एक अन्ध नेम का पथ छूटा, दूसरा उदार प्रेम का पथ मिला। सब रास्ते तो एक ही जगह जाकर मिल जाते हैं। यहाँ तुम्हारी जूतीबरदारी छूटी, वहाँ उन्हें विश्व की बिरादरी मिली। उनका तो कुछ बिगड़ा नहीं, बिगड़ा तुम्हारा। वे तो बन गये—जानवर से आदमी हो गये ; पर तुम्हारे घर की दीवार की ईंटें खरक गईं। यों ही खरकते-खरकते जब दीवार ही भरक पड़ेगी, तभी तुम्हें मालूम होगा

कि तुम्हारी नाक कटी या बची—तभी तुम्हें मालूम होगा कि देवता से मनुष्य का दर्जा ऊँचा है ; भगवान् से इन्सान का दावा बड़ा है—तभी तुम्हें मालूम होगा कि मज़हब और मत से आदमीयत बड़ी है ; ब्रज की क्यारी से अछूत की टोली कहीं पुण्यवती है ।

"वह दिन क़रीब है, जब तुम समझोगे कि परमार्थ की तलाश से दुखियों के दर्द की तलाश तुम्हारे जीवन में उच्चतम लक्ष्य की तलाश है। यजन-भजन से दरिद्र-दुःख-भंजन का महत्त्व कुछ कम नहीं। जो प्रलयिनी सत्ता दलित के दिल की भाप में है, वह जटा पटकनेवाले दुर्वासा के अभिशाप में नहीं। मन्दिर की चकमकी मूर्त्ति की वन्दना से मन्दिर की चौखट से ताड़ित अछूत की उपासना कुछ कम फलवती नहीं।

देखो, पत्थर की प्रतिमा में ईश्वर की प्राणप्रतिष्ठा ज़रूर ही करनी पड़ती है ; पर मनुष्य की प्रतिमा में वह ख़ुद-ब-ख़ुद प्रतिष्ठित है। वहाँ उसे न्योता देकर बुलाना पड़ता है, यहाँ वह हर घड़ी मौजूद है। क्या पत्थर की जड़ मूर्त्ति से आदमी की जीती-जागती मूर्त्ति ईश्वराराधन के लिए विशेष उपयुक्त आधार न होगी ? मनुष्य ही तो ईश्वरांश का प्रत्यक्ष मन्दिर है—और उस स्फुरण को तुम इस मन्दिर में नहीं ढूँढ़ पाते, तो फिर किसी ईंट-गारे की दीवार के भीतर, किसी पत्थर के आकार के भीतर, कदापि नहीं पा सकते ।

"इसीलिए अछूत की सेवा किसी मूर्त्तिपूजा, देवपूजा से भी उच्च कोटि की उपासना है । आज तक तुम गुरु और पुरोहित के आशीर्वाद सर पर रखते चले आये; अब तुम दीन-दरिद्र की फ़रियाद सर पर

रखकर देखो कि तुम्हारे हृदय में शान्ति की प्रसन्नता फूट उठती है या नहीं।

"याद रखो, तुम यश और शान, मान और ज्ञान—जीवन के तमाम अलंकारों को सर से पैर तक लाख सजे रहो ; पर इन सबके होते हुए भी अगर तुम पर आदमी का लिबास नहीं, तो सच मानो, न तुम्हारी नम्रता छूटी, न तुमने मानवता पाई। तुम्हारे हृदय में अगर अनुभूति न रही, तो फिर तुम्हारे सर पर तपस्या की विभूति या मोतियों के मुकुट की दीप्ति रही या न रही—दोनों बराबर है। तुम्हारे ज्ञान-विज्ञान का तमाम संचय अधूरा ही रह गया, अगर तुमने मानव-हृदय का परिचय नहीं पाया।"

पंडितजी चुप हो रहे। एक बार निगाह उठा कर आकाश पर फैलती हुई गोधूली की अबीरी आभा को देखा। फिर हाथ में छड़ी उठाते हुए बोले—"मैं अब चला। मुझे कुछ विशेष तो कहना था नहीं। आज अचानक महायात्रा के समय इन ईसाई बच्चों को देखकर मुझे हिन्दुत्व की छाती का दाग़—हिन्दुत्व के सर का कलंक—याद हो आया; नहीं, कलेजे में धधक उठा, और अचानक दिल की आग तुम्हारे सामने फट पड़ी। जभी तो मेरी ज़बान से जो बात निकली, वह जलते हुए शरारे बनकर निकली। मैं ख़ुश हूँ कि ये बिचारे आदमी हो गये ; पर मुझे दुःख है कि हम इन्हें आदमी न बना सके!"

"महाराज! आज तक तो आपने....."

"तुम्हारा यह पूछना सर्वथा उपयुक्त होगा कि मैंने अब तक इस

पवित्रोद्धार के मसले को हल करने की कहाँ तक कोशिश की। कहीं शराबी के मुख से शराब की शिकायत किसीके दिल में घर कर सकती है! करनी ख़ाक की, कथनी लाख की! यह सच है कि मैंने कभी किसीको दिल से आज तक अस्पृश्य नहीं समझा; पर अफ़सोस! समझकर ही रह गया; उसे उठाकर गले नहीं लगाया। मेरे विचार उदार अवश्य थे; पर वे उदार ही होकर क्या हुए, जब मैं अपने मर्ज़ का शिकार बना ही रहा—समाज के आगे सीना भिड़ाने की हिम्मत न रही! साँप मरे, न लाठी टूटे। मैं स्वार्थ से उतना मजबूर न था, जितना अपनी आदतों से।

"यहाँ हमारे-ऐसे कितने हैं, जो दिल तो लिये फिरते हैं; पर कहीं दिल डाल नहीं पाते! सब कुछ देखते हैं; पर देखकर भी हाथ उठा नहीं पाते! कौन इस बखेड़े में पड़े—हज़ारों से मैदान ले? यहाँ तो 'न ऊधो का लेना—न माधो का देना' है। बस, यही निश्चिन्त निर्विवाद जीवन का आराम—रोज़मर्रे की रोटी-दाल का इन्तज़ाम—हमारी अकर्मण्यता की किल्ली है। सुखावेश की यह मानसिक जड़ता हमारी क्षमता की जड़ में दीमकों का घर है। इस जहान में वही सच्चा जवान है, जिसने जान हथेली पर रखकर इस आस्तीन के शैतान के दाँत तोड़ डाले।

"हमारी कट्टरता और अदूरदर्शिता के कारण हमारी तिल तिल जो क्षति होती आ रही है, वह निरन्तर मेरे कलेजे पर चोट करती चली आई; पर मैं अकेला कट्टरपंथियों और धर्म-ध्वजियों के विद्रोह की सेना

का कहाँ तक विरोध करता ? इसी उधेड़-बुन में हाथ पर हाथ रखे बैठा रह गया। हमारे सामने हज़ारों युवती विधवाएँ हमारे यहाँ शरण न पाकर पड़ोस के घर में कानों में बालियाँ और कमर में सुथनी देकर बाल-बच्चेवाली हो गईं—या सड़क के किनारे सिरकी तानकर नारकीय जीवन में फिसल पड़ीं, और हम धर्मशास्त्र के पन्ने उलटते और आचार के दम भरते ही रह गये। इधर अछूत हैं, उधर पीड़िता विधवाएँ ; पर न हमारे हाथ में जुम्बिश है, और न दिल में कशिश !

"ख़ैर, जो हुआ सो हुआ, आज सामने न कोई बाधा है, न द्विधा ; न भय है, न आलस्य। मैं मुक्त हूँ और सबको मुक्त देखना चाहता हूँ। आज मेरे अन्तर में न रोज़गार की अड़चन है, न परिवार का बन्धन। आज मेरी आत्मा इस निखिल में फैल जाने के लिए उतावली हो रही है, और विश्व-चराचर के दर पर आत्मीयता की डाली लिये सर झुकाए खड़ी है।

"सच मानो, आज मेरा कोई अपना नहीं है, इसीलिए कि सभी हमारे अपने हैं—मैं आज किसी का नहीं हूँ, चूँकि मैं सभी का हूँ। जबतक हम अपने संसार को छोड़ नहीं पाते, तबतक हम इस संसार को पाते नहीं। एक छोर से हम ज्यों-ज्यों शून्य होते हैं, त्यों-त्यों दूसरी ओर से हम भरते जाते हैं।"

"महाराज ! यह तो आपने जो कुछ कहा, बड़े पते की बात है ; मगर साथ-साथ हमलोग कुछ आपसे हमारे अपने धर्म पर उपदेश·····"

"भाई! आज मेरे सामने अपना और पराया धर्म—दो भिन्न तत्त्व नहीं रहे। बहुत दिनों तक इस अपनापन को अपना चुका, आज दिल ढूँढ़ता हूँ, तो दिल नहीं भरता। देखो, दुनिया में आदमी को आदमी से अलग करने के लिए जितनी दीवारें खड़ी की गई हैं, उनमें मज़हब की दीवार नंगी तलवार है। हमारी ममता, हमारी मज्जागत अपनापन की प्रवृत्ति कुछ ऐसी ज़ोरदार है कि हम ईश्वर को भी अपनी अलग सम्पत्ति बनाकर रखना चाहते हैं। हमारी अपनापनवाली यह सत्यानाशी बुद्धि ईश्वर तक को नहीं छोड़ती—आदमी का क्या ज़िक्र है! जिस तरह इस लोक में हमारा बेटा, हमारा भाई, हमारी स्त्री, हमारी जायदाद, हमारा घर, हमारा परिवार, हमारा देश है; उसी तरह हमको अपना धर्म, हमारा अपना अलग ईश्वर भी चाहिये। हम परलोक के लिए भी अपनी अलग डफली बजाना चाहते हैं। हम भूल जाते हैं कि 'राम या रहीम' किसी के बाप का नहीं है—न वह किसी सम्प्रदाय-विशेष का मौरूसी तबर्रुक है; उसके घर की कुञ्जी किसी ख़ास ज़बान, किसी ख़ास किताब या किसी ख़ास मज़हब की जेब में नहीं है!

"आज जब भाई-भाई में बँटवारा पेश होता है, तब चाँदी-सोने की तरह देवी-देवताओं को भी बाँट लेना आम बात है। इस अपनापन की तकरार के कारण हमारे देवता भी सरकारी कचहरियों में घसीटे जाते हैं; और वकीलों की जेब गरम करते हैं—हाकिमों का मुँह जोहते हैं। हमारे घर की 'बंदी' तुम्हारे घर की 'शीतला' से भिन्न नहीं; मगर हम झगड़ते हैं कि बंदी हमारी है और शीतला तुम्हारी। हम तैश में आकर

तलवार खींच लेते हैं—आँखें नीली-पीली करते हैं कि शिव हमारे हैं, राम तुम्हारे; ये गोरे हैं, वे काले; मन्दिर हमारा है, मसजिद तुम्हारी—चर्च उसका !

"इसी हमारे-तुम्हारे की तकरार के आधार पर ठाकुर के सर पर भी सर-फुटौवल का बाज़ार गर्म है। हमारे ईश के गले में मुण्डों का हार हो या भुजंगों का हार; वे मेघ की तरह श्यामल हों या तुषार की तरह उज्ज्वल; उनके हाथ में मुरली और लकुट हो, या तीर और धनुष, किंवा त्रिशूल और डमरू; बात तो एक ही रही ! इस वेश-भूषा के तबादले से न उनका उहदा बदलता है, न एकाधिपत्य। हम उस एक को 'राम' कहकर मन्दिर में पुकारें, दूसरा उसे 'रहीम' कहकर मसजिद में अज़ान दे, तीसरा उसे 'ईसा' कहकर गिरजाघर में बुलावे—इससे दलबन्दियाँ जो हों, कुछ उन दलों के भिन्न-भिन्न नायक तो नहीं हुए !

"सोलह हज़ार गोपियों ने रस-रास के वक़्त सोलह हज़ार गोपाल के गले में हाथ डालकर ठुमुक-ठुमुककर नाच किया, और प्रत्येक गोपी ने नटवर-नागर को अपना ही ख़ास कंठहार समझा; मगर—गोपियों की तादाद हज़ारों में जो हो, गोकुल के नन्दलाला तो एक ही थे ! हम एक ही सुर को सैकड़ों अलग-अलग बाजों पर जगाते हैं; पर उसका समुचित रूप से उठना या न उठना हमारी उँगलियों के रेआज़ पर निर्भर है; कुछ इसराज या सितार के तार पर नहीं।

"क्यों हम 'राम' के नाम पर सर झुकाते हैं और 'रहीम' के नाम

पर फबतियाँ चुस्त करते हैं ! बात यह है, चूँकि राम हमारा है, रहीम दूसरों का ! राम और रहीम तो एक ही रहे; मगर हम और वे जो एक थे, दो हो गये ! कुछ हमारी और उनकी दो समझ, दो ज़बान होने से वह तो दो होता नहीं ! यह अपनापन का सवाल न रहता, तो कोई मन्दिर तोड़कर उसपर मसजिद उठाता ! इस तोड़-फोड़ से हमारा और उनका सर टूटा; राम या रहीम का तो न कुछ बिगड़ा—न बना !

"यही अपनापनवाली प्रवृत्ति हमारे जीवन की तमाम कृतियों की कुञ्जी है। इसी की लपेट में हमारा लोक भी चलता है, परलोक भी। जिस वक्त आँखों से अपनापन का पर्दा उठता है, और पृथ्वी पर के तमाम नाते-रिश्ते दो घड़ी के तमाशे बन कर निःसार नज़र आते हैं, उसी वक्त हमारा और तुम्हारा का कुहरा एकाएक फट जाता है; और फिर हमें न कोई अपना नज़र आता है—न पराया। उसी दिन राम और रहीम का यह भेद आप-ही-आप मिट जाता है—और एक ही सत्ता मन्दिर, मसजिद और गिरजे के साये में नज़र आती है। अगर हम अपने को इस अपनापनवाले बन्धन से अलग समझते, तो फिर इस विश्व में किसको हम अपने से अलग पाते ?"

"महाराज ! यह बड़ा उच्च कोटि का ज्ञान है। हमलोग तो साधारण जन ठहरे, हमारे लिए तो हमारा चिर-परिचित धर्मपथ ही कल्याणप्रद होगा·····"

"अवश्य ! तुम्हारे लिए तो वही पथ सुगम है; मगर याद रखो, तुम्हारा ही पथ इस विश्व में एकमात्र पेटेंट पथ नहीं है—और जो इस

पथ पर नहीं चलता, उसे तुम पथभ्रष्ट समझते हो, तो तुम्हारी भूल है। रास्ते चाहे जितने हों, मंज़िल एक ही है। प्रत्येक पथ का पाथेय प्रेम है, नेम नहीं। तुम जिस राह से चलो—घर की राह या बन की राह —मगर तुम्हें राह पर आना है, उस मंज़िल तक जाना है, तो बग़ैर दिल की राह लिये गुज़र नहीं। भाई, स्वधर्म में निष्ठा का मतलब परधर्म की कुत्सा नहीं होता। परिवार से प्यार का परिणाम पड़ोस से तकरार नहीं है। स्वदेश से भक्ति का मंशा संसार से विरक्ति नहीं होता।

क्या वजह है कि आज दुनिया में मज़हब से बढ़कर दूसरा कोई फ़साद का घर नहीं, और आज सामूहिक जीवन में इससे बढ़कर कोई अज़ाब नहीं। सच मानो, हमारे मतों ने आकर मनुज-परिवार में वह मतान्तर पैदा कर दिया है कि मनुष्य-प्रकृति के तमाम परिमल को तथ्य-स्मृत की आँधी न जाने कहाँ उड़ा ले गई। आचार के अत्याचार से विचार की कमर टूट गई। कट्टरता की कटुता आदमीयत की सरसता चाट गई। विधि-निषेधों की चपकलिश ने दिल की पपड़ियों को खुलने नहीं दिया। पद्धति और परिपाटी हमारे जीवन की घाटियों में जंगल-झाड़ बनकर भर गई। प्रपञ्च के तुषार ने विश्व के सत्य को धूमिल कर दिया। गुटबन्दी के अपनापन ने आदमीयत से आदमी को अलग कर दिया।

"कोई भी डूबकर यह नहीं देखता कि तमाम धर्मों की आत्मा एक ही है; जो कुछ विभेद नज़र आता है, वह ऊपर का नश्वर कलेवर है। ऊपरी आडम्बरों को हटाकर देखा जाय, तो मनुष्य-मात्र में एक ही प्रकृति,

एक ही प्रवृत्ति, एक ही प्रतीति और एक ही नीति नज़र आएगी। जिनका लोक एक है, उनका परलोक दो नहीं हो सकता। इन तमाम धर्मों के अवतार मानव-प्रकृति को ऊँचा और उदार बनाने की ग़रज़ से हुए थे, उसे संकीर्ण और ओछा बनाने की ग़रज़ से नहीं। उनका ध्येय मानव-समाज का संगठन था, टुकड़ों में वितरण नहीं। वे क्या थे—क्या होकर आये थे, और आज कहाँ भटक गये? जो भगवान का सन्देश लेकर आये थे, वे सुना गये शैतान का फ़रमान। जिन्हें इन्सान बनाने का दावा था, वे आख़िर बना गये हैवान। जो हमारे जीवन में फूल बोने आये थे, वे काँटे बिछा गये। जो शाश्वत शान्ति की प्रेम-मुरली बजाने आये थे, वे आख़िर रण-भेरी का निनाद उठा गये। मधु तो बहा न सके, बहा गये ख़ून; विरोध तो मिटा न सके, मिटा गये सौहार्द!"

"महाराज! तो क्या उनकी तमाम साधना व्यर्थ हो गई?"

"यही व्यर्थ होते देख तो आँखों से लहू टपक रहा है। वह मन्दार-मंजरी साम्प्रदायिकता की गन्दी हवा में पड़कर अपना सौरभ ही नहीं खो बैठी, बू तक देने लगी है। इस पृथ्वी पर कितने पैग़म्बर भटकती दुनिया को मनुष्यत्व का मंत्र देकर चल दिये; मगर उस मंत्र को सिद्ध करने के लिए जो विधि वे बता गये—उस सत्य को जपकर हृदयङ्गम करने के लिए जिस सुमिरनी का माध्यम दे गये, वही सुमिरनी, वही पद्धति आज मूलमंत्र पर भी प्रबल होकर धर्म बन गई है। मंत्र तो हम कभी भूल बैठे; हाथ धरे रह गई वही पद्धति की सुमिरिनी! जिस तसबीह को हमें उँगलियों के छोर पर रखना था, आज उलटे वही हमें

उँगलियों पर नचा रही है ! जो महज़ एक रीति थी, वही हमारी आत्मा की प्रतीति-नीति हो गई है। भाई, आज हर जगह सत्य की सारेता रीती रीति की रेती में रोती फिरती है। इसीलिए आज धर्म के नाम पर अधर्म का बोल-बाला है ; शान्ति की जगह पर क्रान्ति का दौरदोरा है।

"आज धर्म की मुहर देकर अधर्म का तर माल जो हमारी टोली में सरे बाज़ार चलता है, उसे हम आँख मूँदे विशुद्ध समझकर निरन्तर इस्तेमाल करते हैं; पर धीरे-धीरे उसके भीतर के विषाक्त कीटाणु हमारी धमनी के रक्त में पैवस्त होकर हमारे अन्तर की मिठास को चाट रहे हैं। इसीलिए तुमलोगों को समझ लेना है कि धर्म क्या है—अधर्म क्या है। ज़रा-सी उत्तेजना की शह पर धर्म और अधर्म में उलट-फेर होते देर नहीं लगती। पाप या पुण्य की उपज हमारी बुद्धि पर निर्भर है; कुछ कर्म पर नहीं। बुद्धि शुद्ध रहती है, तो अधर्म की प्रवृत्ति पनपने नहीं पाती। तुम्हारी ख़ुशनीयती तुम्हारे लोक और परलोक दोनों के जोड़ की किल्ली है। मैं तो समझता हूँ, धर्म वही है, जो तुम्हारी आध्यात्मिक सत्ता को जगाकर तुम्हारे प्राणों में विश्व-वेदना का सुर भर दे और इन्द्रियों के इन्द्रजाल को चीरकर तुम्हें तुम्हारे अन्तर की महत्ता का पता बता दे।

"आज तक मैं तुमलोगों को पूजन और तर्पण, भजन और यजन पर उपदेश देता चला आया; पर आज गुरु-जीवन की सीमान्त-रेखा पर पहुँचकर मैंने तुम्हें उस विश्वधर्म का निचोड़ बतलाया है, जो संसार के तमाम विभिन्न धर्मों का आधार है। यह वह धर्म है, जो

न किसी आचार पर निर्भर है और न जिसपर किसी मंत्र की मुहर है। यह न किसी किताब में क़ैद है, न किसी दीवार से बन्द। यहाँ न किसी पाखंड का पहलू है, न किसी मज़हब की बदबू। यह मुक्त है, असीम है, अनन्त है। सबके लिए एक है, सबके लिए बराबर। यह किसी प्रदेश या किसी भाषा की संकीर्ण परिधि में बाँधा नहीं जा सकता। जो इसे टुकड़ों में बाँटकर अपनी एक अलग सम्पत्ति बनाना चाहता है, वह इसे पाता नहीं—खो बैठता है। और, जो इसे सर पर रखकर मानवता के प्रशस्त मन्दिर में अपनी आत्मीयता का अर्घ्य लिये खड़ा है, वह किसी ख़ास पथ पर नहीं चल सकता—किसी ख़ास दल में शामिल नहीं हो सकता। मैं आज इसी शाह-राह से विश्व के शाहंशाह को ढूँढ़ने चला हूँ और जिधर देखता हूँ, उधर उसे रू-ब-रू पाता हूँ।

"भगवान् करें, धर्म और तत्वों में तुम्हारी मति हो, सत्य के स्वत्वों में प्रतीति हो, देश में रति हो, परिवार में प्रीति हो। हाँ, इतना याद रखो कि जिस चमन में समता के गुल हैं और आत्मीयता के परिमल, वही तुम्हारा मन्दिर है—वही तुम्हारा नन्दन! देश के लिए—सत्य के लिए—जान देना तुम्हारी जान है। जो इनके लिए सिर पर कफ़न बाँधता है, उसीके सिर सहरा बँधता है। जो ज़िन्दगी में मरने पर तैयार रहता है, वह मरकर भी लाखों में ज़िन्दा है।"

मिश्रजी का लेक्चर समाप्त हुआ। आज उनके उपदेश की नई ज़मीन थी, नया आसमान। यह दुनिया ही अलग थी, यह हवा ही

और थी। तमाम शिष्य-समाज में ऐसा सन्नाटा छा गया, मानों उस पर जादू चल गया हो।

विदाई की घड़ी आई। संध्यारती की मंगलध्वनि विषाद की रागिनी बन गई। झाँझ की वह आवाज़ कूच का डंका बन गई।

मिश्रजी ने दरो-दीवार पर हसरत-भरी निगाह डाली और बूढ़े-बच्चे, छोटे-बड़े, सबसे गले मिलकर, बग़ल में कम्बल दाबे, अनन्त के पथ पर चल निकले। उन्हें क़ैद से छूटने का उल्लास था या सुख-दुख-भरा घर छूटने का विषाद—किंवा अश्रु-हास-मिश्रित पुलक-वेदना का एक साथ सञ्चार, कौन कहे?

जो हो, उनके बचपन और जवानी की मधुर स्मृतियों से सिञ्चित वह लीला-भूमि सदा के लिये आँखों से ओझल हो गई! गाँव-भर की बहू-बेटियों ने खिड़कियों और दरवाज़ों पर खड़ी होकर उनकी महायात्रा के पथ पर पलकों के पाँवड़े बिछाये। कितने गाँववालों ने साथ-साथ स्टेशन तक जाकर उनकी चरण-धूलि को सर पर रखा। दो-चार शिष्य तो हरिद्वार तक साथ गये।

घर-घर विषाद छा गया। जिसे देखो उसी की आँख का कोना तर है। उनकी आजिज़ी, उनकी ख़ुशमिज़ाजी, उनकी दिलदारी, उनकी बन्दा-परवरी एक-एक की ज़बान पर थी। उनके अतीत जीवन की कितनी छोटी-मोटी ख़ामियाँ, आज ख़ूबियों के तले जाने कहाँ गुम हो गईं।

धन्य है वह लौ की लपट जिसमें धात का खोटा भी जल तपकर सोना-सा निखर आता है। और धन्य है वह नश्तर का नोक जो तुलसी ऐसे कामी को भी चीर-फाड़कर तुलसी ऐसा प्रेमी बना देता है।

ऊनविंशति परिच्छेद

सन्ध्यारती की घंटा-ध्वनि है। दीवारों से उसकी प्रतिध्वनि उठ रही है। वही शंख की फूँक, वही झाँझ की झङ्कार और वही घंटे की ध्वनि। पर, खाट पर लेटी हुई मिश्रानी के कलेजे पर वज्रटङ्कार-सी पड़ी, बेला के कानों पर कूच का घंटा बनकर बजी और श्रीधर के हृदय में दुन्दुभि की आवाज़-सी—प्रतिहारी की गुहार-सी गूँज गई। एक ही ध्वनि जिस आवेष्टन में पड़ी, उसीके अनुकूल कड़वी या मीठी हो गई।

चन्द्रमौलि की चरण-चौकी पर केसर-चन्दन, धूप-दीप, फल-फूल—सब सजे हैं। थालों में लड्डू और पेड़े हैं। सुगन्धि से कमरा आच्छन्न है।

श्रीधर ने आरती उतारी; प्रसाद बाँटा। मन्दिर के दाहिने प्रांगण में स्त्रियाँ खड़ी होतीं। वे आरती लेतीं, प्रसाद पातीं। श्रीधर ने देखा, उस टोली में बेला नहीं है। वह प्रसाद का दोना किसे देता?

भीड़ छँटी, तो श्रीधर ने जयदेव मिश्र से झुककर पूछा—"क्यों चाचा! आज बेला नहीं आई!"

"सच तो। बात क्या है?"—जयदेव मिश्र ने माथा खुजलाकर कहा।

"ज़रा ख़बर तो दो!"

श्रीधर के शब्दों में आदेश की एक सूक्ष्म ध्वनि है। निस्सन्देह कल तक बेला को बुलाने की मजाल न थी—न आँगन में जाकर बात करने की। पर, आज तो वह चचा की गद्दी पर विराजमान है। छोटे-बड़े सभी उसके हुक्म के बन्दे हैं।

जयदेव मिश्र सीधे-सादे बूढ़े व्यक्ति थे—दुनिया के तहपेंच से अपरिचित। वे फ़ौरन् अन्दर चल पड़े।

बेला गङ्गा और यमुना की सेवा में उलझी हुई थी। उन्हें खिला-पिलाकर आँचल से मुँह झाड़ रही थी। उसकी आँखों का कोना तर था। वह सोच रही थी—"इतने दिनों तक तो दाँत-काटी रोटी का सम्बन्ध रहा, अब यह चोली-दामन का साथ छूटने का दिन आ गया!"

यह सोच-सोचकर बेला का कलेजा मुँह को आ जाता था। "पर, इस दुनिया में कौन किसका साथ देता है? न बेटा ने दिया, न पति ने।

एक-पर-एक पिली पड़ती थीं ; और वह न जाने किस आवेग में विभोर उन्हें एक टक हेर रही थी। वह कुछ ऐसी भूली थी कि श्रीधर के पैरों की आहट कान के परदे के भीतर उतर न सकी।

चिराग़ की धुँधली रोशनी में श्रीधर ने बेला के मुख की शतदल-स्निग्ध सरस सुषमा देखी, और देखते-देखते दिल में अचानक एक आग-सी भड़क उठी। वह एकाएक बेला के निकट सटकर चटाई पर बैठ गया, और उसके कंधे की चादर बेला के स्खलित आँचल से उलझ पड़ी।

बेला फ़ौरन् आँचल समेटकर उठ खड़ी हुई और सरक कर अलग चली गई। उसने देखा कि श्रीधर का चेहरा किसी आवेग से स्पन्दित-सा हो रहा है ; उसके कंधे पर ज़री की चादर है और गले में जूही का गजरा—ललाट पर रक्तचन्दन का तिलक और हाथ में एक लाल जिल्दवाली पुस्तक—होठों पर एक मधुर हास की वङ्किम रेखा और आँखों में एक क्षीण कामना की शिखा !

श्रीधर ने गले के गजरे को उतार लिया, और उँगलियों में फेरता हुआ हँसकर बोला—"बेला ! तुम बुलाने पर भी न आईं और मैं बिना बुलाये भी चला आया। तुम्हें नारी की लज्जा है, मुझे पुरुष की स्पर्द्धा। तुम्हें मान है, मुझे प्राण। तुम्हें नेम है, मुझे प्रेम।"

बेला चुप रही। वह क्या जवाब देती ? उसने धीरे से दाँतों-तले होठों को दबाया और कसकर दिल को मुट्ठी में थामा—ऐसा न हो कि किसी आवेग पर उसके पैर उखड़ पड़ें।

केतकी का फूल परिमल की डाली लिये चारों ओर मँड़राता ही रहा ; पर बेला पर सुगन्धि की मोहिनी एक न चली।

आकाश पर बादल उमड़ रहे हैं और पुरवैया के झोंके नीम की डालियों पर छलाँग भर रहे हैं।

"क्या सचमुच तुम्हारी छाती में हृदय नहीं? महज़ हृदयहीन बुद्धि का ही आधिपत्य है? बेला! हृदय पीयूष है, विवेक विष।"

"महाराज! आपकी छाती में प्रेम की सुधा हो, मेरी छाती में विवेक का विष ; आपके लिए सुधा कल्याणी है, मेरे लिए कल्याण-प्रद विष।"

बेला के शरीर का एक-एक ज़र्रा सतर्क था।

"नहीं। मैं तो समझता हूँ, नारी का सर्वस्व हृदय है, विवेक नहीं। उसके जीवन की सार्थकता प्रेम है, संयम नहीं।"

"प्रेम के माथे का मणि संयम है, काम नहीं ; उसका तेज त्याग है, आग नहीं।"—बेला धीरे-धीरे, पर मीठे स्वर में, बोली—"अतृप्त आकांक्षा ही प्रेम का अमिट सौरभ है। उसासों के समीर से आँसुओं के नीर से—प्रेम की मंजरी जीती-जागती, अमरत्व पाती है। हज़ारों वर्ष बीत गये, गोपियों के आँसू आज तक सूखे नहीं—उस प्रवाह से लक्ष-लक्ष हृदय निरन्तर भीगते चले आये, युग-युग भीगते रहेंगे। उनकी व्यथा कितने सहृदय मर्म की पोर-पोर में बजती चली आई। महाराज! गोकुल का विरहोच्छ्वास अक्षय्य मधुभांडार बनकर जगत् में व्याप्त है। रुक्मिणी का सुहाग उनके हृदय के तारों पर ही बजकर रह गया ; राधा का विरह विश्व का अमर संगीत बनकर आज भी जीवित-झंकृत है। मैं तो समझती

हूँ, प्रेम की परिणति रति नहीं होती, विरति होती है ; परितृप्ति तो उसकी समाधि है। वियोग ही प्रेमयोग का आधार है—उपभोग तो एक विकार है।"

श्रीधर सर झुकाए सुनता रहा। फिर आँखें उठाकर बेला को देखा। एक क्षण देखता रहा। और, ज़रा हँसकर बोला—"बेला, प्रेम क्या है—इसे तुम जानती भी हो ? अगर जानती भी होगी, तो कहीं यह भाषा में व्यक्त हो सका है ? मैं तो समझता हूँ, इसकी तीन सीढ़ियाँ हैं ; पहली—प्राणों से प्राणों का परिचय, दूसरी—प्राणों से प्राणों का परिणय, आख़िरी—प्राणों में प्राणों की लय—दो का खिंचकर एक हो जाना। प्रेम का चरम परिणाम अभेद है, भेद नहीं ; संयोग है, वियोग नहीं। विरह तो एक अन्तराय है, और उस अन्तराय से वह आकांक्षा, वह आकर्षण और भी तीव्र हो जाता है। जब लगन की लौ होगी, तो कोई भी बाधा उस आँच पर टिक नहीं सकती। गोपियों की बाधा उनकी पत थी, उनके पति थे ; उनका शील था , उनका कुल था। मगर, ये तमाम बाधाएँ एक क्षण भी उनके दामन को थाम सकीं ? प्रेम-मुरली की टेर पर कोई गले का हार बरक़रार रह सका ? सब टूट गया। आज वही कलंक उनका तिलक है। यह जीवात्मा भी जब प्रकृति की कंचुकी को उतारकर फेंक देती है, तभी वह प्रेमास्पद के पूर्ण मिलन को पाती है। बेला, तुम्हारे हृदय में भी वह मुरली बजती, तो फिर इस विश्व में कौन-सी बाधा रोड़े अटका सकती ?"

"मेरी बाधा आपकी मर्यादा है। आपका जीवन उपभोग के लिए नहीं, उपयोग के लिए है। मेरी बाधा आपकी·····"

"सुधा है, क्यों ?"—श्रीधर ने ज़रा तिनक कर पूछा—"ख़ैर, जाने दो। तुम्हारे हाथ में यह किताब कौन-सी है ?"

बेला खड़ी-खड़ी अनमनी-सी एक पुस्तक के पन्ने उलट रही थी।

"प्रेम-सागर"

"अच्छा ! ठीक है। बेला, तुम चचाजी से धर्म की सैकड़ों किताबें पढ़ चुकी। चलो, मुझसे व्रजलीला सुनो—पुनीत प्रेम की कथा पढ़ो।"

बेला चुप थी। उसके हृदय के तमाम भाव-पुंज उसके चेहरे पर बिखर आये। उसने आँचल को सर पर और खींच लिया।

"बेला, कहो, किस वक़्त आकर मुझसे पढ़ा करोगी ?"—श्रीधर ने कनखियों से उसका मुँह जोहते हुए कहा।

भला, बेला फिर गुरुजी से पढ़ने का नाम लेती ? वह सर झुकाए चुप खड़ी रही। फिर सँभलकर बोली—"महाराज, आख़िर मैं कब तक यहाँ पड़ी-पड़ी पापड़ बेलती रहूँगी !"

"अच्छा !···यहाँ रहना पापड़ बेलना है !"—श्रीधर ने ज़रा मुँह बनाकर रुखाई के साथ कहा—"और बाहर जाओगी, तो मोतियों में तुलोगी ! उस दिन बाहर मेले में गई थी न ? जो लुत्ती लगी थी, उसे भूल गई ? हुँहँ ! दामन न जला, यही बहुत हुआ !"

"महाराज ! बाहर की उड़ती हुई लुत्ती से कहीं ज़्यादा घर के चिराग़ से आग लगने का डर होता है—मैं भूली नहीं हूँ।"

"समझ गया, तुम्हें भी बाज़ार की हवा लग गई !" श्रीधर ने कंधा

झाड़कर कहा। उसके नथने फूल रहे थे।

"मेरे लिए तो हर जगह की हवा बराबर है। जो यहाँ घर की हवा है, वही बाज़ार की हवा है!"

"ओ हो! यह बात है? तब यहीं मौज करो! मैं तो पतंग बनकर निछावर हो ही चुका हूँ!"

"आपकी महफ़िल में तो ख़ुद चिराग़ रौशन है। आप ग़ैर की बुझती हुई शमा पर क्यों पतंग बनने लगे?"

"इस सवाल का जवाब मेरे दिल की बेताबी से तलब करो—मैं क्या कहूँ? तुम तो मेरे लिए ईद का चाँद बनी हो!"—श्रीधर ने कलेजे पर हाथ रखकर कहा।

"महाराज, मैंने आप ही का मुंह देखकर अपने दिलपर सिल रखा। नहीं तो, मैं किस खेत की मूली हूँ? यह तय है कि मैं यहाँ रहकर आपकी कामना की आग में घी न बनूँगी। आपके सुख में काँटा·····"

"तो उस नम्बरी नीच 'नेता' के साथ जाओगी?"—श्रीधर झल्लाकर बोला। उसका चेहरा तमतमा रहा था; आँखें लाल टमाटर हो रही थीं; गरदन की चादर कमर पर आ गई थी।

बेला चुप-चाप सर झुकाए पैर के नख से धरती कुरेदती रही।

"बेला, क्यों अपनी ज़िन्दगी भी तबाह करती हो, और मेरी भी? मैं तो विवाह करने पर भी तैयार था, तुम्हीं ने रास्ता बन्द कर डाला।"

"भगवान् ने ही रास्ता बन्द कर दिया है—मेरी क्या बिसात? मेरी सूनी माँग पर अब सिन्दूर जगेगा? इस सर पर अब कफ़न

बाँधना ठीक होगा या सेहरा ?"

"तुम भूल करती हो। सिन्दूर जगेगा, न कफ़न बँधेगा। मैं तो समझता हूँ, तुम्हारी माँग पर मोती का जुगनू होगा और पैर में चाँदी का घुँघरू !"—श्रीधर ने रूखी हँसी हँसकर कहा। उसका ख़ून उबाल पर था। संयम का बाँध तिलमिला रहा था।

"वही सही ! इस आग पर लोटने से तो जान बचेगी !"

बेला ने सर झुकाकर इस तरह कहा, मानों अपने दिल से कह रही हो।

"किसी ने तुम्हें न्योता देकर तो यहाँ बुलाया न था। आई तुम अपनी ख़ुशी से !..."

"और अपनी ख़ुशी से जाऊँगी"—बेला ने बीच में बात काट दी। वह भी खीझ पड़ी।

"तो सचमुच तुम दूकान खोलने चली ? यहाँ शरीफ़ों की मजलिस से जी ऊब गया ?"—श्रीधर के तूणीर में ये विष से बुझे बाण थे।

"यहाँ रहकर कब मेरी गिनती शरीफ़ों में हुई या होगी ?"—बेला ने तिनक कर पूछा।

"पहले चेहरे पर शराफ़त का पानी तो हो। नाक कटी न रहती....."

"आज मैं आपकी बातों में आकर आपके गले का हार रहती, तब तो पानी में कमी न होती ? आज मैं रखेली न बनी, चहेती न बनी,

इसीसे न शरीफ़ों में शुमार नहीं ! ख़ैर, मेरी नाक कटी, तो कटी; आपकी नाक तो ऊँची रहे !"—बेला ने जोश में आकर तड़प कर कहा।

श्रीधर बिलकुल लाल हो गया। एकाएक उसे इतना ग़ुस्सा चढ़ आया कि आदमी के लिबास में रहना मुश्किल हो गया। वह कभी का ऐसा सख्त नहीं था; पर आज उसे न जाने क्या हो गया। इधर महीनों से वह दर्द-दिल की दवा की तलाश में बूटी छानने लगा था। जब जान अन्दर-ही-अन्दर घुलने लगती है, तब बग़ैर बेलूदी के जान में जान नहीं पड़ती। आज वही सब्ज़ परी सर पर सवार होकर ज़बान उभार रही थी। अक्सर आदमी उसी पर दिल के फफोले फोड़ता है, जसपर वह आठों पहर दिल निसार करता है।

श्रीधर दाँत पीसकर बोला—"ओ हो ! तुम्हारी मीठी ज़बान के तले एक और भी तीती ज़बान है ! तुम भी आवाज़ कसना जानती हो ! तुम्हारी लाज की चादर कुछ मेरे घर में नहीं उतरी, इसे क्यों भूल जाती हो ? अबतक तुम बाज़ार में दलालों की जूतियाँ सीधी करती रहती। मैंने अपने सर कलङ्क लेकर तुम्हें यहाँ शरण दी—और तुम यह अच्छा नमक अदा करती हो ! जाओ, बाज़ार ही में तुम्हारा गुज़र होगा, यहाँ नहीं ! गली की कुतिया कभी घर में पोस नहीं मानती।"

श्रीधर तमतमाया हुआ लौट पड़ा।

"जाती हूँ महाराज ! आपका शाप मेरे लिए सुहाग का आशीर्वाद हो !"

श्रीधर ने साफ़ सुना तक नहीं। जब वह आँगन पार कर रसोई-घर के निकट आया, तब उसे ख़याल हुआ कि वह नाहक बेला पर ज़रूरत से ज़्यादा सख़्त हो गया। 'आख़िर उस बिचारी को मैंने बेवजह जली-कटी सुना दी। उसने तो मेरे ही हित के लिए कलेजे पर सिल रखा। वह दिल से तो अलग करती नहीं, शरीर से अलग करती है। और, मैं इस त्याग की महत्ता को सर पर उठा नहीं सकता। वह मेरे दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए ख़ुद बे-शरम होकर बाज़ार की ख़ाक छानने को भी तैयार है, और मेरी पलक भी नहीं पसीजती! चचा के जाते ही मैदान ख़ाली समझकर मुझपर काम का भूत सवार हो गया। छिः छिः! मैंने यह क्या कर डाला?'

श्रीधर पलट पड़ा। वह चाहता था कि घायल बेला के दिल में चुभे हुए तीर को मुलायम हाथों से निकाल ले।

इतने ही में उसकी ससुराल की महरी सामने आ गई और ज़रा रास्ता रोकती हुई बोली—"बाबू! रोटी ठंढी हो रही है। आप अँधेरे में कहाँ चक्कर काट रहे हैं? पानी आ गया। अन्दर खाने चलिये।"

श्रीधर शर्म से गड़ गया। वह फ़ौरन् चौके में घुस गया। बूँदों की टपाटप शुरू हो गई।

सावन की झड़ी बँध गई। श्रीधर रुक गया। बातों-ही-बातों में दाई मीठी चुटकियाँ ले गई—इतना वह समझ गया। उसके दिल में खटका होने लगा—'वह कुछ जानती तो नहीं? किसीने कान तो नहीं भरा? हो न हो, यह गनेस बहू की शरारत होगी! वही धुएँ के बादल उड़ा

सकती है। कहीं सुधा के कान तक न डौंड़ी पिट गई हो! मैं तो शादी के बाद भी इधर-उधर कन्नी कटाता फिरता था; कहीं यही सोचकर तो महरी ने तिल का ताड़ नहीं कर दिया! सुधा क्या समझती होगी!"

श्रीधर की धोती ढीली हो गई। उसे डर हो गया कि वह सुधा की नज़रों से गिर गया होगा। उसके सामने तो उसे अपनी नाक पर मक्खी नहीं बैठने देना था। बेला की दिलजोई का ख़याल बिलकुल जाता रहा—भूल गई बिचारी बेला। उसने सुधा पर रंग जमाना चाहा।

वह चौके पर बैठ चुका था। थाल में रोटियाँ भी पड़ चुकी थीं। सुधा कढ़ी की कटोरी जो रखने लगी, तो श्रीधर ने उसका आँचल थाम लिया, और साथ खाने के लिए इसरार किया। वह बरज़िद हो गया कि जबतक वह साथ बैठकर नहीं खाती, वह दूसरा लुक़मा नहीं उठाता।

सुधा का चेहरा सुर्ख़ हो गया—शर्म से और सुहाग से। मुहब्बत की खींचतान चली। आख़िर सुधा वहीं सटकर बैठ गई।

श्रीधर ने रोटी का टुकड़ा दाल में भिगोया और सुधा के मुँह में थमाया; सुधा ने भी रोटी का टुकड़ा कढ़ी में डुबोकर श्रीधर के मुँह में डाला। यही सिलसिला चला।

खुली खिड़कियों से केतकी की गन्ध कोठरी में बिखर चली है। बाहर पानी की झमझम मलार की ध्वनि हो रही है।

उधर श्रीधर के पलटते ही बेला फ़ौरन् मकान छोड़ने पर उतारू हो गई। पास में कुछ सामान तो था नहीं; दो-तीन कपड़े थे, एक कम्बल और एक रामायण की पुरानी पुस्तक। बस, चटपट पोटली

बाँधी। गङ्गा और यमुना से एक क्षण लिपट कर रोई। रोया न गया। दिल की जलन में आँखों का पानी छूम हो गया!

वह बिलकुल बदहवास हो रही थी। पोटली लिये चल पड़ी! न पानी की बूँदों की सुध थी, न पुरवैया के झोंकों की। जब बीचोबीच आँगन में आई, तब कानों में ऐसी आवाज़ पड़ी, मानों कोई उसे पुकार रहा हो। मुड़कर देखा, तो श्रीधर के ससुराल की महरी थी—क्यों पानी में भींगती हो बीबी? बाबू को तलाश रही हो? ज़रा दम लो! उन्हें रोटी भी तो खा लेने दो!"

बेला सन्न हो गई। चोट पर चोट! मन-ही-मन वह सोचने लगी—"मैं ही एक इस संसार में कलेजेवाली हूँ? मेरे ही सर पर लगातार वार पर वार?"

वह समझ गई कि आज श्रीधर का अकेले अँधेरे में आकर उससे मिलना ज़हर हो गया। महरी की ज़बान में विष की चाशनी थी। सुधा भी सुनेगी, मिश्रानी भी सुनेंगी; और कल सुबह में गनेस बहू मुहल्ले में नक्क़ारा बजाती फिरेगी। अब तो एक क्षण भी यहाँ टिकना अपने सर पर नई आफ़त मोल लेना है। बची-खुची इज्ज़त भी धूल में मिल जायगी।

बेला वहीं ठमककर खड़ी हो गई। सामने ही रसोई-घर था। खिड़की खुली थी। देखा, श्रीधर सुधा का आँचल अपनी ओर खींच रहा है, सुधा लाज और अनुराग से पुलकित हो तिल-तिल उसके बाहु-पाश में चुई जा रही है। श्रीधर के चेहरे पर विलास-चंचल लावण्य

का गुलाल है ; सुधा के चेहरे पर लजारक्तिम सुहाग का संचार।

वह आगे देख न सकी ; न महरी के दृष्टि-पथ पर आगे बढ़ सकी; उलटे पाँव ओसारे में पलट आई। खम्भे पर कमर टेककर खड़ी रही। दस बजे। ग्यारह बजे। बारह बजे। वह पत्थर की प्रतिमा-सी खड़ी रही। उसके हृत्स्पन्दन की गति कैसी है, मन की गति कैसी है, या दोनों शरीर ही की तरह निस्पन्द-निश्चेष्ट हैं—कौन कहे !

केतकी ने लखलखा लाकर नाक पर रखा, आकाश भी—न जाने किस वेदना से पागल होकर—बारबार उसके कानों में चिल्लाता रहा, पुरवैया का झोंका उसके कंधे और छाती से झटके दे-देकर लगातार आँचल उड़ाता रहा, बिजली आँखों के सामने थम-थमकर आतिशबाज़ियों की छटा दिखाती रही ; पर उसने न कुछ सुना, न देखा, न सूँघा और न हिलने का नाम ही लिया।

वह किसी गहरे सोच में थी, या उसकी सोचने की भी सत्ता जाती रही थी—भगवान जाने ! उसका आँचल का छोर भीगकर तर हो गया। सर के बाल भीग गये, लटें बँध गईं।

एक बजा। दो बजे। बेला हिली और बूँदों की रिमझिम में चल पड़ी। आँगन में श्मशान-विभीषिका मुँह बाये खड़ी है। बेला डरी नहीं ; आगे बढ़ी। सुधा के कमरे के सामने आई, तो बन्द किवाड़ों की फाँक से भीतर की हल्की रोशनी झाँक रही थी। गुलाबी हँसी की आवाज़ भी सुन पड़ी। बरसाती रात की सुहाग-वर्षा !

उसने छन-भर ठमककर उस कमरे की ओर देखा। फिर न जाने

किस उद्देश्य से दोनों हाथों को जोड़कर सर तक ले गई। होठों तक एक साँस उठी ; बरौनियों पर दो बूँद ठहरी।

सहसा कमरे के भीतर खड़ाऊँ की चट-चट आवाज़ हुई। बेला ऐसी चमक उठी, मानों कानों के पास बन्दूक छूटी हो। वह लपककर बाहरी दरवाज़े पर आई, झटके के साथ कुंडी खोली और उस गीली अँधियाली में—सागर में बूँद की तरह—मिल गई!

तमाम मकान—तमाम आँगन—में एक निशीथ नीरवता छा गई। केवल गङ्गा और यमुना, न जाने किस आशंका से आकुल, बार-बार चिल्ला उठती थीं ; और उनकी करुण कातर चीत्कार वर्षा-पात के क्षीण कोलाहल से मिलकर दीवारों पर प्रतिध्वनित होती रही।

द्वितीय खंड

बिजली

प्रथम परिच्छेद

"आख़िर, यह बहिश्त की कुमरी कहाँ से उड़ा लाये यार ?"

"अजी, कुमरी नहीं—राजहंसी है, और वह चुगती है मोती !"

"मोती ! फिर तो म्याँ तुम्हें मोती की खेती करनी होगी ?"

"जी हाँ; यही तो आफ़त है ! मोती लाऊँ तो कहाँ से लाऊँ ?"—सलीम ने हँसकर कहा।

"भाईजान ! दुनिया के समुन्दर में कुछ मोती की कमी नहीं; पर किनारे बैठकर बालू उलीचने से तो वह नसीब नहीं होने का ! यहाँ जान हथेली पर रख डूबकर ढूँढ़ना होगा।"

"सुनिये, क़िबला ! मुझे डूबने से इनकार नहीं। पर यह भी तो पता चले कि कहाँ—किस दायरे में—डूबना होगा ? तमाम समुन्दर छान डालना तो इमकान से बाहर है।"

"म्याँ सलीम, आसमान से तारे तोड़ने की हिम्मत रखनी होगी। चाँदी की फ़सल काटना कुछ चने की खेती नहीं है। यहाँ तह तोड़ना है और एँड़ी का पसीना चोटी तक लाना है।"

"कहीं सरकारी मुलाज़मत भी मिल जाती·····"

"तुम ख़्वाब तो नहीं देखते ? इसी को आसान समझ रखा है ? बस, कमन्द फेंकी और लबे-बाम पर जा टपके ! और फिर तो साक़ी है, कबाब है, शराब है। अभी तुम्हें उस कूचे की हवा नहीं लगी। भई, इसे माशूक़ की लटों का जाल समझो। यहाँ बरसों भटकते फिरोगे। किरानियों की जेब गरम करो, चपरासियों के पान-पत्ते के लिए हाज़िर रहो, साहबों की सिफ़ारशी चिट्ठियाँ लाओ, सिरिश्तेदार के साले की चिलम भरो, उनकी हमशीरे की फ़रमाइशें पूरी करो और दिन में दस बार चौखट पर नाक रगड़ो, तब तो कहीं मुक़द्दर चमका और बीस-पचीस की नौकरी मिली। नौकरी क्या मिली, गरदन में ग़ुलामी का तौक़ लटका। फिर ज़िन्दगी-भर अफ़सरों की जूतियों पर पेशानी की पालिश करो। तुम तो अभी ग्रैजुएट भी न हुए ! तुम्हारी वक़त ही क्या है ? म्याँ, नौकरी की उम्मीदवारी शैतान की आँत है। जो इस चक्कर में पड़ा, वह गल-पचकर रह गया ; समझे ? फ़र्ज़ करो, इस जाँफ़िशानी पर पचास की नौकरी भी मिली, तो यह रक़म तो बेगम

साहबा की कंघी-चोटी के ख़र्च के लिए भी काफ़ी न होगी। पहले इस शहर में हुज़ूर को पहचानता ही कौन है ? और पहचान करानेवाला कौन है ?"

क्यों ? आप इतनी मदद भी न देंगे ? आपसे तो कुछ परदा रहा नहीं। यहाँ आये मुद्दत हो गई। जेब आज जवाब दे या कल। अब कमरे का किराया भी चलना दुश्वार है। दो दिन में 'बिजली' का ज़ेवर गिरो रखना पड़ेगा और मैं इस ज़िल्लत के सदमे को·····"

"वाह ! इतने ही पर मैदान हार गये ? अजी, यह भी कोई बात है ? अभी तो इबतिदा है। नई उल्फ़त की नई लज़्ज़त बड़ी मसर्रत लाती है। आँखों पर एक सुरूर-सा छाया रहता है, और वह नशा का बादल इतना घना होता है कि दूर तक नज़र कभी जाती नहीं। दूर तक नज़र जाती, तो कभी तुम इस उल्फ़त की आग में कूदकर यहाँ आते ? जिस दिन बीवी की गरदन की चेन जेब में रखे सर्राफ़ों की दूकान की मटरगश्ती की हाजत होगी, उसी दिन यह सुरूर आप-से-आप काफ़ूर हो जायगा। तभी तुम्हें मालूम होगा कि दुनिया कितनी सख्त है, और दोस्तों की तोताचश्मी नेज़े की नोक है—मस्ती की मसर्रत दो घड़ी की चाँदनी है। जिस रास्ते पर तुमने क़दम रखा है, उस रास्ते पर कभी मुफ़लिस नहीं चलता। और, अगर उसे चलना भी पड़े, तो मियाँ-बीवी दोनों को एक-दिल होकर तलवार की धार पर चलने के लिए बराबर तैयार रहना चाहिये। शान-शौक़त को दूर ही से सलाम करना होगा ; कबाब-कोरमे के बदले भुने चने पर आँत की आँच बुझानी होगी। सर पर खुंचा

लेकर गली-गली की चहलक़दमी करनी पड़ेगी, और बीवी साहबा को आग में पककर ख़ुंचे का सामान तैयार करना पड़ेगा। अब तुम्हीं कहो, तुमसे यह गलियों की गर्दख़ोरी होने को है? और, फूलों में तुली हुई फ़ैशन परस्त बेगम साहबा की नाज़ुकी तन्दूर की आँच बरदाश्त कर सकेगी? तुम दुनिया का लुत्फ़ भी उठाते रहोगे और पैर पर पैर भी रखोगे? यह भी कोई बात है? हाँ, यह तभी मुमकिन था, जब तुम किसी रियासत के तालुक़ेदार होते और रैयतों के पसीने की कमाई पर ख़ुदादाद हक़ होता।"

"तो क्या सरकारी नौकरी की उम्मीद....."

"माज़ल्ला! तुम अभी तक वही ख्वाब देख रहे हो! ख़ुदा जाने, तुम कहाँ के रहनेवाले हो। यहाँ तुम्हें जानता कौन है? मैं इस तूफ़ान-बेतमीज़ी में हाथ नहीं बँटाता। मैंने इस दोज़ख़ी कूचे की सूरत तक नहीं देखी है—सिरिश्तेदार साहब के दरबार में मुजरा बजाना तो दूर रहे; मेरा तो उसूल है—'ख़ुदा के घर भी न जायेंगे बे-बुलाये हुए! तुम कल से इस गली की ख़ाक छानने चलो, तो ख़ुद ही आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा। भाईजान! अब वह ज़माना लद गया। ख़ुदा मिले तो मिले, नौकरी नहीं मिलती।"

"तो आख़िर कोई रास्ता निकालियेगा भी कि यों औलिए की तरह नसीहत ही झाड़ते रहियेगा? है कोई सूरत?

"भई, मैं तो रोज़गार का क़ायल हूँ। ज़माना हुआ, जब मैं इस शहर में पहले-पहल आया था। मेरी दोनों जेब बिलकुल हवा में उड़ती

थी और चेहरे पर ख़ाक उड़ रही थी। तुम तो दोनों वक़्त पुलाव-मुतंजन पर हाथ साफ़ कर रहे हो ; कहां मैं पेट बजाता फिरता था।

"इसी ठनठनिया-बाज़ार में एक बूढ़ी फूफी थी, जो ख़ुद बिचारी दाने-दाने को मुहताज थी! मैं दिन-भर किसी धन्धे की तलाश में बाज़ार की ख़ाक छानता और रात को वहीं आकर कमर सीधी करता। कुली-कबारी का काम भी बाक़ी न रखा। जब साल-भर की मशक़्क़त पर जेब ज़रा खनखना उठी, तब वहीं बरामदे पर कबाब-रोटी की दूकान कर ली। फूफी के हाथ की रोग़नी और बाक़रख़ानी, सीक़-कबाब और बिरियानी की शुहरत धन्नूमल की मशहूर दूकान के कचालू और फुलौरी से बाज़ी मार ले गई। बस, मार ख़रीदार ही ख़रीदार हो गया। हिन्दू-मुसलमान, पारसी-क्रिस्तान—कुछ ठिकाना था? कितने घरों की कंठी टूटी। सैकड़ों ज़ुन्नारवालों की नाक कटी। चारों ओर डौंड़ी पिट गई। रमज़ान के ज़माने में रोज़े-आफ़तार की चटपटी चीजें, चने की घुघनी और खटमीठी चटनी तमाम शहर के रईस और हुक्काम की दिलरुबा बन गई। यों ही, साल-दो-साल गुज़रे। कबाब-रोटी से भुनी खिचड़ी, भुनी खिचड़ी से पुलाव-ज़र्दा, पुलाव-ज़र्दे से चॉप-कटलेट, चॉप-कटलेट से चाय-बिस्कुट, चाय-बिस्कुट से पोच-आमलेट, पोच-आमलेट से बाज़ाब्ता लञ्च-डिनर तक मोसल-सल तरक्क़ी होती गई।

"मुझे एक मालदार कलाल मिल गया—मिस्टर शामलाल। उसे आधे का शरीकदार कर लिया। वह तीन हाथ की छोटी दूकान आज शहर का आलीशान होटल हो गई। आज इस होटल में साहब और

सूबे, नवाब और राजे, वकील और बारिस्टर, सेठ और साहूकार—सभी आकर हफ्तों मौज करते हैं। यह अमीरों की ज़ियारत की जगह बन गई है। सच मानो, हमारे यहाँ की फ़रमाइशी मक्खन और डबल रोटी, केक और पेस्ट्री, क्रीम और स्ट्रावेरी, अँगरेज़ी होटलों की तैयारियों से लोहा लेती है। हमारा हेड ख़ानसामा 'हमीद'—वल्लाह! जिस कमाल का क्लैरेट-कप और कॉकटेल तैयार करता है, उस मुक़ाबले में जामे-कौसर की लज्ज़त भी फीकी है। सब्र की डाल में मेवा फलता है, यार! अभी तुम्हारा जवानी का सिन है, गुले-बकावली भी तोड़ लाना दुश्वार नहीं—हिम्मते मरदाँ मददे ख़ुदा!"

"बाक़ई आपका फ़रमाना बजा है। फिर भी, बाज़ी लद जाने की बात है। नहीं तो, सैकड़ों कबाब-रोटी बेचनेवाले आँत की आँच में पककर ख़ुद कबाब हो गये। आपका सितारा बुलन्दी पर है; मिट्टी भी छूने से सोना बन जायगी। भाई-साहब, मुझे हिम्मत की कमी नहीं; जो कमी है, पैसे की। और, सर पर खुंचा लेकर बाज़ार की ख़ाक उड़ाते फिरना—गुलाब रेवड़ी हो या कबाब-रोटी—मुझसे तो कभी मुमकिन नहीं। मुझे फ़ाक़ेमस्ती क़बूल है, मगर यह ज़िल्लत की टोकरी ·····क्या कहूँ—

"इश्क़ ने 'ग़ालिब' निकम्मा कर दिया,
वरना हम भी आदमी थे काम के!"

"तुम इसे ज़िल्लत समझते हो; मगर इस इश्क़ का अंजाम तो दूसरा नहीं। वल्लाह! तो फिर क्या समझकर तुमने इस कूचे

में क़दम रखा ? हर रोज़ ईद होगी—कभी मुहर्रम नहीं, ऐसे तक़दीर के साँड़ हो ! जब घर में दूध-शक्कर नहीं, तब ख़ाक ईद होगी !"

"जभी तो यहाँ की आसाइशें भी मेरे लिए आतिश के शरारे बन गई हैं। ख़ैर·····"

सलीम उठा, कमीज़ का कफ़ उठाकर कलाई की घड़ी देखी, और घबराया-सा बोला—"ओफ़ ! चार बज गये।"

"सच। घड़ी तो, यार, तुम्हारी बे-नज़ीर है। रोल्ड-गोल्ड है न ?"

"जी जनाब। अभीतक यह सर्राफ़ के सेफ़ में नहीं गई। इसे ईमान की तरह बचाये रखता हूँ।"

सलीम चुप हो गया। उसकी आँखें छलछला उठीं। मैनेजर साहब ने उस ख़ूबसूरत जवान के कंधे पर हाथ रखा और उसे अपनी ओर खींच लिया।

"मियाँ सलीम ! तुम नाहक इस क़दर बेज़ार हो। आख़िर किसी पहलू तो ऊँट बैठेगा ही। और, अगर क़िस्मत की चित्ती चित पड़ी, तो मोहरा लाल होने में देर न होगी।"

"चित या पट—कोई एक तो होना ही है। आख़िर बेकार यहाँ कबतक टँगा रहूँगा ? इस धुकधुकी से तो कोई भी एक निपटारा—मरना या जीना—कहीं बेहतर है·····"

"तुम फ़िज़ूल हिम्मत हार बैठे हो। यह भी कोई बात है ? अगर तुम तनहा रहते, तो फिर कोई दिक़्क़त ही न होती। यह पुछल्ला जो

तुम्हारे साथ है, यही जान की आफ़त है। तुम कहाँ-से-कहाँ इस ज़ालिम के ज़ुल्फ़ों में असीर होने गये! तुम ख़ुद ही कहते थे, अबतक तुम ग्रैजुएट हुए रहते। टेनिस में तुमने कमाल का हाथ पाया है। तुम्हारे लिए तो डिप्टी-कलक्टरी धरी रखी थी। कहाँ आज अफ़सरी की धाक रहती—कहाँ·····

'क़िस्मत को देखिये तो टूटी कहाँ कमन्द;
दो-चार हाथ जबके लबे-बाम रह गया!'

—तुमने नाहक अपनी उम्मीदों को हलाल किया। अब तो सरकारी नौकरी जान से भी महँगी हो गई।"

"मैं ख़ुद समझता हूँ। मगर, अब तो जो होने को था, सो हो गया। 'बिजली' तो अब छूटती नहीं।"

"छूटती क्यों नहीं? यह भी कोई बात है? जब वह तुम्हारे लिए ख़ुशी-ख़ुशी तकलीफ़ नहीं झेल सकती—पुलाव की जगह सत्तू नहीं खा सकती, तो तुम ऐसी लहू चूसनेवाली औरत के लिए क्यों तबाह होगे? वह तो फ़ैशन की तितली है, नाज़ो-अन्दाज़ की पुतली—उसे तो चकल्लस का चमन चाहिये। वह कब किसी मसले हुए दिल की तसल्ली होगी या तुम्हारे घर की रोशनी?.....आख़िर वह किस चमन का गुल है?... अच्छा, तुम दीवार तड़प इसे तोड़कर चम्पत हुए या जोशे-जवानी का तूफ़ान उसे ख़ुद तुम्हारी महफ़िल में उड़ा लाया?"

"क्या बताऊँ!·····जाने दीजिए—फ़ायदा क्या है! उस वक़्त तो मेरे सर पर भी वहशत सवार थी—बस, बिजली-ही-बिजली नज़र

आती थी। मैं क्या जानता था कि चाँदनी के बाद……"

"अजी सुनो, मर्दों की दानाई की कश्ती नाज़नीन के चेहरे के पानी की मौज पर बड़ी मुश्किल से ठहरती है ; और कहीं जो बहककर उसकी मस्तानी आँखों के आँसू के भँवर में जा पड़ी, तो फिर चक्कर खाकर डूबने में कभी देर नहीं होती।"

सलीम ने सर झुका लिया। आख़िर रोज़गार तो आसमान से नहीं बरसता ! उसके लिए ज़मीन-आसमान एक करना पड़ेगा, तब कहीं कोई सूरत निकलेगी—इसी उधेड़-बुन में वह माथा खुजलाता रह गया। मियाँ अहमद तो लेक्चर झाड़कर चल दिये !

द्वितीय परिच्छेद

कोहनूर-होटल का लाउञ्ज-कमरा है। बीचोबीच में काकरेजी कश्मीरी कारपेट बिछी है। किनारों पर नक्क़ाशी का काम है। जगह-जगह बाक़ायदा सोफ़े और कुर्सियाँ पड़ी हैं। कुर्सियों पर अब्बासी-क्रेटोन के ग़िलाफ़ हैं। सामने दरवाजों पर लहरिया कर्टेन लटक रहे हैं। क़रीब-क़रीब एक ही रंग की लहर दीवारों पर भी है और परदों पर भी। यहाँ तक कि नमदों और क़ालीनों पर भी उसी रंग के छींटे हैं। सफ़ाई में विलायती बू है। सजावट में कमाल की सफ़ाई है। वॉलनट की मेज़ों पर पीतल के गोल-मोल गमले हैं। गमलों में पाम और क्रोटेन के पौदे खिले हैं। दीवारों पर विलायती मज़ाक की तस्वीरें हैं। मैंटिल-पीस पर हाथी-दाँत के नायाब खिलौने सजे हैं।

दिन का तीसरा पहर सलीम लंबे-खिड़की सोफ़े पर बैठा हुआ है। नज़र है सामने की लॉन में उछलते हुए बच्चों पर। नज़र के सामने इस ख़ुशनुमा मंजर के होते हुए भी काश कोई उस वक़्त उससे पूछ बैठता कि किस बच्चे ने कमाल की छलाँग भरी या कौन-सा बच्चा उलझकर झाड़ी पर गिर गया और सिसकता हुआ अम्मा की गोद में चला गया, तो शायद वह हुक्के की तरह मुँह बा देता और भौंचक-सा पूछनेवाले का मुँह ताकने लगता!

और हुआ भी यही। मिस्टर अहमद ने पीछे से कंधों को हिलाकर पूछा—"सलीम! क्या देख रहे हो? बच्चों का खेल-कूद? वल्लाह! किस सफ़ाई से रज़िया कैना की क्यारी टप गई!"

"जी हाँ, क्या बात है!"

सलीम ने हामी तो भर दी; पर उसने देखा तो कुछ था नहीं; गर्चे उसकी आँखें खुली ज़रूर थीं।

आँखें तो इस घरौंदे की खिड़कियाँ हैं। जबतक घरौंदे में बसनेवाली रूह इन झरोखों पर नहीं बैठती, तबतक खिड़कियों के पल्ले खुले रहें या बन्द—दोनों बराबर है।

सलीम का मन कहीं और था, आँखों पर तो था नहीं। वह देखता क्या ख़ाक? उसके चेहरे की सहज प्रफुल्लता पर विषाद की छाया सघन थी।

इस अनजान देश में अभाव की आसन्न विभीषिका तथा नाज़ुक-बदन बिजली के सजल लोचनों की सशङ्क चेष्टा ने सलीम की आँखों के

तले अँधेरा कर रखा था। उसी आच्छन्न अन्धकार के पाश से मुक्त होने के लिए वह चपल आकांक्षा-तुरङ्ग की पीठ पर सवार एक सुदूर मायामंडित स्वप्नलोक में विचर रहा था।

धीरे-धीरे उसकी खुली आँखों के परिसर पर एक ऐश्वर्य का नन्दन उभर पड़ा—'''वह अलीबाबा की तरह किसी पर्वत के निभृत कन्दरे से अशर्फ़ियों का ख़ज़ाना खच्चरों की पीठ पर लादकर घर लौटता है, और फूस की झोपड़ी के दरवाज़े पर गाल पर हाथ रखे बाट जोहती हुई बिजली के क़दमों पर ला उझलता है। बिजली लिपटकर उसके होठों को चूम लेती है और दो दिन में वह झोपड़ी शाही महलों से लोहा लेती है।'''उसके हाथ में अलादीन का चिराग़ आ पड़ा है, जिसे रगड़ते ही एक ख़ौफ़नाक-क़द जिन हाज़िर होकर उसके सूने घर को हीरे-जवाहरात से भर देता है।''''उसके कोट की जेब में सीमुर्ग़ का पर है, जिसे वह आग की लौ पर सोख्त करता है। उसी क्षण अपने चंगुलों में मोहरों की थैलियाँ लटकाये वह सीमुर्ग़ आकाश पर प्रकट होता है और पलक मारते बिजली की टूटी खाट के चारों ओर चाँदी-सोने, मोती-मूँगे का अनन्त वैभव उमड़ पड़ता है।''''''अहमद की पुरानी टूटी-फूटी कबाब-रोटी की दूकान के सामने उसकी मिठाई की दूकान खड़ी है, जहाँ सैकड़ों तरह की ज़ाफ़रानी शीरीनी और बर्फ़ियाँ, पिस्ते और बादाम की गिलौरियाँ, रेवड़ी और गुलाब-जामुन, मगदल और हलुआ-सोहन क़श्तियों में क़रीने से सजे हैं; और आधी रात को जिन्नात आकर टोकरियों से अशर्फ़ियाँ उझल-उझलकर एक-एक चीज़ सौगुनी

क़ीमत पर ख़रीद ले जाते हैं ; और फिर नूरमहली पुलाव और अम्बरी बिरियानी में अशर्फ़ियों के बघार की ख़ुशबू से बिजली का नाज़ुक दिमाग़ चकरा उठता है···।

···इतने में ही पास के कमरे से मिस्टर अहमद की अँतड़ियाँ उफ़ल देनेवाली ज़न्नाटे की हँसी की आवाज़ कानों पर टकराती है, और सलीम के हवाई महल की दीवारें इस क़हक़हे के ज़लज़ले से चकनाचूर होकर उसके चारों ओर धूल में मिल जाती हैं। वह अपने स्वप्निल स्वर्ग से बेदार होकर अपनी पुरानी दुनिया में लौट आता है।

सलीम उठ खड़ा हुआ। उसे अपनी नादानी की ख़याली दौड़ पर एक आह-भरी हँसी आई। उसने धीरे-धीरे कमरे में टहलना शुरू किया। उसकी निगाह सामने के बिल्लोरी आइने पर पड़ी। उसने देखा कि तीन साल का बने हुए लैवेंडरी ट्वीड का स्पोर्ट-जैकेट और पैंट बरसों के इस्तेमाल से धूमिल हो चले हैं। कोट की आस्तीन और पतलून की सतह पर शिकनों की लकीरें उग आई हैं। कमीज़ के कफ़ की विपन्न सिकुड़न, कॉलर और टाई का कुम्हलाया हुआ जोबन, सहज-प्रसन्न चेहरे का उतरा हुआ कुन्दन—सभी उसकी आँखों के आगे शोले बनकर उभर पड़े।

वह मिनटों तक सर झुकाए खड़ा रहा। फिर आइने के सामने जाकर अपने शिकन-आलूदा लिबास को सीट-साट कर दुरुस्त किया ; यौवन के सहज निखार के रोग़न से चेहरे पर ताज़गी लाने की कोशिश की।

अब बिजली सोकर उठी होगी—यह सोचते हुए उसने अपने कमरे की ओर क़दम रखा। वह दो क़दम भी न बढ़ा था कि मिस्टर अहमद चुरुट की आँधी उड़ाते, और हाथ में छलकता हुआ पैमाना लिये, कमरे में दाख़िल हो गये। हँसकर बोले—"कहाँ चले हज़रत! वाह! आज भी तुम्हारी कफ़नी सूरत नहीं गई? क्या इरादा है, इसी होटल की लॉन पर एक शहीदे-नाज़ की तुरबत बनेगी?"

मिस्टर अहमद खिलखिलाकर हँस पड़े। सलीम ने भी मुस्कुरा दिया।

"अरे यार! ज़िन्दगी चार दिन की है और जवानी दो घड़ी की। क्यों फ़िज़ूल झखते हो? इस चाँद-से चेहरे पर मातम के बादलों का उभरना—यह भी कोई बात है? खाओ-पीओ, चैन करो; हर रोज़ ईद, हर रोज़ दिवाली···"

"जनाब! मेरी महफ़िल की दिवाली तो गुल होने पर आई है।"—सलीम ने बात काटकर कहा

"अजी, कौन कहता है, गुल होनेपर आई है—यह भी कोई बात है? मैंने नवाब साहब को तुम्हारे लिए मजबूर किया है कि कोई जगह ज़रूर देनी होगी। दो सौ से कम की दिलवाऊँ, तो मेरे नाम पर कुत्ता पाल रखना—समझे?"

"कौन नवाब साहब?"—सलीम ने उतावला होकर पूछा।

"यह सुनो! तुम जानते भी नहीं? इसी होटल में उम्मेदपुर के नवाब साहब हफ्तों से ठहरे हुए हैं। चार-चार सूट आपके क़ब्ज़े में

हैं। आप अवध के मशहूर ताल्लुक़ेदार हैं। कौंसिल के मेम्बर भी। लाखों की रियासत है। आपकी नज़र पड़ी, तो तुम्हारी क़िस्मत पलट जायगी।"

"सच! मज़ाक़ तो·····"

"मज़ाक़—और तुमसे! यह भी कोई बात है? जानीवाकर की सलामती रहे!"—मिस्टर अहमद ने हाथ का लबरेज़ टम्बलर ज़रा ऊपर उठाते हुए फ़रमाया—"इसी के इक़बाल पर सितारे तोड़ लेता हूँ। नहीं तो, मेरी क्या बिसात? अमां! एक घूँट तुम भी लो। तुम्हारी रूह को फ़रहत होगी।"

"जी नहीं, मुआफ़ कीजिये।"—सलीम ने सिर हिलाकर जवाब दिया।

"वाह! यह भी कोई बात है? यह परहेज़·····"

"मैंने तो आज तक पी ही नहीं।"

"हाय! कम्बख़्त, तूने पी ही नहीं? ख़ैर, कुछ परवा नहीं, अब चखो।"

सलीम ने फिर सर हिलाया, और ज़रा पीछे हट गया।

"मैंने अभी ज़ुहर की नमाज़ पढ़ी है, तो भी मुझे इनकार नहीं। और, तुम तो मियाँ, नमाज़ी भी नहीं ठहरे।"—मिस्टर अहमद ने सलीम के मुँह पर गिलास तानकर कहा।

"लेकिन पीता नहीं हूँ।"—सलीम ने बड़ी आजिज़ी से जवाब दिया।

"सुनिये हज़रत! यह होटल है! कोई मक़बरा या मसजिद नहीं, और न जनाब को ही किसी ख़ानक़ाह की सज्जादनशीनी मिलनी है।

यहाँ पीरों और ज़ाहिदों का गुज़र नहीं। होटल में रहना और जानीवाकर से इनकार—यह भी कोई बात है! सच कहता हूँ, ख़ुदा की क़सम, अगर तुमने ज़्यादा चीं-चपड़ की, तो मैं सीने पर सवार होकर तुम्हारे मुँह में बोतल उँड़ेल दूँगा। अब्बाजान भी जन्नत से उतर आएँ, तो मैं टस-से-मस होनेवाला नहीं।"

अब सलीम बिचारा क्या करता? मिस्टर अहमद की दिलजोई जरूरी थी; नहीं तो, नवाब साहब तक रसाई कैसे होगी? अभी नज़र पलट दें, तो होटल के किराये के लिए वह बची-खुची रिस्टवाच भी किसी सर्राफ़ के मटके में जा पड़ेगी।

फिर, मिस्टर अहमद पुराने घाघ। उन्होंने सलीम के मख़मसे को ताड़ लिया और लपककर छलकते हुए गिलास को मुँह में उँड़ेल ही तो डाला! वह शोले का पानी हलक़ से नीचे आते-आते उचककर सरपर चढ़ गया।

सलीम ने आँखें उठाकर देखा, कि नेचर के ज़र्रे-ज़र्रे पर क्या रंग है, क्या निखार। चारों ओर डोरंडे की टट्टियों और गुलाब की क्यारियों पर नई उमंगों का ऊधम। उसकी नस-नस में बिजली की आँखों की बिजली-सी एक बिजली समा गई। उसके प्राणों की पोर-पोर में मिसरी की पगी एक बेकली आ गई।

मिस्टर अहमद के कर्म-कटु जीवन में दो ही तफ़रीह थी—एक सौरभ का आगार 'बरमा-सिगार', दूसरा पीयूष का आकर 'जानी-वाकर'! कभी मुँह में स्कॉच शीराज़ी का रस होता, कभी दाँतों के दाब में बरमा-चुरुट का कश।

जानी-वाकर का अभिन्न सहचर था सोडा-वाटर। जब शराब की शोख़ी सोडे की फ़ैयाज़ी से घुलकर शरबती हो जाती, तब धीरे-धीरे चुस्ट-सेवन के साथ-साथ चुस्कियों का सिलसिला चलता। दिन-रात में दर्ज़नों सोडावाटर की बोतलें आपके मशकनुमा शिकम में विलीन हो जातीं—पानी बनकर आतीं और पानी होकर निकल जातीं।

ह्विस्की का चसका कुछ आज से नहीं, बरसों से है। वह हलक़ से नीचे उतरते वक़्त उचककर दिमाग़ तक नहीं आने पाती; न कभी सर पर सवार होने पाती। यही तो आपकी ख़ास ख़ूबी है।

यह बात नहीं कि आप मीने की गुलेनार परी पर दिलोजान से फ़िदा नहीं; मगर आपकी ऐयाशी या उल्फ़त के दायरे में उस परी-पैकर की जगह दिल और आँखों तक थी; कुछ सर तक नहीं। बस, आँखों पर एक हल्की सुरसुरी रहती और दिल में फ़रहत की गुदगुदी। पर दिमाग़ का दायरा निर्मल आकाश की तरह मेघमुक्त।

आप हमेशा शराब पीते रहे, पर आज तक किसी ने आपको शराबी नहीं समझा, न नशेबाज़ों में आपका शुमार रहा; चूँकि एक लहमे के लिए भी न आपकी ज़बान लड़खड़ाती, न सर चक्कर काटता। आपने दुनिया की लज्ज़त भी ली और ज़िल्लत से दामन भी पाक रखा।

यह बात न थी कि आप धर्मप्राण मुस्लिम नहीं थे और नियाज़ की शीरीनी और मौलूद-शरीफ़ की जलेबियों में आपका ख़र्च कसीर नहीं था। पर आख़िर मीने की मोहिनी कुछ ऐसी मोह-भरी थी कि मज़हब की

पाबन्दी कहाँ तक आपकी तमन्ना के दामन को थामती रहती । अल्लाह-रसूल का नाम लेकर आप पौ फटते बिस्तर से उठते, वज़ू करते, नमाज़ पढ़ते, फिर वज़ीफ़ा पढ़ने बैठ जाते। वहाँ से उठते, तो सीधे शाह साहब की दरगाह में जाते, फ़ातिहा पढ़ते और लौटती बेर फाटक पर टक लगाये अंधों को और दिन एक अधन्नी और जुमे के दिन एक एकन्नी अता करते ।

आपकी उम्र लगभग पचपन की होगी । मयाना क़द । थुलथुल बदन । लम्बी पेटी पड़ी तोंद । गंजी चाँद । ऊँचा माथा । चुहल-भरी चुन्धी आँखें । ऊँची नाक । मुँह की चौड़ाई इतनी डबल—होठों की मोटाई इतनी प्रबल—कि चेहरे पर अगर चारों ओर मसृण कृष्ण केशों का वितान न रहता, तो वह चुरट-चर्चित मुँह जानवर की थुथुन की नाक काटता ।

सर पर बाल का अभाव तो आपको निरन्तर खलता; पर ललाट के ऊपर केशों का अंजुमन भले ही न हो, ललाट के नीचे तो मुलायम केश-किसलय का चमन ज़रूर था । माली अपने चमन को जिस चाव से सँवारता है, कुछ उसी चाव से आप कपोल-व्यापी चमन को सँवार रखते ।

फटी माँग की तरह आपकी बीच से फटी ख़सख़सी दाढ़ी है । आधे से ज़्यादा बाल तो ख़िज़ाँ के हमले से पामाल हो चुके हैं, लेकिन आपने विलायती ख़िज़ाब के प्रचुर प्रयोग से उनकी सफ़ेदी को नज़रबन्द कर रखा है । आप इस चमन को प्रति-दिन काट-छाँटकर

दुरुस्त रखते, कंघी देकर सँवारते और ख़ुशबूदार तेलों से सींचकर मुलायम रखते। शायद यही वजह है कि ग़ुस्ल में ज़रूरत से ज़्यादा देर हो जाया करती।

बारहों महीने आपका लिबास एक ही ढाँचे का होता—वही जोधपुरी ब्रिचेज़ और स्पोर्ट-कोट, शोख़ मख़मली वास्कट, माहताबी टाई और फ़ेल्ट-हैट। यही आपका पेटेन्ट पोशाक। कोट-पैंट या अचकन-पाजामा आप शायद कभी छुटे-छुमासे पहनते होंगे। पर बदलना औरतों को ज़ेबा है, मर्दों को नहीं; यही आपकी बँधी दलील है।

सौ बात की एक बात तो यह है कि एक बार जो चीज़ आपके दिल तक उतर गई, फिर तमाम उम्र के लिए आप उसी के होकर रह गये। ख़ुदा जाने, बरमा-चुरुट में क्या रखा है; पर आप उसपर इस दर्जे के आशिक़ थे कि आपके लिए न कोरोना-सिगार था—न कन्नौज का अम्बरी तम्बाकू। यों तो, तक़रीहन, किसी तक़रीब में प्याले-दो-प्याले शैम्पेन या कॉकटेल, सैतरन या मोज़ेल से आपको इनकार नहीं था; लेकिन आधे दिन के लिए भी जानीवाकर का साया उठ जाना तो आपके लिये मौत का सामना है।

और, यही एकरस का आधिपत्य भोजन पर भी है। आपका सुबह का नाश्ता महज़ ओवलटीन और कच्चे टमाटर का जूस या दो-चार संतरे का रस है। बस। आप विटैमिन के भयङ्कर पक्षपाती हैं। जिन चीज़ों में विटेमिन की कमी है, वे लाख मज़ेदार क्यों न हों, आपकी निगाह में कौड़ी के तीन हैं।

लञ्च के लिए भी आपका अपना ख़ास 'मेनू' बंधा है, होटल के 'मेनू' से अलग—मेयोनेज़ और मैकेरोनी, सलाद के पत्ते, चुक़न्दर और मूली, पनीर और ख़मीरी रोटी।

यों तो, होटल के बावर्चीख़ाने में अमीरों की फ़रमाइश पर बटेरों की बिरियानी, तीतर के दमपोख़्त; मुर्ग़ के शबदेग़—सब कुछ पकाये जाते; मगर आप इन नेमतों से महरूम ही रहते। मटन तो आप कभी छूते तक नहीं। बहुत हुआ, तो एकाध भूनी हुई कलेजियाँ खा लीं। चिकेन से भी कोई ख़ास दिलचस्पी नहीं।

अलबत्ता मछली पर आप ज़रूर मरते। वह भी बाज़ारू मछली नहीं। आपने होटल के ख़र्च के लिए समुद्री मछली का निरन्तर आयोजन कर रखा था। बम्बई से बर्फ़ की पटरियों में लिपटे हुए पारसल आते—सामन और वेकटी, सोल और पामफ़्री!

रात का खाना तो महज़ बराय-नाम; मानों फूल सूँघ कर रह जाते हों। सेलेरी सूप और मछली का एक काश, और काफ़ी। मीठी चीज़ों से आपको सख्त परहेज़; क्योंकि 'पेशाब में चीनी' का भूत आपके सर पर सवार रहता और इसकी बराबर जाँच-पड़ताल जारी रहती। यही बात थी कि चावल और चीनी से आपकी चुनाचुनी बराबर चलती रहती।

आप खाने में लाख कमज़ोर हों, पीने में तो बेहद शहज़ोर हैं। आपकी औंधी नाँद-सी तोंद आठों पहर तरल रस से लबालब रहती; अन्न ठहरे तो कहाँ ठहरे—पानी में पके तो कैसे पके! इसीलिए शायद

जबतक विलायती बरमूत के छींटे नहीं पड़ते, तबतक न आँच उठती, न दाने तहलील होते।

आप ख़ुद कुछ न खाते हों; पर दूसरों को—आजिज़ी से हो या ज़िद से—खिलाने-पिलाने में आप ज़ालिम थे। एक तो होटल के मैनेजर, दूसरे चकल्लस-पसन्द तबीयत। जब मौक़ा मिलता, दो-एक चीज़ स्टोव पर अपने हाथों से पकाते और ख़ुद प्लेटों पर परसकर दोस्तों को खिलाते।

यों तो, बावर्चीगिरी की बारीकियों में आप अपना सानी नहीं रखते; पर ख़स्सी के मग़ज़ का कटलेट, अंडे का रम्बल-टम्बल और बत्तख़ का रोस्ट या मोसल्लम आप इस कमाल का पकाते कि जो एक दफ़ा भी इन्हें चख लेता, फिर वह बहिश्ती नेमतों का भी तलबगार न होता।

यह आपकी बुलन्द-इक़बाली है कि आपको शामलाल-जैसा मालदार कलाल पार्टनर मिल गया, और दोनों दोस्तों में आजतक दाँ-काटी रोटी चली आई।

शामलाल अपनी खाल में मस्त बेज़बान आदमी थे। काम से फ़ाज़िल किसी लाव-लपट या तू-तू-मैं-मैं से मीलों दूर रहते। न कभी किसी से मिलते, न कोई कभी उनसे मिल पाता। मशहूर था कि बड़े कट्टर हैं। पर, आख़िर कहाँ तक पत्थर हैं या मक्खन, यह महसूस करने को उनसे किसी का कभी साबिक़ा नहीं पड़ा।

सुबह से आधी रात तक वे अपनी कोठरी में अलग एक-एक पैसे की आमद और ख़र्च के हिसाब-किताब में डूबे रहते। चारों ओर के

कमरों से हवा पर नाचती आती हुई विभिन्न ध्वनियाँ, शैम्पेन-बोतलों के काग उड़ने के पटाख़े, काँटे-छुरी और प्लेटों की मीठी झनकार तथा विलायती बारुणी के विलास में चूर जेंटिलमैनों और लेडियों के दिलफेंक क़हक़हे एक मिनट के लिए भी उनके मानस-तल पर कोई तरंग नहीं उठा सकते थे।

दोनों शरीकदारों में आपस के समझौते की भित्ति मज़बूत है। मिस्टर अहमद के ज़िम्मे हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ी डिशों की देख-रेख, विलायती बोतलों की खपत की तरक़्क़ी, होटल में ठहरे हुए धनी-मानियों की दिलजोई, नई-नई फ़ैंसी चुहलें, नई-नई दिलचस्प पार्टियों की तैयारियाँ हैं। शामलाल के हाथ में ख़ज़ाना, तोशख़ाना, अटलख़ाना—यानी तमाम माल गोदाम की देखरेख।

शामलाल दिन-रात कोठरी में बन्द रहते। वहाँ मुलाज़िमों के सिवा किसी दूसरे का गुज़र नहीं। होटल के रहनेवाले तो महज़ उनके नाम से वाक़िफ़ थे; कभी उनकी शक्ल देखने की भी नौबत नहीं आती। पर उनकी परदानशीनी और बेमुरौवती की शुहरत होटल की दुनिया के बाहर तक फैली हुई थी। लोग मुँह बनाते—पैसे का पिस्सू है, चंट है, कभी एक धेला भी किसी को माफ़ नहीं करता; मिस्टर अहमद की सिफ़ारिशों की भी परवा नहीं रखता। पर, किसी के फ़िरिश्ते को भी ख़बर न थी कि वे किस दरजे के लहू-चूस हैं; सींगवाले जानवर हैं या दाँतवाले।

अगर कभी कोई ज़ातशरीफ़ होटल के बिल की निस्बत किसी तरह

की रियायत या मुहलत के लिए ख़ास्तगार होता या कोई उज्र पेश करता, तो मिस्टर अहमद माथा खुजलाकर ख़सख़सी दाढ़ी सहलाते और आँखों को मुलायम करते हुए धीमी आवाज़ में कहते –"मैं तो हर तरह से तैयार हूँ साहेब, मगर क्या करूँ, वह ज़ालिम बुतेकाफ़िर तो नहीं सुनता। आप जानते हैं न, जिसकी पूँजी होती है उसी के हाथ में कुंजी होती है। मुझे तो महज़ इन्तज़ाम से सरोकार है। ख़ैर, मैं कोशिश करके देखूँगा।"

दूसरे दिन जब वे अपनी अरज़ी लिये हाज़िर हुए, तब मिस्टर अहमद ने मुँह बनाकर और सर्द आह खींचकर साफ़ जवाब दे दिया – "क्या कहूँ, क़िबला! वह पुट्ठे पर हाथ नहीं रखने देता! मुझे भी खरी-खोटी सुना दी। दो-चार दिन तो मैं रो-गाकर आपको चला ले जा सकता हूँ; मगर इससे ज़्यादा के लिए मेरे वालिद मरहूम भी क़ब्र से उठकर तलबगार हों, तो साफ़ इनकार है। छोड़ने-छाड़ने का तो सवाल ही नहीं है। ख़ैरियत है, आपको शामलाल से रू-ब-रू साबिक़ा नहीं; वरना आप ख़ुद समझ जाते –वह आदमी नहीं, जानवर है। अल्लाह मियाँ भी होटल के रूल के ख़िलाफ़ उसको तिल-भर नहीं हिला सकते!"

कभी कोई फ़िरिश्तासूरत किसी चैरिटी के लिए चन्दा उगाहने आता, या किसी सवाब के काम के लिए आजिज़ी से अपील पेश करता, तो मिस्टर अहमद ज़बानी हमदर्दी और ज़बानी फ़ैयाज़ी का ताँता बाँध देते; पर चन्दे में हाथ बँटाने से मुकर जाते। क्या करें, बिचारे बग़ैर

सीनियर पार्टनर की रज़ामन्दी के दे ही क्या सकते? कैश-बक्स की कुंजी तो पार्टनर के पॉकेट में है; और उस जल्लाद को न मोह है, न माया।

मिस्टर अहमद विपत्नीक थे। दो जवान बेटे थे; दोनों कालिज में थे। जबतक मिसेज़ अहमद जीवित थीं, तबतक उनके पति का शुमार बस बिचारों में था। वे परदानशीं तो ज़रूर थीं; पर मियाँ की बोतलबाज़ी का चसका उनसे परदा नहीं था।

मिस्टर अहमद बिचारे लाख सिगार की तीव्र गन्ध से अपनी ह्विस्की-सुरभित निःश्वास को विलीन करने की कोशिश करते; मगर कहीं किसी दिन अगर चोरी फाश हो जाती, तो फिर घर में वह भीषण हड़ताल का बादल उमड़ता कि आपके तमाम सूट-बूट की जेंटिलमैनी की अकड़ ख़ाक में मिल जाती। आप सैकड़ों दफ़े कान थाम कर तौबा करते और बन्द कमरे में बीवी के पैरों पर गिरकर अपनी गंजी चाँद पर रहम रखने के लिए मिन्नतें करते; मगर जहाँ जल्लाद-बासेह के शिकंजे से नजात मिलती कि दामन झाड़कर अकड़ते हुए होटल में सरपट दौड़ आते और अपनी मानसिक उत्तेजना को शान्त करने के लिए बाध्य हो जानीवाकर के हिम-शीतल हम्माम की शरण लेते।

जब बीवी बिचारी क़ज़ा कर गई, तब महज़ एक रोज़े-हश्र का डर बाक़ी रहा। आप सोचते—देखा जायगा, अभी क़यामत तो सदियों दूर है, और यहाँ नज़रों के सामने बर्फ़ में भिगोया आग का पानी सुराही में मामूर है।

सुबह ही आठ बजे से आपकी ह्विस्की की चुस्की धीरे-धीरे शुरू होती और इंशा की नमाज़ तक मोतवातिर चली जाती। जब आधी रात के लगभग आँखों के गुलाबी डोरे गुलेनार हो जाते और नींद के ग़लबों से एक बेख़ुदी-सी आती, तब आप मुँह से धुएँ का बादल उड़ाते हुए, और छलकता हुआ फेनिल टम्बलर हाथ में लिये, होटल के पहलू से मस्तानी चाल से अपने क्वार्टर की ओर चलते। उस वक़ किसी-न-किसी दिन उनका मज़ाक़-पसन्द ख़ानसामा 'जब्बार' चमचे से टेबुल पर ताल दे-देकर आँखें मटकाता हुआ ग़ज़ल की धुन छेड़ता—

"किस नाज़ से जाता है अहमद मियाँ दीवाना;
एक हाथ में चुरुट है, एक हाथ में पैमाना!"

जाम का दौर ख़त्म करके आप एक घूँट आबे-ज़मज़म ज़रूर पी लेते। फिर, ख़ालतेदार पाजामे और पंजाबी कुरते में बिस्तर पर जाकर लिहाफ़ खींच लेते। सोने के कमरे की मेज़ पर एक आबे-ज़मज़म का कूजा हमेशा मौजूद रहता, चूँकि ह्विस्की के सेवन के अनन्तर यह शुद्धि-स्वरूप गंगाजल का आचमन आपकी आत्मा के इतमीनान के लिए अनिवार्य है।

रमज़ान के दिनों में आपकी परीशानी दुगनी हो जाती। इधर शरीअत की पाबन्दी, उधर तबीयत की। एक ओर ईमान की चपकलिश, दूसरी ओर सुराही की लाल परी की हविस। इधर पीरी की याद-ओक़बा, उधर दिल का तक़ाज़ा। इस कशमकश में कभी जान के लाले पड़ते, कभी जान होठों पर होती। नतीजा यह होता कि दोनों में एक का अजाम

भी मुनासिब न होता। 'आधा तीतर, आधा बटेर' वाला मज़मून था।

किसी दिन, दिन में रोज़ा रखते, तो आफ़्तार के बाद रात को तह-ज्जुद की नमाज़ तक पैमाने का दौर चलता। और, अगर कहीं सुबह से ही जानीवाकर का क़ब्ज़ा हो जाता, तो शाम को तौबा करके घंटों मसजिद में बैठ शबीने की तरावी पढ़ते।

आप सूफ़ियों के एक मशहूर ख़ानक़ाह के मुरीद भी थे और जवानी में शबे-मेराज की मजलिस में हालकाल का मज़ा भी उठा चुके थे।

कुछ दिनों तक मजज़ूब बनने की ख़ब्त सवार रही, और आपने चिल्ला की मुसीबतों को भी सर करना चाहा, पर जानीवाकर की हवस आपको दुनिया के दायरे में खींच लाई। अब ईमान और जान दोनों को निभाना मुश्किल का सामना है। और, खासकर रमज़ान में जानीवाकर पर जाँनिसार जान का जंजाल हो जाती।

आज भी जब कभी आपका बचपन का दिली दोस्त 'हमीद' आपकी बलानोशी पर कुछ जली-कटी सुना देता है और ज़बरदस्ती ह्विस्की का गिलास मेज़ से सरका लेता है, तब आप इस ज़ुल्म को कलेजा थामकर सह लेते हैं और बरमा-चुरुट के दिलकश कशों में दिल की बेक़रार को तस्कीन देने की कोशिश करते हैं।

आप सिगार का कश खींचकर शायरी की धुन में आते हैं और ख़सख़सी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए बड़े तपाक से फ़रमाते हैं—

"मय दे या न दे बादए अतहर तो नहीं है,
कुछ पीरे मुग़ाँ साक़िये कौसर तो नहीं है;

ख़ाली हो तो अज़ ख़ुद अरक़े शर्म से भर जाय,
मिन्नत कशे साक़ी मेरा साग़र तो नहीं है !"

"म्याँ ! शायरी रखो। आजतक शराब का मारा कोई लौटा नहीं। किस फेर में पड़े हो !"

"अम्याँ ! सच पूछो तो, शराब कोई बुरी शय नहीं। शराब-ख्वारी बुरी नहीं; नशेबाज़ी बुरी है। कौसर का जाम भी कमीनों की सुहबत में बदनाम हो सकता है।"

"लिल्लाह ! रमज़ान तक तो बाज़ आओ ! पाँचों वक्त की नमाज़ की पूँजी भी हश्र के दिन बेकार हो जायगी। यह शराब का तरारा तमाम सवाब को बहाकर तबाह कर देगा।"

मिस्टर अहमद तिनक कर उठ खड़े होते हैं और शीशे की आग को सोडे के पानी में लगाते हुए हँसकर फ़रमाते हैं—"भाईजान ! शराब से बढ़कर यह होटल का अज़ाब है। पैसे के लिए इन्सान को ईमान भी ताक़ पर रखना पड़ता है। मगर, ख़ैर·····मुझे उसके करम का नाज़ है, वरना मैं ख़ुद पीता और पिलाने का रोज़गार करता ? तुम बेफ़िक्र रहो; मुझे हश्र की परवा नहीं

"कह दूँगा रोज़े हश्र में दावर के सामने,
हाँ-हाँ, गुनाह की, तेरी रहमत के ज़ोर पर !"

तृतीय परिच्छेद

सुबह के आठ बजे होंगे। होटल की लॉन पर धूप की चादर तन चुकी है। कैना के फूल किरणों के चुम्बन पर सूरजमुखी हो रहे हैं। गुलाब के फूल तालाब के कमल-से खिले हैं। हल्की हवा फूलों के परिमल को लूटकर होटल के कोने-कोने में बिखेर रही है।

बरसाती में मोटरों की पों-पों है, कमरों में बेटरों की हलचल। नवाब साहब अभी ख़्वाब से बेदार हुए हैं। आँखों में ख़ुमारी भरी है। मुँह में जँभाई, अंग में अँगड़ाई। बिस्तर से उठकर आराम-कुर्सी पर लेटे कुछ ऊँघते-से हैं। गोद में प्यार का पिल्ला 'टामी' आँखें बन्द किये निश्चेष्ट पड़ा है। सामने टूल पर चीन की

सिलफ़ची रखी है। नौकर मुँह धुलाने का गंगाजमनी आफ़ताबा लिये बगल में खड़ा है।

बड़ा-सा कुशादा कमरा। अँगरेज़ी क़िते की सजावट। कारपेट और परदे, कुर्सी और सोफ़े—सब कुछ क़रीने से सजे हैं। अधखुली खिड़कियों से सफ़ेद परदों की ज़मीन पर किरणों का हिरण्य-अंचल झिलमिला रहा है। एक ओर तार के पिंजड़े में एक कनारी-मिथुन अपनी चुहलों और चहचह से कमरे में प्रभात का प्रतिहारी बनकर नवीन जागरण की जुहार सुना रहा है।

सामने कुर्सी पर बैठे दरबार के ख़ानदानी हकीम साहब अपने शीर्ण चिबुक की जीर्ण दाढ़ी पर उँगलियाँ फेर रहे हैं। दाढ़ी के बाल देखने में लाल तो ज़रूर हैं; पर जड़ों में सफ़ेदी की रेखा भी स्पष्ट है। ज़ुल्फ़ों पर भी यही गंगाजमनी नक़शा है। सुर्ख़ सुर्ख़ी की क्यारियों की कोर पर चूने की सफ़ेदी का गोट जो समा बाँधता है, कुछ वही मंज़र आपके चेहरे के बालों की लाली और सफ़ेदी की खिचड़ी दिखा रही है। कश्मीरी बेल टँकी हुई जामदानी का अचकन और सर पर कमरखी—चौगोशिया टोपी। कंधे पर शाल-रूमाल और उसके साये के तले एक हाथ में तसबीह। कानों में मोतिया के फाहे, आँखों में मअीरे का सुरमा, उँगलियों में याक़ूत और ज़मुर्रद की अँगूठियाँ—किसी एक रंगीन अतीत की निशानियाँ—आज भी मौजूद हैं।

नवाब साहब ने करवट ली, और उठ बैठे। हकीम साहब चौकन्ना हो गये और नब्ज़ पर हाथ रखते हुए बोले—"क्यों? आज हुज़ूर के

दुश्मनों की तबीयत कुछ नासाज़-सी·····"

"नहीं, कोई ख़ास तकलीफ़ नहीं। यों तो, जोफ़मेदे की शिकायत···"

"जी हाँ, रेयाह का ग़लबा ज़रूर है।"—हकीम साहब बायीं नब्ज़ पर हाथ ले जाते हुए बोले।

"तो फिर ?"

"कोई अंदेशा नहीं, हुज़ूर ! जवारिश कमूनी और शरबत-शिकंजबीन मैं अभी भिजवाये देता हूँ।"

इतने में मिस्टर अहमद दबे पाँव कमरे में दाख़िल हुए। अदब से झुककर बन्दगी अर्ज़ की। बाक़ायदा दाहिनी जानिब खड़े रहे।

नवाब साहब के रू-ब-रू, ख़ास करके जब आप अपने कमरे में गम्भीर बैठे हों, निशस्त और बरख़ास्त की तमीज़ ज़रूरी है—गुफ़्तगू में शीन और क़ाफ़ का दुरुस्त रखना भी अनिवार्य।

"खाने में कोई परहेज़ भी ज़रूरी होगा ?"—नवाब साहब ने आहिस्ते-से दरियाफ़्त किया।

"जी हाँ। आज चुलाव और चूज़े का शोरबा रहे। और, शोरबे में शलजम और कद्दू के काश हों।"

"मैं तो समझता हूँ, हकीम साहब, कि चुलाव-शोरबे की जगह पर पिशपैश, रोली-पोली, बगेरी की बिरियानी या फ़ाउल का स्टू हो, तो कहीं हल्का होगा।"—मिस्टर अहमद ने अपनी राय पेश की।

"वल्लाह ! कोई मुज़ायक़ा नहीं !"—हकीम साहब ने आवाज़ बुलन्द की।

"और टमाटर की चटनी ?"—नवाब साहब ने फिर दरियाफ़्त किया।

"जी हाँ, यह तो क़लब व जिगर दोनों के लिए मुफ़ीद है।"

"और कोई मीठी चीज़ ? प्याज़ की फ़िर्नी या अंडे की ज़रदी का हलवा वग़ैरह ?"

"हुज़ूर, ये दोनों तो ज़रा हाज़मे के लिए सख़्त होंगे !"—हकीम साहब ने माथा खुजलाते हुए धीमी आवाज़ में कहा।

मियाँ अहमद फिर कूदे—"हुज़ूर, गुस्ताख़ी माफ़। मैं तो समझता हूँ कि होटल की स्ट्रावेरी और क्रीम एक ही होगा !"

"मगर, हकीम साहब, दिल व दिमाग़ की तरावट के लिए भी तो कुछ ज़रूरी है। पैमाने का दौर न हो, तो कहीं कौर उठेगा !"—नवाब साहब ने हँसकर कहा।

हकीम साहब चुप हो गये। दाढ़ी सहलाई। फिर ज़रा सँभल कर बोले—"हुज़ूर ! नज़ले की शिकायत तो अब जाती रही ?"

"आजकल तो अल्लाह का शुक्र है, वरना ज़ुकाम तो मेरा बारह-मासी है !"—नवाब साहब ने रूमाल से नाक बजाकर कहा।

"अगर तबीयत बरज़िद हो, तो एक-आध घूँट मवल्लहम और बेदमिश्क या....."

"आपकी भी क्या बातें हैं, हकीम साहब ! यहाँ शैम्पेन का जाम न होता तो ख़ैर"—मिस्टर अहमद ने बात तराशकर छेड़ा।

भला, होटल के दायरे में विलायती बोतलों के मुक़ाबले नेटिव मवल्लहम की बराबरी की कुर्सी आपको क्योंकर क़बूल होती ! आख़िर

अंगूरी शैम्पेन की खपत नवाबों के शिकम में न होगी, तो कहाँ होगी! पसीने की कमाई पर पीनेवालों की हिम्मत की दौड़ तो एक-शॉ और जानीवाकर तक ही है।

"मैं तो, साहब, विलायती बोतलों का क़ायल नहीं!"—हकीम साहब ने झल्लाकर कहा, और '.खुदा हाफ़िज़' कहते हुए रुख़सत हुए।

"क्यों मैनेजर साहब! आज सुबह का अख़बार....."

"जी हाँ, अभी लाया"—कहते हुए मिस्टर अहमद कमरे के बाहर तीर की तरह निकल गये।

नवाब साहब ने एक सिगरेट जलाई। फिर एक चुल्लू गुनगुने पानी से हाथ-मुँह धो लिया।

आपकी उम्र लगभग पैंतीस की होगी। गुलाब-सा खुलता रंग। बड़ी-बड़ी चमकीली आँखें। नाक पर ऐनक। कड़ी-कड़ी मूँछें। ताड़ की तरह लम्बे, बेंत की तरह लपलप। जब कभी आप टेनिस खेलते या छुठे-छमासे लॉन पर तेज़ टहलते, तो यों ही बेवजह कभी दाहिने लच जाते, कभी बायें। अगर नेचर चौड़ी और कड़ी हड्डियों की कमानी देकर आपके ढांचे को थाम कर न रखती, तो बहुत अंदेशा था कि यह आपकी डगमगी हरकत बे-मौक़े मुँह के बल ले जाती।

आप बराबर इमारत को गोद में पले। बचपन में आप लौंड़ियों और बाँदियों के लोचन-पल्लवों के पलने पर झूला किये। पलकों से जब ज़मीन झाड़ी गई, तब आपने कहीं क़दम रखा। नहीं तो नवाबों के क़दम जमीन से दो बालिश्त ऊँचे ही रहते हैं। गोद से परेम्बुलेटर और

परेम्बुलेटर से मोटर। यही वजह है कि आपका शरीर ही सुकुमार न रहा, मिज़ाज भी नाज़ुक हो गया।

स्नेह का अतिशय सिञ्चन बच्चे को नर्सरी के पौदे की तरह बना देता है—तुनक-बदन और तुनक-मिज़ाज; जो अनुकूल वायुमंडल में तो फूलदान की शोभा है, नहीं तो, एक हल्की भी सर्द हवा दो थपेड़े मार उसे ज़र्द कर डालती है।

पाजामे में ज़ारबन्द देने से लेकर गोरे गुलगुले गालों पर सेफ्टी रेज़र का इस्तेमाल तक भी बग़ैर नौकरों की मदद के आपके लिए दुश्वार था। यहाँ तक कि दाँत साफ़ करने के ब्रश पर कॉलगेट-क्रीम का प्रयोग भी नौकर ही के ज़रिये सम्पादित होता।

आपकी नज़ले की शिकायत सनातनी है। बनफ़शे का जोशांदा आप चाय की तरह दोनों वक़्त पीते। अगर रोज़मर्रे की मोटर की हवाख़ोरी के वक़्त बटलर ने रूमाल को युकैलिप्टस से तर करके कोट की जेब में न रखा, तो आपके हाथ की लपलपाती छड़ी बिचारे ख़ानसामे के सर पर टूटने से बाज़ न आती।

लू चले या शोला बरसे, आप जब नहाते, गुनगुने पानी से नहाते। आबेरवाँ और तंजेब का इस्तेमाल हो या न हो, ऊनी गंजी का इस्तेमाल आपके लिए ज़रूरी है। सर्दी के मौसम में तो ग़ुस्ल का दिन ईद का दिन है।

पर, इससे यह न समझिये कि जाड़े के दिनों में आप फ़िटफ़ाट या साफ़-सुथरे नज़र नहीं आते। गर्दन के नीचे पशमीने और ऊनी लबादों

के भीतर शरीर की रंगत मैली है या उजली, यह तो पता चलना नामुमकिन है; पर गर्दन के ऊपर आपकी घुटी दाढ़ी, पोमेड लगी मूँछें, क्रीम और पाउडर की पॉलिश तथा सैलून-शैम्पू से मसृण केशों की परिपाटी आपके चेहरे के सहज लावण्य को लाखों में एक बनाकर रखती।

सर्दियों में कमरे के भीतर अँगीठियाँ दिन-रात रौशन रहतीं। आपके शरीर पर कॉटन गंजी के ऊपर जेसन की ऊनी जर्सी, जर्सी पर रुई की बंडी, बंडी पर फ़लालैन की कमीज़, कमीज़ पर संगीन स्वेटर, स्वेटर पर पशमीने का मफ़लर, मफ़लर पर दबीज़ ट्वीड का कोट और कोट पर मोटा अलस्टर—आठों पहर ज़िरहबख़्तर बनकर शिशिर के पाले के हमलों से आपको पनाह देते।

आपको नज़ले की शिकायत तो थी ही; साथ-साथ ऊँची इमारत में पनपनेवाली डिसपेप्सिया भी अब्रे-बहार की आपकी सावनी महफ़िल का मज़ा किरकिरा करने ज़रूर नमूदार होती। वसन्त के तदाकुल-ऐयाम में हकीम साहब के जुलाब के फ़रमाइशी नुस्ख़े, हेमन्त में नज़ले के हमले और बरसात में जोफ़मेदे के मचले, नवाब साहब की नवाबी ज़िन्दगी में, चैन की बंशी—चन्द दिनों के लिए भी—निःशङ्क नहीं बजने देते। जहाँ जोफ़मेदे का गुज़र हुआ, वहाँ फिर दामन थामे जिरियान भी आ टपका। एक न शुद, दो शुद!

जो हो, आपमें एक बड़ी ख़ूबी यह थी कि किसी अलालत से आप तबीयत हार नहीं जाते। एक हद तक परीशानी ज़रूर होती; पर आपके नैश विलास का सिलसिला कभी स्थगित नहीं होता।

खाने के मद में आप ख़ास परहेज़ जो करते, पर पीने के मद में जाम का दौर कभी रुकता नहीं, न शतरंज और ब्रिज की महफ़िल आधी रात के पहले बरख़ास्त होती।

यह न था कि आप इलाज से मुँह मोड़ते। जबतक जागते रहते, मुरक्कब और मुजर्रब दवाओं के नुस्ख़े बराबर चलते रहते। कड़ी-से-कड़ी दवा भी ख़ुशी से निगल जाते; कभी जवारिश, कभी माजून, कभी अर्क़, कभी शरबत, कभी लुबूब।

इधर बावर्चीख़ाने में मोचरंब बत्तख़ और मुर्ग़ा हलाल होते, उधर समाक़ के खरल में मोती और मूँगे हल होते; इधर तसलों में चूज़े की अख़नी खींची जाती, उधर देग़-भबके के ज़रिये विविध दवाओं के शामिल मुश्क और अम्बर की रूह उतारी जाती। दोनों साथ-साथ चलते—शीरमाल मोज़फ़्फ़र और माजून मोफ़र्रह; पिस्ते की नानख़ताई और बालाई—साथ-साथ ख़मीरे-गावज़ुबाने-अम्बरी की तैयारी। अल्लाह-ताला आपकी उम्र को दराज़ करे और आपके मुबारक मज़्ज़ों के हुजूम को सलामत रखे; वरना आजकल इस बेकारी के ज़माने में हमारे पीर-मुर्शिद हकीम साहब के दर्ज़नों बच्चों को दाल-रोटी और सफ़ेदपोशी क्योंकर मुमकिन होती! आपके हाथ का रूहेशबाब मोकव्वियात का मुकुट-मणि था। और, खाने में इतना आसान कि नवाब साहब इसे पान के बीड़े में क़माम बनाकर दिन में दस बार खा जाते। बस, इधर मोकव्वी और मोब्बही नुस्ख़ों का दिलफ़रेब सिलसिला चलता, उधर महल की ख़िलवत में हिन्दुस्तानी और विलायती अँगियों की तनी

टूटती ; बारीक किरेप की धज्जियाँ उड़तीं और दिगम्बरी विसाल की विलासलीला कीमिये और कुश्ते से ज़ोर आज़माती।

आप न बिलकुल नये वज़े के असीर थे, न पुरानी लकीर के फ़क़ीर। ज़माने की हवा का रंग देखकर चलते। फ़र्शी दस्तर-ख़ान पर बैठकर दिलपसन्द चावल और रोटी, ख़ुश्का और फूलगोबी उँगलियों से मिला-मुलू कर शौक़ से खा जाते; और फिर ख़ुशी-ख़ुशी होटलों में कुरसी पर बैठ सॉस में भिगोई तीतर की टाँग से—काँटे-छुरी के सहारे—गोश्त का एक-एक रेशा इतमीनान से साफ़ कर लेते। अचकन-पाजामे में भी आप सजते; डिनर-जैकेट में भी खुलते। कभी कोरोना-सिगार की ख़ुशबू ; कभी दिल्ली की मुश्की तम्बाकू। आपको न शैम्पेन से इनकार, न मवल्लहम से कोई ख़ास प्यार। कभी आप घुँघरू की रसीली झनकार के मुजरे पर मायल होते, कभी होटलों के प्यानो-मुखरित कैबरे पर बिस्मिल। कभी गाव-तकिया के सहारे गलीचों पर गंजीफ़े और चौसर की महफ़िल चलती; कभी पार्टियों और क्लबों में ब्रिज और पेग की दिल्ल-गियाँ रहतीं। आपकी मायल चितवन में साँवले-सलोने आनन के लोचनों की कृष्ण तारिका अमृत की शलाका थी, और साथ-साथ विदेशी हिमांगी की आँखों की पुतलियों की नीलिमा आनन्द की चन्द्रिका भी।

यह न था कि आप सुबह से आधी रात तक ऐशो-इशरत ही में ग़र्क़ रहते। रियासत के काम पर भी आपकी पूरी चौकसी रहती। साथ-साथ पॉलिटिक्स से भी काफी दिलचस्पी। मैनेजर और कारपरदाज़ थर मारते। आमद और ख़र्च का रोकड़ ख़ुद जाँचते। रियायों से

भी आप मिलते—उनकी तकलीफ़ें भी सुन लेते। इसीलिए अमूमन आपका दिन का प्रोग्राम रियासत का काम है। यह बात और है कि आप ज़्यादातर घर से बाहर रहते—शहरों की सैर करते फिरते। मिस्टर अहमद से आपकी गहरी छनती और इस होटल पर आपकी ख़ास नज़र रही। लिहाज़ा, यहीं से आप, मीरमुंशी के ज़रिये, इलाक़े पर फ़रमानों की झड़ी बाँधते।

आपका उसूल है—दिन को सरकन्दनी, रात को दिलबस्तगी। जहाँ शाम होते बिजली की बत्ती जलती कि मिस्टर अहमद के क्वार्टर में आपकी इन्दर-सभा की महफ़िल जम जाती—लालपरी और सब्ज़परी की जादूनज़री की कटारी आपकी नस-नस में पैवस्त रूहे-शबाब को ललकारने लगती।

आपको कुत्तों का ख़ास शौक़ है। जहाँ जाते, कुत्तों का एक क़ाफ़ला साथ चलता। यही बात है कि शहर में भी 'कुत्तेवाले नवाब' के ख़िताब से मशहूर हैं। आप ख़ुद ख़ानदानी हैं। लिहाज़ा, आपके साथ के कुत्ते भी ख़ानदानी नस्ल के हैं। ग्रेट डेन, ग्रे हाउंड; स्पैनियल, अलसेशियन, पेकिनीज़, टेरीअर—जाने कितने। कोई देखने में शेर की तरह ख़ूँख़्वार, कोई भेड़िये की तरह। कोई पतला-दुबला पलीवा; कोई लम्बे मुलायम बालों से ढका झबरा। कोई घरेला; कोई बनैला। कोई ताज़ी; कोई शिकारी। उनकी गर्दन में गंगाजमनी चमौटियाँ पड़ी रहतीं, पीठ पर मख़मली वर्दियाँ। वे खाते बे-नमक के उबाले हुए मटन की रान और डॉग-बिस्कुट। दूध का इन्तज़ाम अलग। सफ़ाई

के लिये सोप और वशाबरदार आठों पहर तैयार रहते। उनकी सेहत निगरानी के लिए एक ख़ास डाक्टर भी हैं।

आप ख़ुद गरमियों में बर्फ़ानी चोटियों की सैर करें या न करें, मगर आपके नाज़ुक-मिज़ाज कुत्तों की एक टोली लावलश्कर के साथ मंसूरी की सैर के लिए हर साल रवाना होती। जब कभी उनको ज़ुकाम, बुख़ार या जोफ़मेदे की शिकायत होती, तब डाक्टर साहब का इंजेक्शन और पिल का पिल आपके माजून और अर्क़ के नुस्खों से बाज़ी ले जाता। उनकी सेवा-शुश्रूषा किसी नाज़ुक-बदन नवाबज़ादी की नाज़-बरदारी से भी कहीं बढ़ी-चढ़ी थी।

आपके हुज़ूर में मुलाज़िमों का कौन ज़िक्र, बीवी-बच्चों का गुज़र भी बग़ैर इत्तिला के मुमकिन न था। मगर इन पालतू चौपायों का आपके ख़ास कमरे में भी हर वक़्त—हर हालत में—अनावृत द्वार है। आपका पेकिनीज़ टामी बेखटके आपके बिस्तर पर जाकर कमर सीधी करता; आपकी गद्दी पर, गोद पर या कुर्सी पर इतमीनान से बैठता। हवाख़ोरी के वक़्त मोटर पर बग़लगीर होकर सैर करता; आपकी गर्दन, हाथ और ठुड्डी को बेखटके चाटता। खाते वक़्त आपके प्लेट में भी कभी मुँह लगा देता हो, तो कोई तअज्जुब नहीं!

जो हो, ये बेज़बान जानवर जान पर खेल जाते और वफ़ादारी की इन्सानियत में आदमी के कान तराश लेते। शिकार में दोनों बाज़ू मोटर के साथ सरपट दौड़ते, रात में पलंग का पहरा देते और ललकार देने पर शेर के मुँह पर भी टूट पड़ने को तैयार रहते। यही

वजह है कि आप इन्हें सिर और आँखों पर बिठाकर रखते, और रियासत के सालाना बजट में इस केनेल के महकमे की एक काफ़ी मोटी रक़म मंज़ूर होती।

यह कोई बनी-बनाई बात नहीं कि जिस नाज़ से ये दुमदार चौपाये पलते, वह इमारत का टीमटाम हरम के बच्चों को भी शायद ही नसीब होगा। और, कुबेर की ढेरी का जो हिस्सा इन पर निछावर है, उससे सैकड़ों रियायों के घर में दूसरे वक़्त का भी चूल्हा कभी ठण्डा न होता। पर, शायद भारत के कंगाल किसानों को किसी नवाब के कुत्तों की भी क़िस्मत नहीं मिली है!

आपने अधजली सिगरेट को राखदान पर उलटकर रख दिया और टामी के मुलायम बालों को उँगलियों से सहलाना शुरू किया। उसी वक़्त ईदू मियाँ सुबह की हवाख़ोरी से वापस लौटे कुत्तों का क़ाफ़ला लिये कमरे में दाख़िल हुआ। कमरे में चहल-पहल हो गई। आप उठ बैठे। थोड़ी देर तक कुत्तों से लपट-झपट रही, उछल-कूद चली। फिर आपने जमादार को उन्हें बाहर ले जाने का इशारा किया, और मिस्टर अहमद की ओर मुड़े। मेज़ पर रखे अख़बार का बन्द तोड़ा और उलट-पलटकर एक सरसरी निगाह डालनी शुरू की।

चन्द मिन्टों के बाद आपने एक हल्की जमुहाई ली, और ज़रा नाक सिकोड़कर गोल्डकेस से दूसरी सिगरेट निकाली। मिस्टर अहमद ने दियासलाई जलाई और लपककर पेश की।

"कोई है!"—नवाब साहब ने आवाज़ दी।

"जी, जहाँपनाह !"

दो नौकर वर्दी-पेटी में दुरुस्त एक साथ हाज़िर हुए।

"मैनेजर साहब के लिए सिगार लाओ।"

सिगार का बक्स आया। बक्स क्या है, सिगारों का नुमाइशगाह। हैवेना और कोरोना से लेकर मद्रासी और बरमा-सिगार तक मौजूद हैं। मिस्टर अहमद ने अपना मुँहलगा चुन लिया।

"क्यों मैनेजर साहब! क्या रंग है?"—नवाब साहब ने ज़रा आँखों में मुस्कुराकर कहा।

दोनों मुलाज़िम रुख़ देखकर उलटे पाँव बाहर निकल गये।

"क्या हुज़ूर?"—मिस्टर अहमद ने सिगार जलाते हुए बड़ी नरमी से पूछा।

"वाह! कल आपने किस हिम्मत से बीड़ा उठाया और आज लम्बी से घास....."

मिस्टर अहमद फ़ौरन सचेत हो गये और दस्तबस्ता बोल उठे—"नहीं हुज़ूर! यह भी कोई बात है? काम न हो, तो जो चोर की सज़ा, वह मेरी भी। कल ही मैंने सलीम को आड़े हाथों लिया। वह कल तक डिप्टी-कलक्टरी या तहसीलदारी का सब्ज़ बाग़ देख रहा था। मैंने आँखें खोल दीं। अब हज़रत समझ गये कि सरकारी नौकरी उनके लिए गुलेबकावली से कम नहीं!"

"आख़िर यहाँ उनकी रोटी-दाल कैसे चल रही है? होटल का किराया तो....."

"अर्ज़ करता हूँ न, सलीम मियाँ का तो दिवाला पिट चला है। जो एक-आध चीज़ थी भी, वह सब जब्बार के ज़रिये सर्राफ़ की दूकान में जा पड़ी है। आज-कल तो उसकी सिट्टी-पिट्टी गुम है, हुज़ूर!"

"और पेटीकोट-महकमे की कैफ़ियत?"

"जी हाँ, उधर भी दम घुट रहा होगा! मगर, हुज़ूर! वह बड़ी दिमाग़वाली औरत है! यह कभी मुमकिन नहीं कि वह मियाँ के लिए लहू का घूँट पीए और चक्की पीसे। वह महफ़िल की परी है—महमिल की पर्दानशीं नहीं। जबतक फ़ैशन का फ़ानूस या परवानों का जुलूस न हो, तबतक वह हरगिज़ किसी बज़्म पर रौशन नहीं रह सकती। मैं तो समझता हूँ कि मुफ़लिसी की चिमनी के तले वह शमा कभी रंग नहीं ला सकती—सलीम मियाँ उसके दिल के पहलू में लाख उल्फ़त का तेल क्यों न ढालें!"

"तो आख़िर मेरी रसाई उस परी-पैकर के दिल तक क्योंकर नसीब होगी?"

"हुज़ूर! ऐसी औरतों के दिल की कुंजी तो मर्दों की जेब में रहती है!"

"यानी···"—नवाब साहब ने ज़रा अकचका कर पूछा।

"यानी, हुज़ूर के कैश-बॉक्स में! उस परीज़ाद के लिए रोज़ एक नई लहालोट जार्जेट की साड़ी, मोती—पुलाव और फ़िरनी, मोटर की सवारी, पिकनिक और पार्टी, दो-चार नौ-जवानों की नज़रों की सलामी ज़रूरी नज़्रें हैं, वरना वह बहिश्त में भी क्यों न रहे, उसके दिल से

धुआँ उठता रहेगा। और, हुज़ूर ख़ुद समझ सकते हैं कि सलीम मियाँ के सात पुश्त से भी इनमें से एक का अंजाम मुमकिन नहीं।"

"ओहो! यह बात है!"—नवाब साहब ने सिगरेट का कश खींचते हुए हँसकर कहा—"देखता हूँ, आप हर फ़न के उस्ताद हैं!"

"हुज़ूर! मैंने कुछ धूप में बाल थोड़े ही पकाये हैं! आख़िर इसी यारबाशी में तो उम्र कटी! जब से वह होटल में आई, तभी से मैंने एक आँख उस पर बराबर रखी—हुज़ूर के ख़याल से; वरना मुझे क्या पड़ी थी? इस आब का मोती बाज़ार में मिलना दुश्वार है, हुज़ूर!"

"आख़िर, वह किस चमन की बुलबुल है और सलीम उसे कहाँ से उड़ा लाया?"

"हुज़ूर, इसका पता अभी नहीं चलता। वह ज़रूर किसी बड़े घर की लाड़ली होगी—हिन्दू या मुसलमान। और, इमारत में पली ज़रूर है। सलीम उसे उड़ा लाया या वह ख़ुद सलीम को उड़ा लाई—यह राज़ तो अभी खुलता नहीं। हाँ, सलीम उसे 'बिजली' कहकर पुकारता है, इतना तो मुझे ज़रूर मालूम है।"

"ख़ैर, जो हो; मियाँ सलीम को तो यहाँ से टरका देना ज़रूरी है।"

"हुज़ूर, तमाशा तो देखें। मैंने घाट चराना शुरू कर दिया है। बस, कल से डोरी डाल दूँगा। सलीम के तो अभी दूध के दाँत भी नहीं टूटे हैं। ख़ुदावन्द करीम ने उसको जैसी शक्ल अता की, वैसी अक़्ल नहीं दी। वह दिलेर जो हो, पर दबंग नहीं। चेहरे की चाँदनी या टेनिस की नामवरी कुछ और चीज़ है; ज़माने की चालाकी और चुस्ती

कुछ और। मुझे तो डर है, वह औरत ही कुछ दिनों में उसे ठुकरा देगी। आख़िर सलीम मियाँ के चेहरे को चाट कर तो वह ज़िन्दा नहीं रह सकती, और न घर की बहू बनकर चपातियाँ ही सेंक सकती है।"

"मगर इस धुँधली उमीद पर होंठ चाटते रहना तो मेरे लिए मौत का सामना है।'''''कोई अपने को लाख लिये रहे मगर क्या किया जाय, यह आँखें न दिल का भरम खोल देती हैं। बस, जबसे बिजली नज़र आई है, कोई पल चैन नहीं'''''"

"बन्दानेवाज़, ज़रा दम लें—'मुश्किले नेस्त जो आसाँ न शवद!' मैंने तो कल सलीम को पट्टी पढ़ाई कि तुम्हें नवाब साहब की रियासत में एक ख़ासी जगह दिलवा दूँगा, और वह इस उमीद पर चहक रहा है। उसे हुज़ूर कोई जगह इनायत करें; फिर तो स्याह-सफ़ेद करना हुज़ूर के हाथ में रहेगा। उसकी कोर दबी रहेगी। फिर, मौक़ा देखकर उसे इलाक़े पर पैक कर दूँगा। वह ख़ुद बीवी के मचलों से बेज़ार हो चला है—उसे उलटी टाँगें गले पड़ी हैं।"

"मैं तो समझता हूँ कि जबतक बिजली सलीम को दिल से उतार नहीं'''''"

"यह तो"—मिस्टर अहमद ने छेड़कर कहा—"एक दिन रुकने को नहीं! और, मैंने भी एक छछूँदर छोड़ रखा है। मगर हुज़ूर जो 'चट मँगनी पट ब्याह' चाहते हैं, फिर तो कुछ नज़र-नेयाज़ करना होगा; दो-एक शैम्पेन-पार्टी देनी होगी। मैंने तो इधर उनसे किराया भी तलब करना बन्द कर दिया है।"

"आप रुपये का ज़रा भी मुँह न देखिये। मैं तैयार हूँ!"—नवाब साहब मूँछों पर हाथ फेरते हुए बोले।

"फिर तो पौ बारह है हुज़ूर! मगर रुपये को पानी में बहा देना—यह भी कोई बात है?"

"वल्लाह! यह तो एक ही रही—तेली का तेल जले और मशालची की छाती फटे!·····जो हो; सलीम को तो जल्द चलता कीजिये। इस तरह लहू के घूँट पी-पीकर आख़िर मैं कबतक सुबह की शाम करता रहूँगा?" नवाब साहब ने ज़रा तिनक कर कहा।

"हुज़ूर, किसी को उलटे छुरे से मूँड़ लेना कुछ बाएँ हाथ का तो खेल नहीं है! दोनों हाथ—दोनों कंधे—बराबर लगाने पड़ेंगे, तब भी कुछ वक्त चाहिये। आज लञ्च के वक्त जब 'मिसेज़ सूर' आती हैं·····"

उसी पल होटल का हेड बेटर एक बड़े-से तश्त में ब्रेकफ़ास्ट लिये हाज़िर हुआ—टोस्ट और मक्खन, पोच और पॉरिज़; साथ-साथ चाय और भूनी हुई ताज़ी समुन्दरी मछली।

कमरे में प्याज़ की बिरियानी की ख़ुशबू सिगार की ख़ुशबू पर हावी हो चली। नवाब साहब ने सतृष्ण नेत्रों से तली हुई सोल-मछली के कत्थई चमत्कार को देखा, और नथने फैलाकर उसकी सोंधी सुरभि को श्वास के सहारे कलेजे तक खींच लिया; पर रेयाह के उत्पात से दिल मसोसकर रह गये—इस दरस-परस से आगे बढ़ने की हिम्मत न थी।

जो हालत ऐन की, वही गैन की भी। मैनेजर साहब के भी

मत्स्यगत प्राण मुँह तक उछलकर पानी हो गये। इनकी आँखों में भी एक बिजली उठी और फ़ना हो गई। इनकी दौड़ तो सुबह में महज़ टमाटर के जूस तक थी। अगर मछली की माया प्रबल हो उठती, तो फिर उस दिन दिन-भर पेट थामे ही चलना पड़ता!

ख़ानसामे ने तश्त को मेज़ पर रखा, और कमरे के बाहर निकल गया। नवाब साहब ने आँखें उठाकर मिस्टर अहमद को देखा और मिस्टर अहमद ने कनखियाँ नचाकर नवाब साहब को। दोनों ने दोनों की वेदना को देखा और समवेदना जताई।

अमीर बिचारा ग़रीब भूखे की रोटियों की मोटी गड्डी को—महज़ नमक के साथ मिनटों में भस्म करनेवाली भूख की शिद्दत को—या चिथड़ों में लिपटे हुए मज़दूर की चौड़ी छाती तथा ऐंठी हुई भुजाओं की पेशियों की बरकत को—कुछ उसी सतृष्ण दृष्टि से देखता है, जिस निगाह से भूख और अभाव से पीड़ित कंगाल, महल की खिड़की से झाँककर, विलासिता की नफ़ासत और इमारत की नज़ाकत की चूसी हुई कमानीदार देह पर ज़री पोत और सिल्क की रोती हुई बहार को—या सफ़ेद दस्तरख़ान पर सजे हुए पुलाव-कोरमे और मुतंजन के अम्बार को देखता है। दोनों समान दुखी हैं। पर, शायद ग़रीब अमीर को ख़ुशक़िस्मत समझता है और अमीर ग़रीब को! यही दुनिया है। अमीर चिल्लाकर फ़रियाद करता है—'या अल्लाह! मेरी दौलत ले ले; मुझे सेहत दे!' और, कंगाल रोकर कहता है—'या मौला! जब घर में अनाज नहीं देना था, तो फिर हाथी का पेट क्यों दिया?'

जिसे भूख है, पर घर में दाना नहीं ; और जिसके घर में सोना है, पर भूख नहीं—इन दोनों में जो भूख का भूखा है, वह शायद कहीं ज्यादा बिचारा; ज़्यादा बेबस और ज़्यादा क़ाबिले-रहम है। भूखा अन्न के अभाव से तड़पता है, धनी भूख के अभाव से! वह पेट बजाता है, यह पेट सहलाता है। आख़िर दोनों की गति एक ही होती है—न इसको खाना नसीब है, न उसको। एक भूख का अम्बार लिये मुहताज है ; दूसरा मुद्दों का अम्बार लिये महरूम है। और, विश्व का निर्मम नियन्ता करोड़पति और कंगाल को एक ही कौर का कंगाल बनाकर मुँह पर रूमाल दिये किस व्यंग्य से हँसता है!

इधर दुनिया दिगम्बर दरिद्र की उलङ्ग पसली की हड्डियों को देखकर, और कुछ नहीं तो, मौखिक दया की भीख देती है ; और मधुमेह-मन्दाग्नि के झकोरों से मृतप्राय अमीर के हाड़ पर कमख़ाब और कलावत्तू की चकमक को देखकर भवें तानकर ताना मारती है। ग़रीब बिचारा कम-से-कम आँखों का जल तो पाता है! धनी बिचारे को तो वह भी नसीब नहीं!

इस ज़माने में रुपयेवाले को और जो नायाब न्यामत मिल जाय, उसे कभी किसीकी मरौवत नहीं मिलती। दुनिया उसकी तकलीफ़ पर खिल्लियाँ उड़ाती है ; आँसू नहीं बहाती। वह नीरस ऐश्वर्य के मरुस्थल में एक बूँद हृदय के रस के लिए प्यासा ही मर जाता है। उसे चारों ओर से श्रुति-मधुर जय-जय-ध्वनि तो मिलती है, पर हृदय की वाणी कहीं भी नहीं मिलती। वह झुकी गरदनों के झुरमुट में दिल

तलाशता है, पर दिलफ़रेब चापलूस की चाशनी को दिल की मिठास समझकर भटकता ही रह जाता है। अगर वैभव का अन्तराल न रहता, तो शायद वह मज़े से दिल डालकर दिल ढूँढ़ लेता।

वह चिकनी ज़बान पर जीता है, वह सलोनी मुस्कान पर मरता है। मगर इस मुँह-मीठी जबान और मुँह मीठी मुस्कान के उस पार उसे किसी की करुणा—किसी की आत्मीयता की तलाश है तो वह अमारत की अटारी से उतरकर आदमीयत की जमीन पर आये नहीं तो रागरंग की महफिल जो मिले, किसी दर्दमन्द का दिल नहीं मिलता।

जब ज़र का अम्बार बाप और बेटे के बीच नंगी तलवार है, तो फिर आदमी को आदमी से अलग करने के लिए दूसरी दीवार और क्या होगी? कोई इस ज़र के ज़रिये कहाँ विजय नहीं पाता? लेकिन तीनों लोक को सर कर ही उसने क्या पाया—अगर इस दिग्विजय के ज़रिये वह कहीं अचूक विश्वास का आश्रय न पा सका।

चतुर्थ परिच्छेद

इस जीवन में प्रकृति की शृङ्खला सबसे प्रबल है। यह लाख जड़ हो, पर इसकी जड़ न जाने कब से है और कबतक रहेगी। यद्यपि आत्मा की सत्ता से इस शरीर का एक-एक ज़र्रा रौशन है, तो भी वह एकबारगी परदानशीं बनकर कहाँ—किस कोने में—रू-पोश है, इसकी ख़बर तो इन्द्रियों को भी मुमकिन नहीं। वह सल्तनत की आधारभूत शक्ति भले ही हो, पर डंके की चोट जिसकी हुकूमत चलती है, वह महामाया प्रकृति ही है।

आत्म-स्वातंत्र्य की चर्चा किताबों में हज़ार मिले; पर किसी ने कभी इसे जीवन में देखा भी है? 'भाई, तुमने वासना को लय किया, और बस, तुम मुक्त हुए'—यह फ़तवा दे देना कितना आसान है; पर करके दिखा देना कुछ शंखचूड़ के विष को पचा देना नहीं है—क़ब्र के

आगोश से ज़िन्दा निकल आना नहीं है या प्राणों के स्फुरण को सहस्रदल कमल के कोष में बद्ध रखना नहीं है। यहाँ सैकड़ों जन्म के अनुशीलन का सवाल है ; सदियों का नहीं, शायद युगों का।

पूरी प्रकृति तो दर-किनार रहे, कोई किसी एक वासना से तो ज़ोर आज़मा कर देखे, वह कहाँ तक उसे पछाड़ पाता है। मान ही सही—इसी पर कमान उठाए। मैदान में उतरते ही जौहर खुल जायगा। मान-अपमान में समता की बुद्धि आती है या नहीं! 'मैं और मेरा, तू और तेरा' के विभेद की जड़ हिलाकर देखे—तिल-भर भी हिलती है! क्यों? अच्छा, भय ही को लय करे—यही सही। काम, क्रोध, लोभ, मोह, क्षोभ—किसी एक को सर टकराकर सर करे ; जब सर पर पहाड़ टूट पड़ेगा, तब सर उठाने का मज़ा आप ही मिल जायगा।

पूरी प्रकृति पर विजय पाने की स्पर्द्धा तो ईश्वरता के दावे से कुछ कम नहीं। यह सच है कि बिना मन-मन्थन में हाथ डाले तो कभी अमृतत्व किसी को नहीं मिलता। पर, ख़याल रहे, यह मन्थन कुछ समुद्र के मन्थन से कम सर-मग़ज़न नहीं। सुमेरु से भी कहीं विराट् सत्र और संयम का पहाड़ लेकर इस तरङ्ग-क्षुब्ध अगाध मन-महोदधि को मथना पड़ता है। फिर तो इस ऐंड़ी-चोटी की मशक्कत के फलस्वरूप वह अमृत का मटका मिल सकता है, जो शायद देवताओं को भी मुश्किल से नसीब होगा ; ऐसे-ऐसे रत्न मिल सकते हैं कि उनके आगे कौस्तुभ भी फीका जँचेगा।

गुणमयी प्रकृति के मैदान में तलवार उठानेवाला कुरुक्षेत्र के रण-

स्थल में गांडीव उठानेवाले से कहीं ज़ोरदार जीवट रखता है। जो स्वभाव पर स्वराज्य स्थापित करता है, उसे विश्व का राज्य करतलगत है। इस आध्यात्मिक आधिपत्य के सामने भूलोक की कौन बात, सुरपुर का साम्राज्य भी मिट्टी के मोल का है।

यह मशहूर बात है कि लाख में एक इस मैदान में उतरता है, और करोड़ में एक किसी हद तक गुणों की मोरचेबन्दी पर फ़तह पाता है। पर, बिजली न लाख में एक थी, न करोड़ में एक। वह बिचारी तो प्रकृति के हाथों में पुतली थी। जब कोपीन के बंधन से भी किसी की प्रकृति के पर नहीं बँधते, बल्कल के साँकल के तले भी इस शोख़ की लट नहीं दबती, तो फिर बिजली की कमर का कार्सेट और कमख़ाब की कंचुकी किस मर्ज़ की दवा होती?

वह तो अपने स्वभाव से मजबूर थी। सलीम के प्रेम की कशिश पर वह खिंचकर चली आई थी, या उसकी उद्दाम स्वेच्छा-चारिता उसे नचाये फिरती थी—दोनों तत्त्वतः एक ही बात है। जब सलीम ने मुँह-जलों की छाती पर कोदो दलकर सैकड़ों में टेनिस का मैच जीत लिया, उसी वक़्त वह बिजली की आँखों में—जनक के यज्ञमंडप में धनुष तोड़ने-वाले राम-सा – वीर बन गया! वह सलीम के लिए घूँघट खोलकर घुँघरू बाँधने पर भी तैयार हो गई। उसके हृदय में ऐसा उत्ताल आवेग उठा कि भरी महफ़िल में वह लिहाज़ और शर्म दोनों को ठुकरा सकती। मगर, इसकी ज़रूरत ही नहीं पड़ी।

वह तो यह समझती रही कि टेनिस-मैदान का वीर दुनिया के मैदान

में भी जब उतरेगा, तब उसके हाथ के कौशल की तलवार हज़ार मुश्किलों को भी काट डालेगी। पर, इस होटल के चन्द दिनों की चाँदनी में चाँदी काटने के बाद उसकी सारी कलाबाजियाँ – टेनिस के सभी पैंतरे भूल गये। वह टेनिस की हज़ार मुश्किलें हँसकर सर कर चुका था सही, लेकिन दुनियादारी की एक भी मुश्किल वह सर न कर सका। उसकी जो इज्ज़त तूफ़ान की तरह उठी थी, शबनम की तरह अब चू गई।

बिजली ने देखा कि सलीम संसार के रणस्थल में एक अनाड़ी है और खाने-पीने, हँसने-खेलने और लपटकर सोने के अतिरिक्त वह और कुछ जौहर नहीं दिखा सकता। वह समझ गई कि सलीम के सुकुमार सुगौर चेहरे पर काले घुँघराले बालों की दिलफ़रेब तरतीब, उसके अंगों के सौष्ठव पर खुली गर्दन की कमीज़ और पैंट की सजावट, और टेनिस-कोर्ट पर उसके हाथ की कमाल की सफ़ाई ही इस ज़माने की गर्दिश में उसकी तमाम पूँजी है।

ज्यों-ज्यों बिजली के हैंड-पर्स के नोटों की गड्डी धीरे-धीरे सरंजामे-इशरत जुगाने में पतझड़ की पत्तियों की तरह झर चली, त्यों-त्यों उसकी आँखों में तसवीर की शक्ल सलीम की क़ीमत घटती गई, और फ़ैशनेबुल जीवन की किल्ली कनक-चित्ती की क़ीमत बढ़ती गई। उसके दिल में यह बात बैठ गई कि संसार में जो कुछ श्रेय है या प्रेय, वह एक कांचन है और जिसके सर पर इसका साया है, उसकी फ़रमाबरदारी में विश्व की तमाम नियामतें हाथ बाँधे खड़ी हैं। प्रेम भी उसीका दम भरता है; ईमान भी उसीका मुंह जोहता है।

वह सोचने लगी कि वह मुफ़लिस सलीम के प्रेम को लेकर और

उसको प्रेम देकर क्या करेगी ? वह तो समझती रही कि रणधीर सलीम सौन्दर्य के साथ-साथ ऐश्वर्य की डाली भी उसके चरणों पर ला रखेगा और उसकी आन-बान की तजल्ली दिन-दुगनी रात-चौगुनी तरक्की करती रहेगी।

सलीम के पतलून की झोल और शिकन, उसके कोट का धूमिल रंग, उसके पाकेट के रूमाल की पामाली और उसके चेहरे की मुहर्रमी चेष्टा बिजली की आँखों में गुलाब के काँटे बन गईं। सलीम के हाथ में हाथ देकर होटल की लॉन पर टहलना उसके लिए एक विकट सङ्कट की परीक्षा हो गया। बदनसीब सलीम के शबाब के तमाम वलवले पानी के बुलबुले बन गये।

अब वह सलीम से भर-मुँह बात तक नहीं करती। बे-वजह एक-न-एक खुचड़ निकालकर झल्ला उठती—"क्यों बेकार बैठे रोटियाँ तोड़ रहे हो ? मर्द होकर औरत के सिर बैठ गये !"

वह उसे बराबर फटकार बताती और उसको किसी रोज़गार या मुलाज़मत की तलाश में शहर की ख़ाक छानने को मजबूर करती। सलीम बिचारा कहाँ जाता और क्या करता ? वह इधर-उधर घूमकर वापस आता और बिजली को ख़ुश रखने की ग़रज़ से बातें बनाकर अपनी कारगुज़ारी का परिचय देता। पर, बिजली की कुशाग्र बुद्धि कँटीली जिरह की नोक से उस हवाई बुलबुले को फोड़ देती; और सलीम एक झूठ को सच बनाने में ज्यों-ज्यों दिमाग़ से नई-नई दलीलें पेश करता, त्यों-त्यों वह सुलझने के बदले और भी उलझता जाता।

धुएँ का बादल उड़ाकर भी जब सलीम देखता कि रंग जमने के बदले रंग फीका हो चला, और धुएँ की चौंक से बिजली की आँखों का कोना भी पानी से भर आया, तब बिचारा पानी-पानी होकर उसके कंधे पर सर रख प्रेम और त्याग का इज़हार करता, या उसे अपनी दोहरी भुजाओं में समेटकर प्यार से गेंद की तरह उछालने की कोशिश करता। पर, बिजली झल्लाकर दूर सरक जाती, और सलीम के मुँह से बात छीन-कर अपनी क़ुरबानी की वेदना जताती कि कैसे उसने एक मिट्टी की मनोहर मूरत के मोह में पड़—अपनी शान और शर्म, धन और धर्म की धज्जियाँ उड़ाकर—मिट्टी पलीद की।

जब कभी बिजली मीठी चुटकियाँ लेती, सलीम चुपचाप बात पीकर रह जाता। उसका रोआँ-रोआँ जानता रहा कि बिजली जब ख़ुश रहती, तब फूली न समाती; और जब चिढ़ी रहती, तब बात-बात पर तिनकती और बेवजह बाल की खाल खींचती। सलीम की इतनी मजाल नहीं कि वह बिजली से नज़र मिलाकर कहे—"बिजली, मैंने तो तुमसे पहले ही कहा था कि मेरे पास न ज़र है, न हुनर; परदेस में गुज़र होना मुश्किल होगा! मगर, तुम तो उस वक्त हवा के घोड़े पर सवार थी, मुझे घसीटती हुई साथ लेती चली आई!"

सलीम की तो जेब कभी की ठंडी हो चुकी थी; उसकी ज़बान में गरमी आती तो कहाँ से आती!

जब जेब खनखनाती रहती है, तभी ज़बान भी फड़कती है। जिस निखट्टू का गुज़र स्त्री की दया की भीख पर निर्भर है, वह चुल्लू-भर

पानी में डूब नहीं मरता—यही आश्चर्य है। वह अगर बीवी से बीवी-गिरी की ताबेदारी की उमीद रखता है, तो शायद इस ज़मीन पर उससे बढ़कर न कोई कम्बख़्त है, न अहमक़!

पुरुष का आधिपत्य स्त्री पर इसीलिए निरन्तर है कि वह उसको और उसके बच्चों को खाने को अन्न और पहनने को वस्त्र देता है। यह आधिपत्य आलमगीर है, अनादि है, अनन्त है। आज घर-घर अबला के त्याग और सेवा की लहलहाती फ़सल इसी आर्थिक परतन्त्रता की मिट्टी की उपज है। यही आर्थिक पराधीनता सतीत्व की भित्ति भी है। जभी तो मृत पति की चिता का हुताशन परलोक का सोपान है।

पुरुष शास्त्रकारों ने स्त्रियों की गरदन की इस जंजीर पर धर्म के माहात्म्य के सोने का पानी चढ़ाकर इस साँकल को सुहाग का हैकल बना दिया है। कहीं-कहीं तो इस लोहे की कड़ी की चपकलिश से पसली की हड्डियाँ तक पिस गईं; पर, लड़ियों की मीनाकारी कुछ ऐसी मोहिनी है कि लाख तकलीफ़ पर भी नारीत्व के इस ज़ेवर को गले से उतारते नहीं बनता। यही वजह है कि ताबेदारी का नाम वफ़ादारी है!

कहने का मतलब यह नहीं कि इस रुद्ध वायुमंडल में सच्चा प्रेम पनप ही नहीं सकता। प्रेम तो एक जंगली आज़ाद पौधा है, जो स्वच्छन्दता के किसी चमन में फल-फूल सकता है। नेम को प्रेम समझकर हम लाख मियाँ-मिट्ठू बनें; पर नेम—नेम है, प्रेम—प्रेम।

मनुष्य की पशुवृत्तियों को नियंत्रित करने की ज़रूरत हमारी विवाह-प्रथा की नींव है। यही विवाह समाज-संगठन की किल्ली है। इसका

उसूल है—पुरुष की ओर से रक्षा और स्त्री की ओर से सेवा। जो महज़ सेवा करने का अधिकारी है, वह जायदाद पर बराबरी का हक़दार नहीं हो सकता। समाज में इसी नियम पर औरतों का वैसा हक़ न ज़र पर है, न ज़मीन पर। अगर जीवन-संग्राम में आज स्त्रियाँ हाथ बँटाने पर उद्यत हो सकीं—अपने पैरों पर खड़ी हो सकीं, तो यह निश्चित है कि नारियों की निगाह में सतीत्व के प्रचलित माहात्म्य की जगह नारीत्व का उत्कर्ष स्वातंत्र्य होगा और प्रत्येक समाज में स्त्री-धर्म का नवीन संस्करण अनिवार्य होगा।

आर्थिक स्वातंत्र्य का सहचर कभी सतीत्व का आत्मोत्सर्ग नहीं हो सकता। महाप्राणता की त्यागशीलता कुछ और है, दीनता की सहचरी—व्यक्तित्व की विलीनता—कुछ और।

आज इस ज़माने में प्रगतिशील महिला के माथे की मणि-भूषा आज़ादी हो चली है। निस्सन्देह इस क्रान्ति से हमारे सनातन भवन की शान्ति सदा के लिए विलीन हो जायगी और 'जिमि स्वतन्त्र होइ बिगरहिं नारी' की आवाज़ हर चहार तरफ़ से बुलन्द होने लगेगी—गर्चे स्वतंत्रता की मौज पर बहककर बिगड़नेवाला सवाल स्त्री और पुरुष दोनों के लिए कम या बेश बराबर लागू है।

पर साथ-साथ यह भी मद्दे-नज़र रखना ज़रूरी है कि शान्ति का मारकेश निरङ्कुशता ही नहीं, अङ्कुशता भी है; और कभी-कभी क्रान्ति की प्रलय-सत्ता रुद्ध हाहाकार की ऊमस पर रहमत का मेह बन छप्पर फाड़कर बरस पड़ती है।

बिजली के हाथ में कैश-बक्स की कुंजी थी, और सलीम मियाँ की पहुँच भूलकर भी उस कल्पलोक तक कभी मुमकिन न था। नतीजा यह था कि सलीम की ग़ुलामी थी और मिसेज़ सलीम की हुक्मरानी—बीवी की अफ़सरी, मियाँ की मातहती!

पर, बिजली के कैश-बक्स का सञ्चय कुछ रक्तबीज का परिवार न था, न कुबेर का अमिट अम्बार ही। वह धीरे-धीरे शून्य हो चला। होटल की विलासिता की लीला और फ़ैशनपरस्ती की प्रवणता ने इस शून्यता की गति में तेज़ी भर दी।

बिजली ने आँखों-तले अँधेरा देखा। वह तो भूने चने फाँक और मारकीन की मोटी धोती लपेट ज़िन्दगी बसर नहीं कर सकती। सलीम से उसका प्रेम जो हो, पर उस प्रेम का अर्थ उसकी लुग़त में अपने अस्तित्व को विलीन कर देना नहीं था। वह बन-ठनकर दस के सामने ज़रूर रौनक़-अफ़रोज़ होगी; और जबतक दस-बीस की झुकी गरदन और आँखें उसके हुस्न की सलामी नहीं उतारतीं, तबतक उसे जीवन में रस नहीं मिलता।

वह बचपन ही से ख़ुशामद के वायुमंडल में पली है। आज तक प्रशंसा का मधुर गुञ्जन उसके प्राणों के तार-तार में भरा है। किसी एक के उसके क़दमों के तले कलेजा निकालकर रख देने से कहीं ज्यादा आनन्द दस के कलेजों को मसलकर अपना रंग जमाने में है।

जब वह शाम को जामनी या नारंगी साड़ी में इठलाती और बल खाती, होटल की सीढ़ियों से उतरकर, हरी-हरी दूब की लॉन पर टहलने

आती, और होटल के तमाम अधेड़ और जवान सन्नाटे में आकर कलेजा थाम लेते, या उसकी चितवन की कोर की तलाश में उसके दोनों बाजू मुलाकातियों की रेल-पेल होती, तब वह पलकों के फ़र्श पर पैर न रखकर कुछ उसी भाव और चाव से निगाह और मुस्कान का पञ्चामृत वितरण करती, जिस अन्दाज़ से वह कुछ साल पहले, स्कूल की लॉरी पर जाती हुई ख़ुशामदी सहेलियों के गरोह में, पॉकेट में भरी टाफ़ी और चाकलेट की गोलियाँ जी खोलकर बाँटा करती थी।

वह सब कुछ बरदाश्त कर लेती ; पर किसी हालत में भी अपनी शान में बट्टा लगते नहीं देख सकती। और, जबतक चाँदी की चाँदनी नहीं होती, तबतक शान की कुमुदिनी कहाँ खिलती है ? सलीम की सलोनी शक्ल, उसके उभरे हुए कपोल, उसके चुम्बन की मीठी चुमुक, उसके आलिङ्गन का वसन्त-पुलक—सब कुछ उसके लिए आठों पहर मौजूद थे ; पर रुपये के अभाव ने सबका रंग फीका कर दिया !

अभाव ही इस संसार में तमाम अनर्थों का मूल है। मनुष्यता की जड़ में इससे भयङ्कर कोई दूसरा कीट नहीं। हमारे जीवन की कतिपय आपत्तियों का— हमारे मन की कतिपय व्याधियों का—एकमात्र अभाव ही मातृगर्भ है।

आज कितने मनुष्य डाकू और ख़ूनी न रहकर शरीफ़ों में शरीफ़ शुमार होते—अगर असह्य अभाव के चपेटों ने उनके जीवन की गति को बरबस उन्माद की घाटियों में ढकेल न दिया होता। अभाव ने लत धरा दी और लत ने धीरे-धीरे हृदय की कोमल वृत्तियों को तिलचटे की

तरह चाट डाला। परिणाम यह हुआ कि एक स्वस्थ सुन्दर जीवन अभाव की आँधी में उखड़कर लुढ़कता हुआ खुड्डु में जा पड़ा। दुनिया उस ख़ूनी की आस्तीन के लहू को देखती है और भवें सिकोड़ती है; पर उसे रोज़मर्रे की झंझटों से फ़ुरसत कहाँ कि वह उसकी ज़िन्दगी के दर्दनाक पहलू पर एक उड़ती नज़र भी डाल सके।

बिजली का दिमाग़ चकरा उठा। अभाव उसकी प्रकृति के निहित उन्माद को कुरदने लगा। विलासिता की लगन आग में घी बन गई। इधर फ़ैशन की शान की घौंकनी आठों पहर चल ही रही थी। उसे ज़रा-सा चितवन की कोर को और मुलायम कर देना था—लिहाज़ की लगाम को और ढीला कर देना था; फिर तो उसके क़दमों पर मुहरों का अम्बार उमड़ आता। सलीम का प्रेम एक अकेला अन्तराल था। विवेक उसकी स्वच्छन्दचारिणी पशु-वृत्तियों को संयम के काञ्जी-हाउस तक हाँक-कर ज़रूर ले जाता; पर खड्गहस्त वासना दंगे के ज़ोर पर छुड़ा ले जाती!

उसका हृदय घात-प्रतिघात की चोटों से विह्वल हो उठा। जब कभी वह सलीम के सजल नेत्रों को देखती—उसके चेहरे की निर्वाणप्राय आभा पर नज़र डालती, तब अक्सर उसकी पलकें पसीज आतीं; वह कमरे में बन्द होकर इशरत के प्रसाधनों को फेंक बैठती और पापड़ बेलकर जीवन बिताने पर कमर बाँधती। मगर, दस मिनट बाद, अवसाद उसे ऐसा आ घेरता कि फिर उससे न खाया जाता, न सोया जाता, न हँसा जाता, न बोला जाता, न कहीं हिला जाता और न किसी तफ़रीह में उसे कोई मज़ा मिलता।

बिचारी करती क्या? इन्द्रियों की इस भीषण हड़ताल के आगे बुद्धि की क्षीण अपील कहाँ तक चलती! शरीर का एक-एक ज़र्रा दंगे पर आमादा था। इधर हृदय के उद्दाम अरमानों की रेल-पेल का हुजूम और उधर नारीत्व की एक भटकी कणा की पिकेटिंग का प्रयास।

अलसाई संध्या है। बिजली बेड-रूम के विशाल आइने के सामने खड़ी होकर लम्बी लटों को सँवार रही थी। उसने ज़री के फ़ीते देकर नये फ़ैशन का जूड़ा बाँधा। जूड़े में जूही की कलियाँ डालीं। पिन दे-देकर छिटकी लटों को कानों पर चढ़ा डाला। सर के ऊपर सुनहले आँचल के छोर पर नीलम की आँखोंवाली तितली बैठी। कमर में कार्सेट और कार्सेट के ऊपर काकरेज़ी कमख़ाब का टाइट जैकेट चढ़ा। बारीक क्रेप की कुसुमी साड़ी सजी। सजी क्या, बल उठी। गालों पर रूज की गुलाबी पॉलिश चढ़ी। होठों पर पान की-सी विलायती लाली और ललाट पर कुंकुम की बिन्दी जगी। खुली गरदन में साँप की शक्ल की सोने की लरी लटकी। उसके एक-एक अंग पर कला की विद्युल्लता चमक उठी। रेशमी रूमाल पर उसने कस्तूरी की शीशी उँड़ेल डाली। तमाम कमरे में सेंट की भीनी ख़ुशबू फैल चली।

इसी बीच किसी ने किवाड़ पर खट-खट आवाज़ दी। वह फुदक कर आइने के पास गई। एक बार और लटों को सहला कर दुरुस्त किया। फिर पाउडर-पफ़ के सहारे गरदन से लेकर खुली छाती तक नमूदार पसीने की एकाध बूँद को उठा डाला, और हैंड-बैग को मेज़ से उठाती हुई मुड़कर बोली – "ठहरिये, आती हूँ।"

"मैं हूँ, बिजली !"—सहमी हुई आवाज़ आई।

"कौन, सलीम ?"

"हाँ, अभी बाज़ार से लौटा हूँ।"

"वाह ! अन्दर आओ !"

सलीम पसीने से लथपथ है। उसकी कमीज़ कमर तक तर-ब-तर। बाल चेहरे पर परीशान हैं। आँखें चढ़ी हुई हैं।

"क्यों, तुम कहाँ से टपक पड़े ?"—बिजली ज़रा हताश-सी बोली।

"कहाँ से कहूँ ! कन्नमल न जाने क्यों रिस्टवाच को गिरो नहीं रखता।"—सलीम बदहवास होकर पलँग की पाटी पर बैठ गया।

"क्यों, ऐसी उलझन क्या थी ?"—बिजली ने तिनक कर पूछा।

सलीम ने आँखें उठाकर बिजली की साजसज्जा देखी, और देखकर सन्नाटे में आ गया। लहू के जोश पर बिजली फड़कते हुए नथने मस्ती में चूर हैं। छलकते हुए प्याले की शक्ल उसकी चुहल-भरी झूमती चितवन पत्थर के कलेजे में भी जोबन उभार देती। उसके गुलेनार आँचल की सुनहली कोर लहू में लिपटी तलवार की धार-सी चमचमा रही। सलीम ने दिल-ही-दिल में कहा—"वल्लाह ! आज किस ख़ुशबख्त की आँखों की ज़ियाफ़त के लिए यह फ़रमाइशी इन्तज़ाम है।"

क्या कहना इस निख्तर का ! फ़ैशन की प्राण-स्वरूपा कला की बारीकियाँ दोनों हाथों से बलाएँ ले रही हैं।

सलीम ने समझा—आज बिजली किसी ख़ास हवाखोरी के लिए

तैयार हो रही है और उसे भी शायद साथ जाना पड़े। पर, यहाँ तो घर में भूनी भाँग नहीं और बीवी के मिज़ाज में इस क़दर इमारत का टीमटाम! उसकी आँखों के सामने मौसम की चिलचिलाती धूप, सड़क की उड़ती हुई गर्दग़ुबार और ऑफिसों के मुँह पर टँगे 'नो वेकेंसी' के तख़्ते की तसवीर नाच गई। वह सूखी हँसी हँसकर बोला—"तुम्हें पता है, मिस्टर अहमद ने आज कमरों के किराये के लिए मेरी कैसी मरम्मत की?"

"सच!"—बिजली ने तुर्श होकर कहा—"तुम तो कहा करते थे कि तुमसे वे बड़ी हमदर्दी रखते हैं। नवाब साहब से कहकर तुम्हें कोई ख़ासी जगह....."

"यह सब कुछ तो है; पर आख़िर वे कबतक मुफ़्त आँचल पर बिठाये रखेंगे? वह बिषखोपड़ा शामलाल तो एक ही कॉईयाँ है। मिस्टर अहमद कुछ इहतियात भी करें—चूँकि उनकी आँखों में पानी है; मगर वह तो बिजिनेस में 'शाइलॉक' का चचा है। आज उसीने तो रुक्क़ा भेजा और फिर मिस्टर अहमद सिर हो गये। उस जल्लाद तक किसी का गुज़र नहीं। क्या कहूँ, मेरी ऐसी किरकिरी हुई.....ज़मीन भी न फटी। तभी से जूतियाँ चटकाता फिरता हूँ। कहीं दाल नहीं गली— गलने की कौन कहे, गर्म भी न हुई! वह बदज़ात कन्नूमल इसे मिट्टी के मोल लेना चाहता है!"—सलीम ने बाईं कलाई की घड़ी दिखाते हुए कहा।

बिजली चुप खड़ी रही। उसने एक नज़र अपनी चुहचुहाती साड़ी

पर रखी और दूसरी नज़र सलीम के उतरते हुए चेहरे पर। उसके पास भी तो कुछ नक़द रहा नहीं। और, गहनों को गिरो रखने के पहले वह अपनी शान की आग में जान दे देगी। वह तो किसी की कड़ी आँख देखना गवारा नहीं कर सकती।

"तुम आज यह बन-ठनकर कहाँ चली?"—सलीम ने आहत स्वर में पूछा।

"क्यों, कहीं जाने में गुनाह है क्या? और मैं तो जब बाहर जाती हूँ, कपड़े बदलकर ही जाती हूँ। शौक़-सिंगार आज न करूँगी, तो उतार पर करूँगी? तुम भूल गये,"—बिजली ने तिनककर कहा—"आज मेरी साल-गिरह है!"

"क्या करूँ, अल्लाह ने मुझे इस लायक़ नहीं बनाया कि आज भी मैं तुम्हारी दिलजोई कर सकूँ!"

"दिल से दिलजोई होती है न!"—बिजली आँखों में मुस्कुराती हुई बोली।

"मगर दिल से दौलत तो नहीं पनपती?"

"दिल ख़ुद ही एक बेहतरीन बेशक़ीमत दौलत है!"

"तुम समझो, तब न!"

"अच्छा कह रहे हो! मैं इसे बेशक़ीमत न समझती, तो दुनिया की दौलत पर लात मारकर यहाँ आती!"

"ज़रूर। मगर, आज तो यहाँ ख़ाक उड़ रही है, और तुम्हें हवाख़ोरी की सूझी है!"

सलीम से नहीं रहा गया। आज की मानसिक उत्तेजना ने दिल की लगी को ज़बान तक ठेलकर पहुँचा ही दिया।

"ओ, यह बात! तुम पहले कहते, तो मैं नवाब साहब के साथ मोटर की सैर क़बूल न करती। वे तो सालगिरह का ख़ासा जल्सा दे बैठते—कम-से-कम डिनर-पार्टी तो ज़रूर! मगर, मैंने साफ़ इनकार कर दिया।"

"आख़िर नवाब साहब को इस साल-गिरह का पता क्योंकर लग गया?"

"यों ही बातों-बातों में ज़िक्र आ गया। अब तो ख़ाक उड़े या पत्थर पड़े, मुझे जाना ही होगा। मैं……"

"कब?"

"बस, यही दस-बीस मिनट में!"

"कोई चारा नहीं!"

"क्या ख़ुद आकर तुम्हें बुला गये हैं?"

"नहीं तो। वहीं लञ्च के वक़्त मुझसे वादा करा लिया।"

"तो फिर कहाँ का प्रोग्राम है?"

"फ़ैंसी-मेले!"

"ओहो! जभी तो यह फ़ैंसी फ़ैशन है, चेहरे पर यह ग़ज़ब का रंग-रौग़ान।"—सलीम ने आँखें उठाकर रुक-रुककर कहा।

बिजली सर से पैर तक बिजली-सी चमक उठी थी। सलीम की आँखों में उस लौ की आँच लगी। उसने फिर चौंधियाई कनखियों

से देखा। बिजली की नज़रों में शान-भरी शोख़ी की शिखा जल रही है। वही लौ उगलती हुई दीप्ति उसके जूड़े के गुलाली गुलाब में है, उसके गालों के गुलाबी आब में भी; उसके ज़री गुलेनार आँचल के निखार में है, उसकी गरदन के ज़ुगनू के चमत्कार में भी; उसके होठों की पंखड़ियों में लिपटी हुई मुस्कान में है, उसकी ज़हरीली मिसरी से पगी ज़बान में भी। साथ-साथ एक नाज़ुक चुटीली गन्ध उसके बालों से, गालों से, रूमाल से, कपड़ों के अन्तराल से छन-छनकर चारों ओर मादकता बिखेर रही है।

"आख़िर तुम क्यों ऐसे बेज़ार हो रहे हो?"—बिजली ने ज़रा मचलकर पूछा।

"मैं! मैं तो ज़िन्दगी ही से बेज़ार हो चला हूँ!"

"अच्छा! यह कब से?"—बिजली हँसती हुई बोली।

"जब तुम्हारे दिल से इश्क़परस्ती छूट गई और....."

"और?"

"ख़ुदपरस्ती आ गई!"

"ख़ूब! मैं तो बुतपरस्त ठहरी, और आजतक एक पत्थर का बुत पूजती आई।"

"बिजली! यह क्यों उलटी गंगा बहाती हो? बुतपरस्त तो मैं ठहरा; नहीं तो, आज यों मिट्टी पलीद होती? मैं फिर कहता हूँ, बिजली, क्यों अपना पानी आप खो रही हो?—यह रंगीन तितली बनकर चमन में उड़ने चली हो—देख लेना, काँटों में उलझ जाओगी।"

"वाह ! और तुम ? तुम भौंरे की तरह कलियों के रस पर मँडराते फिरो—क्यों ? आज लञ्च के पहले मिसेज़ सूर से कैसी घुल-घुलकर बातें होती रहीं !"

"क्या ग़ज़ब ढाती हो, बिजली ! मैं तो जिस शमा का परवाना हूँ, वह किसपर रौशन नहीं ? पर जल चुके, अब दिल का जलकर कबाब होना बाक़ी है। तुम्हें दस की आँखों में खुब जाने की तमन्ना हो, मुझे नहीं !"

सलीम उठा। उसकी आँखों के डोरे सुर्ख़ हो रहे हैं, चेहरे पर एक अजीब वहशत-सी बरस रही है।

"सलीम ! तुमने फिर ढालना शुरू किया ? तुम्हारी आँखें टमाटर हो रही हैं। मिस्टर अहमद ने तुम्हें ज़हर की लत धरा दी !"—बिजली नज़दीक आकर मीठे स्वर से बोली।

"क्या करूँ ! इस पानी से भी तो दिल की आग बुझती !"

"क्योंकर बुझे, सलीम ! यह आग का पानी है—आग लगाता है, बुझाता नहीं !"

"ख़ैर, जाने दो। कल अगर होटल का बिल चुका न सका, तो हम दोनों·····बस·····"

बिजली खीज गई। मुड़कर झल्लाती हुई बोली—"तुम्हें यह कहते शर्म नहीं आती ? तुम्हारे चलते होटल में क्या आई, भट्टी में पड़ गई। तुम मर्द होकर औरत के सिर बैठे तर माल चाब रहे हो। कुछ कमाकर लाते, तो यह ऐंठ भी निभती। तरसती रह गई कि

तुम्हारे पसीने की कमाई देखती। .....मैं जानती हूँ, तुम्हारी आँख इन ज़ेवरों पर है। कितने रह गये हैं, देखते जाओ--यही एक जोड़ा हाथ का बाला, कान का झुमका, गले की चेन—बस! ले जाओ, इन्हें भी बेचकर पैसे खड़े करो, और पी जाओ। मैं भर पाई!"

सलीम ने देखा कि बिजली का सुर चढ़ गया; अब यहाँ से टल ही जाने में ख़ैरियत है। वह आगे दरवाज़े की ओर लपका, तो फिर बिजली ने टोका—"कहाँ जाते हो? सुनते तो जाओ!"

"जहन्नुम में!

सलीम जैसे बावला हो पड़ा। एक झटके के साथ किवाड़ खोला, और तीर की तरह बाहर निकल गया।

पञ्चम परिच्छेद

सलीम सीधे होटल के 'बार' में पहुँचा और उसी साँस में एक बड़े पेग के लिए ऑर्डर दिया। उसकी नज़र में दिमाग़ के बौखलापन के लिए दूसरी दवा न थी। इधर बिजली का मिज़ाज, उधर होटल का हिसाब; उसे राहत कहाँ थी? इस परीशानी के मौक़े पर उसे जानीवाकर का सहारा मिल गया, और उद्विग्न मन की बेबसी उसे शीशे के साये में खींच लाई। दर्द-दिल की यह अकसीर दवा पाकर वह पैमाने का मिक़दार भूल गया। चुल्लू से प्याले पर और प्याले से बोतल की मंज़िल पर क़दम रखा। नक़द खरीदना तो था नहीं; बस, आर्डर देना था और ढालना। फिर, पैमाने का दौर थमता क्योंकर?

मिस्टर अहमद ने कभी ख़्वाब में भी न सोचा था कि जाम का जादू इस तेज़ी से सलीम के सर पर सवार हो सकेगा। उन्हें क्या मालूम कि शराब की लगन से कहीं ज़्यादा यह उसके दिल और दिमाग़ को जलन है, जो उसे बेख़ुदी की तलाश में इस आग में ठेलती लिये जा रही है!

सलीम कुर्सी पर बैठा पेग-पर-पेग ढालता रहा। यहाँ तक कि अब मद्य-पुराण-परायण हो चला। सोडावाटर के सरलार्थ की ज़रूरत तक न रही। ख़ैरियत थी कि अभी उठती जवानी का ज़ोर था; वरना दूसरा कोई होता, तो इस बलानोशी पर अंटाचित हो गया होता। शायद, बिजली अगर साबित-क़दम रहती, तो वह बिचारा अपनी खाल ही में मस्त रहता और शराब पीकर बदमस्त होने की कभी हाजत भी न होती।

जहाँ सलीम बैठकर पी रहा था, वहाँ से होटल की बरसाती का एक हिस्सा साफ़ नज़र आता रहा। उसने देखा कि एक डील-डौल की मोटर आकर खड़ी हो गई।

सुरमई रंग की 'सिडान-बॉडी' कार। बॉनेट के सिर पर एक नंगी परी की मूरत, जो संध्या की लोहित आभा की चमक से लाल परी बनी है। शोफ़र की कपूरी ज़ीन को ज़री वर्दी क़ीमती कार की ज़ीनत है।

तबतक नवाब साहब, मिस्टर अहमद और कई-एक सफ़ेदपोश सज्जन आकर वहाँ खड़े हो गये। शायद किसी के स्वागत की प्रतीक्षा है।

नवाब साहब के सर पर सील की खाल की काली टोपी है। तूसी सर्ज की शेरवानी और चूड़ीदार सफ़ेद पाजामा। बाकी

सब विलायती लिबास में लैस हैं।

नवाब साहब के दो परम प्रिय कुत्ते—पेकिनीज़ भूरा टामी और स्पेनियल काली टोनी—सबसे पहले दुम हिलाकर मोटर पर सवार हो गये। मिस्टर अहमद की बग़ल में 'मिसेज़ सूर' भी माहताबी साड़ी और ब्लाउज़ में फूली-फली मल्लिका-लता सी बसन्त की दुलहिन बनी हैं।

'मिसेज़ सूर' होटल के दलालों में नम्बरी दलाल हैं। विज्ञापन के इस युग में होटल का बाज़ार गरम रखने के लिए एक चुलबुल हसीन की ज़रूरत पहले-पहल मिस्टर अहमद ने महसूस की। होटल के भवन के नज़दीक ही 'मिसेज़ सूर' की 'सूरमंज़िल' थी। मिस्टर अहमद ने वहीं डोरी डाली और सौदा पट गया। चिराग़ से चिराग़ जलता है।

मिसेज़ सूर सोसाइटी की एक आलोक-प्राप्त विधवा हैं। उनमें त्यागशीलता भी है और प्रगतिशीलता भी। त्यागशीलता इसलिए कि युवती होकर भी उन्होंने फिर शादी न की; और प्रगतिशीलता इसलिए कि विधवा होकर भी उनके दिल से शादी की ताज़गी कभी छुटी नहीं। सर पर सिन्दूर न हो, न सही; पर मुँह पर पाउडर ज़रूर है। हाथ में चूड़ी रही या न रही, सोने की घड़ी तो है। सुहाग की बूँदी चुनरी न सही, गुलेनार रेशमी साड़ी तो है।

मिस्टर सूर को आँख मूँदे ज़माना हुआ। वे चूने के कंट्राक्टर थे। उनकी सारी कमाई सूर-मंज़िल की ईंट और पत्थर में जज़्ब हो चुकी थी।

मिसेज़ सूर ने वैधव्य के दो-तीन साल लहू के घूँट पीकर काटे।

गोद में दो नादान बच्चे भी थे। पति के काल के गाल में जाने के बाद भी गाल का गुलाल पामाल न हुआ। यह उनके जीवट का जुलूस है कि हज़ार मुसीबतों पर भी उनके चेहरे पर न कभी बल पड़ा, न साड़ी पर शिकन। इधर तो उनके दिन मज़े में गुज़र रहे हैं। दोनों वक्त के लञ्च और डिनर ठाट से होटल ही में चलते हैं। दुपहरी में वे सज-धजकर होटल में आतीं और किसी दिन भी आधी रात के क़बल वापस नहीं जातीं।

यह मिसेज़ सूर की चुहलमिज़ाजी तथा परिमार्जित रुचि की फ़ैयाज़ी है जो मिस्टर अहमद के मुवक्किलों के दिल में मलय-हिल्लोल की हरियाली लाती और होटल में विलायती बोतलों की खपत तरक्क़ी पर रहती। वहाँ जितनी ठठोलियाँ और दिलचस्पी की चुहलें होतीं, सभी में मिसेज़ सूर का हाथ ज़रूर रहता। और, यह उन्हींके हाव-भाव और दिलफ़रेब गुफ़्तगू की बरकत है कि आधी रात तक भी वहाँ शैम्पेन और कॉकटेल की धूम मची रहती। कभी वे प्यानो छेड़तीं, कभी जाम का दौर अपने हाथों चलातीं; कभी सनीचर की रात मनचले नवसिखुओं को फ़ाक्सट्राट की बारीकियों का सबक़ भी देतीं।

यह किसी ने आजतक नहीं जाना कि होटल की आमदनी में वे किस हद तक शरीक हैं—शराबों की खपत पर किस क़दर कमीशन पाती हैं। तनख़ाह या दलाली से उनकी जो भी आमदनी हो; यह राज़ कभी किसीपर खुला नहीं। यों तो आजकल इस ज़माने में किसी परदा-तोड़ प्रगतिशील महिला की कुत्सा एक आम

बात-सी है ; पर कानों-सुनी बात का ज़िक्र नहीं, आँखों-देखी कभी किसीने उनकी शिकायत नहीं की।

आज क्लबों और होटलों में कितनी लेडियाँ मुसीबत से—और शायद कुछ अपनी तबीयत से भी—मजबूर, शरीफ़ों के लिबास में, तलवार की धार पर चलती हुई, अपनी मुस्कान और निगाहों की बाजीगरी की रोटी पर पेट पाल रही हैं ! उनमें अच्छी और बुरी दोनों रहती हैं।

किसी बदमस्त अजनबी के साथ, छाती से छाती मिलाये, कमर में हाथ देकर, फ़ाक्सट्राट के क़दम पर ठुमुकना, तहज़ीब के ख़िलाफ़ जो समझा जाय; पर जिस समाज में मिसेज़ सूर हम-नेवाला हम-प्याला थीं, वहाँ निशस्त और बरख़ास्त की तालीम की तरह यह कलाबाज़ी की शिक्षा भी एक ज़रूरी कला में दाख़िल है।

आख़िर भारतीयों की एक ज़बरदस्त टोली विलायती तरीक़ों का हिमायती हो ही चुकी। उनका खान-पान, रहन-सहन ही अलग नहीं है ; उनकी दिलबस्तगी की रँगरलियाँ भी निराली हैं। हमारी हँसी-ठठोली के गुलछर्रे, हमारी होली के भड़ौए, हमारी पिचकारियाँ और कुमकुमे, उनकी निगाह में बर्बर रुचि की छीछालेदर के नमूने हैं। उनके लिए न तो तायफ़ों की जादूनज़री है, न झूले की कजली ; न सावन के तराने हैं, न बुलबुल के फ़िसाने। पतलून की गेलिस की चपकलिश पर उनकी टाँगें न फ़र्श पर जम सकती हैं, न मोरक्को-लेदर के बूट की नोक झूले के छोर पर बैठ सकती है। जबतक कॉकटेल की चुहलें और फ़्रेंची फ़ाक्सट्राट की कुलेलें न हों, तबतक उनकी तबीयत की फ़रहत कभी

मुमकिन नहीं। हम भवें सिकोड़कर उनमें से किसी एक को भी अपने रंग पर ला नहीं सकते।

एसीलिए सनातनी दुनिया जिन बातों को—विलासिता-बहुल स्वतंत्रता के जिन उच्छ्वासों को—शिकायत की नज़र से देखती है, उन्हें मिसेज़ सूर का पश्चिमी ढाँचे पर ढला समाज, नैतिक पतन कौन कहे, रोज़मर्रे के स्वच्छन्द जीवन का एक आवश्यक अङ्ग मानता है।

यह ग़ौर करने की बात है कि जब बड़े-बड़े मानी और ज्ञानी भी पापी पेट के लिए नैतिक मार्ग से सरक कर गड्ढे के किनारे तक बेखटके चले जाते हैं और सुमिरिनी के दानों पर उँगली फेरनेवाले बड़े-बड़े महात्मा कमंडलू के गंगाजल के सहारे ईमान को उलटे छुरे से मूँड़कर धर्मध्वजी बने फिरते हैं, तो फिर मिसेज़ सूर की क्या बिसात? वे तो जिस वायुमंडल में पली थीं, वह पश्चिमी बवंडर का एक अंश है। अमीरों के सर इस नाज़-नख़रे के रोज़गार पर उनके बच्चों का शरीफ़ों में गुज़र है—उसीपर उनकी रोज़मर्रे की जार्जेट साड़ी और जम्पर तक का निभना भी निर्भर है। ऐसी परिस्थिति में उनकी गर्दन में हाथ देने के पहले शायद समाज को अपनी न्याय की कसौटी किसी पारदर्शी स्फटिक की बनानी होगी।

अगर हलाल और हराम की रक़मों की छानबीन हो और कोई नीर-क्षीर का सच्चा पारखी हो, तो बहुत मुमकिन है कि कितने समाज-पतियों की विभूतियों की कीर्ति-कौमुदी कलंक से पाक न मिलेगी; और कितने दलितों और पतितों की कालिमा की कमाई में पसीने की बफ़ा

की गन्ध भी मिल सकती है।

सलीम ने देखा कि बरसाती के दामन पर जमी हुई टोली में एक हलचल-सी हुई और नवाब साहब ने आगे बढ़कर सीढ़ियों से उतरती हुई बिजली को हाथ का सहारा दिया। अदब के साथ गरदन झुका ली। बस, इन विनीत लोचनों की पलटन ने परेड के क़ायदे से सलामी उतारी और सर झुकाए हँसती और इतराती हुई बिजली मोटर में दाख़िल हुई।

उसके हाथ में एक छोटा-सा सुनहला लेडीज़-बैग है, जो हर सैर-सपाटे का साथी है। उसमें और कुछ हो या न हो, एक पाउडर-पफ़ और एक छोटा-सा आइना बराबर रहता; चूँकि घूमते-फिरते जब मौक़ा मिलता, वह गालों की पालिश बिना दुहराये बाज़ न आती।

मोटर की पीछेवाली सीट पर वह बैठी और नवाब साहब भी बैठे! मिस्टर अहमद ने क़दम बढ़ाकर दरवाज़ा बन्द किया, और सर्र-से मोटर फाटक के बाहर निकल गई।

सलीम की आँखों में लहू उतर आया। वह सोचने लगा—"बीवी की तो यह फरमाइशी इज्ज़त और मियाँ को कोई पूछता तक नहीं! जैसे कि वह कोई क्या है। बहुत है, तो बेगम साहेबा का कोई पानखवास या हुक्कावरदार है। कहाँ से कहाँ इहाँ आने गया! और बिजली का यह शाहाना ठाट तो देखो! कहाँ की नवाबज़ादी है! कल जब होटल के बिल का तक़ाज़ा शुरू होगा, तब दिमाग़ का पारा आप ही उतर आएगा।.....नहीं-नहीं, उसने ज़रूर कोई मोटी रक़म

चुरा रखी है; वह गरमी न होती तो इस आसन्न विपत्ति के सामने यह आन-बान कभी निभ पाती।'''''जो हो, कल आप ही राज़ खुल पड़ेगा।'''''मैं तो अब रिस्टवाच लेकर बाज़ार की चहलक़दमी नहीं करता।'''''अच्छा! आज बिजली को यह फ़ैंसी मेले की हवाख़ोरी कैसे सूझी! सुबह ही से यह बन्दिश रही! और मुझीपर रौशन नहीं। तो क्या'''''"

सलीम के पेट में चूहे कुलाँच भरने लगे। वह एक अव्यक्त आशंका कातर हो उठा।

मिस्टर अहमद आकर उसके पास बैठ गये और बड़े मीठे स्वर से बोले—"क्यों सलीम, इस क़दर बेज़ार क्यों नज़र आते हो? यह भी कोई बात है!"

"सिर फटा जा रहा है"—सलीम हाथ से सर थाम कर बोला।

"और तुम ढाले जा रहे हो! यह दर्दे-सिर की दवा है?"

"दर्दे-सिर की नहीं—दर्दे-दिल की तो है!"—सलीम ने रूखी हँसी हँसकर कहा।

"हरगिज़ नहीं। तुम्हारे दर्दे-दिल की दवा पैमाने की परी नहीं, सोने की परी है—गोल-गोल गिनी!"—मिस्टर अहमद ने हँसकर रुपया ठनकाने का इशारा कर दिखाया।

"मगर, वह मिलती कहाँ है?"

"यहाँ बीवी के दामन के साये में अंडे सेते रहोगे, तो ख़ाक मिलेगी!"

इतना कहकर मिस्टर अहमद ने सर एक ओर किया और आवाज़ दी—"कोई है ?"

"जी हाँ।"—ख़ानसामा दौड़कर हाज़िर हुआ।

"एक छोटा पेग लाओ। और सुनो, साहब के लिए जिन और पोटेटो चिप्स·····"

"हुज़ूर, सोडावाटर या लेमनेड ?"—ख़ानसामे ने दस्तबस्ता अरज़ किया।

"बस, जिन और लेमनेड।"—मिस्टर अहमद ज़रा तुर्श होकर बोले। ख़ानसामा भीतर दौड़ गया।

"मैनेजर साहब, आपने भी तो होटल के बिल के लिए शदीद तक़ाज़ा शुरू कर दिया !"—सलीम ने दबी ज़बान से कहा।

"भाईजान ! यह होटल है—और होटल कुछ मेरा घर नहीं। तुम्हीं कहो, मेहमान-नेवाज़ी कबतक चल सकेगी ?"

"दो-चार दिन भी तो·····"

"मैं तो हर पहलू से तैयार हूँ ; पर वह ज़ालिम बुते-काफ़िर तो नहीं सुनता !"

"कौन ?"

"अजी, वही शामलाल—मेरा पार्टनर। वह टस-से-मस होता ही नहीं। और, तुम जानते हो, मेरा बस·····"

"क्या करूँ ! कोई सूरत नज़र नहीं आती।"—सलीम ने एक लम्बी साँस खींचकर कहा।

"तुम्हारी नज़र को तो नज़र न लग गई है ! हो तो क्या हो ? जब-तक नज़रों से बीवी की सूरत नहीं उतरती, तबतक तो राह दिखाने पर भी तुम्हें नज़र न आएगी। मैंने नवाब साहब के इलाक़े पर दो सौ की एक ख़ासी जगह ठीक करा दी, और वह भी अफ़सरी—कुछ मातहती नहीं। मगर, तुम्हारी अक़्ल पर तो पत्थर पड़ा है। यहाँ तलवे सहला रहे हो ! अब क्या तुम्हें कलकटरी मिल जाएगी ?"

"मैनेजर साहब, मुझे तो तहेदिल से क़बूल है। मगर अभी बिजली से·····"

"तो क्या तुमने ज़िक्र भी नहीं छेड़ा ?"—मैनेजर साहब ने बात काटकर पूछा।

"मौक़ा ही कहाँ मिला ? उसे अपने मिस्सी-काजल से फ़ुरसत भी मिले !"—सलीम ने बड़ी आजिज़ी से कहा।

"अम्याँ, मिस्सी-काजल नहीं, पेंट-पाउडर कहो। हाँ, तो आख़िर तुम कबतक जा सकोगे ?"

"मैं तो आज भी तैयार हूँ ; मगर यहाँ से छुट्टी मिले, तब न !"

"अजब सिड़ी हो ! क्या उसने तुम्हें आँचल के खूँट में बाँध रखा है ? यह भी कोई बात है ! मैं तुम्हारी जगह होता, तो कभी दामन झाड़कर अलग हो जाता। अब भी तुम्हारी आँखें नहीं खुलतीं ?"

मिस्टर अहमद कुर्सी को और भी नज़दीक खींच लाये, और सलीम के कंधे पर हाथ रखकर फुसफुसाना शुरू किया। वेटर ने मेज़

पर जिन और ह्विस्की के गिलास रख दिये।

"भाईजान! माफ़ करना, तुम्हारी बिजली तो चमन की तितली है। वह उड़-उड़कर फूल-फूल का रस लेगी। कुछ एक की होकर तो वह निभ नहीं सकत "

सलीम ने आँखें फाड़कर मिस्टर अहमद को देखा। उसकी छाती धक्-से कर गई। उसने एक साँस में गिलास को साफ़ कर डाला।

मिस्टर अहमद ने हाथ के शीशे की आड़ से सलीम का चाँचल्य देखा, और एक अव्यक्त मुस्कान से उनके होंठ के पल्ले काँप गये।

"सलीम! यह वह फूल है, जिसमें रंग तो है—बू नहीं। नाज़ो-अदा है,—वफ़ा नहीं।"

"माफ़ कीजिये। यह आपकी भूल है; वरना मुझ-जैसे मुफ़लिस के लिए तमाम ऐशो-इशरत पर लात मारकर·····"

सलीम आगे न बढ़ सका।

"अम्याँ, तुम भी किस फेर में हो! वह एक मस्ती का झोंक था, ख़त्म हुआ। तुम्हें पता नहीं, यह वह बुलबुल है, जो चोंच में दिल लिये फिरती है·····"

"दिलवर की तलाश में?·····"

"जी नहीं, गुहर की तलाश में। भला वह एक वीराने में आशियाना बाँधे रहेगी?···"

"नहीं तो, जाएगी कहाँ?"

"जाएगी कहाँ! यह भी कोई बात है?—बाज़ार में, गुलज़ार

में ! कल उसके पर बँधे हैं !"

"मगर, साहब, आपने भी तो बड़े तपाक से अभी उसकी क़दम-बोसी की। इस मुहज्ज़ब तरीक़े से तो आप किसी मल्के की....."

"बस, रहे तुम यों ही। अरे भाई! मुझे तो उसकी जूतियाँ सीधी करने में भी एतराज़ नहीं। आख़िर मेरी तो यही रोटी है न"—

"जो हो, मुझे यह आजिज़ी ज़रा भी न जँची। मगर हाँ, मैं आपको इलज़ाम क्यों दूँ! वह तो ख़ुद ही चापलूस के दाने चुगती फिरती है। इसी शान-शौक़त के नशे ने तो उसे तबाह कर रखा है। फिर भी आज इस ठाले में नवाब साहब के साथ फ़ैंसी-मेले की सैर—और मुझसे ज़िक्र तक नहीं....."

"तुम भी हो काठ के उल्लू! यह भी कोई बात है! सुनो, यह दक़ियानूसी तहज़ीब के ख़िलाफ़ जो हो; पर इस ज़माने की तमीज़ तो दूसरी नहीं। बीवी की दिलबस्तगी मियाँ से नहीं और मियाँ के दिल की कली बीवी के आँचल की हवा से नहीं खिलती।' दोनों दिन-भर अलग-अलग टोलियों में चरते-चुगते, खेलते-खुनते रहे, और आधी रात तक नशेमन में दाख़िल हो गये। यही तो मॉडर्न तरीक़े हैं।"

"मगर, सच पूछिये तो, मुझे नई रोशनी की तरतीबें बिलकुल पसन्द नहीं। बीवी घर की ज़ीनत है। उसे हवाख़ोरी सूझी, तो ख़ुदा की क़सम, लुटिया डूबी!"

"वल्लाह! तुम भी किस ख़्वाब में ग़र्क़ हो! ज़माने की रविस नहीं

देखते ? अम्माँ, वे दिन लद गये, जब बीवी चिक के भीतर चूल्हा फूँकती रहें और मियाँ बाहर गुलछर्रे उड़ाते रहें। इधर तबले की ठनक हो और झाँझों की झनक—दोस्तों के रंगीन झुरमुट में मीने की खनक ; और उधर बीवी परदे में बैठ कर ताबड़तोड़ चिलम-पर-चिलम भरती रहे और गंगा-जमनी तश्तरी पर हकासे-पियासे गिलौरियाँ सजती रहें। और, आपने जब अन्दर आकर 'वाह बीवी' की, तो बीवी, सुहाग से घुलकर, पाजामे से बाहर हो गई ; और इसी पसीने की ताबेदारी को वफ़ादारी की ख़िल्लत देकर आपने बिचारी को चकमे में डाल रखा, और ख़ुद छैल-छबीले बने चौक के चकलों की सैर करते रहे। क्यों साहब, यही न बाप-दादा के वक़्त के सलीक़े थे ? तायफ़ों की तानों और मियाँ भाँड़ों के तरानों के दिन गये। अब तो तफ़रीह की जगह क्लब और होटल हैं ; फ़िल्म और थिएटर हैं। बुर्क़ा-फेंक बीवी परदे की मुस्सियाँ उड़ाकर हर चकल्लस की शोरिश में मियाँ के कान तराशने पर तैयार हैं। भाई साहब, ऊँची एँड़ी के जूते ज़मीन नहीं छूते !"

मैनेजर साहब ज़रा रुक गये। ह्विस्की का गिलास होठों से लगाया, और बोले—"उठो, चलो। क्यों ख़्वामख़्वाह बीमार बने बैठी हो ? बिजली न रही, तो क्या दुनिया ख़ाली हो गई ? यह भी कोई बात है ? मिसेज़ सूर किस नाज़नीन से कम हैं ? ज़रा छेड़कर तो देखो, किस कमाल के अन्दाज़ हैं !"

मिस्टर अहमद ने झटके देकर सलीम को कुर्सी से उठाया, और बग़ल में हाथ दिये मिसेज़ सूर की तलाश में निकले। अब उनका दूसरा

पेग चल रहा था और हाथ में प्याले की छलक मौजूद थी।

राम जाने, उनकी तोंद के दायरे में कितनी बोतलों की गुंजाइश है। दिमाग़ के दराज़ में तो सैकड़ों क़राबे शराब की रूह भरी है। इसीलिए इधर ह्विस्की के बैरेल की तरह तोंद का फैलाव है और उधर दिमाग़ में ह्विस्की की आग की तरह ग़ज़ब की तेज़ी।

मिसेज़ सूर रास्ते में ही मिल गईं।

"हल्लो! मिस्टर सलीम! आपके टेनिस का इस क़दर शोर है। आइए तो, एक हाथ मैं भी देखूँ!"—मिसेज़ सूर ने आँखों से मुस्कुराकर कहा।

"मैं किस लायक़ हूँ! और, आपके मुक़ाबले···"—सलीम ने जरा व्यंग्य से जवाब दिया।

"वाह! मुझी से उड़ने लगे! क्या मैं जानती नहीं, आप हिन्दुस्तान में दूसरे सलीम हैं?"

"मैं? आपने ख्वाब तो नहीं देखा है?"

"ख़्वाब ही सही। किसी तरह आपको देखा तो?"

"वाह, जनाब!"—मिस्टर अहमद ने तोंद सहलाकर फ़रमाया—"आप छुप-छुपकर मिसेज़ सूर के ख्वाबगाह में भी जाने लगे? वल्लाह! वहाँ भी आपका गुज़र है? क्यों न हो, सलोनी शक्ल रखना भी एक ऑल-राउंड पासपोर्ट है। जन्नत में भी सूरत ही की क़द्र है। मुझे तो कोई फूटी आँखों भी न देखता होगा!"

"क्यों नहीं? आपकी इस नायाब तोंद की बलाएँ लेने को आपके

बेड-रूम में बहिश्त की हूरें भी उतर आती होंगी। आप तो नींद में ग़ाफ़िल रहे, आपको पता कहाँ!"—मिसेज़ सूर ने हँसकर कहा।

सभी हँस पड़े। सलीम के चेहरे के बादल को विनोद की हवा उड़ा ले गई।

"आपको क्यों न ख़बर होगी? आख़िर परी की बातें परी ही जानती है!"

फिर क़हक़हे पड़े।

"तो आख़िर क्या ठहरा? टेनिस का जाल खड़ा कराऊँ?"

"मुझे मुआफ़ हो। मैं तो इस जाल में जाता नहीं!"—सलीम ने खिलखिलाकर कहा।

"वाह! आप ही के लिए जाल खड़ा हो और आप ही ग़ायब!'—मिस्टर अहमद ने गिलास साफ़ करते-करते फ़रमाया।

"डरिये मत। यहाँ किसी के ज़ुल्फ़ों का जाल नहीं है। और आप तो टेनिस-चमन के दूल्हा ठहरे!"—मिसेज़ सूर ने चितवन की चाशनी में एक डली की मुस्कान मिलाते हुए कहा।

"ख़ूब! और आप बॉल-रूम की दूल्हन!"—क्यों?—सलीम ने उसी रंग में जवाब दिया।

"अलबत्ता! यह दूल्हे और दूल्हन की एक ही रही!"—मिस्टर अहमद ने दाँत निपोरकर छेड़ा।

"अच्छा, आप मुझे टेनिस का सबक़ दें और मैं आपको बॉल-रूम की तालीम दूँगी!"

"दुरुस्त! यह आपस की लेन-देन मजे की चलेगी। सलीम! है मंजूर?"—मिस्टर अहमद ने सिगार का कश खींचकर पूछा।

"ब-सरो-चश्म!"—सलीम ने तपाक से सर झुकाकर कहा—"तो फिर कोई एक शुरू हो—टेनिस या डान्स!"

"लॉटरी डालिये!"—मिसेज़ सूर ने छूटते ही जवाब दिया।

मिस्टर अहमद ने कोट के पाकिट से एक रुपया निकाला और उसे अँगूठे पर उठा सलीम की ओर मुड़कर पूछा—"बोलो, हेड या टेल?"

"हेड।"—सलीम ने कहा।

रुपया ठनका और हवा में नाचकर ज़मीन पर आ पड़ा। सबने झुककर देखा, तो 'टेल' ही ऊपर मिला!

मिसेज़ सूर उछल पड़ीं और सलीम की बग़ल में हाथ डालकर बॉल-रूम की ओर खींच ले चलीं।

षष्ठ परिच्छेद

'रोल्स-रायस-कार' के पहियों में पर लगे हैं। वह हवा पर उड़ रही है; शहर के दामन पर मैदान का चक्कर दे रही है। न उस विशाल बॉडी में कहीं मच-मच की आवाज़, न इंजिन की झनझनाहट। मुलायम गुदगुदे गद्दे, सिल्क की झालरें, पाँव फैलाने का आराम, दोनों बाज़ू पर मख़मली कुशन, छज्जे में बिजली के कुमकुमे—ग़रज़ कि वाह! क्या कहने हैं इनके!! शरीर का ज़र्रा-ज़र्रा एक सुखावेश के सुरूर में शराबोर है। मोटर की हवाख़ोरी क्या है, जन्नत की फ़िज़ा है।

पहले मौसम का ज़िक्र छिड़ा—सर्दी और गर्मी, हवा और पानी। यही विलायती सलीक़े की गुफ़्तगू का श्रीगणेश है। फिर भैरवदेव के

बाहनों—टामी और टोनी आदि—की चर्चा चली। नवाब साहब ने कुक्कुर-कुल-कुमुद-कलाधर 'टोनी' की नियमित जीवन-चर्या की कथा, रणस्थल में उसकी वीरता और धीरता की वार्ता, नमक-मिर्च लगाकर तबाक से पेश की। टामी की मिहनत और दयानत की, टोनी की प्रतिभा और तेजस्विता की, मोना की महाप्राणता और प्रभुपरायणता की, सोनी की सुन्दरता और शीलता की विविध कहानियाँ उन्होंने बड़ी आजिज़ी से अर्ज़ की।

किस नस्ल के कुत्ते कुलीन हैं, किस ख़ानदान में रियासत की बू है, किस शक्ल पर सिपाहियाना चिह्न रहता है, किस सूरत पर शराफ़त बरसती है, कब-कब उनके कुत्तों ने मैदान मारा है, कब केनेल-क्लब के सेक्रेटरी की हैसियत से उन्होंने कुत्तों को प्रदर्शनी की आयोजना की, और कब टोनी ने मार्के का कप पाया—ये सभी निहायत जरूरी बातें बिजली की जानकारी के लिए बयान की गईं।

नवाब साहब ने साथ-साथ अपनी परीशानी भी सुना डाली—"आज पूरे उन्नीस दिन हो गये, मेरा वीर बहादुर 'जानी' नीमोनिया में मुबतला है, और जब-जब मैं अस्पताल जाकर उसकी तकलीफ़ को देखता हूँ कि किस बहादुरी से वह मौत से पंजा ले रहा है, तो ख़ुदा की क़सम, कलेजा निकल आता है।"

बिजली ने नवाब साहब की अन्तर्वेदना से समवेदना प्रकट की और झुककर पायदान पर बैठे स्पैनियल की पीठ सहलाई। उसके हाथों की चन्द फ्रैन्सी चूड़ियों की खनक नवाब साहब के कानों में सितार की मीड़ की तरह मीठी लगी।

"अगर चारपायों में कोई इन्सान है, तो वह है जर्मन ब्रीड का सेंट बारनार्ड!"—यह फ़तवा देकर नवाब साहब ने श्वान-पुराण की कथा समाप्त की।

फिर ज़माने की रवानी—औरतों की आज़ादी की चर्चा छिड़ी। नवाब साहब मौक़ा देखकर ऐन मुद्दआ पर आये।

"*मिसेज़ सलीम! मैंने भी दुनिया का कोना-कोना छान डाला है; मगर इस शख़्स के हुस्न के साथ-साथ ऐसा दिल और दिमाग़*....."

बिजली घुल पड़ी, पर बात काटकर ज़रा झेंपती हुई बोली—"आप मुझे क्यों शरमा रहे हैं? अभी तो महज़ दो दिन की....."

"बन्दानेवाज़, दो दिन तो बहुत हैं! बस, एक झलक काफ़ी है। जो असली जौहर है, वह सर पर चढ़कर बोलता है। सूरज की किरन सुई की नोक के बराबर सूराख़ से भी चमक उठती है। आपके बदन का ज़र्रा-ज़र्रा न जाने किस रूहानी किरन से रौशन है! बिजली भी कहीं बादल में छिपी है?"

"नवाब साहब, आपसे कोई ख़ुशामद का अन्दाज़ सीखे!"—बिजली कनखियों से बिजली गिरातो हुई बोली।

"माशल्लाह! ख़ुशामद? ख़ुशामद तो मैंने मरहूम अब्बाजान तक की नहीं की, न कभी सूबे के गवर्नर की। मगर जो बात होगी, हज़ारों में डङ्के की चोट कह दूँगा। ख़ुदावन्द करीम ने आपको महज़ हुस्न का जलवा ही नहीं अता किया—हया दी है, तो मीठी शोख़ी भी दी है; दिल जैसा कुशादा दिया है, वैसा ही ऊँचा दिमाग़ भी बख़्शा है। और,

वल्लाह ! यह मिज़ाज का अन्दाज़ ! ख़ुशमिज़ाजी से बढ़कर इस ज़िन्दगी में दूसरी कोई न्यामत नहीं, न इन्सानियत से बढ़कर कोई ख़िल्लत है।"

बिजली जामे से बाहर हो चली। यों तो वह बचपन ही से ख़ुशामद की ज़मीन से वाक़िफ़ थी, पर नवाब साहब की बातों के जाल में उसने एक नया रंग—एक नया चमन—देखा। वह शुस्ता मज़ाक़, वह सलीक़े का संलाप, वह बारीक ख़ुशामद का अन्दाज़, वह दिलजोई की तरतीब—एक नई दुनिया की हवा थी।

नवाब साहब की ज़बान की रस-भरी लन्तरानियाँ शहद के फ़व्वारे बनकर बिजली के चारों ओर उमड़ पड़ीं।

भगवान् जाने, इस ख़ुशामद का अंजाम क्या होगा। बिजली की यह कमज़ोरी तो कुछ आज की न थी। उसके सामने हाथ जोड़े स्तोत्र पढ़कर सुना देना है और सर झुकाकर दीप-नैवेद्य दिखा देना है; फिर तो पुजारी मिष्टान्न का थाल उठाकर चट कर जाय, तो भी कुछ इनकार नहीं! हाँ, अगर कोई विशेष वरदान लेना है, तो भले ही लगातार स्तुति-वन्दना या गन्ध-धूप-दीप-नैवेद्य का विशेष आयोजन करना ज़रूरी है।

मोटर, पार्क के सामने आकर, ज़रा रुकी। हुस्नहिना के झोंप से ख़ुशबू की भीनी लपट आकर मोटर को शराबोर करने लगी। टोनी कूद पड़ा। नवाब साहब ने हाथ से एक गेंद उछालकर बाहर फेंका और झमी टप से उसे मुँह में थामकर मोटर में दौड़ आया।

बिजली उसकी कुशलता पर मुग्ध हो गई। झमी के मिट्टी मे सने

पंजे का एक छींटा बिजली की साड़ी के छोर पर जा पड़ा। नवाब साहब ने चट पाकेट से रेशमी रूमाल निकाला और उसे साफ़ कर डाला।

"आप क्यों·····?"—कहते हुए बिजली ने पैर खींच लिये।

नवाब साहब ने टामी की बदतमीज़ी पर खीजकर उसे एक चपत रसीद करना चाहा। बिजली ने हाथ बढ़ाकर टामी की तरफ़दारी की, और हाथ का वार हाथ पर आकर रुक गया! इधर हाथ पर हाथ जो पड़ा, तो दोनों हँस पड़े!

नवाब साहब ने देखा, बिजली के दाँत क्या हैं, मोती के छड़े हैं; हँसी क्या है, बिजली की तड़प है!

तबतक एक भनभनाता हुआ बर्रे कहीं से बहककर खिड़की की राह मोटर में घुस गया और बिजली 'बर्रे, बर्रे' कहकर सहमी हुई पीछे दब चली। नवाब साहब रूमाल से उसे उड़ाते हुए बोले—"यह बर्रे नहीं, परवाना है। रुख़े-रौशन पर जाँ-निसार होने को आ रहा है! काश मैं भी·····"

"चलिये, मेले में चलें"—बिजली ने बात पलट दी।

"जो इरशाद!"

मोटर चल पड़ी और फैंसी-मेले के फाटक पर आकर खड़ी हो गई। पहले टोनी और टामी उछल पड़े। फिर नवाब साहब उतरे; बिजली भी उतरी।

मेला जगमगा रहा है। बिजली की बत्तियों ने अंधेरे का गला घोंट डाला है। रात बिचारी दिन के पाले पड़ी है। आसमानी पर्दे के

सितारे ज़मीन पर सितारों से जगमग एक दूसरा आसमान देखकर आँखें मीच रहे हैं।

दूकानों की सजी क़तारें हैं—एक ओर कपड़ों और गहनों की, दूसरी ओर पारचून और बरतनों की। कहीं चाय-बिस्कुट का ठाट-बाट; कहीं कलाक़न्द और शकरपारे की सजावट। खानेवाले और पीनेवाले दोनों के लिए दिलफ़रेब इन्तज़ाम है। एक ओर क़बाब और कटलेट, दूसरी ओर क्लैरेट और कॉकटेल।

सैकड़ों तरह के खेल-तमाशे, कार्निवल और जूए हैं। कहीं पाजामा-शेरवानी, कहीं पंजाबी धोती। कहीं कोट-पतलून में लैस जेंटिलमैन, कहीं नंगे बदन चादर डाले द्विजदेव। लेडियों की रंगीन साड़ियों की लहर जाने कितने कलेजों पर टकराती है। उनकी चंचल निगाहों की चुहलबाज़ी मुरादों का एक बवंडर उठा रही है। मेला क्या है, शौक़ीन नौजवानों के—फ़ैशनपरस्त नाज़नीनों के—अरमानों का मीनाबाज़ार है। बिजली-बत्तियों का विशद विकास, दूकानों की तड़क-भड़क, दूकानदारों की हाँक-डाँक, गोल-मुलाई की मचलें, जुएबाज़ी का शोरग़ुल।

एक ओर दबकी हुई देहाती औरतों की झुलनी और झबिया की झलक, उनके बच्चों की कुलेल; दिहातियों की पगड़ी, बीड़ी और लाठी; दूसरी ओर शहरियों की घड़ी-छड़ी की बहार, शरीफ़ों के रंग-ढंग, लिबास और बोलचाल के अन्दाज़ इस बाज़ारे-गुलज़ार के गुल-बूटे हैं।

जब बिजली मोटर से उतरी, एक सनसनी फैल गई—"भाई! यह कुत्तेवाला नवाब इस जन्नत की परी को कहाँ से उड़ा लाया!"—सैकड़ों

के लब पर यही आवाज़ उठ आई।

नज़रों की दूरबीनें तन गईं। बिजली जिधर निकल जाती, पलकों के फ़र्श बिछ जाते। न नवाब साहब के पैर ज़मीन पर आते, न बिजली के क़दम मेले की हरी-हरी लॉन पर। वह तो रंगरूप की निराली—जहाँ जाती, पलक मीचते मैदान ले लेती।

मेले में आकर उसकी आँखें खुल गईं। दौलत की रँग-रलियों ने उसके कलेजे में गुदगुदी पैदा कर दी। नवाब साहब उस अंजुमन के दूल्हा हैं। उनके सामने झुकी हुई गरदनों की घटा उमड़ी आ रही है और उस घटा के भीतर बिजली-जैसी सैकड़ों बिजलियाँ पल भर चमकें तो क्या!

आख़िर, बात क्या है? क्यों आज विश्वलोचन उनके चरणों पर मूर्च्छित है? रूप? सलीम तो उनसे कहीं रूपवान् है! यौवन! उनके चेहरे की पालिश कुछ स्वास्थ्य की सुर्ख़ी नहीं। कभी गालों की उभरी हुई हड्डियाँ सेहत का सिगनल नहीं होतीं। तो क्या बोलचाल! कितने ज़बान और तमीज़ के उस्ताद इस ज़माने में जूतियाँ चटकाते फिरते हैं!

तब? सच है, धन ही विश्व की विभूति है। जिसके सर पर अशर्फ़ियों का साया है, उसीके करतलगत ज़ीनत है, बरकत है, जन्नत है।

वह कहाँ-से-कहाँ एक मुफ़लिस की रंगीन सूरत की पत्रियों की नाव पर अपने तमाम भविष्य को लादने चली थी! इस नादानी की कोई हद भी है? वह तड़पकर रह गई।

नवाब साहब उसको लिये एक मशहूर जौहरी की दूकान में घुस गये। दूकान का मालिक उस वक़्त दो-चार ख़रीदारों को लाकिट और अँगूठियाँ दिखा रहा था। आपको देखते ही उसने इन मुवक्किलों को बाक़ायदा अपने असिसटैंट के सुपुर्द किया और ख़ुद तड़फड़ आपके सामने आ झुककर ताज़ीम किया।

"अक्ख़ाह! मिस्टर अमीन, आप यहाँ कैसे? आप तो विलायत में न थे?"

"जी हाँ, हुज़ूर! मुझे वापस हुए एक माह हो चला। फ़र्म की एक नई ब्रैंच बनारस में भी खुल गई है। मुझे वहीं की मैनेजरी मिली है। आज वालिद कुछ काम से दिल्ली चले गये; वरना अबतक हुज़ूर के दरे-दौलत पर हाज़िर हुआ रहता।"

"आप विलायत सैर की ग़रज़ से गये थे या·····"

"नहीं, हुज़ूर, वहाँ मैंने सेटिंग और मीने की नई तरतीबें सीखीं। एक कारीगर भी साथ लाया। जो सेटिंग और मीने का काम मेरे फ़र्म में होगा, वह विलायत की तैयारियों से लोहा लेगा।"

"सच! आप यहाँ ठहरे कहाँ हैं?"

"उसी होटल में, जहाँ हुज़ूर हैं।"

"कबतक क़याम है?"

"यही आठ-दस रोज़!"

"फिर तो मुलाक़ात होगी। विलायत की ताज़ी ख़बरें सुनने को मिलेंगी। ख़ैर, कुछ नये पैटर्न की चीज़ें हों, तो निकालिये।"

"जो इरशाद"—अमीन ने शीशे की आलमारी का पल्ला खोलते हुए कहा—"बन्दानेवाज़, एक-से-एक नायाब चीज़ है। हुज़ूर ही के लिए तो ख़ास ऑर्डर देकर तैयार कराई गई हैं।"

बिजली ने देखा कि अमीन एक शकील नौजवान है। पंजाबी डीलडौल, दमकता हुआ चेहरा, अंडानुमा गोल सर, रस-लीन चितवन, जुटी भवें, भींगती रेख—सब कुछ एक विचित्र सौन्दर्य के परिचायक हैं। काशनी सर्ज का कोट है और सफ़ेद फ़लालैन का पतलून। कानी उँगली की अँगूठी का हीरा नेकटाई के पिन के मोती से मेल खाता है। एक-एक हरकत से चरफर चुलबुलाहट का अन्दाज़ है। तमीज़ और तेज़ी अपने चिरन्तन विरोध को भूलकर एक दूसरे की अभिन्न सहचरी बनी हैं।

हीरे और मोती से कमरा जगमगा उठा। मोतियों के मुन्तशे, हीरे के टायरे, पुखराज के आर्मलेट, मीने के ब्रेसलेट, सैकड़ों तरह के जवाहरात के नेकलेस, ब्रूच, पिन, इयरिंग, कँगने, बाले, झुमके—बिजली की रोशनी में रौशन हो उठे। वह आबोताब कि आँखें नहीं ठहरती। एक छोटी-सी मेज़ पर लाखों का बाज़ार जम गया।

बिजली की आँख एक हीरे के झुमके पर पड़ी और उसकी ख़ूबसूरती पर लुट गई। न जाने वह किस उत्तेजना के वशीभूत अपनी परिस्थिति भी भूल गई और हथेली पर उठाकर प्यासी नज़रों से उसे देखने लगी।

नवाब साहब ने मुड़कर उसकी आँखों की चमक देखी और होठों में मुस्कुराहट को चुराकर आहिस्ते से कहा—"मिसेज़ सलीम! यह चीज़ आप ही को ज़ेबा है।"

नवाब साहब की आवाज़ कानों में आते ही बिजली सँभल गई और फ़ौरन् उसे केस में वापस करना चाहा। नवाब साहब ने उसके हाथ से झुमके को थाम लिया और अमीन को एक मनोहर मख़मली केस निकालने का आर्डर दिया।

हुक्म पाते ही उधर अमीन मुड़ा, इधर नवाब साहब बिजली की ओर झुके। वह सर हिलाती हुई बोली—"नहीं-नहीं, मुझे ज़रूरत नहीं। आप क्यों फ़िज़ूल....."

"आपको ज़रूरत न हो, मुझे तो ज़रूरत है! और हम दोनों से ज़्यादा इस झुमके की माँग है। इसकी मुराद तो पूरी हो! इन गालों के पहलू में लोटने से इसे भी ज़ीनत मिलेगी!"

"सच कहती हूँ, नवाब साहब, यह क़ीमती झुमके मेरे काम के नहीं।"—बिजली एक मीठे तिरस्कार से उस ज़ेवर को टालती हुई बोली।

"मिसेज़ सलीम, इसकी क़ीमत आपके कानों में झूमकर होगी; वरना कुछ भी नहीं। आज आपकी साल-गिरह है और मुझे नज़र करने का हक़ है। आपने इनकार किया, तो मेरी हक़तलफ़ी होगी।"

"नवाब साहब, आप मुझे क्यों शर्म दे रहे हैं?"

"और आप मुझे क्यों शर्म दे रही हैं? मैं दस्तबस्ता अर्ज़ करता हूँ, आपका यह एहसान मेरे सर पर रहेगा।"

बिजली चुप हो गई। नवाब साहब ने पैकेट को हाथ में उठा लिया, और अमीन की ओर मुस्कुराकर 'गुडनाइट' कहते हुए—जिस तपाक से आये थे उसी तपाक से पुलकित—बिजली को

साथ लिये मोटर में दाख़िल हुए।

अमीन ने असिसटैंट को पुकारकर कहा—"देखो, कल बिल बनाकर होटल में नवाब साहब के पास भेज देना—भूलना नहीं!"

"वही किताबी क़ीमत लिख दूँ·····सात सौ पचास?"

"और क्या?"

इधर मोटर दनदनाती हुई जब होटल की बरसाती में रुकी, तब मिस्टर अहमद के सिवा और किसी की आँखों को यह पता न चल सका कि बिजली के कानों की बिजली पलट गई है!

बिजली हैंड-बैग लिये मोटर से उतरी, आँखें नचाकर मीठी मुस्कुराहट के साथ नवाब साहब को थैंक्स दिया, और सीधे अपने कमरे की ओर चली। सीढ़ियों पर चढ़ते हुए उसने एक बार सलीम के लिए इधर-उधर ज़रूर निगाह दौड़ाई; पर वह एक क्षण के लिए भी कहीं ठमकी नहीं—मुस्कुराती हुई अपने कमरे में घुस गई।

नवाब साहब बिजली को रुख़सत कर मिस्टर अहमद की ओर मुड़े, और दोनों ने झूम-झूमकर हाथ मिलाया। नवाब साहब बोले—"मिस्टर अहमद! आपकी बिजली क्या है, बिलकुल पुदीने की चटनी है! आन-बान का मिर्च कुछ इस अन्दाज़ से है कि क्या कहना—निहायत ख़ुशगवार। भई, यह पालतू कनारी नहीं, चमन की बुलबुल है!"

"मैंने तो पहले ही हुज़ूर से अर्ज़ किया था। हुज़ूर का इक़बाल बुलन्दी पर है। और, बन्देनेवाज़, सलीम भी 'मिसेज़ सूर' की

शागिर्दी में बॉल-रूम के मदरसे में दाख़िल हो गया। टैंगों और फ़ाक्सट्राट की तालीम दी जा रही है। जानीवाकर का जाम भी दौर पर है। अब भी न गुल खिलेगा, तो कब फिर ?"

"भई, ख़ुदा का शुक्र है। आज अव्वल मंज़िल तो कट गई। अब·····"

"देखना क्या है, हुज़ूर ! मंज़िले-मक़सूद तो अब क़रीब आ गई !"

"आख़िर इतना आसान नहीं। यह रास्ता ज़रा पथरीला है। जबतक आपकी पूरी·····"

"मैं तो, हुज़ूर ! क़दमे, रक़मे, सख़ुने, दिरमे—हर तरह से ख़िदमत के लिये तैयार हूँ।"

"मुझे आप ही की तो उमीद है। ख़ैर, अब आप बिल की वसूली का तक़ाज़ा शुरू कर दें—आज ही, देर न हो।"

"जो इरशाद !"—अहमद ने वेटर को बुलाकर एक छोटा पेग तलब किया और कहा—"हुज़ूर ! आज की ख़ुशी में तो शैम्पेन की बोतल खुलनी ज़रूरी है। हुक्म हो तो·····"

"मँगाइये। आज शैम्पेन-कप पर बिजली का टोस्ट हो। सच कहता हूँ, मिस्टर अहमद, ऐसे कमाल के नख़रे-तिल्ले मैंने उम्र-भर नहीं देखे !"

इधर बॉल-रूम में सलीम, मिसेज़ सूर के आँचल के साये में, टैंगों और फ़ाक्सट्राट की बारीकियाँ हल करने में मसरूफ़ है। उसके

पैरों में पर लगे हैं। वह झूम-झूमकर नाचता क्या है—उड़ रहा है! नये शौक़ की नई लज़्ज़त! नये जोश की नई फ़रहत! आँखों पर सुरूर की मसर्रत! न होटल-बिल की बला सामने है, न बिजली के तेवरों का डर आँखों पर।

छाती को छाती गुदगुदाने लगी। आँख को आँख कुरेदने लगी। रग-रग में कामना फनफना उठी। पोर-पोर में ह्विस्की चिल्ला उठी। नेकटाई से आँचल की आँखमिचौनी रही। क़दमों से क़दमों की छेड़खानी चली। घड़ियाँ हवा के घोड़े की पीठ पर सवार हो गईं।

लेकिन जब डिनर का गॉंग कानों पर मुअज़्ज़िन की अज़ान की आवाज़ बनकर बजा, तो आज साल-गिरह की रात बिजली के सूने हाथ जाने का आतंक कलेजे में धुआँ बनकर छा गया!

सप्तम परिच्छेद

बिजली ने कमरे में आकर नये झुमकों को कानों से उतार दिया। बिजली की रोशनी में उन्हें हथेली पर रखकर उनके जुगनू की चमक देखी। कमल हीरे की आभा आँखों में खुब गई। वह ज़रा-सा होठों पर मुस्कुराई। फिर कानों में लटकाकर उनकी किरन देखी, और खुश हो गई।

उसने कार्सेट की तनी तोड़कर खोल डाली। उठाकर दराज़ में डाल दिया। सिल्क की एक संदली 'लिङ्गरी' निकाली। जापानी जार्जेट की साड़ी। आसमानी ज़मीन पर गुलेनार बूटे। मलमली ख़सख़सी ब्लाउज़। साड़ी बदल दी। नई साड़ी के रंग से मैच करती हुई फ्रेंसी चूड़ियाँ ढूँढ़ने लगी।

वह ख़ुश है—आप-ही-आप मस्त झूमती है। इतराती, बल खाती, आइने के सामने झूमकर कभी गुन-गुन गाती—

"दिले नादाँ तुझे हुआ क्या है!
आख़िर इस दर्द की दवा क्या है!"

पर, वह दर्द—वह टीस कहाँ है, इसे न वह ख़ुद बता सकती, न किसी को उसके आह्लाद-विह्वल अंगों का स्फुरण देखकर ही पता चल सकता। शायद जो टीस होगी, वह उसके कोकिल-कंठ में होगी; क्योंकि वहीं से एक दर्द-भरा सुर उठकर कमरे में भर रहा है; वरना उसके शरीर के एक-एक ज़र्रे पर तो वसन्त-चाञ्चल्य का पुलक है। यह किस अभिसार के अभिनन्दन के लिए उसके अन्तर में उमंगों का ऊधम है—इसे स्पष्ट जान लेना उसके लिए भी टेढ़ी खीर था। वह तो लदी डालों की चहकती बुलबुल-सी इधर-उधर कमरे में अपनी ही मस्ती की मौज पर फुदक रही है। उसके मन की क्यारियों में किस सुदूर मलय-प्रदेश की हवा है—उसकी हृत्तंत्री पर किस वसन्त-राग का सुर आप-ही-आप उठ रहा है—इसका पता उसके फ़िरिश्तों को भी न होगा।

शायद युवती नारी का अन्तर वह रहस्य-मय माया-निकुंज है—उसकी लीलाएँ कुछ ऐसी निर्विकल्प निगूढ़ हैं—कि बड़े-बड़े मनोविज्ञान विशारद भी उस अपरम्पार के तट पर जाते-जाते अतल तल में डूब जाते हैं।

बिजली ने आईने के पास खड़ी होकर अपनी मुस्कान के विविध

तरीक़ों का मुलाहज़ा किया। होठ बन्द रखे एक महीन सिहरन या होठों के पल्लवों का किलोल-कम्पन; दाँतों का बारीक स्फुरण; मन्द मुस्कान या तुन्द मुस्कान; मुस्कान में लज्जा या शोख़ी का पुट; साथ-साथ हिमायती नज़रों के मुलायम इशारे या स्पष्ट नख़रे—उसने एक-एक तर्ज़ को आँखें गड़ा-गड़ाकर देखा, उसकी बारीकियों को बार-बार हल किया, और किस तबक़े की मुस्कान या हँसी कहाँ तक उसके चेहरे पर खुलकर पुर-असर होती है—इसे चुन-चुनकर अपने तूणीर में सज डाला।

उसने देखा कि उसकी नाक के छोर पर पाउडर की पालिश ज़रा धूमिल हो चली है, उसे बराबर कर देना ज़रूरी है। उसने मेज़ पर से हैंड-बैग उठाया और पल्ले खोलकर पफ़ निकालने लगी। पफ़ के साथ-साथ नोटों का एक पुलिन्दा भी खिंच आया!

वह चौंक पड़ी। बिलकुल ताज़े चमकीले चुहचुह नोटों की गड्डी! उसका माथा ठनका—ऐं! ये कहाँ से टपक पड़े? कितने के होंगे?··· बस, एक हज़ार! जब छप्पर फाड़ ही कर बरसा, तब जी खोलकर मूसलधार बरसता; कोना-कोना भर उठता; क्यारियाँ उमड़ चलतीं। इस तवे की बूँद से न तो प्यास बुझेगी, न खेती ही पनपेगी।···ख़ैर, बूँद-बूँद से तालाब भरता है। जहाँ से हज़ार आया, वहीं से लाख भी आ सकता है।

···मगर, आख़िर यह आया कहाँ से? वह तो अल्लाह मियाँ की दुलारी नहीं, न जिन्नात की ही उस पर नज़र है। फिर, इस आसमानी बौछार की बुनियाद? यह हैंडबैग तो कुछ भानुमती का पिटारा नहीं!

ज़रूर यह नवाब साहब के हाथों की सफ़ाई है। वे ही इसे मोटर में उठाकर देख रहे थे। बिना कहे, बिना माँगे—उसकी ऐन ज़रूरत पर ये नोट बरस पड़े!

मियाँ सलीम महीनों से बाज़ार की ख़ाक छानते रहे, कानी चिट्ठी भी न ला सके! जनाब का पतलून तक ढीला हो चला है। और, बिजली ने मिनटों में ताली बजाकर आसमान से हज़ार रुपये बरसा दिये!

तो क्या वह नोटों को लौटा दे? नवाब साहब को ख़त लिखकर जता दे? मगर यह तो उसके हुस्न का नज़राना है! इस हज़ार की बिसात क्या? उसका एक-एक नक़्शे-क़दम नोट बन सकता है—नोट की छाप उखाड़ सकता है। एक-एक मुस्कान में मोती और मूँगे झड़ सकते हैं।

बिजली के मानस-पट पर एक आसन्न वैभव का स्वप्न खिंच आया। उसने आँखें उठाकर देखा, तो भविष्य की तसवीर पर सोने का पानी चढ़ा है। एकाएक उसी चित्रपट पर एक ओर सलीम की शक्ल उठ आई। उस मूरत को देखकर वह चौंकी, ज़रा-सा हँसी। फिर सोच में डूब गई—

"आख़िर सलीम सुनेगा, तो क्या कहेगा? कहेगा क्या? उसकी ज़बान को ज़बान भी है? कौन वह माल कमा लाया है कि मेरी लट दबी है! आज उसकी गाँठ में पैसे रहते, तो बिजली को कौन पूछे, सारे जहान को वह ता-थेई नचाता; पर मियाँ की तो सिट्टी-पट्टी गुम है! क़दम-क़दम पर कलेजा लरज़ उठता है। मैंने कुछ ग़ुलामी का दमामी

पट्टा थोड़े ही लिख दिया है! कौन कहे, शादी की बागडोर गले में पड़ी है।

"अलबत्ता एक प्रेम का सूत्र है; मगर उस प्रेम का मान उसी दम तक है, जिस दम तक मेरी प्रवृत्ति—मेरी उन्नति की गति में वह रोड़े नहीं अटकाता। राम ने ऐश्वर्य की जड़ मज़बूत करने के लिए प्रेम की जड़ काट डाली थी; नेपोलियन के हौसलों की बुलन्दी के तले उसकी प्रियतमा धर्मपत्नी पिस गई थी। ऐसी दिलेरी की निदारुण घटनाएँ अतीत के पन्नों में भरी पड़ी हैं।

"कोई लाख बेदर्द कहे, हृदयहीनता का हज़ार इलज़ाम दे; मगर दुनिया में कब कोई बग़ैर सैकड़ों के दिल कुचले या दूसरों के सर पर पाँव रखे ऊपर चढ़ सका है? जब तबीयत नर्म होती है, तब क़िस्मत भी नर्म रहती है। जो छाती का कड़ा है, वही मैदान में मारता या मरता है; और संसार में उसी बेदर्द बहादुर का सिक्का चलता है। जिसकी आँखों में ज़रूरत से ज़्यादा पानी है, उसके चेहरे पर शान का पानी कभी टिक नहीं सकता। जो दावा की जय मनाकर हाथ पसारता है, वह भीख पाता है—दौलत नहीं। और, जो मोह-माया पर लात मारकर दुनिया के सीने पर सवार दाँत गड़ाकर लहू चूसता है, वही रस भी लूटता है और यश भी।

"दुनिया ने तोताचश्मी की मलामत तो की; पर कितने तोता-चश्म को सरो-चश्म पर बिठाकर रखा, और छाती में रस-भरे कितने मुलायम दिलवाले ज़िन्दगी में एक बूँद रस की तलाश में होंठ चाटते रह गये।

"ज़माने में बग़ैर संगदिली और बदनामी के न धन मिलता है, न नाम। और, धनवाले के सामने नेकनामी और बदनामी हाथ बाँधे खड़ी रहती हैं। बिजली मुलायम भावनाओं की झाड़ी में पड़कर अपनी संभावनाओं की हत्या नहीं कर सकती।

"नवाब साहब ने आख़िर दिया ही क्या है? हज़ार-पाँच सौ तो उनके 'जानी' के इलाज में उड़ गया होगा। उनके पास-बुक में करोड़ ही क्यों न हो, वह तमाम रक़म तो रियाया के पसीने की कमाई है और उन्हें बिना हर्रे-फिटकरी के मुफ़्त हाथ लगी है। अगर लाख-दो-लाख उनसे ऐंठ ही लिया जाय, तो उनपर आँच आने को नहीं।"

बिजली ने हँस दिया। वह कुछ दुधमुँही बच्ची तो है नहीं। उसे धन की तलाश है और नवाब साहब को हुस्न की। बग़ैर कनकचित्ती के उसकी शान-शौक़त बेकार और बग़ैर हुस्न-परस्ती के नवाब साहब की दौलत बेकार। वह अपनी रुझान से मजबूर; नवाब साहब अपने मिज़ाज से मजबूर। वह अपने निसर्ग के आँगन में घुँघरू बाँधती है, नवाब साहब अपने निसर्ग के मैदान में कमर बाँधते हैं।

वह उठी और खिड़की के पास जाकर खड़ी हो गई। झुककर उसने इस संसार के मीनाबाज़ार को देखा, उसके विविध ध्वनि कम्पन को सुना—मोटरों की चहलपहल, कमरों से बिजली-बत्तियों का विकाश, लता-गुल्मों का झुरमुट, आकाश पर तारों की झिकमिक, सड़क पर शौक़ीनों की हलचल, ताँगे के घोड़ों की टाप की आवाज़, सामने कोठे के बरामदे में बेले से निकलता हुआ श्याम कल्याण का राग, और प्रकृति के ज़र्रे-

ज़र्रे पर एक जीवन्त स्पन्दन का विलास !

अचानक सामने आकाश से एक तारा टूटा और शून्य में आग की एक लकीर खींचता हुआ निःसीम विस्मृति के कूल पर लीन हो गया।... यही जीवन है। आठों पहर बेवजह बेकार भुकभुक करने से एक ही बार आग की लौ-सी भक-भक कर अनन्त-मग्न हो जाना कहीं बेहतर है। एक ही क्षण की भभक सही, पर वह एक क्षण उसका अनन्त क्षण है।

वह फिर न जाने क्या सोचने लगी। उसके चेहरे पर प्रसन्नता की लहर खेल उठी। भगवान् जाने, वह क्या देख रही है—क्या सोच रही है। जो कुछ भी हो—वह उमंगों की तरंग पर रह-रह कर काँप उठती है और कोने के बिल्लौरी आइने से लेकर खिड़की तक किसी संचारिणी पल्लविनी लता की तरह लहराती फिरती है। शायद उसके मानस-अम्बर पर जो धूमिल—पर, रंगीन—स्वप्न का बादल न जाने किस कोने से उठकर उमड़ा आ रहा है; उसे हेर-हेरकर उसकी कामना-मयूरी सैकड़ों आँखों से रस लेती हुई थिरक रही है।

तबतक किसी के पैरों की आहट कानों पर पड़ी। उसने झट नोट की गड्डी को दराज़ में छिपा दिया। उसका कलेजा धक्-से कर गया—कोई नवाब साहब का एजेंट न हो! मगर, नहीं; यह तो सलीम है!

सच! क्या यही वीर बहादुर बिजली का मनोहर सलीम है—हवन्नक़ की सूरत, उथल-पुथल बाल, खिंची हुई झेंपती आँखें, ढीलाढाला पतलून, लरजता हुआ कोट, शिकन खाये हुए कॉलर और कफ़!

नहीं, यह तो उस चिर-परिचित सलीम का कङ्काल है! क्या सचमुच

अभाव ने उसके यौवन के यौवन को लूट लिया ? सलीम वह सलीम न रहा ? नहीं-नहीं, आज भी तो प्रेम-सिञ्चन से यह तरोताज़ा हो सकता है !

सलीम की—शराब की बिगाड़ी हुई—शक्ल को देखकर वह खिझी नहीं। आज वह ख़ुश है। और, वह ख़ुशी की किरन कमरे की रोशनी हो रही है। उसके तेवर पर बल नहीं। आँखों में मरौवत है। उसने दिल-ही-दिल में कहा—बदक़िस्मत सलीम ! तुम क्या शराब पिओगे, शराब तो तुम्हें पिये जा रही है।

वह नज़दीक चली आई। सलीम कमरे में आकर ठिठका था। डिनर के लिये तैयार तो वह ज़रूर थी; पर कहाँ खाएगी—डाइनिंग हॉल में जाएगी या ख़िलवत में यहीं मँगाकर खाएगी ?—वह एक क्षण तक यही सोचती रही।

फिर ठुमुकती हुई सलीम के निकट आकर उसके कंधे पर दोनों हाथ रख प्यार से बोली—"तुमने फिर पीना शुरू किया, सलीम ? तुम तो पहले कभी पीते न थे !"

"पीता नहीं था ? ख़ूब पीता था ! तुम्हारी आँखें साक़ी थीं और तुम्हारे ये होंठ आबे-हयात के प्याले थे ! वह जामे-कौसर तो अब मिलता नहीं; झख मारकर जानीवाकर पीता हूँ !" सलीम ने ज़रा हँसकर कहा।

"सच ?"—"बिजली ने ख़ुश होकर पूछा।

"बिजली ! तुम्हें क्या मालूम कि तुम्हारी आँखों में, तुम्हारी ज़बान में, तुम्हारे लबों में, तुम्हारी अंगड़ाइयों में किस मार्के की अंगूरी है !

तलवार की तरह तेज़ कहूँ या कटार की तरह अनीदार ! और, जो इसे एक बार पी चुका है, उसे फिर विलायती बोतल की परी कहाँ तक लुभा सकती है ! मगर, वह ख़ुमख़ाना तो मेरे लिए अब आसमान का फूल हो गया। जहाँ एक दिन वह आठो पहर खुला रहता था और मैं आँखें गड़ा-गड़ाकर क़राबे ढाल जाता था, वहाँ अब एक बूँद भी नहीं मिलती ! बिजली !·····"

सलीम ने उसको चापलूसी का लबरेज़ प्याला पिला दिया। वह मस्त हो गई और सुहाग से सलीम के कंधों पर झूमकर हँसती हुई बोली—"तो फिर तुम विलायती बोतलों पर क्यों टूटते हो ?"

"क्या करूँ, असीरे-हिर्स हूँ ! जब सुराही की रूह नहीं मिलती, तो पेंदे की तलछट ही सही ! वह रस—वह मस्ती नहीं मिलती, तो बलानोशी की वहशत ही सही !"

"मैं क्या जानती थी कि तुम ऐसे प्यासे हो ! और, तुमने कहा भी तो नहीं !"—बिजली ने आँखें नचाकर आहत स्वर से कहा।

"ज़बान तक भी लाने की हिम्मत हो, तब तो ! यहाँ गरदन पर तो छुरी फिर रही थी !·····वही गरदन, जिसे मैंने तुम्हारे लिए नाप दी है। तुम्हारी आँखों में कहीं मुरव्वत का पता था ? तुम तो बात-बात पर मीन-मेख निकालती—जले फफोले फोड़ती·····"

"ख़ैर, जाने भी दो। जो मधुमक्खी मधु लुटाती है, वह कभी-कभी डंक भी मार देती है ! मैं तो समझती थी कि ज़माने की गर्दिश ने

तुम्हारी उल्फ़त की आतिश को सुबह के चिराग़ की लौ बना डाला है।

"बिजली! अगर मेरे दिल में आग बराबर लगी नहीं रहती, तो यक़ीन मानो, मैं शीशे की आग में नहीं कूदता। मैं तो शराब की बोतलों में और होटल की चुहलों में तुम्हें भुलाने की—नहीं-नहीं, अपने-आपको भुलाने की—लाख कोशिश करता; मगर छाती की भट्टी कभी ठंढी नहीं पड़ती। चंद घंटों तक एक नशा का कुहरा-सा छा जाता है—एक बेख़ुदी की बेहोशी-सी आ जाती है; मगर धुएँ के भीतर आग तो कभी बुझती नहीं। सच कहता हूँ, अगर तुम मुझपर मुहब्बत की नज़र रखती—भर-मुँह हँसती-बोलती, तो मेरी हिम्मत की मौज सितारे तोड़ती और बहुत मुमकिन है कि मैं अबतक किसी रोज़गार का रास्ता ज़रूर ढूँढ़ लेता। यहाँ तो तुम्हारे चेहरे पर किरन ढूँढ़ते मेरी रूह फ़ना रहती है, होश उड़े रहते हैं; फिर मैं ख़ाक मैदान लूँ!"

सलीम के लोचन-पल्लव भीग गये। बिजली घुल गई और सलीम से लिपट पड़ी। महीनों का भूला हुआ प्यार उमड़ आया। उसके दोनों हाथ सलीम की गरदन में जा पड़े—दोनों होंठ सलीम के लबों पर गड़ गये। होंठ क्या थे, रस-भरे अंगूर थे, और उस अंगूर की बूँद उसके उच्छ्वास के जोश पर खिंच गई। सलीम इस अंगूरी का मज़ा चखकर शैम्पेन का ज़ायक़ा भूल गया।

उधर सलीम की आँखों का जल बिजली की छाती में उतर आया। हृदय का एक-एक कोना भीग गया। और, इस छिड़काव से उसके ऊसर उर में हमदर्दी की एक नन्ही-सी कोंपल निकल आई।

उसने ठान लिया कि वह अब इतनी कठोर नहीं हो सकती। वह नवाब साहब के नोटों को वापस कर देगी! अब जो भी बात होगी, सलीम की सलाह से होगी। यही न कि उसकी शान-शौक़त में थोड़ी कमी होगी? कुछ परवा नहीं। होटल का बिल आख़िर कहाँ तक होगा? अभी उसके हाथ की एक चूड़ी उसे चुका देने को काफ़ी होगी सलीम को एक बार पनपकर फूलने का मौक़ा देना ज़रूरी है। अगर उसमें जौहर होगा, तो मैदान में आने पर साफ़ खुल पड़ेगा; अगर धाँधली होगी, तो·····ख़ैर, देखा जायगा।

बिजली ने बोसों की बौछार की; कभी ज़ुल्फ़ पर, कभी लब पर, कभी चश्म पर। सलीम के सर पर रहमत बरस पड़ी।

बिजली में मातदिली तो थी नहीं। वह आतिश का पलीता थी। ख़ुश रहती, तो बल्लियों उछलती; प्यार करती, तो कलेजा निकालकर रख देती। और, जब तकरार पर आती, तब तलवार निकाल लेती। यानी, जो हवा उठती, दुंद बाँधकर उठती। पर, कब किस कोने से कैसी हवा अचानक उठ पड़ेगी, यह तो शायद सलीम को भी मालूम न था।

जो हो, आज तो नन्दन-कानन की हवा थी और सलीम को ज़माने पर मिली थी। वह उछाह-भरे विस्मय में डूब गया। आज क्या है, बिजली के दिल में कोई रस का सोता-सा खुल गया है! वही आँखों की भूली हुई मुस्कान, वही ज़बान का परिचित पीयूष-स्रावन! डियर-डार्लिङ्ग की बौछार!

अहा ! प्रेम की वाणी में न जाने कैसी मलय की लपट है कि एक ही फूँक में दिल का धुआँ आसमान छू लेता है। जिधर गई, एक ख़शबू फैल गई—हृदय का कोना-कोना भर उठा। न जड़ता रही, न आशङ्का; न ग्लानि, न गुमान। स्विच टीपा और बिजली ने अन्धकार को पलक मारते बेकार कर डाला—कुछ वही चलत्शक्ति प्रेम की वाणी में निहित है—कुछ उसी तेज़ी से वह श्रोता के अन्तर के अन्धकार को उड़ा ले जाती है।

बिजली के निपुण हाथ ने एक ही झटके में सलीम के हृदय के टूटे तारों को खींचकर बाँध डाला।

सलीम तमाम ताप भूल गया। बिजली ने न जाने कौन-सा मन्त्र फूँक दिया कि उसकी भुजाओं की विगत शक्ति लौट आई। वह ज़मीन से उड़ चला। उसने बिजली को झट गोद में उठाकर गेंद की तरह उछाल डाला और फूल की तरह छाती में लोक लिया।

"वाह ! तुम तो रुस्तमे-हिन्द हो गये !"—बिजली ने पीठ ठोककर कहा।

सच है ! नारी की छाती की सरस मृदुता कितने खिन्न अवसन्न जीवन में पौरुष का पता लाती है ! उसकी उत्साह-प्रद चितवन की किरन में वह तूर की तजल्ली है, जो सैकड़ों तिमिराच्छन्न जीवन-पथ पर आनन्द का प्रकाश डालती है।

प्रेयसी के हाथ से तिलक पाकर जब हम मैदान में उतरते हैं, तब हमारे हाथ की तलवार बिजली-सी चमककर आपदों के सर पर टूटती है।

प्रियतमा के मुख की दिलासा-भरी वाणी से बढ़कर पुरुष के जीवन में दूसरी मृतसंजीवनी नहीं। इसी नींव पर अक्सर नवीन जीवट की गथनी खड़ी होती है।

"लिल्लाह! बस करो, मुँह-हाथ धो लो; बन-सँवर लो। भूल गये, आज मेरी साल-गिरह की रात है! आज मैं भी ज़रा शैम्पेन का मज़ा चखूँगी—हाँ!"

"तुम्हें शौक़ हो, चखो। मुझे ज़रूरत नहीं। मेरे सामने तो कौसर की नहर बह रही है। तुम्हारी नज़रों में तो दर्ज़नों बोतल ब्रांडी की रूह भरी है। भला, शैम्पेन की बूँद किस मर्ज़ की दवा होगी!"

"ख़ैर, जल्दी करो। जो जी में आये, पीना।"—बिजली ने कुछ हँसकर, कुछ शरमाकर, कहा।

सलीम ने ट्रंक की कुंजी तलाशी। ख़याल नहीं, कहाँ रख छोड़ी है। तलाशने में देर होने लगी। उसने एक झटके से ताला तोड़ डाला। पहले स्लेट-रंग का एक चेक-सूट निकाला, फिर निकाली—गुलेनार टाई, सिल्क की कमीज़, तौलिया और साबुन, कंघी और आइना, स्पञ्ज और क्रीम। झट बाथरूम की ओर लपका। किवाड़ तक पहुँचा होगा कि कमरे के बाहरी दरवाज़े पर खट-खट की आवाज़ आई।

बिजली ने पुकारा—"कौन है?"

बाहर से आवाज़ आई—"आपका ख़ादिम अहमद!"

"अच्छा! आप हैं! अन्दर आइये।"

बिजली ने लट सुलझा ली, साड़ी सँवार ली, और सचेत होकर

बीचोबीच कमरे में आकर खड़ी हो गई।

मिस्टर अहमद आये। साथ-साथ मिसेज़ सूर भी थीं। हाथ होटल का बिल।

बिजली ताड़ गई। बाथ-रूम के किवाड़ की फाँक से झाँक कर सलीम ने भी मामला भाँप लिया। उसका सारा नशा हिरन हो गया—चेहरा उतर गया।

"मिसेज़ सलीम! मैं बेवक्त मुख़िल हुआ! माफ़ी का ख़ास्तगार हूँ। क्या करूँ, होटल के रूल की पाबन्दी। महीनों से आपका बिल लटका चला आया।".....

"आपने मुझसे तो कभी कुछ कहा नहीं!"—बिजली ने तुर्श होकर कहा।

"बन्दानेवाज़! मैं शर्म व लिहाज़ से ज़बान पर न ला सका। जब मिस्टर सलीम को बीसियों बार....."

"आख़िर आज शब को ऐसी उजलत क्या है? मैं तो उड़ी नहीं जा रही हूँ! आप कल सुबह तक तो दम लें!"

"हुज़ूर मेरी बेबसी जानतीं, तो ज़रूर रहम खातीं। मैं तो हर पहलू से तैयार हूँ, ग़रीब-परवर! मगर मूज़ी शामलाल ने तो रास्ता बन्द कर रखा है। और है भी वही असल शख़्श; मैं तो महज़ मैनेजर हूँ। आज महीने की आख़िरी तारीख़ है। अगर बिल न चुका, तो मुझपर बला आती है। मुझे अपनी जेब से गिन देना पड़ेगा। हुज़ूर उसे जानतीं नहीं; चौबीसों घंटे टिर्र-टिर्र किये रहता है; कभी नाक पर मक्खी तक नहीं बैठने देता।"

"हाँ, उनके आगे किसी की एक नहीं चलती, मिसेज़ सलीम! क्या किया जाय!"—मिसेज़ सूर ने भी सुर में सुर भरा।

"देखूँ तो सही बिल!"

बिजली ने मिस्टर अहमद के हाथ से बिल ले लिया और आईने के पास कुर्सी पर बैठकर बिल का मुआयना करने लगी। मगर, देखती क्या ख़ाक! यहाँ तो आँखों में अँधेरा छा रहा है। वह तो देखने के बहाने सोच रही है कि कल तक किस तरकीब से वह टाल सकेगी। मिसेज़ सूर के आने से वह ज़रा मुश्किल में पड़ गई। औरत के सामने औरत कभी बग़लें नहीं झाँक सकती; यही नारी-प्रकृति है।

बिजली ने सोचा—अभी तक सलीम बाथ-रूम में क्या कर रहा है? उसने काग़ज़ की ओट देकर उधर मुड़कर देखा, तो सलीम को बाथ-रूम के किवाड़ों की फाँक से झाँकता हुआ पाया।

बिजली की निगाह उधर फिरते ही सलीम ने झट पल्ले लगा दिये। उसके लिये तो मिस्टर अहमद की तशरीफ़-आवरी मलकुल-मौत की सवारी थी। उसके चेहरे पर हवाइयाँ छूट चलीं। उसने स्विच दबाकर बाथ-रूम की रोशनी गुल कर दी, ताकि अँधेरे में मुँह छिपाकर वह इतमीनान से झाँक सके। फ़ौरन् पाइप खोलकर छप-छप करना भी शुरू कर दिया कि लोग समझें, वह हाथ-मुँह धोने में मसरूफ़ है।

बिजली उसकी इस चालाकी से मारे ग़ुस्से के सुर्ख़ हो गई। उसे ऐसा मालूम हुआ कि घर में डाकू आ घुसा है और मियाँ साहब बीवी

को अकेली छोड़कर अपनी जान बचाने की ग़रज़ से पलँग के नीचे जा दबके हैं! सलीम इस दुनिया में मैदान ख़ाक लेगा—जब यहाँ सामने आने में उसकी रूह फ़ना हो रही है? आख़िर वह रहता, तो दोनों मिलकर कोई तरकीब निकाल लेते। किवाड़ से झाँक रहा है और आता नहीं!

बिजली बिल का टोटल देखकर सन्नाटे में आ गई। उसने कभी ख़्वाब में भी न समझा था कि बिल की रक़म पाँच सौ के पड़ोस में पहुँची होगी।

"पौने सात सौ का बिल है?"—बिजली ने ज़रा अकचका कर पूछा।

"जी हाँ। साढ़े पांच सौ तो बोर्ड और रूम का हो चार्ज है, और....."

"और बाक़ी?"

"मिस्टर सलीम की शराब है!"

"अच्छा! इस जन्नाटे की बोतलबाज़ी है! चन्द दिनों में दर्जनों बोतलें साफ़ हो गईं! मैंने तो कभी उनको नशे में टर्र नहीं पाया?..."

"हुज़ूर! उन्होंने कुछ कच्चे घड़े की थोड़े ही पी थी। यह वह जाम नहीं है, जो किसी को जामे से बाहर फेंक दे। मेरे यहाँ की शराब कभी सर पर नहीं चढ़ती।"

"सर पर नहीं चढ़ती, हिसाब पर तो चढ़ती है। यही कुछ दिनों में सर गंजा कर डालेगी।.....आख़िर यह लत कैसे पड़ी, मेरे फ़िरिश्तों को भी पता न था!"

"अब हुज़ूर को किन-किन बातों का पता रह सकता है ! आख़िर बॉल-रूम में क़दम तो कोई परहेज़गार नहीं रखता। बन्दानेवाज़ ! अगर बार के साथ डान्सिंग-हॉल न हो, तो होटलों का दिवाला पिट जाय।"

"ओहो ! यह बात है ! बॉल-रूम का भी शौक़ है !"

"यह भी कोई बात है ! हुज़ूर ! आख़िर जवानी का सिन है और माशा-अल्लाह तबीयत भी रंगीन है। यही तो खुल खेलने के दिन हैं ! आपके पार्टनर भी तो यहाँ मौजूद ही हैं।"—मिस्टर अहमद ने मिसेज़ सूर की तरफ़ इशारा करते हुए कहा।

"मिसेज़ सूर ?"

"हाँ, मिसेज़ सलीम ! वे मुझे टेनिस की तालीम देते हैं और मैं उन्हें डान्स का सबक़ देती हूँ। यही आपस का समझौता है। आज तो घंटों दिल्लगी रही !"—मिसेज़ सूर बोलीं।

"हूँ-ऊँ ! भरसक ह्विस्की की मश्राक़ी में आपने कमाल की तरक्क़ी की !"

बिजली खीस की हँसी खिलखिलाकर हँसी, और मन-ही-मन कहा—'वाह मियाँ सलीम ! बहे नहीं जाते, गँव से जाते हैं ! शराब भी है, एक चुलबुल हसीन भी है और सीने से सीना लगाकर डान्स भी है ! तमाम दुनिया जान गई और मुझी से परदा रखा गया ! ज़रूर दाल में काला है, वरना मुझसे नक़ाबपोशी की हाजत क्या थी !

'मियाँ सलीम समझते हैं कि वह दुधमुँही बच्ची अभी कच्ची गोलियाँ खेलती है। वह नहले पर दहला देना जानती है। बाज़ी लगाकर देख

लें—बिजली बीस रहेगी, उन्नीस नहीं। उससे चुराकर मिसेज़ सूर के साथ घुल-मिलकर नाच चल रहा है! वह वह नाच नचा देगी कि जनाब की तमाम नसें ढीली पड़ जायँगी।'

बिजली को डान्स जब नहीं था—उससे चुराकर डान्स करना और गुलछर्रे उड़ाना उसे सख़्त नागवार गुज़रा। वह इत्मीनान से भूल गई कि उसने भी सलीम से कहीं भयंकर बातें छिपा रखी हैं—कानों के झुमके और दराज़ के नोट! उसके दिल में तो रह-रहकर यही उठने लगा कि सलीम ने उसके साथ विषम विश्वासघात किया है। यह बॉल-रूम की आपस की शागिर्दी और मास्टरी का माहदेनामा बग़ैर मुहब्बत के आफ़िस में रजिस्टरी हुए सादा तो होगा नहीं। अगर प्याले के रंग में लिखा गया है, तो लबों की मुहर भी ज़रूर पड़ी होगी।

वह नीली-पीली हो चली; पलीता तो थी ही, भभूका बन गई!

वह उठी। उसने विचारा कि उसे जो कुछ करना है, अब कर गुज़रेगी। उसे जीवन के मैदान में अपने हाथ में तलवार लेनी होगी। सलीम के हाथ में टेनिस का रैकेट रह सकता है या शराब का जाम—तलवार नहीं। उसकी भूल होगी, अगर वह हाथ की तलवार को मुहब्बत की म्यान में डाल रखेगी। आख़िर किस भरोसे पर—सलीम के?

उसने हँस दिया और चटपट दिल की म्यान से तलवार को खींच लिया। ज़रा तिलमिलाती हुई बड़ी मेज़ के पास पहुँची और अकड़कर बोली—"हाँ, तो, आपका कितने का टोटल बिल है?"

"हुज़ूर! मैं तो अर्ज़ कर चुका हूँ—सिर्फ़ पौने सात सौ!"

उसने दराज़ को खोला और नोटों की गड्डी को तोड़कर बेखटके गिनना शुरू किया।

सलीम लक़दक़ होकर तैयार हो गया ; पर बाथ-रूम के किवाड़ के पास आकर फिर ठिठक गया। पल्ला हिलाकर देखा कि बिजली होंठ चबाती हुई नोट गिन रही है।

देखते ही वह हक्का-बक्का हो गया। उधर बिजली की आँखों में लहू उतर रहा था ; इधर सलीम की आँखों के आगे चिनगारियाँ उड़ने लगीं —ऐं! ये नोट कहाँ से आ गये? बिजली का ख़ज़ाना तो आज सुबह ही उलटी साँस खींच रहा था। यह किसने नोशदारू-नोट-दारू-पिलाकर इसमें नई जान डाल दी?'

सलीम का चेहरा एक निदारुण आशंका से म्लान पड़ गया। कोट-पैंट की सारी अकड़ ख़ाक में मिल गई!

बिजली ने छः सौ पचहत्तर के नोट गिनकर मिस्टर अहमद के सामने रख दिये। उन्होंने तपाक की ताज़ीम के साथ उन्हें उठाकर पाकिट में रखा और तहे-दिल से शुक्रिया अता की।

सलीम तबतक भीगी बिल्ली की तरह दबे पाँव कमरे में आकर सिटका खड़ा हो गया।

मिस्टर अहमद मुड़कर, बीवी के साथ-साथ मियाँ को भी थैंक्स देकर, आजिज़ी से सर झुकाते हुए, चलते हुए।

मिसेज़ सूर ने भी थैंक्स दिया, और सलीम की आँखों के आगे सलील मुस्कान के मोती बिखेरकर धीरे-धीरे कमरे के बाहर हो गईं।

"क्यों मिस्टर अहमद! आख़िर ऐसी रवारवी क्या थी? कल ही आप बिल चुका लेते, तो·····"—मिसेज़ सूर ने चलते-चलते मिस्टर अहमद के कानों में फुसफुसाकर कहा।

"तुम्हीं सब समझोगी—दाव-पेंच की बातें हैं! इस सुपैदी में होटल की पतवार हाथ में लेना कुछ इबादत की तसबीह लेनी नहीं है!"

"मैं तो मिसेज़ सलाम की आबोताब देखकर सहम गई। ख़ुदा जाने, नाक ही पर उनका मिज़ाज रहता है। मुझसे तो बेहद खिझी हैं। उनका ख़याल है कि मैंने ही उनके शौहर को पीने-पिलाने की लत·····"

"वल्लाह! कहाँ का शौहर—कहाँ की बात! देखो तो, क्या गुल खिलता है! हाँ, तुम डान्स की तालीम का सिलसिला ज्यों की त्यों लिये चलना।·····अच्छा, देर तो न हुई। डिनर हो चुका?"

"अभी कहाँ? अभी तो महज़ सूप का दौर पास हुआ था। आप टेबुल पर से घसीट लाये।"

"जाओ, तुम खाना शुरू करो। मैं अभी नवाब साहब के कमरे से होता हुआ आया।"

इधर बिजली ने सलीम की ओर मुड़कर देखा तक नहीं। उसकी गुलेनार टाई और कॉलर की सफ़ाई कालिमा में परिणत हो गई। बिजली इस वेश से झमककर सीटिंग-रूम की ओर लपकी कि पाँव से लगकर छोटी मेज़ धड़ाम से ज़मीन पर जा गिरी और फूलों से भरा फूलदान उलटकर उसकी साड़ी के छोर पर मटियाला छाप दे गया।

सलीम ने दौड़कर फूलदान को उठा लिया और बिखरे हुए फूलों

को चुनकर अपनी जगह पर जल्दी से सज दिया। फिर रूमाल निकाल कर बिजली की साड़ी के धब्बे को उठा लेना चाहा; पर वह दनदनाती हुई आगे निकल गई।

जाते-जाते उसने कहा—"अभी आपको बाथ-रूम से फ़ुरसत हुई है न! थैंक्स! मैं साफ़ कर लूँगी।"

सलीम ने कोई जवाब नहीं दिया। शायद जवाब पर बात बढ़ती और बिजली बात-बात पर तिनक उठती।

"आपने अँगरेज़ी नाच में भी मश्शाक़ी हासिल कर ली है, और मुझे पता तक नहीं! ख़ैर, मेरी वजह से बी० ए० की डिगरी न मिली, न सही; मिसेज़ सूर की शागिर्दी में अगर डान्सिङ्ग की डिगरी मिल जाय, तो बड़ी बात होगी। अब बाज़ार नापने की ज़रूरत नहीं। किसी बॉल-रूम की नौकरी मिल जायगी।"

बिजली की एक-एक बात विष में बुझी थी।

"क्या करूँ, बिजली! जब तुम नवाब साहब के साथ मेले में चली गई, तो मैं अकेला·····"

"बस-बस, समझ गई। आपको सफ़ाई देने की ज़रूरत नहीं। आप आख़िर अकेले पड़ गये, तो करते क्या? पीते नहीं—नाचते नहीं, तो क्या मसजिद में जाकर तराबी पढ़ते?"

सलीम की ज़बान पर जवाब तो उठा; पर दाँतों के तिनके ने रोक लिया। वह बात पी गया। मुँह से निकलते ही बिजली उसे पकड़ लेती और बेकार की कचकच मचती। उसे भी बिजली से नोट की निस्बत एक बात दरियाफ़्त करनी थी, पर पूछने की मजाल कहाँ थी।

बिजली से सफ़ाई तलब करने के पहले सवाल पूछने की सफ़ाई देनी पड़ेगी। और, फिर बात का बतंगड़ हो जायगा! नोट चूल्हे-भाड़ में जायँ, सलीम को अपना सर प्यारा था। पेट में चूहे कुलाँचे भर-कर रह गये।

"चलिये, खाने चलिये। आपकी बातों में पड़ी रहूँगी, तो खाना भी हराम हो जायगा।" – बिजली ने उसी तैश में कहा।

"यहीं सीटिंग-रूम में आर्डर करूँ?"—सलीम ने दबी ज़बान से पूछा।

"सीटिंग-रूम में! यह फ़ाज़िल चार्ज कौन देगा? कुछ कमाकर लाये रहते, तो नवाबी निभती भी!"—बिजली झल्लाई हुई बोली।

"तुम्हीं ने तो कहा था कि आज साल-गिरह की रात है। हम-तुम....."

"जब कहा था, तब कहा था। मेरी साल-गिरह की रात है या मौत की रात?"—बिजली ने बात काटकर पूछा।

दोनों विशाल डाइनिंग-हॉल में दाख़िल हुए। देर हो चुकी है। बेटरों की हलचल कम है। खानेवालों की भीड़ छँट चुकी है। मेज़ों से चादर उठा ली गई है। न प्लेटों की सजावट है, न छुरी-काँटों की झनझनाहट। दो-एक बेटर शराब के गिलासों को गिन-गिनकर दीवार में लगे हुए तख़्ते पर सज रहे हैं। एक ओर रिकाबियों का थाक लगा है। दूर कोने में मिस्टर अहमद बैठकर अपना आख़िरी पेग ढाल रहे हैं।

बिजली के क़दम रखते ही मिस्टर अहमद ने विलायती तरीक़े से सर झुकाकर ताज़ीम दी और एक वेटर को फ़ौरन् डिनर लाने का ऑर्डर दिया।

बिजली और सलीम सबसे किनारे की खिड़की के पास जाकर बैठ गये। वेटर ने दौड़कर मेज़ लगा दी। फूलदानी और नमकदानी, कुएट और प्लेट, काँटे और छुरी—सब अपनी जगह पर सज दी गईं।

जबतक डिनर आने में देर थी, तबतक बिजली खिड़की पर झुकी हुई प्रकृति की छटा देखती रही—

नीचे होटल की हरी-हरी दूब की मख़मली लॉन है। चारों कोने पर चार खम्भे; उनपर बिजली की बत्तियाँ रौशन हैं। बीचोबीच अल-बेली नरगिस अपने दिल की भीनी-भीनी माधुरी को हवा में बिखेर रही है। जगह-जगह मिहराब पर विलायती बेलों की बहार। एक ओर मार्शल नील की टट्टी, दूसरी ओर मार्निङ्ग-ग्लोरी; कहीं जैसमिन, कहीं हनीसकल। बरसाती पर चुहचुहाती मालती अपने निखार और ख़ुशबू से सब पर शोर बनी है। ऊपर आकाश पर चाँद और मेघ की छीना-झपटी चल रही है।

बिजली ने देखा कि बादलों की फ़ौज ने चाँद को क़ैद कर लिया। अंधकार की डौंड़ी पिट चली। पर वह बहादुर निशाकर विरोधी बादल-दल को चीरता हुआ फिर आकाश के सिंहासन पर आरूढ़ हो गया और चन्द्रिका की छटा पृथ्वी पर टूट पड़ी।

बिजली ने सोचा—यही जीवन है, यही जीवट। मेघ और चाँद का द्वन्द्व जीवन है; मेघ की छाती पर चाँद का सिंहासन जीवट। जो धुएँ से घिरकर धूमिल हो गया, वह गया; और जो धुएँ को काटकर बाहर निकल आया, वह चमका।

सूप आया। बिजली ने नीबू निचोड़कर दो बूँद डाली। सलीम ने चमची से नमक मिलाया। बिजली सर झुकाए रही, सलीम सर झुकाए रहा। दोनों ने चुपचाप शोरबा सुड़क डाला। बिजली ने बायें हाथ से लोऊ का एक काश तोड़कर मुँह में डाला, और गिलहरी-सी कुतरने लगी। दाहने हाथ से मेनू-कार्ड को उठाकर उसकी बारीकियाँ हल करती रही।

सलीम ने मुड़कर तरसती आँखों से मिस्टर अहमद के हाथ में छलकते पैमाने को देखा। मिस्टर अहमद ने भी गिलास को ऊँचा उठाकर कनखियों से डोरा फेंका। सलीम ने दाँत से जीभ जाँतकर सर हिलाया।

फिर तली मछली आई। दोनों काँटे चुनने में मशगूल रहे। फिर बटर-सॉस का पञ्चामृत पाकर मछली प्लेट-लोक से उठकर निर्वाण-पद को पहुँची। ज़बान चलती रही, पर हिली नहीं।

दूर कोने में बैठे हुए मिस्टर अहमद इस नीरव निरानन्द भोजन-नाट्य को एक-टक देखा किये, और ह्विस्की की चुस्कियों के साथ-साथ चुरुट के कश लेते रहे। उनके होठों के प्रान्त पर एक अद्भुत वक्र रेखा खिंची हुई है।

रोस्ट आया। साथ ही, सती होने को मटर और गोबी आई,

और—गाजर और चुक़न्दर की छालियाँ।

वेटर ने तमीज़ के साथ पूछा—हुज़ूर, पीने को क्या लाऊँ ?

बिजली ने छूटते ही कहा—"सादा पानी।"

सलीम ने कहा—"सोडा-पानी।"

"ख़ाली ?"—वेटर ने दुबारा पूछा।

"हाँ, ख़ाली।"—सलीम ने ज़रा झुँझलाकर कहा।

वेटर पानी लाने चला। चीज़ की बढ़ियाँ चलीं। फिर क्रीम से भरी ख़ुबानी की फ़िर्नी। बिजली ने मीठे पुडिंग के सहारे मुँह तो मीठा किया ; पर ज़बान तीती की तीती रह गई।

ज्योंही वेटर ने सलीम के गिलास में सोडा डाला, बिजली तड़प उठी—"क्यों लिहाज़ करते हो ? पीते क्यों नहीं ? आज के मन मसोसकर रह जाने से तुम्हारा शुमार तो ज़ाहिदों में न होगा !"

"जबतक तुम नहीं पीती, मैं इसे छूता नहीं।"—सलीम ने बड़ी दीनता से कहा।

"मैं तो पीती नहीं !"

"तो मैं भी नहीं पीता !"

"तुम्हारी मर्ज़ी, न पियो ! मैं इस नुमायशी ख़ुशामद की क़ायल नहीं !"

यही तो सलीम की भूल है। एक दिन विजयी सलीम ने बिजली के दिल को मुट्ठी में किया था ; उसके विजय-मुकुट की चन्द्रिका की वह कुमुदिनी बनी थी। आज श्रीहत सलीम लाख तलवे से आँख मलता है ;

पर वह पसीजती नहीं ! वह ख़ुशामद पर ज़रूर मायल होती—बशर्ते कि वह ख़ुशामद भी एक सलीक़े की हो।

जो तेज-हत होकर दिन-रात दाँतों में तिनका लिये दीनता दिखाता है, वह कभी किसी मानिनी स्त्री के हृदय पर सिक्का नहीं जमा सकता। स्त्री तलवार के हाथ को चूमती है और नमस्कार के हाथ को भीख देती है। वह ख़ुशामद से ख़ुश होती है और पौरुष से सर।

सर-दर्द का बहाना कर बिजली उठी और दो हाथ भी आगे न बढ़ी होगी कि अमीन न जाने कहाँ से डाइनिंग-हॉल में फट पड़ा। आँखें चार हुईं। उसने झुककर इस अचानक दर्शन के लिए अपनी ख़ुशक़िस्मती ज़ाहिर की और कहा—"मुझे अभी दूकान से फ़ुरसत मिली है। बस, दौड़ा आ रहा हूँ; आप खा चुकीं ?"

"जी हाँ; और आप ?"

"मुझे तो चाय पीने की भी फ़ुरसत नहीं। आँतें कलामल्लाह पढ़ रही हैं।"

"आप शौक़ से खायँ। मैं बैठकर बातें करती हूँ।"

"फ़िज़ूल की तकलीफ़·····"

"नहीं-नहीं, मुझे इतमीनान है। आप खाइये।"

"जो इरशाद।"

एक अलग कोने में दोनों बैठ गये। बेटर ने दौड़कर मेज़ लगा दी। सूप-मछली का सिलसिला चला। अमीन ने खाना शुरू किया और अपनी विलायत की सैर का क़िस्सा छेड़ा। बिजली इस तेजस्वी युवक की

बातों को कान देकर सुनने लगी।

अमीन हसीन ही नहीं, ज़हीन भी है। बिजली के सिर का दर्द न जाने कहाँ हिरन हो गया! अमीन के दाहने हाथ की उँगली में एक रत्न-मुखी नीलम था। बिजली ने देखा कि बिजली की तेज़ रोशनी में उस नीले नग से एक विचित्र लोहित दीप्ति विकीर्ण हो रही है और वह कफ़ के लिंक पर जड़े हुए कमल-हीरे से लोहा ले रहा है। वह दीप्ति उसकी आँखों में घर कर गई।

अमीन बातों के फ़न में कामिल था। उसने यूरप के आनन्द-विह्वल जीवन की चर्चा छेड़ी। लन्दन की नन्दन-विभूतियाँ और पेरिस की विलास-विभ्रम रँगरलियाँ बिजली के दिल पर टूटकर पड़ीं। वहाँ की स्त्रियों की स्वच्छन्द जीविका की कथा उसे विशेष मधुर लगी। वहाँ के नारी-जीवन का नैतिक आदर्श उसने बिलकुल मनोऽनुकूल पाया। वहाँ की इशरत, आज़ादी और फ़ैशन की कथाएँ उसके अन्तस्तल में निहित उन्माद को कुरेदने लगीं।

वह बुत बन गई। बचपन में जब से उसने मिशन-स्कूल की विलायती मेमों की शान-शौकत देखी और यूरप की दिलफ़रेब कहानियाँ सुनी थीं, तभी से उसके अन्तर के एक अज्ञात अन्तराल में विदेश-यात्रा की लालसा अंकुरित हो गई थी, और 'मिसनैंसी अहमद' की बातों से दिन-दिन पल्लवित होती गई थी।

मगर इस होटल में आकर यहाँ की आर्थिक तपिश में वह झुलस चली थी। आज अमीन ने उसकी जड़ में रस के छींटे देकर उसे तरो-

ताज़ा कर दिया। मुर्झाई आशा-लता फिर से लह-लहा तो उठी; पर सलीम के असफल जीवन के साये में वह फल-फूल सकेगी—ऐसी तो सम्भावना नहीं!

बिजली सोचने लगी—उसे ज़िन्दगी की पतवार को अपने हाथ में रखना होगा और दुनिया की ख़ामख़याली के आँधी-पानी से मुकाबला करने के लिए दिल की कीलों को मज़बूत कसना होगा, वरना उसकी तमाम उमीदों पर पानी फिर जायगा और वह कभी मंज़िल तक न पहुँच सकेगी। जिस तरकीब से हो—निगाहों की जादूगरी से, चेहरे की बाजीगरी से, आँखों का पानी ढले या रहे, उसे अमीरों के बाम पर मोती चुगना ज़रूरी है।

उसने निश्चय कर लिया कि वह मनोरथ के रथ को वैभव के लक्ष्य तक पहुँचाकर ही दम लेगी। दया और धर्म की दुहाई देनेवाले हाथ उठाकर आकाश फाड़ते रहें; पर वह हौसले का चाबुक फटकारकर कामना के तुरंग को लोक की छाती पर रेलती हुई बाज़ी मार लेगी।

इस निदारुण निश्चय की निष्ठुरता के नीचे बिचारे सलीम की आत्मा पिसती है या बचती है—उसके अपने नारीत्व की क़ीमत घटती है या बढ़ती है, इस सरकन्दनी की उसे ज़रूरत नहीं। उसके सर पर अगर हीरे का टायरा हो; फिर सीमन्त पर सिन्दूर हो या ख़ाक, दोनों बराबर है!

मोतियों की आबताब के साये में कलङ्क का टीका सुहाग के कुंकुम के तिलक को भी इस ज़माने में पस्त कर सकता है।

"मुझे तो उमीद है; आप एक-न-एक दिन ज़रूर यूरप की सैर

करेंगी। आपका चुलबुला दिल कभी भी हिन्दुस्तान के दक़ियानूसी आँचल में बँधा नहीं रह सकता!"—अमीन ने हँस कर फ़रमाया।

"देखिये, मेरे लिए तो अभी यह दिल्ली का लड्डू है। ऐसी ख़ुशक़िस्मती·····"

"ख़ुशक़िस्मती! ख़ुशक़िस्मती तो हिम्मत के हरम की बाँदी है। अल्लाह के करम का ताज उसीके सिर पर होता है, जिसे अपने बाज़ू पर नाज़ है। मैं आपकी नज़रों की कोर में उस बिजली की तड़प पाता हूँ, जो जिस मुश्किल के सर पर टूटकर पड़ेगी, उसकी मुश्किलें उड़ाकर रख देगी। ख़ैर, मैंने आपको इतनी देर अटका रखा·····"

"क़तई नहीं। मुझे आपकी बातों से बड़ी तस्कीन हुई।"

"अच्छा, गुड-नाइट!"

"गुड-नाइट!"

बिजली उठी और अमीन की कुतूहली आँखों पर मुस्कान की सुन्दर फुलझरियाँ छोड़ती हुई डाइनिंग-हॉल के बाहर निकल गई।

सलीम, खिड़की के पास बैठा हुआ, सामने लॉन पर बिजली-बत्तियों के इर्द-गिर्द फड़फड़ाते हुए पतंगों के अन्तिम नाच का अभिनय देख रहा था, और सोच रहा था—यही नाच अब उसको भी नाचना है। उसके पर तो बहुत पहले ही जल चुके। वह मँड़रा भी चुका काफ़ी। बिजली की रोशनी पर पतंगों की कमी कभी न होगी। रोज़ नये रंगरूट परवानों में दाख़िल होंगे। नवाब साहब तो हैं ही। यह एक नया शिकार आज कहाँ से आ टपका? ख़ैर, कोई आये।

बिजली की तिलस्मी चितवन की नैरंगियाँ रंगीलों की महफ़िल में रोज़ ही एक नया रंग लाएँगी ; तो लाती रहें—वला से ! उसे तो अब जलन नहीं। उसका ज़माना तो लद चुका। अब उसे दामन झाड़कर दूर सरक जाना ज़रूरी है। बिजली को अपनाने की कोशिश करना पत्थर पर सर पीटना है। वह क्या ख़ाक राह पर आएगी ? उसके मिज़ाज का कोई ठिकाना भी है ?—कभी ऊमस, कभी खुनकी; कभी आँधी, कभी फूही; कभी धूप, कभी बदली ! ऐसे बुते-ज़ालिम की नाज़बरदारी अपनी जान का जंजाल होगी। इस तूफ़ाने-बेतमीज़ी में पड़कर जो ज़रर पहुँच चुका, वही कुछ कम नहीं। अब आगे इस आग से खेलना तमाम उमीदों को ख़ाक कर देना है।

इतने में उसके कंधे पर एक हाथ पड़ा, और वह चौंककर पीछे मुड़ा। देखा, तो मिस्टर अहमद हैं। वे कुर्सी खींचकर नज़दीक बैठ गये और सलीम के दोनों हाथों को अपने हाथ में लेकर बड़ी दर्द-भरी आवाज़ में बोले—"क्यों ख़ामख़्वाह उस जल्लाद के लिए पसीने की जगह लहू बहा रहे हो ? यह भी कोई बात है ? तुम पलकों से तलवे झाड़ते रहोगे और उसकी पलक तक न पसीजेगी। मुझसे दिल चुराने से फ़ायदा ? मेरी आँखें खुली हैं। मैं सब कुछ देखता हूँ—समझता हूँ। ख़ुदा दरमियान है, मैं तुम्हें चकमे नहीं देता। वह अमीरों के मान की चीज़ है, तुम्हारे मान की नहीं। तुम कहाँ-से-कहाँ इस बेपीर के फेर में जा पड़े ? तुम्हें नवाब साहब की मुलाज़मत क़बूल नहीं, तो घर लौट जाओ। क्या तुम समझते हो, मेरी कुछ अपनी ग़रज़ है जो

तुम्हारी गर्दन पर सवार हूँ ? यह भी कोई बात है !"

मिस्टर अहमद ने जो कुछ कहा, शायद सच्चे दिल से कहा। उन्हें ज़माने की हवा का अनुभव था—आदमी की पहचान थी ? वे समझते थे कि बिजली कभी सलीम की नहीं रह सकती—चूँकि वह चमन की परी है, घर की देवी नहीं। उसके दिल में हौसलों की शिद्दत है, स्नेह की मलाहियत नहीं। वह शान-शौक़त में रँगी है, धन की भूखी है—और, मियाँ सलीम को न ज़र है, न ज़ीनत !

इसीलिए बहुत मुमकिन है कि मिस्टर अहमद की बन्दिशों में एक हद तक इन्सानियत का अंश हो और नवाब साहब की दिलजोई के साथ-साथ सलीम की रिहाई उनकी दिली तमन्ना हो। अगर उनकी बात दोनों ओर लह गई, और बिचारा बिजली का मारा सलीम नवाब साहब की रियासत में गद्दी-राज का एक ज़रिया पा गया, तो यह ग़ौर करने की बात है कि उन्होंने सलीम के हक़ में काँटा बोना चाहा था या फूल।

सलीम इस हमदर्दी पर पिघल पड़ा। आज उसकी लांछना—उसके हृदय की वेदना—चरम सीमा पर पहुँचकर फूट पड़ी। भला या बुरा जो हो, मिस्टर अहमद के सिवा वहाँ कोई दूसरा हमदर्द नहीं। और, उसे भी एक दर्दशरीक की तलाश थी, जिसे वह अपना सके और अपना अफ़साना सुना सके।

मनुष्य का जीवन समाज का जीवन है। वह अकेला नहीं निभ सकता। उसे साथी चाहिये, संगी चाहिये, बेतकल्लुफ़ी चाहिये, और दस की दादख़ानी चाहिये।

उसे महज़ नुमायशी बातचीत या मुलाक़ात से तस्कीन नहीं होती। वह चाहता है कि जब वह सर्द आह खींचे, तब किसीकी आँख में पानी भर जाय; जब वह ख़ुश होकर चहके, तब कोई उसके सुर में सुर मिलाकर राग छेड़ दे; और जब वह कोई जीवट का काम करे, तब चारों ओर से करतल-ध्वनि निरन्तर गूँजती रहे। वह अकेला किसी भी सुख का जी खोलकर उपभोग नहीं कर सकता। उसे नन्दन की सैर में भी कोई लुत्फ़ नहीं है, यदि कोई साथी या हमजोली न हो।

लोग अमूमन कोई भी मार्के का काम महज़ अपने मन की मौज पर नहीं करते; दो-चार की ज़बान की वाहवाही उनके प्रत्येक उद्योग की प्रेरणा है। कोई महज़ कसरत ही के ख़याल से समुद्र नहीं तैर जाता, न हवाख़ोरी ही की ग़रज़ से हिमाचल की चोटियों को सर करना चाहता है। जो दिमाग़ का अर्क़ निचोड़ कर सैकड़ों वर्क़ काग़ज़ रँगने बैठा है, कभी एक पन्ना भी लिख पाता—अगर इस प्रयत्न की दौड़ उसीकी दिलचस्पी तक सीमित रहती? वह एँड़ी-चोटी का पसीना एक कर जो कुछ ख़याली पुलाव पकाकर तैयार कर रहा है—वह मीठा हो या तीता, उसे जबतक उसके दोस्त सराह-सराहकर खाते नहीं, तबतक उसकी आत्मा की तृप्ति कभी मुमकिन नहीं।

हमारे पसीने से सींचे हुए चमन के गुलबूटों के रंग और बू की तारीफ़ हमारे हाथ के कुदाल को भी ज़ीनत बख़्श देती है। हमारी मुरली की तान पर तमाम सहृदय जगत् के घर-घर स्खलित अंचल और विलुलित कुन्तल का अभिनय हो, यही तमन्ना हमारी वंशी की प्रत्येक

फूँक में निरन्तर ध्वनित होती है। यह सच है—हमारे होंठ की वंशी कुछ वंशीवट की वंशी नहीं हो सकती; पर यही सत्‌चेष्टा तो हमारे जीवन की महत्‌ चेष्टा है। हम इसी सुर के सूत्र को लेकर तो विश्व के हाथों में राखी बाँधने चलते हैं।

हमारे दिल का बुख़ार भी अगर भीतर-ही-भीतर खौलता रहे, तो वह एक मानसिक सन्निपात-सा पैदा कर सकता है। जब दिल का धुआँ उठकर दिमाग़ को घेर लेता है और हम ज़ब्त का ढक्कन देकर उसे बाहर निकलने नहीं देते, तो यह ज़रूरी है कि इस स्टीम की शिद्दत से एक-न-एक दिन दिमाग़ की कीलें फट पड़ेंगी, और आदमी पागल या वहशी हुए बिना नहीं रह सकता।

मनुष्य को इस भूतल पर परलोक का साया मिले या न मिले; पर एक स्निग्ध स्नेह की छाया अनिवार्य है। हमारे दुर्दिन में धर्म की सान्त्वना से कहीं ज़्यादा किसी दिलदार का दिलासा दिल में घर करता है।

दिल की आह आँखों से जल की कणा बनकर और ज़बान से आफ़साना बनकर निकलने की राह ढूँढ़ती है; पर पर्दे से बाहर आने के पहले वह एक दर्दमन्द इन्सान को तलाशती है, जिसके सामने दुखड़ा रोया जाय और कहा जाय। हमारे सुख-दुख में—शादी और श्राद्ध में—निरन्तर एक ऐसे अन्तरङ्ग बन्धु की ज़रूरत है, जिसके सामने हम घूंघट उठाकर नाच सकें या फूट-फूटकर रो सकें। किसीकी आँखों में हमारे लिये जल हो, किसीकी छाती में हमारे लिये दिल; यही इस विराट्‌ संसार में हमारा सबसे बड़ा आश्रय—हमारा सबसे बड़ा बल—है।

हमारे सन्देह और संकट में, हमारी आशंका और आतंक में, एक हमदर्द सुहृद से बढ़कर दूसरी नेमत नहीं। हमारे सामने लाख झुकी गरदनों की अवली हो, हज़ार ख़ुशामदी ज़बानों की चाशनी हो; पर वह सब होते हुए भी अगर एक दर्दशरीक दिलफेंक न हो, जो हमारे मुरदे दिल में जान और दिल डाल सके, तो हमारे जीवन का तमाम संचय अधूरा-ही रह गया।

मिस्टर अहमद की मुलायम और मीठी बात सलीम के दिल में बैठ गई। वह आँखों में आँसू भरकर और घुटनों में सर देकर उनके सामने उबल पड़ा—"मैं ख़ुद परीशान हूँ, मैनेजर साहब! मैंने ख़्वाब में भी नहीं समझा था कि बिजली पत्थर की परी होगी और इस बे-मुरव्वती से आँखें फेर लेगी। मुझे तो जैसी चोट पहुँची है·····"

"मैं तो तुमसे शुरू से कहता चला आया। ख़ैर, आज भी तुम समझे। जाने दो; उठो, कमर बाँधो। अभी तुम्हारे पर बिलकुल जले नहीं हैं; तुम उड़ सकते हो।"

"कोई ज़रिया हो, तब तो! मेरे पास तो कानी चिन्ती तक नहीं।"

"नवाब साहब की मुलाज़मत क्यों नहीं क़ुबूल कर लेते? ख़ासी जगह है म्याँ?"

"नवाबों की बात है। ख़ुदा जाने, कहाँ तक इतमीनान···"

"नहीं नहीं; मुझे वे ज़बान काटकर दे चुके हैं। शरीफ़ों की बात है।"

आप ही समझिये, न दीद न शुनीद! मुझे वे एकबारगी ख़ासी

नौकरी क्यों देने लग गये ?"

"अजी, यह भी कोई बात है ! तुम भी अजब शक्की हो ! भई, मैंने तुम्हारे लिए एँड़ी-चोटी का ज़ोर लगाया, तब कहीं वे पिघले। हमारे पुराने करम-फ़रमा हैं। यह अहसान मेरे सर है, तुम्हारे सर नहीं !··· और माना कि उनकी नीयत ख़ाम ही सही, तुम्हारा तो एक रास्ता निकल आता है !"

सलीम का दिल इस सिफ़ारिश पर भी उठता न था। नवाब साहब की मुलाज़मत उसे क़बूल न थी। जब से बिजली उनके साथ फैंसी-मेले में गई, तभी से एक अव्यक्त आतङ्क की काली घटा उसके मन के एक निहित कोने में जम रही थी, और वह दिल का धुआँ धीरे-धीरे समग्र अन्तर को व्याप्त कर गया था। ऐसी परिस्थिति में नवाब साहब की नमक खाना ज़हर खाना था।

पर, वह लाचार था। उसे तो रोटियों के लाले पड़े थे। मिस्टर अहमद को भी वह दुतकार दे, तो फिर इस शहर में उसे कफ़न भी मिलना मुश्किल होगा। उनकी दिलशिकनी उसे बेहद खलती थी। इस घात-प्रतिघात से उसका दिल फट चला था और बिजली की उँगलियाँ भी अब उसे रफ़ू नहीं कर सकती थीं।

"उठो, क्यों बेकार बेज़ार हुए जाते हो ! क़ैद से छूटने के दिन आये। तुम्हारी गरदन की जंजीर अब टूट चली। लो, दो घूँट पी लो।"

मिस्टर अहमद ने ह्विस्की के गिलास को तपाक से आगे बढ़ाया और ख़ुद चुरुट का एक कश खींचा। सलीम की आँखों के

सामने धुएँ का बादल छा गया।

"नहीं; मुझे मुआफ़ कीजिये।"—सलीम ने गिड़गिड़ाकर कहा।

"मुआफ़ कीजिये! यह भी कोई बात है? अब भी तुम्हारा डर नहीं छूटता? बिजली कोई शेरनी नहीं है जो तुम्हारी हड्डियाँ चबा डालेगी!"

मिस्टर अहमद ने ह्विस्की के गिलास को सलीम के मुँह में उँड़ेल दिया। वह गट-गट पी गया। फिर, उन्होंने चुरुट का आख़िरी कश खींचा और गुड-नाइट की सदा देकर चलते हुए।

सलीम उठा। दबे पाँव कमरे में दाख़िल हुआ। पलँग की तरफ़ गया, तो देखा कि बिजली सो रही है। मगर बिजली की आँखों में नींद कहाँ? उसका तो माथा टन-टन कर रहा था।·····सलीम और मिसेज़ सूर में कहाँ तक गहरी छनती होगी?·····किसीके साथ अँगरेज़ी नाच नाचना तो गले का हार बनना है···और, उसपर जानीवाकर की ललकार!

सलीम ने आहिस्ता-आहिस्ता कोट-पैंट उतार डाला। कमीज़ निकालकर सोफ़े पर रख दी। पाजामा और पंजाबी पहन लिया। फिर, सुराही से ढालकर एक गिलास जल पिया, रोशनी बुझा दी और मसहरी के पास आकर खड़ा हो गया। थोड़ी देर तक न जाने क्या सोचता रहा। फिर पलँग पर क़दम रखा। उसके कुरते का एक छोर बिजली के कंधे से छू गया। इस स्पर्श से वह कुछ उसी तरह चमक उठी, जिस तरह मानिनी पद्मिनी चाँद के कर-स्पर्श से सिकुड़ जाती है।

सलीम खिसककर चुप सो गया। बिजली भी करवट बदलकर चुप सो गई। सन्नाटा छा गया। आँखें बन्द थीं दोनों की ; पर किसी की लगी नहीं। और, दोनों के बीच बदगुमानी की नंगी तलवार धरी रही।

अष्टम परिच्छेद

सुबह के आठ बजे होंगे। धूप और छाया का हेर-फेर चल रहा है। बादलों के पैर में पर लगे हैं—हवा पर उड़े जा रहे हैं। रात पानी बरस गया। मिट्टी की बू में सोंधी ताज़गी है ; हवा में खुनकी।

नवाब साहब गरदन में तूस का मफ़लर लपेटे खिड़की से होटल की गर्मबाज़ारी का मज़ा ले रहे हैं। ब्रेकफ़ास्ट का घंटा बज चुका है। वेटरों के हाथ में प्लेटों का ताँता बँधा है। मक्खन और टोस्ट की, पॉरिज़ और पोच की धूम है। रिकाबियों से पीतपट आमलेट की चटपटी सुरभि प्रातःकाल की क्षुधा को कुरेद रही है।

नवाब साहब के नसीब में तो सुबह का नाश्ता आसमान का फूल है। अगर मध्याह्न के क़बल कुछ खा लेते, तो फिर दिन के खाने से हाथ धोना पड़ता। बस, आप हसरत-भरी निगाह से घी में तले हुए अंडों के गुलज़ार को देखकर ही हिर्स मिटा लेते हैं।

आपका सुबह का तो नाश्ता महज़ आँवले का मुरब्बा और बनफ़शे की चाय है। ऐसे कभी दिल में आया, तो एक-आध चम्मच ख़मीरे-मरवारीद या बकरी के दूध के साथ सेनाटोजन खा लिया। छठे-छमासे शरबत-उन्नाब या नीलोफ़र।

आप अर्क़-पुदीना और शोधी हुई छोटी हर्रे का एक डिब्बा ज़रूर साथ रखते, चूँकि मन्दाग्नि के निरन्तर आक्रमण की वजह इन दोनों मुदब्बिरों का आपके उदर-दरबार में विशेष समादर है।

नवाब साहब ने मुड़कर देखा, तो ठीक आपकी खिड़की के नीचे एक मज़दूर कुदाल लेकर कैना की क्यारियों को कोड़ रहा है। कोई बीस बरस का हट्टाकट्टा नौजवान। अभी मसें भींग रही हैं। धूप से धूमिल मटियाला रंग। कसदार रान और बाँह। चौड़ी उभरी हुई छाती। ऐंठी हुई मांश-पेशियाँ। आप तूस के मफ़लर में भी दाँत खटखटा रहे हैं; पर वह नंगे बदन काछा कसे मस्ती के साथ कुदाल चला रहा है। उसकी पेशानी पर पसीने की बूँदें निकल आई हैं। आप सतृष्ण नेत्रों से उस स्वस्थ सुन्दर शरीर के संचालन को देखते रहे।

अचानक आपकी आँखें अपनी कमल-हीरे की अँगूठी पर पड़ीं। यह अँगूठी आपके ख़ानदान में एक बेशक़ीमत तबर्रुक

है। पर, आज आपकी निगाह में उस छोकरे की गठीली भुजा की एक तनी हुई पेशी ऐसे हज़ार हीरों से भी कहीं क़ीमती हो रही है।

किसी की क़ीमत बढ़ती है माँग पर। आपको जिस चीज़ की माँग है, वह —उस छोकरे की आँखों में पानी का मोल जो हो—आपकी निगाह में तो कोहेनूर का मोल रखता है।

"क्यों बे छोकरे! तुझे कितनी मजदूरी मिलती है?"—आपने ज़रा झुँझलाकर पूछा।

मज़दूर ने आवाज़ सुनी, तो कुदाल टेककर खड़ा हो गया। दाहने हाथ की उँगलियों से पसीने को झाड़ा और बड़ी आजिज़ी से कहा—"यही चार आने रोज़ कमा लेता हूँ, सरकार!"

"बस!"

"जी मालिक!"

"कैसे चला लेता है काम?"

"भगवान् चलाते हैं, मालिक! दिन को सत्तू, रात को बाजरे की रोटी और नमक·····वह भी·····"

"और नाश्ता?"

"ज़लखावा कहाँ नसीब में मालिक! यहाँ एक जून भी पेट नहीं भरता!"

"क्यों, चार आने में तो दोनों वक्त दाल-रोटी मज़े में चलनी चाहिये!"

"दाल तो कहीं मरनी-जीनी में मिलती है मालिक ! घर में दाल नहीं पकती ।"

"क्यों, तूने दाल नहीं खाई है ?"

"खाई काहे नहीं है मालिक ! पार साल जब काका के बेटे की मँगनी थी, तो दाल चखी थी ।"

"ताज्जुब है ! चार आने में तो....."

"हाँ सरकार, अकेला दम रहता, तब तो ! यहाँ घर में बुढ़िया है, छोटा भाई है, छोटी बहिन है ।"

"तो अभी तक क्या तेरी शादी नहीं हुई ?"

".....जी नहीं ।"

"क्यों ? तू साँड़ बना फिरता है और आज तक बहू नहीं मिली ?"

"मिले कैसे मालिक ! पैसे कहाँ हैं ?"

"ओ ! यह बात है ! माँ और बहन कुछ कमातीं नहीं ?"

"कमातीं क्यों नहीं ? माँ मुहल्ले में कूटती-पीसती है । घर में एक भैंस है । बहिन सानी-पानी करती है, घास लाती है ।"

"तो तू दूध नहीं पीता ?"

"एक-आध चुल्लू मट्ठा मिल जाता है । दूध का तो घी बनता है । इसीसे तो पेट चलता है । फिर, बहिन भी सयानी हो चली है ।"

"तू सेर-भर बाजरा एक वक्त पचा डालेगा ?"

"पचाने को तो पत्थर भी पचा डालूँ मालिक ! बाजरे में कौन दम है ?"

"सच ! ऐसी ज़बरदस्त तेरी भूख है—इस ज़न्नाटे की ? और दुनिया तुझे दुखिया समझती है, मुझे इक़बालमन्द ! मुझ ग़रीब को तो इस भूख के लाले पड़े हैं ! अगर तू मुझे अपनी भूख का एक हिस्सा भी दे दे, तो तुझे रियासत का एक तालुक़ा लिख दूँ !"

बिचारा मज़दूर आँखें फाड़-फाड़कर आपका मुँह ताकने लगा। भला, वह आपकी मर्मव्यथा को कहाँ तक समझ पाता !

"क्या देखता है—मेरे कान के हीरे के टाप को ?"—आपने फिर कहा—"अबे उल्लू ! ख़ुदाबन्द करीम ने तुझे जो रहमत बख़्शी है, उसे मेरी तमाम दौलत भी ख़रीद न सकेगी।"

तबतक चिल्लाते हुए दो खुंचेवालों की हाँक कान पर पड़ी—"चटपटे दही-बड़े·····ताज़ी जलेबियाँ !"

"तूने कभी जलेबियाँ खाई हैं ?"

"नहीं सरकार, मैंने कहाँ खाई ? बचपन में खाई होगी····· याद नहीं !"

"और दही-बड़े ?"

"ऊँ-हुँक !"—छोकरे ने सर हिला दिया।

"दौड़ जा, पुकार तो ला दोनों खुंचेवालों को !"

छोकरा हिरन हो गया। एक कुलाँच में कैना की क्यारियों को तड़पकर तीर की तरह निकल गया।

खुंचेवालों ने आपको झुककर आदाब बजाया, और खुंचों को ज़मीन पर रखकर खड़े हो गये। आपने उँगली नचाई, तो तश्त पर

के मैले कपड़े सरका दिये। एक में सूजी का हलवा और रस-भरी जलेबियाँ, दूसरे में चटपटी मसालेदार चीज़ें—कचालू, दही-बड़े, फुलौरियाँ। आपकी नाक में गन्ध पड़ी, और छोकरे के मुँह में पानी भर आया।

आपने छोकरे की तरफ़ देखा, और ज़रा मुस्कुराकर बोले—"दोनों खुंचों को साफ़ कर डालेगा? दो रुपये इनाम दूँगा।"

खुंचेवालों ने आँखें फाड़कर पहले आपको देखा, फिर नौजवान को और अपने खुंचों को। फिर दोनों ने एक दूसरे को देखा और मुस्कुरा दिया।

मज़दूर को तो जैसे मुँहमाँगी मुराद मिली। वह हसरत-भरी निगाह से तश्तों के तर माल को देखने लगा।

खुंचेवालों ने देखा, किसी रईस की दिल्लगी ही सही, उनका माल तो बिका जाता है! गली-गली ख़ाक छानने से तो नजात होगी। चटपटेवाला कुछ चटपटी तबीयत भी रखता था। आँखें नचाकर खुंचे की तरफ़ इशारा किया और नौजवान से बोला—"बस, पिल पड़ो पट्ठे! तेरे भाग खुल गये। आधे के क़रीब तो बिक चुके हैं, अब बचा ही क्या है? तीन-चार सेर की बिसात क्या? मैं तो तेरी उम्र में इससे दुगना पचा डालता।"

बिचारा मज़दूर पहले तो छन-भर शर्म से सहमा रहा, फिर डट गया। केले का पत्ता लिया और कैना की क्यारी में पलथी मार दी। काम जारी किया। दो लपेट में हलवा सुड़क गया। एक ओर से

जलेबियाँ और दूसरी ओर से चटपटी फुलौरियाँ और बड़ियाँ बरसने लगीं। कभी जलेबियों की कुरकुर और कभी बड़ियों की भुसभुस। मीठे पर नमकीन और नमकीन पर मीठा। यही सिलसिला चला। मुँह क्या है, मशीन है। बड़ियाँ और जलेबियाँ होठों तक जाकर गुम हो जातीं।

नवाब साहब की आत्मा उचककर आँखों में आ गई, टकटकी बँध गई, जैसे घबरा-से गये—माशल्लाह! आदमी है या धनचक्कर! पेट भी नहीं फटता!

एक क्षण आपकी आँखों से ईर्ष्या की चिनगारियाँ छूट पड़ीं। खाते-खाते वह यहीं लोट जाता, तो कलेजा ठंढा होता! आपने न जाने कितनी दावतें दीं। दोस्तों ने पुलाव और कुलिया, कबाब और कोरमा सराह-सराहकर खाये; मगर आज तक न इस शिद्दत की भूख देखी, न इस जान्नाटे का कचरकूट!

आपने एक लम्बी साँस ली और मन-ही-मन कहा—"या अल्लाह! तूने मुझे मज़दूर क्यों नहीं बनाया! दौलत न देता, न सही। दाने-दाने को तरसता, यह क़ुबूल था। कुदाल चलाकर खाता, चोरी करके खाता, जेल जाकर खाता—खाता तो! तूने इस भूखे कंगाल को जिस भूख का ख़ज़ाना—जिस सेहत की दौलत—अता की है, उसके सामने मेरे हीरे और मोती की क्या वक़त है? वह पैसे का कंगाल है, मैं भूख का; वह सेहत से मालामाल है, मैं दौलत से। अब तू ही बता, इस दुनिया में कौन-सी बड़ी नेमत है—सेहत या दौलत? कौन ख़ुशक़िस्मत है—कंगाल या नवाब? वह सेहत के ज़रिये दौलत पैदा

कर सकता है, मगर मैं दौलत के ज़रिये सेहत नहीं पा सकता! और, दुनिया ख़ुशबख़्त को कम्बख़्त पुकारती है और कम्बख़्त को ख़ुशबख़्त! चूँकि अमीर रोल्स-रायस-कार पर हवाख़ोरी करता है—उसके घर में अशर्फ़ियों का बघार दिया मुश्की ज़ाफ़रानी पुलाव पकता है; और ग़रीब काँट-कूस में पाँव-पयादे चलता है—उसे पेट-भर भूना चना भी मुश्किल से मिलता है।"

ख़ुंचेवालों के तश्त साफ़ हो गये! उन्होंने पैसे लिये, आपकी सलामती की दुआ की, और चलते हुए।

अमीरों की ख़ब्त या नवाबी मौज समझकर जो दो-चार वेटर आपस में गुपचुप ठठोलियाँ कर रहे थे, वे भी खेल ख़त्म होते ही नौ-दो ग्यारह हुए।

आप बड़े हैरत में थे—इस छोकरे ने चार-पाँच सेर मीठी और नमकीन चीज़ें साफ़ कर डालीं और चेहरे पर शिकन तक नहीं! न दम घुटा, न पेट फटा!

फिर, आपने दो रुपये मज़दूर के सामने फेंक दिये। उसने झुककर उठा लिया और टूटी-फूटी ज़बान में आपकी लक्ष्मी की बलन्दी की शुभ कामना प्रकट की। आप कुछ कुढ़-से गये।

नवाबों का कुढ़ना भी रहस्य से ख़ाली नहीं!

"कम्बख्त! तेरे मुँह से दुआ भी निकली, तो वही, जो मेरे काम की नहीं! तुझे देना ही था, तो अपने ख़ज़ाने से कुछ देता कि कम-से-कम एक वक़्त का पुलाव और ख़ुश्का तो जी खोल कर खाता! कोई है?"

"जहाँपनाह !—दो हुद्देबरदार हाज़िर हो गये।

आप होटल में भी क़याम लेते, तो अपने ठाट-बाट में कमी नहीं रखते !

"इस बेहूदे को दो तमाचे तो रसीद करो। क्या अनाप-शनाप बकता है !"

प्यादा मज़दूर की ओर लपका। वह बिचारा हक्का-बक्का होकर आपका मुँह ताकने लगा—क्या ख़ता हुई ?

पर उसपर चपत पड़ने के पहले आपको एकाएक दया आ गई। इशारे से मना कर दिया—"···जाने दो, उसे तो सेहत और भूख अज़ाब हो रहे हैं। यह क़ुदरत का ख़ज़ाना—यह नेमतों की नेमत—उसकी निगाह में नाचीज़ है। वह समझ पाता कि मैं इसीका भूखा हूँ, तो दोनों हाथों से उलीच देता।"

आप एकाएक खिलखिलाकर हँस पड़े और खिड़की की जानिब से खिसककर कमरे में आ गये।

आज सुबह से ही आपके चेहरे पर प्रसन्नता की लहर है। अन्दरूनी जो बात हो, ज़ाहिर तो आपके जवाँमर्द 'जॉनी' के—निमोनिया के पंजे से छूटकर—सही-सलामत लौट आने की ख़ुशियाँ हैं।

बड़े तड़के ही वह अस्पताल से मोटर पर आया। बीमारी तो जाती रही; पर कमज़ोरी अभी बहुत कुछ है। आपने गोद में उठाकर मुँह चूमा; बलाएँ लीं; निछावरें गुज़रीं। होटल के ग़रीब वेटरों के—आज शाम के नशे-पानी के लिए—पाकिट गर्म हुए। मुलाज़िमों ने मुबारक-

बादियों की झड़ी बाँधी। नूरे-चश्म जॉनी की उम्र दराज़ हो—यही हर-एक लब पर दुआ है।

नवाबों का शौक़ भी तो नवाबों का शौक़ है! जिस रंग पर आये, भरपूर आये। हिन्दुस्तान के अमीरों ने यूरपवालों से जिस-जिस शौक़ की तालीम ली, उसके अनुशीलन में उनसे भी नम्बर मार ले गये! गुरु गुड़ ही रहे, चेले चीनी हो गये! अँगरेज़ों को बिला नाग़ा—रोज़ शाम की खेल कूद की कसरत के बाद—दो-एक पेग जामे-फ़रहत पी लेना ज़रूरी है; मगर यहाँ रईसों ने जब विलायती तौर-तरीक़ों को अपनाया, तब कसरतवाले मद को तो ताक़ पर रख पेगवाले मज़मून को बिला तअम्मुल दिन-दहाड़े शुरू किया और आधी रात तक मोतवातिर जारी रखा।

यूरपवाले अमूमन रात में, डिनर के बाद घंटे-दो-घंटे, ब्रिज खेलना सेहत और दिलचस्पी के लिए ज़रूरी समझते हैं। वही ब्रिज जब यहाँ आया, तब अमीर-उमरा इस तरह पंजा झाड़कर पीछे पड़े कि सारी ख़ुदाई टापती खड़ी रहे, पर ब्रिज की जुदाई मंजूर नहीं!

आज अँगरेज़ी डान्स के शौक़ ने भी किस हद तक यहाँ विलायती वज़े के हिमायतियों के दिल में घर कर रखा है, इसका नज़ारा देखना हो, तो हिमाचल की चन्द चुहचुहाती चोटियों की सैर करने से कुछ अन्दाज़ मिल सकता है।

नवाब साहब का भी विजातीय श्वान-परिवार से प्यार उसी विलायती वज़ेदारी का एक छींटा है। फ़र्क़ सिर्फ इतना ही है कि समुद्र के उस पार से आये विविध राग-रंगों में यह रंग आप पर कुछ विशेष खुला है।

और, जब आप इस रंग में आ गये, तो फिर कुछ इस क़दर रँग गये कि श्वान-शास्त्र की गरिमा की बारीकियों में आप यूरोपीय विशारदों को भी सबक़ दे सकते हैं!

आप विलायत से 'Dog World' पत्र तो मँगाते ही, इसके सिवा श्वान-संसार की और कितनी ही पत्रिकाएँ आपके यहाँ बराबर आतीं। और, जिस चाव से आप इन्हें देखते, उस चाव से अपनी कौंसिल की कार्यवाही भी नहीं पढ़ते।

कुछ दिनों तक आपका विचार कुत्तों का एक जिमख़ाना खोलने का था; पर केनेल-कलाविदों की काफ़ी हमदर्दी न मिलने से वह साधु प्रयत्न ख़त-किताबत के स्टेज पर आकर टें बोल गया!

जॉनी को आपने आँखों में पाल रखा है। वह बहादुरों में बहादुर, शेर से भी पंजा लेने को कमर बाँधे तैयार रहता है। उसके ख़ानदान में पुश्तैनी सिपहगरी चली आई। उसके बाल-दैन भी नवाब साहब के नमक-ख़्वार रहे। वालिद-माजिद को क़ज़ा किये तो ज़माना हुआ; पर वाल्दा बिचारी—दो साल हुए—इस लीला-भूमि से उठ गई।

जब इलाक़े में दौरे पर आपके नूरेचश्म जॉनी की रणरंगिनी जननी देवी की अकस्मात् मृत्यु हो गई, तो आप ख़ुद ताबूत के साथ उसके समाधिस्थल तक नौहा करते पाँव-पयादे गये थे। इतना ही नहीं, उस वीर-प्रसविनी सती की अन्तिम-शयन-भूमि पर आपने एक संगमरमर का छोटा-सा मक़बरा बनवा दिया, जहाँ आज भी मिहराब के सिरे पर सोने के हर्फ़ में खुदे हुए इस शेर को पढ़कर मुसाफ़िरों की आँखें तर हो आती हैं—

"ऐ राह चलनेवालो, मुड़कर इधर भी देखो;
आकर मुसाफ़िरत में यह गत मेरी हुई है !"

आज भी जब आप रियायों की फ़रियाद पर या शिकार की चाट पर उधर निकल जाते हैं, तब यह ज़रूरी है कि आप जॉनी के साथ उसके बुज़ुर्ग के मज़ार पर एक घी का चिराग़ और दो फूल अपने हाथों से रखे बग़ैर वापस नहीं आते।

आप जॉनी को गोद में बिठाकर गरम-गरम टोस्ट और दूध खिला रहे थे कि मिस्टर अहमद तुलबुल तोंद हिलाते कमरे में दाख़िल हुए। मगर आप लख्ते-जिगर जानी से सुख-दुख की बातें करने में कुछ ऐसे मसरूफ़ थे कि किसी के मोरक्को-बूट की आहट ज़रा भी न मिली। जब बरमा-सिगार की तीव्र गन्ध आपके नासिका रन्ध्र में जगह ढूँढ़ने लगी, तब आपने नज़र उठाकर मिस्टर अहमद को देखा।

"अख्वाह ! आप हैं ! आपने तो ख़ुशख़बरी सुनी होगी ! मेरा नूरे-चश्म जॉनी बिलकुल चंगा हो गया !"

मिस्टर अहमद ने समझा कि नवाब साहब के घर से किसी नूरे-चश्म के सेहत पाने का तार आया होगा। उन्होंने तो कुछ सुना न था ; चूँकि क्वार्टर से सीधे नवाब साहब के दरबार में चले आये। पर, वे बात की ही रोटी खाते—मौक़े पर कब चूकते ! उन्होंने 'ख़ुदा का शुक्र है' कहा ही था कि नवाब साहब ने ख़ुद ही राज़ खोल दिया ; 'गोद भरी रहे !' तक जाने की हाजत न पड़ी !

नवाब साहब बोल उठे—"अभी-अभी अस्पताल से आया है। पूरी

सेहत भी नहीं हुई। सच कहता हूँ, मैनेजर साहब, जब से बिचारा जॉनी निमोनिया में मुबतला हुआ, दुनिया की तमाम चीज़ों से मेरी दिलचस्पी जाती रही थी। आज दम में दम पड़ा।"

इस कलाम को सुनकर मिस्टर अहमद को कुछ हँसी आ गई। वे तो नवाब साहब की परीशानी और दिलचस्पी के तमाशे इधर कई दिनों से बराबर देख रहे थे। मगर, चूँकि नवाबों की बात है, लिहाज़ा अपनी मुँह-आई मुस्कान को कसकर होठों पर दबा रखा, और वह हास की क्षीण स्पन्दन-रेखा उनके चेहरे के सघन लोम-निकुंज की छाया में गुम हो गई।

"हाँ, हुज़ूर, आपकी तरद्दुद देखकर तो मेरी आँखों से लहू टपक पड़ता था। ख़ैर, अल्लाह का करम·····"

"मैनेजर साहब, यह कुत्ता नहीं, फ़िरिश्ता है। हैवान है सही; मगर इसकी समझ किसी इन्सान से कम नहीं। इसकी नमक-हलाली और शेर-दिली के क़िस्से बयान करूँ, तो एक छोटी-मोटी तवारीख बन जाय! और, सौ बात की एक बात, यह ऊँचे ख़ानदान-शरीफ़ की नस्ल है; वरना ऐसी रियासत की बू कहाँ मिलती है! हिन्दुस्तान ऐसी मनहूस —ऐसी बदशौक़—जगह है कि यहाँ कुत्तों का कोई ख़ास परचा नहीं और विलायत लिख-लिखकर भेजने से, आप ही समझें, कोई फ़ायदा नहीं।"

"सच है, हुज़ूर! हिन्दुस्तान-ऐसी गई-गुज़री जगह इस आसमान के नीचे और कहाँ होगी!"

दो मिनट तक दोनों चुप रहे। मिस्टर अहमद ने जब देखा कि

नवाब साहब तो खुलते नहीं—ज़ब्त किये बैठे हैं और इधर-उधर की बातें छेड़ रहे हैं, तब ख़ुद ही ऐन मुद्दआ पर आये—"रात भी मैं हुज़ूर की ख़िदमत में हाज़िर हुआ था; मगर जब मुलाक़ात न हो सकी, तब एक रुक्का·····"

"वल्लाह ! मैं भी कहाँ भटक रहा था !"—नवाब साहब कुर्सी से फ़ौरन् उठ खड़े हुए, और मिस्टर अहमद के दोनों हाथों को थामकर ज़ोरों से झोरना शुरू किया, और बोले—"नोट तो निकालिये !"

मिस्टर अहमद ने पाकिट से नोट का बंडल निकालकर मेज़ पर रख दिया। नवाब साहब ने हाथ से उठाकर देखा, वे ही नोट हैं—ताज़े और चुरचुरे !

"वाह ! कमाल किया आपने ! मुझे तो दहशत थी कि कहीं वह वापस न कर दे !"

"कहाँ का वापस करना, हुज़ूर ! यह भी कोई बात है ! उसके नक़्शे-क़दम की शोख़ी उसकी रंगीन तबीयत की रवानी का पता देती है !"

"जो हो, आपका तक़ाज़ा बड़े वक़्त पर पहुँचा; उसे हैस-बैस का मौक़ा ही नहीं दिया ! देखिये, यह बात किसी पर ज़ाहिर न हो !"

"हुज़ूर, ख़ुदा मियाँ पर तो ज़ाहिर ही नहीं हो सकती, आदमी का कौन सवाल ! यह तो महज़ अदना-सी बात है। बड़े-बड़े मुल्की राज़ को पेट में डाल दूँ, तो ख़्वाब में भी किसी को पता न चले। आख़िर, लम्बी तोंद का भी तो कोई नफ़ा हो !"

"मैं मान गया। आप हर फ़न के मौला हैं।···कोई है ?"

"बन्दानेवाज़"—ख़ास ख़ानसामा दस्तबस्ता हाज़िर हुआ।

"मैनेजर साहब के लिए मुश्की मवल्लहम का एक जाम तो लाओ।"

"इस वक़्त, हुज़ूर···"—मिस्टर अहमद ने हाथ जोड़कर कहा।

"वाह! इसके लिए भी कोई वक़्त की क़ैद है! और, ख़ासकर आप कब पाबन्द···"

"मगर, हुज़ूर! शरबती मवल्लहम से तो इस ख़ूसट खाल का एक रोआँ भी नहीं सिहरता। यहाँ तो वह चाहिये, जो बिजली-सी कलेजे पर टूटकर पड़े।"

"सच! तो फिर शैम्पेन या मोज़ेल!"

"जी नहीं। मेरा तो बस एक कुँवर-कन्हैया है·····"

"वह कौन?"

"जानीवाकर!"

"वल्लाह! गुलबदन कॉकटेल से भी इनकार है!"

"इनकार तो किसी से नहीं; मगर दिलदार एक है।"

"ख़ूब! आपकी यह तमन्ना—यह अदा—भी निराली है!"

"वफ़ा की जू है, हुज़ूर!"

"और क्या?"—नवाब साहब हँस पड़े।

"हुज़ूर! दिल के आगे तो दलील नहीं चलती! शैम्पेन या शीराज़ी का क्या ज़िक्र, अगर जामे-कौसर भी मिले तो बन्दा की नीयत नहीं फिरती।"

"समझ गया। आप जानीवाकर पर दिल हारे बैठे हैं। ग़ैर से आशनाई·····"

"नामुमकिन, हुज़ूर! यह बचपन की लगन है; पीरी तक चली आई!"

"भरसक आप बार की चौखट पर सुबह से आधी रात तक डटे रहते हैं!"

"क्यों न रहूँ, हुज़ूर! 'मक्का है यही, मेरा मदीना है यही'!"—मिस्टर अहमद ने बड़े तपाक से कहा।

हँसते-हँसते नवाब साहब के पेट में बल आ गया।

इसी तरह मिस्टर अहमद बात-बात में बात बनाते और बड़ों की नाक के बाल बने रहते। दिलचस्प बातें बनाना कोई उनसे सीखता। भरसक शौक़ीन अमीर दुनिया की झंझटों से हाथ झाड़कर आपके होटल में महीनों नशेमन बनाते!

"हुज़ूर, मैं पीऊँ-पिलाऊँ नहीं, तो आख़िर मेरा गुज़र क्योंकर हो! होटल के कारबार में तो दो पैसे की जो कुछ गुंजाइश है, वह शराब ही की खपत से मुमकिन है; वरना दिन-दहाड़े दिवाला बोल जाय। हुज़ूर से तो कोई परदा नहीं, ख़ादिमों का ख़ादिम हूँ। यह सुबह से ही जानी-वाकर का सिलसिला मेरी दूकान का इश्तहार है। आख़िर ख़रबूज़े को देख ख़रबूज़ा रंग पकड़ता है, हुज़ूर!"

"मगर, पीरी में यादे-अोक़बा भी तो थोड़ी-बहुत·····"

"ज़रूर, हुज़ूर! वही तो पतवार है। मजाल है कि एक

वक़्त भी नमाज़ क़ज़ा हो ! मैं मयख़्वार तो ज़रूर हूँ ; मगर नशाख़्वार नहीं। अगर एक लहमे के लिए भी ज़बान लटपटाए, तो हुज़ूर सर क़लम करा दें। यह भी कोई बात है ! हुज़ूर ! इजाज़त हो, तो एक मौज़ूँ क़िस्सा बयान करूँ !"

"हाँ-हाँ, फ़रमाइये !"

"बन्दापरवर ! एक दफ़ा शाहंशाह अकबर बादशाह जंगल में शिकार खेलते-खेलते कहीं दूर निकल गये। घोड़ा नया था—बुर्राक़; हिरन के पीछे हिरन हो गया। साथी सब छूट गये। आप रास्ते से भटक पड़े। वह अस्प-ताज़ी हिरन का कान तराशता हुआ कोसों दूर निकल गया।

"शाम हो चली। भूक और प्यास से जान होठों पर आ गई। आख़िर सामने पहाड़ की चोटी पर एक रोशनी-सी नज़र आई। आपने घोड़े को ऐंड़ लगाई और पलक मारते चोटी पर आ पहुँचे। वहाँ देखा, तो एक आलीशान मकान है, सामने एक चमन का अंजुमन। मालिक-मकान ने आपको पहचान लिया और फ़ौरन् क़दमबोसी को झुक गया। फिर, उसने घोड़ा थाम लिया। आपको गंगा-जमनी तामजान पर बिठा-कर अन्दर ले गया।

"आपने कपड़े उतार डाले। केवड़े और गुलाब से हाथ-मुँह धोया। मेज़बान ने शीराज़ी का एक लबरेज़ प्याला तश्त पर रखकर आपके रू-ब-रू पेश किया।

"आपने पूछा—म्याँ, क्या लाये हो ?

"मेज़बान ने झुककर अर्ज़ किया—आलीजाह, यह दफ़्अेहरारत है। इसे पीने से थकावट जाती रहेगी।

"आपने प्याले को उठाकर एक साँस में साफ़ कर दिया। थकान जाती रही। फिर आप उठकर गुलाब और जूही की क्यारियों में बैठ गये।

"आध घंटे बाद जब दूसरा प्याला ख़ुशरंग शीराज़ी का सामने आया, तब आपने फिर दरियाफ़्त किया—क्या लाये हो, क़िबला?

"मेज़बान ने बड़ी आजिज़ी के साथ जवाब दिया—जहाँपनाह! यह जामे-फ़रहत है; इसके पीने से दिल में मसर्रत और नस-नस में फ़रहत दौड़ जायगी।

"आपने उस प्याले को भी उलट दिया। तबीयत में फ़सले-बहार की लपट आने लगी। क़ुदरत के एक-एक ज़र्रे पर फ़िज़ाँ नज़र आई।

"आध घंटे बाद फिर वही शीराज़ी का तीसरा प्याला आया। आपने फिर पूछा—क्या लाये हो, हज़रत?

"मेज़बान ने इस बार बतलाया—ख़ुदावन्द, यह शराब है। इसे पीने से नशा होता है।

"यह सुनते ही बादशाह-सलामत ने नाक सिकोड़ ली, प्याले को ज़मीन पर दे पटका, और झुँझलाए-से बोले—तौबा-तौबा! शराब हराम है हराम!!

"तो, हुज़ूर, मेरा भी कुछ यही उसूल है। पीता हूँ, सही; मगर कभी

तीसरे प्याले की ख़ौफ़नाक मंज़िल तक भूलकर भी नहीं जाता। शराब पीकर ग़ान हो जाना मैंने आज तक नहीं जाना। सुरूर की एक हल्की सुरसुरी शुरू हुई और उसी मीठी आँच पर बराबर चलती रही—न कम, न ज़्यादा। तबीयत भी सही; दिमाग़ भी दुरुस्त। और, सुबह से शाम तक जाम का दौर जारी रहे, तो कोई मुज़ायक़ा नहीं। हुज़ूर! अव्वल तो मैं कच्चे घरे का कभी पीता नहीं। दूसरे, जानीवाकर से मुझे इत्मीनान है। उसके एक-एक क़तरे का अन्दाज़ है।"

"ख़ैर, यही सही। कोई है? मैनेजर साहब के लिए एक जाम ह्विस्की तो लाना!"

"म्याँ, एक छोटा पेग लाना। अभी सुबह का वक़्त है!"—मिस्टर अहमद ने हँसते-हँसते वेटर से कहा।

वेटर भीतर दौड़ गया, पलक मारते सोडा और ह्विस्की हाज़िर किया। मिस्टर अहमद ने गिलास में आधा पेग ढाला और सोडा-पानी से भर दिया।

"हुज़ूर, तो मैं इन नोटों को शामलाल के पास भिजवा दूँ? देर होने से....."

"ज़रूर, काम तो अंजाम हो गया ही!"

मिस्टर अहमद ने मेज़ पर से नोट का बंडल उठाकर वेटर के हवाले किया और ताकीद कर दी—"जाओ, यह बिल और नोट शामलाल को दे देना—समझे?"

"क्यों, मैनेजर साहब, अब तो वह जाल में फँस गई! एक झटके

में किनारे पर खींच लेना है !"

"हुज़ूर, उसके दिमाग़ का पारा एकबारगी सातवें तबक़ पर रहता है। अभी तो वह महज़ दो-एक डिगरी उतरा है। लिहाज़ा, नज़र-नेयाज़ का सिलसिला जारी रखना है, ताकि पारा नॉर्मल में आ जाय! हुज़ूर, क़सूर माफ़ हो, यह इश्क़बाज़ी है—कुछ गुड्डों का खेल नहीं। यह भी कोई बात है! जल्दबाज़ी....."

"तो फिर ?"

"हुज़ूर, उसे सोने-चाँदी के हिंडोले में झुलाते रहें। वह आप लिपट पड़ेगी।"

"तो आख़िर अब करना क्या होगा ?"—नवाब साहब ने ज़रा उतावला होकर पूछा।

"पहले तो, हुज़ूर, सलीम को टरका देना ज़रूरी है। बस, उसे परवाना देने का हुक्म हो जाय; मैं दो-चार दिनों में चलता करूँ। वह बिचारा ख़ुद आजिज़ है; अपनी भूल पर नादिम भी है। वाक़ई, अगर वह रियासत का काम सीख लेगा, तो मज़े से अंजाम देगा। आख़िर उसे धक्के देकर निकाल देना तो बड़ी बे-मुरव्वती होगी।"

"मैं आज ही हुक्म दिये देता हूँ। आप जब चाहें, सेक्रेटरी से हुक्मनामा लिखा लें। आख़िर वही बहादुर तो आसमान से बिजली उतार लाया; वरना मुझे जन्नत की परी कहाँ मयस्सर होती! उसका अहसान तो मेरे सर-आँखों पर है।"

"हुज़ूर की ख़ुशनीयती फूलकर फलेगी।...हाँ, हुज़ूर, अब बिजली

को एक तपाक का शैम्पेन-डिनर दे देना ज़रूरी है।"

मिस्टर अहमद के तिब में तो तमाम मर्ज़ों की दवा शैम्पेन की बोतल या होटल का डिनर ठहरा! जहाँ मौक़ा मिला, इसे पेश किया।

"दुरुस्त! बतलाइये, किस दिन?"

"यही, अगले सनीचर को। आज ही नवेद लिखकर भेज दिया जाय·····कुछ फूल-पत्ते के साथ। यह नुस्ख़ा ज़रूर पुर-असर होगा!"

"ठहरिये, मैं अभी लिखे देता हूँ।"

आपने ख़ानसामे को बुलाकर हुक्म दिया कि मार्शल नील गुलाब का एक बड़ा-सा गुलदस्ता तैयार कर रेशमी रिबन से बाँध फ़ौरन् से पेश्तर हाज़िर किया जाय।

नवाबी हुक्म! गुलदस्ता चटपट तैयार हो गया। आपने सेक्रेटरी को बुला भेजा और एक क़ीमती पिन या ब्रूच की फ़रमाइश की।

ख़त लिखने का ख़ास काग़ज आया—ख़ुशबूदार ख़ुशनुमा काग़ज़, आसमानी रंग; सिरे पर शेर के कंधे पर दाँत गड़ाये सुनहले शिकारी कुत्ते की तसवीर। वैसा ही चुलबुला लिफ़ाफ़ा।

आपने अँगरेज़ी में नवेद लिखा और लिफ़ाफ़े में बन्द कर गुलदस्ते में डाल दिया। मोटर पर ब्रूच भी आ गया। तलवार की शक्ल। मूठ पर हीरे की चुन्नियाँ जड़ी हैं। बीच-बीच में नीलम।

आपने झट ब्रूच देकर गुलाबी रिबन के छोर को गुलाब की टहनियों में अँटका दिया, और उस ख़ूबसूरत गुलदस्ते को मिस्टर अहमद के हवाले करते-करते बोले—"लीजिये, तोहफ़ा हाज़िर है। अब अगर वह सोने की

चिड़िया मोती चुगकर उड़ गई, तो साहब, ज़िम्मेवारी आपकी !"

"हुज़ूर, यह भी कोई बात है ! वह चरती-चुगती आप चली आती है ! मगर, हाँ, पिंजड़ा हो गंगा-जमनी और तीलियाँ हों मोती-पिरोई !"

जब वह फूलों का तोहफ़ा दस मिनट बाद बिजली के हाथ में आया, वह खिलखिलाकर हँस पड़ी। देखना है, बिजली, यह सोने की चिड़िया हाथ से उड़ न जाय !

नवम परिच्छेद

सनीचर की रात है। यों तो होटल की प्रत्येक रात ईद की रात है; पर सनीचर की रात की कुछ और ही बात है। थिएटर की चुहलें हों या कैबरे के मुजरे—यानी, कोई दिलचस्प नई तफ़रीह ज़रूरी है। रोज़मर्रे के पेग और ब्रिज की पार्टी में कोई ताज़गी नहीं रह जाती।

यों तो शाम की गुलाबी किरणों के इस्तक़बाल के लिए ह्विस्की की गुलाबपाशी होटल के दायरे में हर रोज़ ज़रूरी है; पर सनीचर की शाम वहाँ बहार की सवारी आती है और शैम्पेन की सुनहरी दरिया बहती है। जानीवाकर के सिवा कितने सुधाकर उस दिन दिल गुदगुदाते हैं, गला सींचते हैं। बिजली की हज़ारों बत्तियाँ, फूल-पत्तों की रंगीन तैयारियाँ, खाने-पीने की दिलफ़रेब रँगरलियाँ ज़रूरी हैं। जहाँ चिराग़ जला और जबतक बादे-सबा का झोंका रात की रंगीनी को उड़ा नहीं ले जाता, तबतक विलायती डांस की लहर-लीला कभी ठंढी नहीं पड़ती। हसीनों की

झीनी साड़ी और टाइट जैकेट की चुलबुली दिलजोई, उनके चेहरे पर पाउडर और क्रीम की तिलस्मी धाँधली, उनके बिलोल अंचल और चपल चितवन की मस्त कलाबाज़ी, उनकी पपनियों और भवों पर कज्जल की बारीक रंगसाज़ी, उनकी रस-भरी ज़बान और मद-भरी मुस्कान की नशीली शीराज़ी, उनकी मॉडर्न तमीज़ और अन्दाज़ की दिलकश फ़ैयाज़ी, उनके एक एक अंग से भीनी-भीनी सुरभि की मीठी गुदगुदी, उनकी आबोताब और हावभाव की निराली मस्ती, उनके होठों और गालों पर कमाल की गुलाली गुलकारी, उनके हाथों में गुलाबी कॉकटेल की हल्की प्याली—आज किसे नहीं भाती, किसे नहीं लुभाती !

अब वे दक़ियानूसी तौर-तरीक़े के दिन गये। अब मोतियों से भरी माँग है, न अञ्जन से रञ्जित आँख। अब अङ्गों से मोतिया और हिना की लपट है न केसर और सन्दल की उबटन। आज चुस्त चोली है न चुहचुहाती चुँदरी ; लहरिया लहँगा है न केसरिया ओढ़नी। फ़ैशन की रविश ने अंगों के राग-रंग पर पश्चिम का रंग भर दिया।

बिजली तो परियों की महफ़िल में परी-पैकर थी। जब वह बन-ठनकर होटल के लाउञ्ज में इठलाती हुई आई, बिजली की रोशनी भी उसकी रोशनी में गुलाबी पड़ गई। उस विशाल हॉल में ऐसा कौन कलेजे का पोढ़ था, जिसकी आँखों ने उस ज्वलन्त रूप की आरती नहीं उतारी, और उसकी रस-भरी चितवन का प्रसाद नहीं पाया !

बिजली के सुडौल अंगों में बतासफेनी क्रेप की अंगूरी साड़ी है, और साड़ी के किनारे पर सुनहले रेशमी डोरों से बुनी अंगूरी लता की

बेल। फाल्गुनी रसाल-किसलय की हल्की हरीतिमा उसके हरे मख़मल के चुस्त जैकेट पर निछावर है।

नवाब साहब को तो ऐसा मालूम हुआ, मानों मेघ-लोक की बिजली आसमान से सब्ज़-परी बनकर उतर आई है। तमाम हॉल में हर आँख-वाले हृदय पर लहलही हरियाली उमर आई।

बिजली के कश्मीरी सेब की तरह गुल्लाले गालों पर हीरे के झुमकों की झूमती मरकत-रश्मि आँखों से कलेजा निकाल लेती। उसकी एक-एक मुस्कान प्रातःकाल के परिमल से लदी शेफालिका हो रही है।

उसने अपनी शोख़ आँखों से महफ़िल को देखा और एक-एक जवान ने कलेजा थाम लिया। उसके चेहरे के पाउडर और पेंट पर यह विजय-दर्प की सुनहली आभा एक अलौकिक पालिश बन गई। इसी स्पर्द्धा की रेशमी सुषमा तो उसकी निगाह में नारीत्व के अलंकार की मणि-मञ्जूषा है।

भला-सेवा और सतीत्व की गुलामी की शृंखला में बद्ध हत-श्री घरेलू स्त्री इस विजयोल्लास की दीप्ति को कहाँ तक पा सकती है! उस बिचारी के सीमन्त पर सिन्दूर-रेखा तो उसके सर पर उसके अरमानों के ख़ून से भरी तलवार है।

बिजली के दिल की यही दलील है।

नवाब साहब की पार्टी लाउञ्ज के एक सुसज्जित प्रान्त में कुशनदार कुर्सियों पर सजी बैठी है। सभी के हाथों में चेरीमण्डित कॉकटेल की प्यालों है! बिजली भी नवाब साहब की प्याली से प्याली मिलाकर

मीठी चुस्कियाँ ले रही है।

एक कोने में बैठा सलीम बिजली की रेशमी शोख़ियों को देखकर कलेजा थाम लेता और दिल की आग को आग के पानी से ठंढा करने की कोशिश करता। अब उसे एक उदासीनता-सी आ रही है, चूँकि बिजली के मिज़ाज की कज-अदाई का उसे काफ़ी परिचय मिल चुका है।

जो हो, जब बिजली उसकी बिजली न रही—उन रगों का लहू सफ़ेद हो गया, तब उसे क्या पड़ी है कि वह लहू का घूँट पीता रहे! अब उसका ख़ून उबल-उबलकर ठंढा हो चला है, और उसकी आँखों में लहू की कणा की जगह कुतूहल की रेखा झाँक रही है।

उसके दाहने जानिब मिस्टर अहमद हैं और बाईं ओर नवाब साहब के प्राइवेट सेक्रेटरी मिस्टर नूर। सलीम ने झुककर आहिस्ते से मिस्टर अहमद से पूछा—"मैनेजर साहब! आप कौन हैं?"

"अच्छा! तुम जानते भी नहीं? तुम्हें जान लेना निहायत ज़रूरी है।"—मिस्टर अहमद ने फुसफुसाकर कहा।

"क्यों?"

"चूँकि ये ही नवाब साहब के नाक के बाल हैं। और, इनकी दिलजोई तुम्हारा लाज़मी फ़र्ज़ है।"

"सच! आख़िर आप हैं कौन?"—सलीम ने कॉकटेल की प्याली को उलटकर पूछा।

"नवाब साहब के सालारजंग!"

"सालारजंग!"

"जी हाँ ! आप नवाबी सालों के रिसाले के सालार हैं ! आप नवाब साहब की आख़िरी—यानी पाँचवीं—बीवी के चचाज़ाद भाई हैं। इस वक्त दरबार में आप ही की तूती बोलती है। पहली शादी का साला तो मोटरों का दारोग़ा है और उसका ख़लेरा भाई कुत्तों का कोतवाल। दूसरी शादी का साला तवेले का अफ़सर है और उसका सौतेला भाई अटलख़ाने का मुहर्रिर। इसी तरह कितने ममेरे-चचेरे भाई-भतीजे किस-किस महकमे में मीर-मुनव्वर हैं, मुझे पता नहीं। मगर, सालों की तमाम फ़ौज के इस वक्त आप ही नम्बरी कमांडर हैं। होम-डिपार्टमेंट के मिनिस्टर भी आप ही हैं !"

"समझ गया। ज़्यादा तारीफ़ की ज़रूरत नहीं।"

पार्टी में अमीन और मिसेज़ सूर के अलावा नवाब साहब के हाँ-में-हाँ मिलानेवाले दो दिली दोस्त भी मौजूद हैं—मिस्टर पाल और मिस्टर बाल। एक बंगाली, दूसरे पंजाबी। दोनों पीनेवाले, खानेवाले और नवाब साहब के तलवों से आँखें रगड़नेवाले हैं। नवाबों के दरबार में आँखें सीधी रखनेवालों का गुज़र बड़ी मुश्किल से होता है।

बिजली इस समाज की सम्राज्ञी है। उस हॉल में चुलबुल हसीनों की तो कुछ कमी न थी, न उनके विलायती सलीक़े की सजावट की। फिर भी क्या वजह है कि तमाम मजलिस की नज़र उसीके चेहरे पर है ? शायद यह उसके नाज़ी-अन्दाज़ की बिजली है, जो सबपर रंग लाती है। उसकी एक-एक चेष्टा में प्रगल्भता और प्रतिभा का—शोख़ी और तमीज़ का—कुछ ऐसा विचित्र मेलजोल है, जो उसकी ख़ूबसूरती की किरन में चार चाँद

लगा देता और बरबस दिलवालों का दिल खींच लेता है।

वह जानती थी कि चेहरे की चकमक बेकार है, अगर चितवन में प्रतिभा की चमक नहीं। जबतक ख़ूबसूरती के साथ-साथ हया-भरी शोख़ी की माधुरी न हो—इस मीठी चाशनी के साथ-साथ मिज़ाज की नमक-पाशी न हो, तबतक महज़ हुस्न और शबाब क़ूवते-कशिश की रस्सा-कशी में बाज़ी नहीं ले सकते।

उसकी एक-एक हरकत पर उसके प्रदीप्त प्राणों की लपट है; एक-एक अंग पर हाव-भाव का पुलक।

वह एक क्षण कहीं स्थिर नहीं रहती; तितली-सी उड़ती फिरती है। कभी मुस्कान से विद्रुम बरसाती, कभी भवें तानकर बिजली गिराती, कभी इठलाती-बलखाती कॉकटेल की प्याली को होंठों से लगाकर चुस्कियाँ लेते-लेते कनखियों से अमीन को इशारे देती—गोरी मिसों की कल्पित मुहब्बत पर चुटकुले छोड़ती, कभी नवाब साहब के कंधे से-कंधा मिलाकर उनके रोम-रोम में रोमाञ्च का सञ्चार उठाती हुई सरककर टामी को गोद में उठा लेती—उसके सर पर हौले-हौले थपकियाँ देती, कभी मिस्टर बाल और मिस्टर पाल के बीच में बैठकर पंजाबी लदफद शलवार और बंगाली ढीली धोती पर मीठी चुटकियाँ लेती, और कभी मिस्टर अहमद के कंधे पर झूलकर उनकी पर्वताकार तोंद के दरों में निरन्तर प्रवाहित जानीवाकर की बोतलों की खपत पर—उनके मुख-'फ़नेल्' से फक-फक धुएँ के अनर्गल प्रस्रवण पर—क़हक़हे मारती। और, उस खिलखिलाहट से उभरी हुई मोतियों की लरी की तरह शुभ्र दन्तराजि की उज्ज्वल किरन

आँखों में चकाचौंध लगा देती।

वह आँचल को सँभालती नहीं—सरकाती रहती और इस सरकाने में लज्जा-चंचल शोख़ी की मिठास है। उसके अंग-सञ्चालन की एक-एक गति पर उसकी साड़ी का आँचल इस अन्दाज़ से कंधे पर सरक उठता कि उसके वक्षमंडल का रहस्यमय अंचल, शराबी की आँखों पर छलकते हुए पैमाने की झलक-सी, इर्द-गिर्द दोस्तों के कुतूहली दृष्टि-पथ पर बार-बार खुलता और ढक जाता। खुली गर्दन का टाइट जैकेट बेकार हो जाता, अगर सामने से आँचल का बादल उड़ता न रहता। साड़ी और जैकेट की रेशमी झीनी चिक से बदन का जौहर खुलकर चमका नहीं, तो फिर क़ुदरती ज़मीन पर इस नक़ाबपोशी की ज़रूरत ही क्या रही!

यह समझना भूल होगा कि सभ्य-समाज में यह संकेत-भंगिमा कुछ तहज़ीब के ख़िलाफ़ बात है। पश्चिम से जो चीरहरण की हवा चली है, वह पूरब की पुरानी तमीज़ की रूढ़ियों को न जाने कहाँ उड़ा ले गई! यह प्रकृति-उपासना की मोहिनी माया आज आलोक-प्राप्त प्रगतिशील समाज के भीतर, दक़ियानूसी लाज और लिहाज़ की मोरचेबन्दी को तोड़ती हुई, विलासिता के स्फुरण को नवीन संस्कृति की पदवी देकर भारत की छाती से क़बूल करा रही है।

जिस फ़ैशन के हिमायती धनी-मानी बन गये, वही तमीज़ की नीति बन गई। अब नव बधू के लज्जालोहित अंचल की चाँदनी न रही, न रही घूँघट-पट पर छनी हुई दीदार की चाशनी। अब न कहीं कङ्कण-

किङ्किणि की काकली है, न मंजीर की मीठी मुरली। मुखरा चूड़ियों की खनक भी नव्य समाज के दो-चार ही मेम्बरों के कर से उठकर किसी की सुषुप्त चेतना को सतर्क करती होगी।

अब चिक़ों की ओट से न रहस्यमय झलक है, न माया-मधुर गुञ्जन। वरञ्च, एक उड़ती झलक की जगह पर नखसिख की सोलहो कलाओं का साक्षात् दिव्य निवेदन है; और कहीं-कहीं तो उन्नतिशील मंडल में नवीन नृत्यकला का निदर्शन भी।

अब औचक की कड़े-छड़े की मीठी रुनझुन की जगह पर संगीत-प्रवण महिलाओं के हाथ से इसराज के सुर का संचार है—सितार की मींड़ की निपुण झनकार भी।

ज़माना बदल गया है और बदल रहा है। सागर के उस पार से आँधी के झोंके आ-आकर हमारे सनातन मन्दिरों के कपाट को धक्के देकर तोड़ रहे हैं। आज साथ साथ खाना-पीना, उठना-बैठना, हँसना-खेलना, नाचना-गाना हमारी तरक़्क़ी का नवीन आदर्श है। अब चुम्बन में न वह रस रहा, न आलिंगन में वह आकर्षण। जहाँ आठों पहर दरस-परस लगातार जारी है, वहाँ न इन्तज़ार की लज़्ज़त रही, न दीदार की हसरत। मन भरते-भरते सूना हो जाता है; पुलाव खाते-खाते फीका हो जाता है। जी अघाने से दिल बुझ जाता है; जी की जी में रहने से वह जला करता है। अरमान उठने न पाये कि पूरे हो गये; तो फिर बेकली की दिलचस्पी कहाँ रही!

ज़िन्दगी तो बिलकुल रूटीन की पाबन्दी हो गई! विजातीय आचार-

विचार, विदेशीय रहन-सहन तथा विलायती नृत्यविलास ने पुरुष और स्त्री के बीच के सङ्कोच के सूत्र को छिन्न-भिन्न कर डाला। वे परदे उठाकर निकट तो आ गये, मगर वह दूर की मिल्लत का मज़ा ही जाता रहा। छाती तो ज़रूर सटी रही; पर छाती के रोएँ होते ही रह गये! कल्पना की क्षति हुई; 'रोमैंस' की समृद्धि। रहस्य की अवनति हुई; तफ़रीह की तरक्क़ी। ललना की लज्जा लुटी; पर तेज़ी आ गई। वह शुचिता और सरलता न सही—वह सुहाग-सङ्कोच की मधुरिमा न सही; पर एक विलक्षण अभिज्ञता और सतर्कता आ गई!

अब इस देश से मॉडर्न रुचि की रंगरलियाँ जानेवाली नहीं। पांगापन्थी अपने चौपाल में जमकर इसकी लाख खिल्लयाँ क्यों न उड़ायें—चूँकि उनके लिए यह फ़ैशन-नन्दन अंगूर खट्टा है; लेकिन जहाँ एक बार बराबरी के दरजे पर वे इस आलोक-मन्दिर में दाख़िल हो गये, फिर तो कभी मुमकिन नहीं कि वे बेतकल्लुफ़ी की दिलफ़रेब नुमाइशों को सभ्यता का स्फुरण न कहकर बर्बरता का पतन समझें।

यों तो, भले और बुरे कहाँ नहीं हैं? प्रकृति का खेल हर जगह, हर रंग में, जारी है। एक ओर घूँघट की ओट से चितवन का वार है; दूसरी ओर आँचल के सञ्चार पर खुले अंगों की लुनाई का इश्तहार है।

जो हो, इस वक़्त तो यही सवाल है कि हम इस नवीन युग की धारा को पलट सकते हैं या नहीं; और अगर नहीं, तो अपने-आपको बिलकुल इसकी तरंगों पर बहने दें, या एक हद तक इसे अपनाकर क्रान्ति की तीव्र रुझान को मातदिल कर दें। घर की संस्कृति और भित्ति यदि

क़ायम रहे, तो फिर जहाँ-तहाँ खिड़कियाँ फोड़कर नई रोशनी और हवा को प्रवेश देने में हर्ज़ ही क्या है ?

बिजली के रंगढंग तो निरालों में निराले थे। वह विलासिता का पलीता थी। उसकी बारीकियों के आगे निराली नाज़ोअन्दाज़वाली मिसेज़ सूर भी चौकड़ी भूल गईं—सिटपिटाती हुई सलीम के पास जा बैठीं और गुपचुप कॉकटेल की चुस्कियाँ लेती रहीं। बिजली ने कनखियों से देखा कि सलीम ने मिसेज़ सूर के बिलकुल नज़दीक अपनी कुर्सी खींच ली, और झुककर बातें करने लगा।

"मिसेज़ सूर ! अभी तो डिनर में आध घंटे की देर है। तबतक हम-आप बिलियर्ड खेल लें।"

"बिलियर्ड तो....."

"कैरम ?"

"हाँ, कैरम तो ज़रूर खेल लेती हूँ। और, है भी यह बहुत दिल-चस्प खेल !"

"तो यही सही !"

"शौक़ से !"

दोनों उठे और हाथ-में-हाथ मिलाये कैरम-बोर्ड की तलाश में दूसरे कमरे में चले गये।

बिजली के तेवर पर बल पड़ गये; पर उसने हाथ के गिलास को आँखों तक उठाकर शीशे का परदा दे डाला। उसके जी में एकाएक एक शोले-सा भड़का कि अभी हाथ के प्याले को सलीम के सर पर दे

मारे; पर वह परिस्थिति के लिहाज़ से ज़ब्त कर गई। नवाब साहब और मिस्टर अहमद ने आँखों-आँखों में मुस्कानों का विनिमय कर लिया।

"हुज़ूर, वहाँ दो कॉकटेल भिजवा दूँ?"—मिस्टर अहमद ने जाते हुए मिसेज़ सूर और सलीम की तरफ़ उँगली उठाकर पूछा।

"ज़रूर; बरमूथ भी!"

"जो हुक्म!"

औरों की आँख पर बिजली झूमती है, मिस्टर अहमद की आँख पर शीशे की परी। और क्यों न हो, यही तो उनकी रोटी है। किसी की और कुछ भी ख़ब्त हो, उनकी ख़ब्त तो विलायती बोतलों की खपत है।

"बिजली!"—नवाब साहब ने झुककर बिजली के कानों में कूककर कहा।

'मिसेज़ सलीम' की जगह यह पहले-पहल आज 'बिजली' चली। एक मंज़िल और भी तय हुई। बिजली इस स्नेह-निदर्शन पर खिझी नहीं—ख़ुश हुई, और चट से उनके हाथ-पर-हाथ रखकर बोली—"कहिये!"

नवाब साहब ने उस सुकोमल स्पर्श को उसकी स्वीकृति समझी, और मस्ती में झूम गये। अब नाम का सेतु बँध गया; अरमानों को पार उतारने में कोई दिक्कत न होगी!

"मैं सलीम को इलाक़े पर चलता करूँ?—नवाब साहब ने बिजली के कानों में फुसफुसाकर कहा।

"ख़ुशी आपकी। मेरे लिए तो वह रहे या न रहे, दोनों बराबर है।"

बिजली इसे कहना नहीं चाहती थी; पर पास के कमरे से आती हुई सलीम और मिसेज़ सूर के बेतकल्लुफ़ी के क़हक़हे की आवाज़ उसके ज़ब्त के बाँध को उधेड़ रही थी।

नवाब साहब की बग़ल की कुर्सी पर बिजली है। सामने एक गोल मेज़ रखी है। मेज़ पर एक चुटकुला फूलदान— लेवेंडरी गुलाब के फूलों से भरा। बिजली ने एक फूल निकाला और धीरे से नवाब साहब के कोट के बटन-होल में डाल दिया।

नवाब साहब ने 'थैंक्स' कहकर तपाक से सर झुका दिया। कॉक-टेल की माधुरी और बिजली की आँखों की रसभरी ब्रांडी उनके दिमाग़ की आग को कुरेदने लगी। हिम्मत बढ़ी। चट उनके बूट की नोक मेज़ के नीचे बिजली के ऊँची एँड़ी के जूते की नोक से जा मिली। नोकों में नोकझोंक का सिलसिला चलता रहा; हाथों के छलकते हुए पैमानों का चुम्बन जारी रहा। नीचे वह आलिंगन और ऊपर यह चुम्बन! किसी-पर भी यह रहस्य रौशन नहीं—गर्चे कमरे का कोना-कोना बिजली की बत्तियों से रौशन हो रहा है, और सारी मंडली आँखें पसारकर बिजली की एक-एक हरकत के लावण्य-मधु को पी रही है।

सलीम और मिसेज़ सूर दोनों हँसते हुए पास के कमरे से निकलकर शामिल हो गये। बिजली ने देखा कि सलीम के कोट के बटन-होल में भी एक लेवेंडरी गुलाब है! उसने समझा कि हो-न-हो, यह मिसेज़ सूर के हाथ का काम है।

सलीम ने देखा कि नवाब साहब के कोट के बटन-होल में भी एक

लेवेंडरी गुलाब है ! उसने भी समझा कि हो-न-हो, यह बिजली के हाथ का काम है।

भगवान् जाने, उन दोनों ने सामने के लेवेंडरी गुलाब ही तक देखा या आगे बढ़कर अतीत के उन गुलाबी दिनों को भी देखा, जब किसी के लज्जा-चंचल सुकुमार हाथ की पैंसी एक टेनिस-वीर के कोट के बटन-होल की शोभा थी।

अब न वह वासन्ती सन्ध्या रही, न वह उल्लास की उत्तेजना। न वह टेनिस की दिलचस्पी रही, न बटन-होल की पैंसी। आज उस स्नेह की समाधि पर दो लेवेंडरी गुलाब के फूल नज़र आते हैं ; और वह चमन की बुलबुल परिमल से लदी शाख़ से उड़कर ज़मीन पर मोती चुगने उतर आई है।

"मिसेज़ सलीम ! आप तो कुछ गा भी लेती होंगी !"—अमीन बरमूथ का गिलास मेज़ पर रखते हुए बोला।

"जब आपकी ज़बान इतनी मीठी है, तब गला कितना दानेदार होगा ! सामने प्यानो भी मौजूद है।"

"इधर तो मैंने कभी गाया नहीं। और, आप जानते हैं, यह रेयाज़ की चीज़ है।"

"ख़ैर, जो ही सही ! बड़ी चीज़ न हो, हल्की ही सही। सितारे न भी टूटें, शाम तो मिटेगा ! पत्थर न भी गले, दिल तो हिलेगा !—'दुर्द ही दुर्द सही, बादः तो है' !"

बिजली ने अमीन के कानों के कमल-हीरे के टाप को देखा, उसके

दाहने हाथ की कानी उँगली में रक्तमुखी नीलम को देखा; फिर आँखों की कामना की किरण को देखा—और उठ खड़ी हुई।

"आप पहले होस्ट की इजाज़त लीजिये!"

"अजी वाह! नेकी और पूछ-पूछ!"—नवाब साहब ने हँसकर फ़रमाया।

गाने का ज़िक्र होते ही सबने अपनी-अपनी गरदन सीधी कर ली। मिस्टर पाल ने आगे बढ़कर कहा—"आप बोंगला गान भी कोई गा सकती है?"

"जी नहीं; मैं बंगालिन नहीं हूँ। मुझे अफ़सोस है कि मैं न आपके लिए बँगला गा सकती हूँ, न मिस्टर बाल के लिए पंजाबी।"

"मुझे रोबि ठाकुर के गान शुने जोमाना हो गया!"

"सच! और भात-माछ खाये?"—बिजली ने छेड़कर पूछा।

"माशा-अल्लाह! क्या बात है! ज़बान से राल टपक पड़ेगी।"—मियाँ अहमद ने कंधे झाड़कर कहा।

सब लोग हँस पड़े। मिस्टर पाल का चेहरा शर्म से लाल हो गया।

"ख़ैर, मैं आपकी बात मान लेती हूँ। एक रवि बाबू का गाना ज़रूर सुना दूँगी। मैंने स्कूल में बंगालिन लड़कियों से सुना था। लेकिन हाँ, शर्त यह है कि पहले आप तर्जुमा करके मिस्टर अमीन को समझा दीजिये!"

"जोरूर; मुझे कोबूल है। गान तो शुनाये!"

"हाँ-हाँ; सुनिये—

"आमि चिनिगो चिनिगो तोमारे, ओगो विदेशिनी!
तुमि थाको सिन्धुपारे, ओगो विदेशिनी!
आमि आकाशे पातिया कान, ओगो शुने छि तोमारि गान,
आमि सँपे छि तोमारि प्रान, ओगो विदेशिनी!"

मिस्टर पाल एक-एक पद पर—बल्कि पद के एक-एक शब्द पर—झूम गये। बड़ी दिलचस्पी के साथ उन्होंने अमीन को भाव बताया।

"वाह! मिसेज़ सलीम! मैं बाज़ आया गाना सुनने से! मैंने आपको विलायत के क़िस्से क्या सुनाये, अपने सर पर अज़ाब ले लिया! अभी तक आप चुटकुले छोड़ रही हैं!"

"भाई! बंगाली-बंगाली हटाओ। कोई अच्छी-सी ग़ज़ल हो!"—नवाब साहब बीच में ही फट पड़े।

जब मीर-मजलिस नवाब साहब ने खुलकर ग़ज़ल की फ़रमाइश कर दी, तब और किसी की फ़रमाइश की गुंजाइश ही कहाँ रही? मिस्टर, बाल की ज़बान तक आई हुई 'ठुमरी' लबों पर ही नाचकर रह गई। सबने दाद दी—"बिस्मिल्लाह! बस, ग़ज़ल हो—ग़ज़ल! भला, क़व्वाली के बग़ैर कभी महफ़िल का रंग जम सकता है!"

जिस बात पर नवाबी ज़बान की मुहर पड़ गई, वह दरबार में चलता सिक्का बन गई। सोने का रंग दुनिया के तमाम रंगों पर रंग लाता है।

बिजली फुदककर प्यानो के टूल पर जा बैठी, और पटरियाँ छेड़कर गाना शुरू किया—

"ऐ इश्क़ अता कर दे ऐसा मुझे काशाना,

जो काबा का काबा हो बुतख़ाना का बुतख़ाना।
तू वह गुले रंगीं है ऐ जलवए जानाना,
हर गुल है तेरा बुलबुल हर शमः है परवाना।
एक जाम इधर भी दे ऐ साक़िये मयख़ाना,
सिजदे में सुराही हो और बज्द में पैमाना।"

सुरपुर से सुर-परी उतरकर तमाम हॉल में ताल-ताल पर नाच उठी। नवाब साहब के हाथ का ठेका प्यानो के सर पर लगातार चलता रहा। बिजली का अपूर्व कंठस्वर कमरे में भर गया। अमीन तो जैसे लोटन कबूतर हो गया। विलायत की कोई इसी तरह की रागरंग-भरी चुटीली सीन याद आ गई या बिजली की सुरीली सुरलहरी प्राणों में अणुरणित होने लगी। नवाब साहब की आँखें तो बिजली की आँखों में पड़ी थीं और उनकी समग्र चेतना उस कोमल सुर की मूर्च्छना पर मूर्च्छित थी।

गान नीरव हुआ; पर सुर का सौरभ अन्तस्तल की निविड़ अनुभूति में बना रहा। एक-एक कण कानों से उतरकर प्राणों में भर गई। पाँच मिनट तक सकते का आलम बना रहा। मिस्टर अहमद भी बरम्म-सिगार को दाँतों-तले दबोचे चुप खड़े रहे। अचानक उनके मुँह से 'सुभानल्लाह' निकल पड़ा और वह जलता सिगार दाँतों की चपकलिश से छूटकर ज़मीन पर जा पड़ा। जब डिनर का घंटा कान पर तड़ाक से गूँजा, तब सुर का नशा सहसा उतर पड़ा और कॉकटेल का सुर फिर सर पर सवार हो गया।

सब लोग उठ पड़े। नवाब साहब के बाज़ू पर हाथ रखकर बिजली

सबके आगे डाइनिंग-हॉल में चली।

किसी अप-टु-डेट होटल का डाइनिंग-हॉल महलों में शीशमहल है। हर रोज़ ईद—हर रोज़ दीवाली। यूरप ने भोजन के आनन्द को आनन्द-प्रद आवेष्ठन में रखकर उसे नन्दन-वन की सैर बना दिया है। वहाँ बैठकर खाना खाना जीवन का एक आनन्द-मुहूर्त्त है। जहाँ ताज़े रंगीन फूलों की मीठी सुरभि है; काँटों और प्लेटों की सफ़ाई और चिकनाई है; चुलबुल हसीनों की चितवनों की चारु चाँदनी है, उनके रंगरूप—वेशभूषा—की माया-मधुर माधुरी है; बिजली-बत्तियों की मुलायम नयनाभिराम रोशनी है; परदे से आती हुई सुरीले संगीत की कोमल काकली है तथा गुलबदन विलायती बोतलों की—चम्पई प्यालों की—ललाम लुनाई है; वहाँ अगर भूख की रग़बत दुगनी न होगी—भोजन की लज़्ज़त चौगुनी न होगी, तो फिर कहाँ होगी!

भरसक आज हिन्दुस्तान में दस्तरख़ान का न वह मान है, न आसनी का वह आसन! जब था, तब था। आज राजा के आगे बाबू को कौन पूछे? भरसक आज विलायती टिनों में बन्द बरसों की बनी सड़ी मछली, ह्विस्की के घूँट के धक्के में, हिन्दुस्तानियों के हलक़ के नीचे बेरोक उतर जाती है! भरसक आज घर का लाड़ला माता के पकाए फुलके और मूँग की कढ़ी देख मुँह बिचकाता है—और पिता के कोट के पाकिट से नोट निकालकर, हैट-पैंट डाटे, होटल की टेबुल पर सजी चिकनी-चुपड़ी चीज़ों को चौगुने चाव से चट कर जाता है! भरसक आज शिखा में विल्वपत्र और गले में कंठी बाँधनेवाले भी, कालेंडर बदलकर, कन्नी

कटाते, इस तीर्थ-राज होटल का प्रसाद और पञ्चामृत पाकर, भौतिक जीवन के चरम सोपान पर आरूढ़ होते हैं; और फिर दुम झाड़कर धर्म-मञ्च पर उसी मुँह से विजातीय खान-पान की बुराइयों पर गर्म लेक्चर झाड़-झाड़ अपना बाज़ार भी गर्म रखते हैं!

यह होटल की विलास-विलोल लावण्य-लीला की ही करामात है कि आज भारतीयों की रुचि में यह युगान्तर भी सम्भव हो गया कि सुनहरा पुलाव और बाक़रख़ानी, नानख़ताई और बर्फ़ी, चटपटी कचौरियाँ और रस-भरी जलेबियाँ, लाख सस्ती और ताज़ी होकर भी, बाज़ार की ख़ाक छानती हुई बूढ़ी वेश्या की दुर्गति को पहुँच गईं; और कोको और काफ़ी, चाकलेट और टाफ़ी, जैम और जेली, वरमसेली और मैकेरोनी, क्रीमरोल और रोली-पोली-जैसी चीज़ें, भद्दी व रद्दी होकर भी, मुँहलगी बन गईं!

हमारे शरीर के ऊपर विदेशी विभूति का प्रसार न हो, इसके लिए तो निरन्तर आकाशचुम्बी प्रचार जारी है; पर शरीर के भीतर हमारी ज़बान के दायरे में विदेशी साम्राज्य का विस्तार किसी को नागवार नहीं गुज़रता। विलायती इलाज, विलायती खान-पान और विलायती तौर-तरीक़े के हिमायती अपनी ज़बान की गर्दन पर चढ़ी हुई जंजीर की मनोहर मीनाकारी के चकमे में ऐसे भूल बैठे हैं कि फटती हुई छाती की क्षति उनको खलती तक नहीं!

बिजली, टेबुल की प्रदक्षिणा करती हुई, नवाब साहब के साथ-साथ, टेबुल के सिरे पर जाकर बैठ गई। सामने सलीम और मिसेज़ सूर बैठीं।

गोल मेज़। डाइनिंग-हॉल के एक कोने में लॉन के सामने लगी है। मिस्टर अहमद ने उसकी सजावट में चाँद की किरनें पिरो दी हैं। सुकुमार मीठी रोशनी। टेबुल-लिनेन की चाँदनी। फूलों की फुहार। प्लेटों की क़तार। सब चीज़ें क़रीने से सजधजी।

तमाम पार्टी बैठ गई और बैठते ही चहचहा उठी।

पहले प्यालियों में चेरी-कीरिटी ग्रेपफ्रूट के काश आये। सबने चमचे से उठाकर रस चखा। भूख में लज़्ज़त आ गई, नसों में बिजली।

मुलग़टानी शोरबा चला। देखने में ख़ुशरंग, खाने में ख़ुश-ज़ायक़ा। नवाब साहब की ख़ास पसन्द की चीज़ है। इसकी नस्ल है हिन्दुस्तानी और लिबास विलायती।

नवाब साहब ने जॉनी की कृतियाँ बयान कीं, बिजली ने कान देकर सुनीं। सलीम ने टेनिस की कृतियाँ बयान कीं; मिसेज़ सूर ने कान देकर सुनीं।

नवाब साहब के सामने डॉग-बिस्कुट का एक डिब्बा रखा है। आपकी कुर्सी के पास दोनों ओर फ़र्श पर जॉनी और टॉमी बैठकर दुम हिला रहे हैं। आप बिस्कुट निकालकर दोनों जानिब फेंकते जाते और दोनों कुत्ते मुँह में लोक लेते।

अमीन ने मिस्टर अहमद को खोदकर पूछा—"भाई! आख़िर यह बिजली किस ज़न्नत की परी है? इसमें तो विलायती रंग व बू है! मैंने हिन्दुस्तान में कभी ऐसी बिजली नहीं देखी। बोटी-बोटी फड़कती रहती है।"

"वल्लाह! ख़ूँ लगाकर तुम भी शहीदों में मिल गये!"—मिस्टर अहमद ने मुस्कुराकर कहा।

"मज़ाक़ नहीं, सच पूछता हूँ। महज़ एक दिलचस्पी है!"

"आज न दिलचस्पी है, क़िबला! कल कहीं दिल चस्पाँ हो गया, तो?"

"हिश्! आप भी कहाँ की बात....."

"कहाँ की बात! पते की बात है, भाईजान! लिल्लाह! इस जादूनज़री से अलग ही रहिये! वह खेमटा-नाच नचा देगी—ताक-धिनाधिन, हाँ!"

"आप बेफ़िक्र रहें"—अमीन ने बात काटकर कहा—"नाच के तमाम पहलू मेरी उँगलियों पर हैं। वह क्या नचाएगी!"

अमीन ने आँखें उठाईं, तो बिजली की आँखों को अपनी आँखों पर पाया। उसकी चितवन की कोर में किसी सुदूर का आह्वान है; उसकी मुस्कान की कोर में किसी रहस्य का आभास। उसकी एक-एक भङ्गी में किसी अज्ञात—किसी अपरूप—का इशारा है; भला अमीन उस अथाह की थाह क्या लेता, आँखें गड़ाते रह गया।

अमीन ने शोरबा साफ़ करके रूमाल से होंठ साफ़ किये। मिस्टर पाल और मिस्टर बाल सर झुकाए शोरबा सुड़कने में मसरूफ़ थे। नवाब साहब के तो जैसे कोट के बटन टूट रहे थे! छाती में मसर्रत भरी थी। बिजली के एक-एक अन्दाज़ पर लट्टू थे।

तली हुई पाम-फ्री चली। मछली तो पानी की चीज़ ठहरी; इसलिए

साथ-साथ लाल पानी भी चला। शैम्पेन की सरिता बही। मछलियाँ उसी प्रवाह पर तैरती हुई हलक़ के नीचे अतल तल में डूब चलीं।

"मैं तो पीती नहीं। मुझे मुआफ़ कीजिये!"—बिजली ने झुककर नवाब साहब के कान में कहा।

"वाह! यह तो महज़ पानी है, कुछ ब्रांडी या ह्विस्की नहीं! आप जानतीं नहीं, कॉकटेल की तक़रीर पर शैम्पेन की मुहर ज़रूरी है!"

"क्यों?"

"चूँकि बग़ैर इस मुहर के जन्नत का पासपोर्ट मुकम्मल नहीं होता!"

"ओ! यह बात है!"—बिजली ने इस मीठे सुर से कहा, मानों किसीने प्यानो की कोमल पटरी पर उँगली रख दी। उसकी बात-बात में एक ऐसी लोनी लचक है—सितार की मीड़ की तरह मुलायम, जो बात ख़त्म होने पर भी मिनटों कान में झङ्कार देती रहती।

नवाब साहब ने इशारा किया और ख़ानसामे ने बर्फ़ से ठंढी की हुई शैम्पेन की बोतल बिजली की प्याली में उँड़ेल दी। फिर तो ख़ूब दौर चला। बेटरों ने भाँवरी भरी। पटापट काग उड़ने लगे। बोतलें क्या खुलतीं, बन्दूकें छूटतीं। प्याले ख़ाली होते और फिर फेनिल होते।

मिस्टर पाल और बाल ने महज़ खाने में ही मश्शाक़ी नहीं दिखाई, पीने में भी कमाल किया। गिलास भरा नहीं कि हलक़ के अन्दर ख़ाली हुआ।

पुलाव और ख़ुश्का चला। नवाब साहब ने पूछा—"क्या चीज़ है, मिस्टर अहमद! यख़नी पुलाव?"

"जी नहीं, 'किडनी' पुलाव है—और नूरमहली भी। कश्तियों में तीतरों का दमपोख्त, बटेरों का दो-प्याज़ा, सीख़-कबाब, चटनी शाहनाज़, टर्की का रोस्ट, गाजर और चुक़न्दर की छालियाँ, पालक की सब्ज़ी, हरी मटर की छीमी, उबाले हुए आलू और प्याज़·····वग़ैरा-वग़ैरा!"

"वल्लाह, मियाँ अहमद! आप भी पूरे विलायती बन बैठे!"—मिस्टर नूर प्लेट के पुलाव पर ज़ाफ़रानी शोरबा उँड़ेलते हुए बोले।

"मैं और विलायती! यह भी कोई बात है! आप ख़्वाब तो नहीं देख रहे हैं!"

"रंग न हो, बू तो ज़रूर है। पीने का यह रेवाज़, और ख़ुराक बराय नाम!···यही तो विलायती दस्तूर है! आठों पहर विलायती होटल की आबोहवा में रहते-रहते वहाँ की हवा लग गई। यह हवा पीकर रहना! आख़िर बात क्या है जो पुलाव-क़लिया छूते तक नहीं! बस, मछली का एक काश, मुर्ग़ की एक टाँग; वह भी न रंगत, न रोग़न! तौब-तौबा!"

"क़िब्ला! जिसे खाना नसीब नहीं होता, वही ठूस-ठूस कर गरदन तक भरता है। मैं तो मुँह मीठा करने का क़ायल हूँ!"

"मगर पीने के मद में ज़बान तर करने के क़ायल नहीं—क्यों! वहाँ गरदन तक लबरेज़ कर लेना है!"

सबलोग हँस पड़े। मिस्टर अहमद ने फिर फ़रमाया—"जनाब! विलायती डिशों की तो यही ख़ासियत है। सादे और हल्के तो ज़रूर हैं; मगर खाने में बहिश्ती लज्ज़त है! और हाज़मे के लिए·····"

"लज़्ज़त !"—मिस्टर नूर ने बात काटकर कहा—"लिल्लाह ! बस कीजिये। यहाँ तो शक्ल ही देखकर जो मिचलाता है !"

"मिचलाता नहीं, भुरभुराता है—कहिये !"—अमीन ने हँसकर छेड़ा—"भला, विलायती डिशों का कहीं मुक़ाबला है ! एक बार जो इन्हें चख लेगा, वह आपकी ज़ाफ़रानी न्यामतों का भी तलबगार नहीं हो सकता।"

"ख़ूब ! आप भी तो उसी दरगाह के मुरीद ठहरे ! बरसों विलायत रहते-रहते ज़बान फिर गई है। भई, ज़माना बदल गया ! नहीं तो, इन नापाक चीजों की हस्ती ही क्या थी ? यह होटलों की दिलफ़रेब रंगीनी है जो विलायती डिशों की लज़्ज़त दुनिया की ज़बान की रूह बन गई है। हमारे घर की लज़ीज़ चीजें—और जाने दीजिये, समोसे और नमकी, पापड़ और बड़ी—कैसी ख़ासी सस्ती और ताज़ी हैं ! मगर, बिचारी टीमटाम की कमी से किरकिरी बनी हैं। और उधर, कोसों दूर—बरसों दूर—बनी हुई ख़ूबसूरत डिब्बों में भरी गेहूँ और बार्ली की, दूध और चीनी की, सड़ी और महँगी चीज़ें इश्तहारों के धक्के पर हमारी ज़बान से होती हुई छाती में पैठ गईं ! मशहूर बात है, अपनी बीवी से पराई बीवी हर हालत में नमकीन नज़र आती है ! और यहाँ तो क़यामत का सिंगार-पटार भी है। जब होटलों में ज़बान तालीम पा गई, तो फिर घर पर भी होटलबाज़ी ज़रूरी हो गई; वरना आज जैम और मामलेड के आगे सेव और आँवले के मुरब्बे कभी फीके पड़ते ? विलायती पिकिल की चामचुम हमारी चट-

पटी चटनियों की चाट को कभी चाट पाती ?"

"वल्लाह ! रोज़गार के लटके कोई यूरपवालों से सीखे !" नवाब साहब ने ज़रा आगे झुककर अपनी राय पेश की—"देखिये, सिगार और सिगरेट ने पान और तमाखू की आलमगीर सल्तनत की भुस्सियाँ उड़ा डालीं। विलायती इर्सेंस की शीशियों के आगे मोतिया और मौलसिरी की—हिना और सेवती की—माँग गँवारों में रह गई।"

"हुज़ूर, यही कैफ़ियत पीने की चीज़ों की भी है।"—मिस्टर अहमद ने दाद दी—"और जबतक पैसे की निहायत तंगी नहीं हो जाती, तबतक कभी कोई गद्दीख़ाने के ठर्रे की ओर फूटी आँखों भी नहीं देखता। अब किस अमीर के घर भट्ठी जलती है—किस शरीफ़ को साग़रे-मुश्क-बू नसीब है ! आज ज़ाफ़रानी मवल्लहम की बूँद पीकर किस ख़ुशबख़्त की रूह सब्ज़ होती है ! शीराज़ी और अंगूरी किसी ख़श ज़माने में मयस्सर होती थीं। अब तो ये बहिश्ती नियामतें किताबों में क़ैद हैं—इनका मज़ा दीमकें ही उठा पाती हैं ! आज तो ह्विस्की का दौर-दौरा है, कॉकटेल का बोलबाला है; शैम्पेन की तूती बोलती है, ब्रांडी की हुकूमत चलती है। भला, ठर्रे की कुल्हियाँ फ़्रेंसी गिलासों के सामने निगाह भी सीधी कर सकती हैं ?"

"सौ बात की एक बात"—नवाब साहब ने फ़रमाया—"आख़िर यूरप ने इन विलायती डिब्बों और बोतलों को मीठे-मीठे हमारे हलक़ के नीचे उतार ही डाला। अब इन टिनों और शीशों की उलझन से निकल जाना हमारी रूह के लिए क़ुदरत के गिरफ़्त से छूटने के बराबर मुश्किल है।"

"मगर, हुज़ूर, कहीं गांधी का रंग जम गया, तब तो ये विलायती बोतलें आलमारियों में टापती रह जायँगी!"—मिसेज़ सूर ने हँसकर कहा।

"अजी, कहाँ का टापना! किसी के पत्थर पर सर मारने से कोई पीना-पिलाना भी बन्द करता है? दुनिया से मसजिद और मन्दिर उठ जायँ, तो उठ जायँ; मगर, साहब, मयपरस्ती नहीं उठ सकती। मिस्टर गांधी human nature से जिस टैक्स की वसूली की उम्मीद रखते हैं, उसे दो-चार इने-गिने भले ही दे डालें, हम-आप उसे नहीं दे सकते। हाँ, विलायती बोतलों पर बिजली गिराना कोई मुश्किल नहीं। मैं तो समझता हूँ, जबतक नहले पर दहला नहीं पड़ता, तबतक यह मसला हल नहीं होता। ब्रांडी का जवाब अंगूरी है, शैम्पेन का जवाब मुश्की गुलबदन; मगर शर्त यह है कि उसी नफ़ासत से तैयार हों और उसी नज़ाक़त से इज़हार हों।"

ख़ूब चकल्लस रहा। ठाट का कचरकूट। नवाब साहब ने तो सिर्फ़ होंठ जूठे किये; पर यारों को गहरी छनी। अमीन ने टर्की की एक टाँग ली। मिस्टर अहमद के पेट में पेटी गई। औरों ने पुलाव और कलिया में मैदान लिया।

मिस्टर पाल और बाल खाने के मद में हिन्दुस्तानी और विलायती विभेद के कभी क़ायल नहीं थे। दोनों के दिल और ज़बान में अन्तर्जातीय सौजन्य की फैयाज़ी थी दोनों ने पुलाव और कोरमा भी खाया; रोस्ट और सब्ज़ी भी चखी। और, सर झुकाकर टूटे, तो एक-बारगी लिपट गये। ज़बान को बात की फ़ुरसत कहाँ!

सहसा मिस्टर बाल को ख़याल हो आया कि खाने के वक़्त बात न करना टेबुल के सलीक़े के ख़िलाफ़ बात है। दस्तूर तो यह है कि एक लुक़मा खाओ और दो लपेट बातें करो। चुहलें हों, चुटकुले हों, क़िस्से छिड़ें; क़हक़हे पड़ें; और बीच-बीच में दो-एक काश मुँह में भी चलता रहे। सर झुकाकर चुप खाना तो घड़ों पानी पड़ना है। लिहाज़ा, मुँह चलाते-चलाते आपने तपाक से मुँह खोला—"मिस्टर अहमद! आपके मुहल्ले में तो आज एक नया गुल खिला है!"

"गुल! मुझे तो ख़बर नहीं!"—मिस्टर अहमद नमकदानी से ज़रा-सा नमक उठाकर, कतरे हुए चुक़न्दर पर छिड़कते हुए, कुछ घबराये-से बोले।

"आपने सुना नहीं, आप ही के मकान से दस क़दम पर एक नौजवान हसीन ने जान दे दी!"

"हाँ-हाँ, अजी वह शीतल की बहू न! ख़ुदकुशी कर ली—शौहर की लाश पर सती हो गई। बड़ी हलचल रही। पुलिस भी दंग है....."

"सच! अभी तक हिन्दुस्तान से यह ख़ब्त गई नहीं!"—बिजली ज़रा मुँह बनाती हुई हँसकर बोली।

"ख़ब्त! मुहब्बत की इस इन्तहा को आप ख़ब्त कहती हैं?"—मिस्टर बाल ने आँखें फाड़कर कहा।

"और नहीं तो क्या यह दानाई है? यह उस वक़्त की ख़लिश है, जब औरतों की ज़िन्दगी की कोई क़ीमत नहीं थी—मरदों की ग़ुलामी

में क़ुरबानी उनकी बहादुरी मान ली गई थी।"—अमीन ने अपनी राय पेश की।

"मगर भई! आख़िर मुहब्बत की भी तो कोई वक़त है?"

"इसी सेंटिमेंट ने तो मुल्क को जहन्नुम-रसीद किया है। यही चकमा देकर आपने औरतों के हाथ में हथकड़ी भर दी और उसी हथकड़ी को सुहाग का कङ्गन समझकर हाथों में बाँधे रखना उन्होंने अपना मज़हबी फ़र्ज़ समझ रखा!"—बिजली ज़रा झल्लाती हुई बोली।

"मेरी भी बिलकुल यही राय है। औरतों के साथ ज़्यादती की कोई हद नहीं। और, यह सती होनेवाली बात तो साफ़ है। नशे के झोंक में आदमी क्या नहीं कर बैठता? दिल का धुआँ उठकर दिमाग़ को घेर लेता है। मुहब्बत भी तो दिल का एक ज़बरदस्त नशा है।"—अमीन ने गाजर का एक काश ज़बान पर रखते हुए फ़रमाया।

"मगर, मिस्टर अमीन! हिन्दू औरतों के सती होने में एक ख़ास बात है। यह आजकलवाली नशीली मुहब्बत नहीं, जो बरसाती बाढ़ की तरह उठती है और फिर दो दिन में ग़ायब! समुन्दर में तो बाढ़ नहीं आती।—

"हम चूँ हिन्दूज़न कसे जर आशिक़ी मरदाना नेस्त;
सोखतन बर शमः कुश्तः कार हर परवाना नेस्त!"

—सलीम ने बिजली की ओर आँख मटकाते हुए कहा।

"यहाँ शायरी का ज़िक्र नहीं, समझ की बात है। आप दाद न देंगे तो फिर आपकी नवाबी कहाँ निभेगी! अगर हमारी आँख खुल गई,

तो फिर मर्दों के हीलदार बूट के तलवे के तले पलकें कहाँ बिछेंगी !"—बिजली ने कहा।

"भई, बात तो असल यह है कि जब दिल पर शदीद सदमा पहुँचता है, तो दिमाग़ की कीलें बेसाख्ता उखड़ जाती हैं। फिर कोई वहशत के ग़लबे में कलेजे पर गोली लगा ले या आग में कूद पड़े, दोनों एक ही बात है !"—नवाब साहब ने फ़रमाया।

"जी हाँ, हुज़ूर ! विलायत में लड़कियाँ गोली लगा लेती हैं, और यहाँ किरासन का तेल ही सही !"—अमीन ने हँसकर कहा।

"और यहाँ हिन्दुओं ने उसमें धर्म का तुर्रा लगाकर उस ख़ुदकुशी को एक तबर्रुक क़रार दे दिया !"—मिस्टर अहमद ने उसपर मुहर लगा दी।

मिसेज़ सूर से भी अब चुप न रहा गया। ज़रा तमककर बोलीं—"मगर, आख़िर मर्दों का यह निनानबे साल की हुकूमत का पट्टा !"

"निनानबे साल या निनानबे सदी !"—बिजली ने बात काटकर कहा।

"जी नहीं। निनानबे युग ! यह पट्टा तो क़ुदरत के दरबार से जारी है। इस क़ुदरती इन्तज़ाम के लिए घर-घर मर्दों के ख़िलाफ़ दंगे की तो ज़रूरत नहीं ! भला, नेचर के मुक़ाबले में किसी की एक चली है ?"—मिस्टर बाल ने तीतर की पसलियों में दाँत गड़ाकर गोश्त के रेशे खींचते हुए कहा।

"तो यह इन्तज़ाम हिन्दुस्तान ही के लिए है या सारे जहान के

लिए ?"—अमीन ने पूछा।

"बन्दानेवाज़ ! यह आलमगीर इन्तज़ाम है—कम या बेश। मादीन मकान ही में शेर होती है, मैदान में नहीं। आप मानें या न मानें, यही क़ुदरती फ़रमान है।"—मिस्टर बाल ने दुबारा ताल दिया।

"सच ! तो क़ुदरत को भी बहुत जल्द अपनी भूल समझ में आ जायगी। वह दिन अब दूर नहीं, जब मर्दों के हाथ में चूड़ियों की झंकार होगी और औरतों के हाथ में तलवार !"—बिजली हँसकर मोती बिखेरती हुई बोली।

"हुज़ूर ! तलवार तो आज भी है, आपकी एक-एक हरकत से चमचमा उठती है। क़ुदरत ने वह शमशीर की आँच भर दी है कि उसके सामने चंगेज़ी तलवार भी झख मारे !"

सभी हँस पड़े। मीठा चला—प्याज़ की फ़िरनी या पिस्ते का हलवा नहीं, क्रीम से भरा पीच-मेल्वा। मिस्टर पाल की ज़बान तो सन्देस की तलाश में चटपटा रही थी; पर यहाँ तो ज़बान खोलना क़ायदे के ख़िलाफ़ है। बस, आपने एक चुटकुला छोड़ा—"भई ! मिठाई तो बंगाले से ख़त्म है। लेडी-कैनिङ्ग और पानतुआ; सन्देस और रसगुल्ला ! आप ही कहें, इनका माफ़िक़·····मुझे तो·····"

"मिठाई ही क्यों, मछली भी कहिये ! चिङ्गड़ी और कवई भी तो आपकी ख़ास चीज़ें हैं !"

बात पलटकर मछली पर आ गई। मिस्टर पाल ने पीच-मेल्वा का प्याला साफ़ कर डाला।

"ख़ास ही नहीं, लाजवाब भी !"—मिसेज़ सूर ने हँसते हुए कहा।

"बेशक ! सोल और पाम-फ्री की भी भुस्सियाँ उड़ा डालें ! मगर, हाँ, बंगालिनों के पकाने की तरतीब भी निराली है।"—मियाँ अहमद ने आँखें मटकाकर कहा।

"और केकड़े की कलौंजी ?"

"क्या बात है ! मत कहिये, याद आने से....."

फिर ज़ोरों के क़हक़हे जगे। सुरूर का सुर सर पर सवार हो चुका। शैम्पेन का उफान आँखों में स्पष्ट है। दिल की पपड़ियाँ उभर चली हैं। एक मस्ती का आलम शुरू है।

खाना ख़त्म हुआ, तो शेरी और पोर्ट की बोतलें चलीं। छोटी-छोटी तश्तरियों में सजे-धजे टाफ़ी और चाकलेट भी चले। नमकीन पिस्ते और अख़रोट भी पास होने लगे।

बिजली और मिसेज़ सूर उठकर खिड़की के पास चली गईं। इधर सिगार और सिगरेट का सिलसिला चला। मिस्टर अहमद ने बरमा-सिगार लिया ; यारों ने कोरोना। धुएँ की लड़ियाँ हवा में उड़ने लगीं।

मिस्टर पाल और मिस्टर बाल ने नवाब साहब की फ़ैयाज़ी और ख़ुश-अख़लाक़ी के नारे बुलन्द किये। बहिश्ती डिशों की तैयारी के लिए मिस्टर अहमद की भी बलाएँ ली गईं।

नवाब साहब ने मिस्टर पाल से हँसते-हँसते पूछा—"कहिये, बंगाली मिठाई मँगवा भेजूँ ?"

मिस्टर पाल ने हाथ जोड़कर सर हिलाया—"आज्ञे नहीं"

नवाब साहब मिस्टर बाल की ओर मुड़े—"कहिये·····"

"जी नहीं। माफ़ी चाहता हूँ। काफ़ी हो चुका। हाँ, अलबत्ता काफ़ी हो, तो कोई मुज़ायक़ा नहीं!"

काफ़ी चला। नवाब साहब उठकर बिजली की तरफ़ बढ़े। जानी और टामी पीछे हो लिये। नवाब साहब ने फूलदान से एक फूल निकालकर ऊपर फेंका और नीचे आते-आते जानी ने दौड़कर दाँतों में थाम लिया। कुछ इसी तरह वह शिकार में छर्रे की चोट पर आसमान से लटपत नीचे आते हुए चाहों को लोक लेता रहा। तालियाँ पिटीं। नवाब साहब के क़दम ज़मीन से दो बालिश्त ऊपर उठ गये।

खिड़की के पास खड़ी-खड़ी बिजली एक नज़र नवाब साहब पर डालती, दूसरी अमीन पर। सलीम को तो वह फूटी नज़रों भी नहीं देख पाती। उसकी आँखों पर सवार हो मिसेज़ सूर के साथ यों घुलमिलकर चकल्लस-बाज़ी सलीम के ज़ुल्म और जुर्म की इन्तहा थी। उसने देखा कि जब सलीम की छाती पर न बाल है, न छाती में दिल, तब बिजली के आलिंगन के लायक़ वह छाती न रही। उस छाती को वह ख़ुशी से मिसेज़ सूर की छाती से लगाकर विलायती नृत्य-कला का रियाज़ करे, बिजली को इसकी परवा न रही।

जो हो, पर बिजली की छाती तो उड़ी जाती थी, और जबतक वह उन दोनों की छाती पर अपने हाथों से मूँग नहीं दलती, तबतक उसे तस्कीन नहीं। ख़ैरियत यही कि उसके हुस्न और शबाब का निखार है, और मिसेज़ सूर तीस के उस पार। ख़ैरियत यही कि उसका मोतियों

का गुलूबन्द मिसेज़ सूर के गले की मटर-माला से मैदान लेकर तिलक पा चुका है।

इधर मिसेज़ सूर लाग़ाम। बिजली की आँखों की तलवार की आँच को अपने होठों की एक व्यंग्य-भरी नोक से जवाब देना यथेष्ट समझती रहीं।

जब-जब बिजली की निगाह अमीन के चेहरे पर फिरती, उस मायल नौजवान के दिल में कोंपलें निकल आतीं। वह बिजली को और भी निकट से देखना चाहता; आख़िर वह क्या चीज़ है, इसे जानने के लिए सिर चीरता। पर मिस्टर अहमद के सिवा किसी और से उसकी गहरी छनती न थी। वह पूछे, तो किससे पूछे! मिस्टर अहमद ख़ुद खुलते न थे, और वह ख़ुद खुल नहीं सकता। इतना वह ज़रूर समझता कि सलीम महज़ टट्टी की ओट है, और दर-असल यह सोने की तितली नवाब साहब के कमख़ाब-कलित कधों पर अँटकी है! नवाबों के सामने किसकी दाल गल सकती है? जो हो, बिजली उसकी आँखों के सामने मूर्तिमती मदिरा-सी छलक रही है!

अमीन विलायती आदर्श पर पल कर जवान हुआ था। उसकी निगाह में वही नारी नारी है, जो दिन में घर की लक्ष्मी है और रात में टेबुल की रानी। उसकी अपनी बीवी परदे की पोटली थी। न हँस सकती, न बोल सकती; न रीझ सकती, न रिझा सकती। वह ख़ानदानी ज़रूर थी, और अमीन के सिवा किसी और पर आँखें भी नहीं उठाती; पर उसके ख़ानदान और ईमान को लेकर अमीन के प्राणों को

तस्कीन कहाँ थी ! वह उसके साथ बैठकर मोटर कहाँ तक चलाती, जब ज़रा-सी स्पीड पर उसका कलेजा धक-धक कर उठता ! अमीन बेहद बेज़ार था; पर मजबूर। उसके वालिद मौजूद थे, वह दिल मसोसकर ओस चाटता।

यही वजह है कि बिजली उसकी आँखों में खुब गई। अगर वह परी बनकर चमन-चमन की सैर करती है, तो यह तो उसकी ज़िन्दादिली की निशानी है। जो कुछ भी हो, आख़िर मिट्टी की मूरत से तो चमन की तितली कहीं अच्छी है। यह वसन्त-चाञ्चल्य—यह प्राण-प्रवाह तो हिन्दुस्तान के चमन में अनूठा है।

आज वही स्त्री जीवन की प्रिय सङ्गिनी है, जो सोसाइटी में हँस-बोल सके, टेनिस में प्रवीणों को 'लव सेट' दे सके प्यानो पर टप्पा और ख्याल का सुर छेड़ सके, बॉल-रूम में वाल्ज़ और टैंगो के क़दमों पर थिरक सके, टेबुल पर कमाल की मीठी अफ़सरी कर सके, और सुबह से आधी रात तक सिंगार-पटार के बाँकपन से—नाज़ो-अन्दाज़ के निरालेपन से—पति के प्राणों में स्पन्दन, दोस्तों की आँखों में सिहरन और हमजोली महिलाओं के कलेजे में जलन पैदा कर सके।

अमीन बैठा-बैठा आसमान-ज़मीन के कुलाबे एक कर रहा है। उधर सलीम सुस्त है। तबीयत की उचाट भी है और शैम्पेन की चाट भी। कल उसका क्या हश्र होगा, यह तरद्दुद चेतना में घुन बना है। आज तो शैम्पेन के प्रवाह पर वह बह रहा है; कल कहाँ बहकर उसे जाना होगा, पता नहीं।

मिसेज़ सूर घर लौटने के लिए उतावली हैं, पर मिस्टर अहमद की आँखों के इशारे पर उनका गुज़र है। उनके अंगों पर प्याज़ी लहालोट जार्जेट साड़ी भी है और गले में कल्चरपर्ल की लड़ी भी। होटल का मधुमय लञ्च-डिनर भी और शैम्पेन का सागर भी। यह सब कुछ है; पर जेब में न कनक-चित्ती है, न जीवन में आज़ादी। और, सबके ऊपर हँस-हँस-कर रीझना-रिझाना, बे-बात की बात पर क़हक़हे भरना, पीना-पिलाना, बॉल-रूम में किसी अधेड़ मनचले रईस की कमर में हाथ देकर साथ-साथ ताथेई नाचना-नचाना और उसकी नशे से झूमती इशारेबाज़ी और चुहलबाज़ी को जी जाँतकर पीना है। उधर घर की क़बाहत अलग। कल बच्चे के ट्यूटर की तनख़्वाह जुगानी है, रेशमी साड़ियों की सिलाई का बिल भी!

यारबाशी भी जब ड्यूटी हो जाती है—निगाहों की बाजीगरी भी जब रोटी हो जाती है, तब इस हुक्मी चकल्लस के रियाज़ में न कोई लुत्फ़ रह जाता है, न रहस्य।

अमीरों के फ़ैज़ की टेबुल पर पुलाव और शैम्पेन की तो उनको कमी न थी; पर इस टेबुल के वैभव से तो किसी के जीवन की शून्यता नहीं भरती! कोई सैकड़ों की शराब यहाँ ख़ुशी से पी ले या पिला दे; पर मजाल नहीं कि उस मजलिस में अपनी दस-बीस की ज़रूरत भी ज़बान तक ला सके। शैम्पेन के सागर ढालते जाइये; पर एक बूँद मीठे पानी की प्यास यहाँ मिट नहीं सकती। गाते रहिये और हँसते रहिये, गुल-छर्रे उड़ें और क़हक़हे पड़ें, लन्तरानियाँ हों और रँगरलियाँ हों; पर दिल

का दर्द दिल ही में रहे—आँख का कोना कभी तर न हो और दिल से दिल तक कभी किसी का गुज़र न हो। यहाँ थैंक्स की भरमार है सही, मगर महज़ ज़बानी ख़र्राची; आजिज़ी बेशुमार है ज़रूर, मगर महज़ नुमाइशी। यहाँ बाक़ायदा मिज़ाज-पुरसी की कमी नहीं; पर कोई कभी किसी का पुरसाँ-हाल नहीं होता। यह नन्दन-वन का मरु-स्थल है; इस आलीशान अमरावती का श्मशान है।

होटल या क्लब मिल्लत की जगह जो हो; पर यहाँ आपस की सच्ची मिलनसारी तो मुरौवज नहीं। यहाँ परिचय, स्नेह-सिंचन के सहारे, आत्मीयता में परिणत नहीं होता। इस प्रमोद-कुञ्ज में शीलता के फूल हैं और शिष्टता की कोपल; पर उनमें स्नेह का परिमल नहीं। कमाल के रंग-रूप; पर कहीं वफ़ा की बू नहीं। जो दिल खोलता है, वह बदनाम होता है। नाक भी कटी, बात भी फूटी और बात-की-बात में बातों में उड़ा भी दी गई। साथ-साथ खाने-पीने या हँसने-बोलने से कोई किसी के जीवन के पहलुओं से परिचित नहीं होता। हम-नेवाले हम-प्याले की पहुँच नेवाले और प्याले तक ही परिमित है। इस चाय और चुरुट के वायुमंडल में जो दिल ढूँढ़ता है, वह मेम्बरी के क़ाबिल नहीं समझा जाता। दिल की टीस लब पर आने नहीं पावी; न लब पर लाने की चाल है। कोई अपने पड़ोसी की हाँड़ी के एक-एक चावल का अन्दाज़ जो रखे; पर उसके दिल के पड़ोस में उसका गुज़र नहीं, न दिल डालने का सवाल है।

इस मार्डर्न समाज की रूढ़ियाँ ही अनूठी हैं। दिल न रहे, तो

चन्दा हर्ज नहीं; पर ठाट होना ज़रूरी है! हम पड़ोसी के बच्चे की बीमारी में अयादत या मिज़ाज-पुरसी के लिए दोनों वक़्त ज़रूर हाज़िर होंगे या हाज़िरी का कार्ड छोड़ देंगे; पर बच्चा मरे या बचे, इससे हमें ग़रज़ नहीं! बच गया, तो हाथ मिला-मिलाकर मुबारक-बादियों की झड़ी बाँधी, जल्से तलब किये; मर गया, तो बाँह पर काली पट्टी बाँध ली या एक आह खींचकर हमदर्दी जता दी। इस ज़माने में दोस्ती महँगी नहीं; पर हमदर्द दोस्त महँगा है। बाज़ार में मोतियों की कमी नहीं होती; पर मोती का जोड़ा मिलना मुश्किल है।

अमीर को तो ख़ुदा पनाह दे! उसे ख़ुदा मिले तो मिले, आशना नहीं मिलता! दौलत के ज़रिये वह दुनिया के इन्साफ़ और ईमान तक ख़रीद सकता है; पर दिल नहीं ख़रीद पाता!

दाम देकर नाम मिलता है, आराम भी। परी मिलती है, तरी भी। बन्दगी मिलती है, मुंह की लाली भी। हाँ, और कुछ? माना कि ऊँची कुरसी की प्रतिष्ठा, दस के हाथों की सेवा में मिलती है। मगर किसी की श्रद्धा भी? टोकरियों यार मिलते हैं। किसी का प्यार भी? मुस्कुराती चितवनों का जादू मिलता है। किसी की आंख का आंसू भी? दिया है उसकी त्रुटियों पर किसी ने एक निर्भीक भृकुटी का सहारा? मिला है कभी तपिश के उसास पर एक निःस्वार्थ स्नेह का साया? पाया है उसने किसी के प्राणों का परिचय? किसी की समवेदना, किसी की आत्मा का अर्घ्य?

हमारे दस्तरख़ान की बिल्ली हमारे जीवन के सुनसान कोनों में नहीं

झाँकती। हमारी रोटी की ख़ाक झाड़नेवालों से कभी हमारी दाँत-काटी रोटी नहीं चलती। हमारे पत्तल पर पनपनेवाले दोस्त हमारी आँख और कान बचाकर जो हमारा ख़ाका उतारते हैं, उसे शायद ग़ौर आँखों से लहू टपकाये हम देख नहीं सकते। वे दामन पसारकर हमारी फ़ैयाज़ी के मोती को चुन लेंगे; पर उस दामन के कोने से कभी हमारी आँख का कोना पोंछना पड़े, तो वे आँखें फेरकर दामन समेट लें। और क्यों न हो, जिन्हें मुस्कान के मोती चुगने की आदत है, वे आँसुओं के दाने क्यों चुगने चलें? जबतक हमारा हाथ ऊँचा रहता है, तबतक इस ज़माने में हाथ मिलानेवालों की कमी नहीं होती; पर अगर ख़ुदा-न-ख़ास्ता कभी हाथ फैलाने की नौबत पड़ी, तो फिर कोई पुट्ठे पर हाथ नहीं रखने देता।

आजकल की टकसाली भद्रता जाहिरदारी है। किसी हालत से नुमाइशी शिष्टता में कमी न हो; भीतर-ही-भीतर लाख शहद की छुरियाँ चलती रहें, कोई मुज़ायक़ा नहीं। हम क्लबों और पार्टियों में चेहरे पर सौजन्य का नक़ाब डाले एक दूसरे की साड़ी या सूट—घड़ी या क्रुच—देख-देखकर निरन्तर जला करते हैं, और फिर आपस में चाय की प्याली या प्लेट की पैस्ट्री पास करते-करते ज़माने-भर की विष-भरी कुत्सा की गिलौरियाँ मीठी ज़बान के सुनहरे वर्क़ में लपेटकर किस तपाक की तमीज़ से वितरण करते हैं! विलायती काट के कोटों की चौड़ी आस्तीन में साँप को खुल खेलने को काफ़ी जगह मिलती है।

हम क्लब में बैठकर किसी रंगीन दोस्त को एक-आध पेग ख़ुशी से

पिला देंगे, लञ्च या डिनर का नवेद भेजकर अपनी टेबुल के जलूस से उसे चमत्कृत और चंचल कर देंगे; पर इस खान-पान की फ़ैयाज़ी से न हम ही उसके निकट पहुँच सके, न उसीने कभी कुछ अहसान समझा। अगर हौसले के उफान में हमारे पाँव तले उसका सिर आ गया, या उसके हाथ में हमारा कल्ला पड़ गया, तो न वह अपना हाथ रोक पाता है न हम अपना पाँव।

हम इस जीवन में दुनिया के हाथों से उतना ही पाते हैं, जितना हम उसे ख़ुद देते हैं—न कम, न बेश। इस हाथ देना है, उस हाथ लेना। जबतक हम कहीं दिल डाल नहीं देते, तबतक हम कभी दिलवाले नहीं होते। हम स्वार्थ के वश होकर कितना जल्द भूल जाते हैं कि जीवन का मज़ा आदान-प्रदान है—चयन और वितरण। प्रत्येक काँटे में भी फूल हैं और हर फूल में परिमल। एक ओर से हमें इस मकरन्द की एक-एक बूँद को बटोरकर हृदय के सनातन राग की मीठी आँच पर रस उतारना है, दूसरी ओर से मधु-भांडार को दोनों हाथों से जगत् के कोने-कोने में वितरण करना है। इसी संग्रह और प्रसार में हमारे जीवन की निरन्तर सार्थकता है, और हमारा यह अत्यन्त छोटा-सा अस्तित्व विश्व की व्यापकता में असीम बन जाता है।

जबतक हमारी अनुभूति निखिल की अनुभूति नहीं होती—हमारी हृत्तंत्री पर विश्व-वेदना का सुर नहीं उठता, तबतक उस शाश्वत रस का परिचय हमें कदापि नहीं मिलता। आज पश्चिम ने 'अहम्मन्यत्व' को महत्त्व देकर मानव-हृदय की सहानुभूति का ख़ज़ाना लूट लिया। आत्मविलोपन ही आत्मज्ञान का सोपान है। पर, आज इस अपनापन के युग में आत्म-वितरण की महत्ता कहाँ रही!

दशम परिच्छेद

मिस्टर पाल और मिस्टर बाल काफ़ी खा-पी चुके हैं। अब नवाब साहब की दुआगोई में भी जबान की जुम्बिश मुश्किल हो रही है। आँखें झिपती हैं। शरीर के ज़र्रे-ज़र्रे से शैम्पेन की शरारत टपक रही है।

वे दोनों उठे, और नवाब साहब के मीठे इसरार पर जामे-रुख़सत के तलछट को चाटते हुए अँगरेज़ी सलीक़े के अनुकूल होस्ट को सुखमय निशा और रसमय नशा की शुभ कामना जताई, और हाथ मिलाकरों चलते हुए। अमीन भी नवाब साहब को 'गुडनाइट' कहकर आँख से ओझल हो गया। नवाब साहब ने बिजली की कमर पर हाथ रखा और धीरे से खुली हवा में चलने का इशारा किया—"चलिये,

बाहर चला जाय। कमरे की ऊमस से दम घुट रहा है।"

"शौक़ से!"—कहती हुई बिजली ख़रामे-नाज़ की मौज पर बाहर निकल गई।

बाहर प्रेमियों के प्रमोद की प्यासी वासन्ती चाँदनी भी है और जगह-जगह लता-गुल्मों की परछाईं भी। हरी-भरी दूब की मख़मली लॉन भी, और छाती फाड़कर रस लुटाती हुई मालती का वितान भी।

नस-नस में शैम्पेन भींग रहा है। पास ही खुले कमरे से बाजे का लहरा हवा में उन्माद भर रहा है। फिर ऐसी सुनहरी रात में—ऐसे मधुमय वायुमंडल में—हाथ में हाथ डालकर टहलना दिल की उमंगों के खुल खेलने के लिए कहाँ तक मददगार है, कहने की ज़रूरत नहीं।

सलीम ने दिल थामकर खिड़की से यह सब-कुछ देखा! पर, जब उसने मिसेज़ सूर के होठों पर व्यंग्य-भरी मुस्कान देखी, तो कट-कट गया। वह फ़ौरन कंधा झाड़कर उठा और मिसेज़ सूर की कमर में हाथ लपेटकर बॉलरूम की तरफ़ चला। सामने मिस्टर अहमद मिल गये।

"मिस्टर अहमद! शैम्पेन पर ह्विस्की का जाम तो हराम नहीं?"

"अजी, यह भी कोई बात है! जानीवाकर का दरवाज़ा तो बराबर खुला रहता है!"—मिस्टर अहमद ने हाथ के गिलास को दिखाकर सिगार का ज़बरदस्त कश खींचते हुए कहा।

"तो एक पेग इनायत हो!"

"हाँ-हाँ; अभी लीजिये।"

मिस्टर अहमद ने वेटर को आवाज़ दी और ह्विस्की का पेग लाने का ऑर्डर दिया !

वेटर पेग लाने दौड़ा। इधर सलीम ने मुड़कर मिसेज़ सूर से कहा—"मिसेज़ सूर ! आप थकी तो न होंगी ! बाजे के लहरे पर फ़ॉक्स्ट्राट का लहरा मज़ेदार होगा !"

मिसेज़ सूर के जवाब देने के पहले ही मिस्टर अहमद बात काटकर बोल उठे—"इस उम्र में भी थकान होती है ! अभी तुम्हारे ऐसे दस जवानों को ये उँगलियों पर नचाकर बन्द-बन्द ढीला कर दें ! पॉलिश्ड फ़्लोर पर नचा देना तो लट्टू का खेल है !"

मिसेज़ सूर के सर पर सुरूर तो न था; पर ड्यूटी से मजबूर थीं। सलीम सिर हो गया। आख़िर जाना ही पड़ा। समयोचित रस-संचार के हाव-भाव का वितरण करना ज़रूरी हो गया। पर, जाते जाते आपने एक चुटकुला छोड़ा—"मिस्टर सलीम ! माफ़ कीजिये, आपने डोरी ज़रा ढीली छोड़ दी है। अगर उसे चंग ही पर चढ़ाकर उड़ाना था, तो कम-से-कम डोरी तो हाथ में थामकर रखते !"

सलीम समझ तो गया, पर मुड़कर पूछा—"आप किसकी बातें कर रही हैं ?"

"यही, आपकी बिजली की !"

"मेरी बिजली ? आपने ख्वाब तो नहीं देखा ?"

"क्यों, मैंने ग़लत क्या कहा ?"—मिसेज़ सूर ज़बान चटकाती बोलीं। उन्हें पुदीने की चटनी का मज़ा आ गया !

रोमैंस की चटनी प्रत्येक कुत्सा के परोसे पर आजकल की एक ख़ास चटपटी चीज़ है।

"मिसेज़ सूर! बिजली भी कभी किसीकी चादर के खूँट में बँधी है? इधर आई, उधर गई। हवा पर उड़ती फिरी!"—सलीम ने बात टालनी चाही।

"तो क्या आपने....."

"आप फ़िज़ूल परीशान हो रही हैं। आजकल सोसाइटी में बिजली जैसी कितनी बिजलियाँ खेल रही हैं। आप ही किस बिजली—किस क़ातिल—से कम हैं? आप तो एक-एक क़दम पर गुल कतरती हैं!"

मिसेज़ सूर चुप हो गईं। दोनों इन्द्र के अखाड़े में पहुँचे। बॉल-रूम सरगर्म है। कुछ लोग नाच रहे हैं, कुछ बैठकर पी रहे हैं। फ़ाक्स्ट्राट का लहरा है। सलीम ने भी झूमकर नाचना शुरू किया। मिसेज़ सूर पर भी रंग सवार हो चला। सलीम हज़ारों में हसीन है; लाखों में सुबुक-क़दम।

सीने से सीना मिलाकर कला की किलोलें शुरू हुईं। थम-थमकर ह्विस्की का पैमाना भी चलता रहा। कोई दो घंटे तक यह सिलसिला रहा।

सलीम की आँखों में ह्विस्की कामना बनकर झाँकने लगी। नस-नस में ह्विस्की बिजली बनकर तड़प उठी। बॉल-डान्स के शिथिल वक्ष-संघर्ष को वह धीरे-धीरे निविड़ करता गया, और होठों में मुस्कान और चितवन में प्राण भरकर मिसेज़ सूर की शरबती आँखों में हेरता रहा।

मिसेज़ सूर मन्द-मन्द हँसती और सलीम की आवेश-विह्वल सुकुमार बन्दिशों का रस लेती रहीं। उनके लिए तो यह सलील स्पर्श कोई रोमाञ्च-प्रद सिहरन नहीं। उनकी भावभङ्गिमा में तो कोई प्रदीप्त उच्छ्वास की चपलता नहीं—कुछ ड्यूटी, कुछ कुतूहल और एक हल्की स्पन्दन की लहर है।

सहसा बाजा रुक गया। निशीथ 'सपर' का अवकाश। इस वक्त भी कुछ शोरबा और शराब चलती है; कुछ फलों की फ़िरनी की क़िस्म की चीज़ें। जिन्हें डान्स की कसरत से कुछ भूख उभर गई, वे तो फिर टेबुलों की ज़यारत पर लपके; और कुछ नहीं, तो सैंडविच और सूप ही सही। कुछ लोग कमरों में लौट गये। कुछ इधर-उधर लता-कुंजों की छाया में बिखर पड़े।

सलीम और मिसेज़ सूर दोनों सबसे अलग दूर निकल गये। पाम और किरोटन के झुरमुट में एक आराम-कुर्सी पड़ी है। मिसेज़ सूर उसी कुर्सी पर लेट गईं और बोलीं—"मैं तो अब टहलती नहीं। ज़रा ठंढी होकर घर जाऊँगी।"

सलीम कुर्सी की बाँह पर बैठ गया और तनकर मिसेज़ सूर के कंधे पर सर रख दिया। ह्विस्की की क्लान्ति या शराब की शोख़ी, बात एक ही है।

मिसेज़ सूर ज़रा सरकती हुई बोलीं—"लिल्लाह! भले आदमी की तरह बैठो!"

सलीम और भी जोश में तन गया; और आँखें नचाकर, हँसकर,

कुछ कहा ही चाहता था कि किसीकी चीख़ कानों पर पड़ी और वह उठ बैठा। देखा, तो दस क़दम आगे बिजली खड़ी-खड़ी थर-थर काँप रही है—हाथ में गुलेनार गिलास छलक रहा है—आँखों से आग के शरारे छूट रहे हैं!

सलीम के पाँव-तले की मिट्टी निकल गई। वह हक्का-बक्का-सा हो गया। पर, जब उसकी नज़र पत्तियों की आड़ में छिपे नवाब साहब पर पड़ी, तब वह डटकर खड़ा हो गया। नस-नस में पैवस्त ह्विस्की ने उसके मान को ठोकर मारकर उठा दिया। मिसेज़ सूर ने देखा कि मामला बेढब है! वे धीरे से उठीं और कनी दबाकर चम्पत हो गईं।

"अजी वाह सलीम मियाँ! आख़िर आ गये रंग में!"—बिजली विष उगलती हुई बोली। क्रोध की शिद्दत से बात पूरी भी न हो पाई।

"क्यों न आऊँ? ख़रबूज़े को देखकर ही ख़रबूज़ा रंग बदलता है!"—सलीम ने ज़रा हँसकर लापरवाही के भाव से कहा।

"ख़ैर, तुम्हारी क़लई तो खुल गई!"

"तो खुलने से बाक़ी किसकी रही?"

बिजली की ज़बान की जब कमान चढ़ती थी, मियाँ सलीम के मान का पता न चलता था। पर, आज का उफान तो शायद पैमाने की शान है!

"मैं कब जानती थी कि तुम इतना जल्द रंग बदल सकते हो!"—बिजली दाँत पीसती हुई बोली।

"और मैं ही कब समझता था कि तुम इतना जल्द रंग बदल सकती

हो !"—सलीम ने नहले पर दहला दिया।

सलीम की ज़बान में यह ढिठाई !—बिजली दंग हो गई—दंग ही नहीं, भूत भी। वह तो योंही नहीं बात पी सकती; और आज तो वह काफ़ी शैम्पेन भी पी चुकी थी।

शराब पी लेने पर कोई बात नहीं पी सकता।

सलीम तो चढ़कर बोलता नहीं था, बोलता था सिर होकर जानीवाकर। फिर, जानीवाकर की कोर तो किसीसे दबती नहीं।

बिजली झनझनाकर बोली—"हूँः ! यह सवाल-जवाब ! यह ज़बानदराज़ी ! ज़बान ही नहीं चढ़ी है, मिज़ाज भी चढ़ा है !"

"तो यहाँ डर किसका है—तुम्हारे आक़ा नवाब का ?"—सलीम ने मूछों पर ताव देकर कहा।

"तुम्हारे आक़ा होंगे ! तुम्हें रोटियों के लाले पड़े हैं !"—बिजली चीख़ती हुई बोली।

"मुझे ? मैं भीख माँगकर पेट पाल लूँगा; पर तुम्हारे नवाब की रोटियों पर·····"

"यह बात ! अभी न उनके दस्तरख़ान के टुकड़े चाट रहे थे ! तमाम पुलाव-क़ोरमे पचा बैठे ! मियाँ ! नमक फूटकर निकलेगी, याद रखना ! किसीने तुम्हारी सूरत पर तुम्हें शैम्पेन की बोतलें नहीं पिला डालीं !"

"ख़ैर, तुम्हारी ही सूरत पर। मगर तुम जिस खूँटे के बल कूद रही हो, मैं ख़ूब समझता हूँ·····हाँ !"

"तुम्हारे बाज़ू के बल तो कूद न चुकी! बाज़ार में सुपारियाँ कतर-कतरकर बेचना न पड़ा, यही बहुत है। मियाँ के छप्पर पर एक फूस भी रहता, तो एक बात होती!"

"नहीं था, तो आई क्यों? और जब आ गई, तब सुपारी कतर-कतरकर भी बेचती, तो कुछ पानी नहीं उतरता। ख़ुदा जानता है, मैं तो तुम्हारी वजह से इस भँवर में पड़ गया!"

"ख़ूब! मियाँ बाज़ार की ओर सैर करें और बीवी घर में चूल्हा फूँके! मैं इस चकमे में आनेवाली नहीं—समझे?"

"समझता हूँ, और ख़ूब समझता हूँ! अभी तो चकमकी मुहरों का चकमा है, तुम्हारी आँखों में चमक लगी है।"

"तो तुम्हारी आँखों से क्यों लहू टपक रहा है?"

"मुझे वह दिन नज़र आ रहा है, जब तुम खीरे के मोल बाज़ार में·····"

सलीम की ज़बान से यह जलती हुई तीती बात पूरी निकली भी न होगी कि बिजली जामे से बाहर हो गई। उसने तड़ाक से हाथ के गिलास को सलीम के सर पर तानकर फेंका! मगर, क़िस्मत की बात! कान पर से गोली निकल गई; सलीम बाल-बाल बच गया! गिलास पत्थर के खम्भे से टकराकर चकनाचूर हो गया। हाँ, शराब के छींटों से उसका चेहरा तर हो गया और शीशे के दो ज़र्रे उड़कर उसकी कनपटी में चुभ गये। फर्र-फर्र ख़ून निकल पड़ा।

अगर बिजली ने शैम्पेन पी ली थी, तो सलीम ने शैम्पेन पर ह्विस्की!

वह तड़पकर सामने आ गया, और भागती हुई बिजली के घुटनों के मोड़ पर फ़ुटबॉलवाला वह कड़ाके का 'किक' किया कि ऐन मौक़े पर मिस्टर अहमद पहुँचकर अगर बिजली को गोद में थाम न लेते, तो वह बेतहाशा मुँह के बल ज़मीन पर जा पड़ती।

गुलाब के काँटे से उलझकर बिजली की अंगूरी साड़ी बे-जगह चर्र हो गई, और जूड़े के बाल खुलकर पीठ पर बिखर गये।

सलीम ने लपककर गमलों की आड़ में खड़े नवाब का कल्ला थाम लिया, और एक ही झटके में उनके सर को दीवार से टकराकर कचूमर निकाल देता—अगर पलक मीचते 'जॉनी' सलीम पर बिजली की तरह टूट न पड़ता और हज़रत के तमाम उफान को एक लहमे में ठंढा न कर देता! ख़ैरियत हुई कि नवाब साहब के अन्तराल की वजह से 'जॉनी' के दाँत की पकड़ ओछी पड़ी, और सलीम के कॉलर और कमीज़ ने चिथड़े बनकर जिस्म की खुरचन को बचा दिया।

तबतक मिस्टर अहमद और सेक्रेटरी दौड़कर निकट आ गये और सलीम को पकड़कर अलग घसीट ले गये।

इधर ख़ून से लतपत सलीम ख़ून का प्यासा हो रहा है, उधर उसके जिगर के लहू से खुली हुई लटों को बाँधने पर बिजली तुली हुई है। पर नवाब साहब की भुजाओं में भीम का बल तो था नहीं कि होटल के प्राङ्गण में वेणी-संहार का अभिनय नज़र आता! यहाँ तो जोफ़मेदे और जिरियान के झोंकों से तिलमिलाती हुई हड्डियों की ठटरी है, जो मोकव्वियात के ज़ोर पर ताव पकड़ती। ख़ैरियत यही कि वहाँ जॉनी

मौजूद था, उनकी मरदानगी की नाक बच गई !

मस्टर अहमद ने सलीम को खींच लिया। नवाब साहब ने दामन झाड़कर बिजली को छाती में समेट लिया। लाल-पीली बिजली पिस्तौल तलब करती, क्रोध की धधक पर सर पीटती, छाती पीटती और आँचल की धज्जियाँ उड़ाती रही।

नवाब साहब ने उसे शान्त करने की ग़रज़ से उसकी पीठ सहलाई, कंधों पर थपकियाँ दीं; और सलीम की छाती की खाल उधेड़वाकर बिजली के पाँव की जूतियाँ बनवाने की क़सम खाकर रूमाल से उसकी आँखों के गर्म आँसू पोंछे।

सलीम जब बिलकुल गिरफ़्त हो गया, तब वह उसी हालत में होटल छोड़ने पर तुल पड़ा "मेरा सूट-केस मँगवाइये। मैं यहाँ एक दम नहीं ठहरता।"

"कहाँ जाओगे ?"—मिस्टर अहमद ने रूमाल से उसकी कनपटी बाँधते हुए पूछा।

"जहन्नुम !"

"तुम्हारे लिए शायद वहाँ भी जगह नहीं है !"

"बला से नहीं है।"

"मियाँ ! नवाब साहब से चलकर माफ़ी तो माँग लो ! कह देना—'हुज़ूर, यह बेताबिये-मय की ख़ता थी, मैं न था' !"

"माफ़ी ! धड़ से सर अलग कर दीजिये, क़बूल है; मगर सलीम कभी माफ़ी तसलीम नहीं कर सकता—हर्गिज़ नहीं !"

वह चट हाथ छुड़ाकर फ़ाटक के बाहर आँखों से ओझल हो गया।

उसी वक़्त फ़ाख़्ता का एक जोड़ा सर पर से सर-से निकला और होटल के पिछवाड़ेवाले पलाश-वन की अँधियाली में ग़ायब हो गया।

इस आधी रात को यह पक्षी-मिथुन कहाँ से आया और किधर निकल गया! जिसने देखा, उसीको छन-भर विस्मय हुआ। शायद यह जोड़ा उसी पनसेने के पेड़ के ऊपर घोसला बनाकर गुज़र कर रहा था, जिस पेड़ के नीचे अभी सलीम और बिजली के विद्रोह का निदारुण अभिनय हो गया।

शायद पंडुक ने उत्तम-योनि मनुष्य के प्रेम का यह दर्दनाक अंजाम देखकर मानव-संसर्ग के वायुमंडल से अपना आशियाना उठा लेना मुनासिब समझा, और फ़ौरन् पंडुकी को चोंच से जगाकर जंगल के जानिब उड़ा ले गया। अगर यह बात नहीं है, तो फिर इस आधी रात को अचानक घर-बार छोड़कर होटल के दायरे से निकल भागने की और दूसरी वजह क्या हो सकती है? निशीथ में बिस्तर लपेटना तो विहग-समाज में कहीं प्रचलित नहीं है।

बात जो भी हो, जिस अभ्रभेदी आवेग के साथ सलीम और बिजली के मिलन का सूत्रपात हुआ था, आज उसी आवेग के साथ वह सूत्र छिन्न भी हो गया। न प्रेम के पनपते देर हुई, न वैर के बिंधते आँखें झिपीं। और, जो तरंग उठी, वह दिल और दिमाग़ दोनों कूलों को प्लावित करती हुई उठी। जब राग था, तब प्रबल राग; जब विराग आया, तब कट्टर विराग!

शायद राग और विराग एक ही वर्क़ के दो पहलू हैं, और यह मानव-जीवन इन्हीं दो पहलुओं के उलट-फेर का चिरंतन लीला-निकेतन है।

प्रेम और वैर दोनों एक ही थैले के चट्टे-बट्टे हैं। मन के प्राङ्गण में उनका बारी-बारी पहरा है। दोनों एक ही बैरक—एक ही रिसाले—के जोड़ीदार हैं। घंटा बजा और राग के कंधे से संगीत उतरकर विराग के कंधे पर चढ़ा; उसकी पेटी उसके पलटे की कमर में गई। इस जीवन में ये दोनों क़दम मिलाकर साथ-साथ चल रहे हैं।

किसी को दोस्ती का सत है, तो दुश्मनी की लत भी है। अगर हम एक ओर किसी की जान सताने में नहीं हिचकते, तो दूसरी ओर किसी पर जान देने में भी नहीं सकुचते—इधर मारते हैं, तो उधर मरते भी हैं।

जिसको दुश्मनी नहीं आती, उसको दोस्ती भी नहीं भाती; और जो हाथ तलवार नहीं उठा सकता, वह अँकवार भी नहीं कस सकता।

जब परिवार में अनुरक्ति होगी, तो उधर मुहल्ले से विरक्ति होगी। जब मन एक में रमेगा, तो किसी दूसरे से ज़रूर खिंचेगा। वह कहीं रमता नहीं, तो किसी से खिंचता भी नहीं!

जिसे ग़ुस्सा नहीं आता, उसे ठठाकर हँसना भी नहीं आता। जो प्रहार नहीं कर सकता, वह प्यार भी नहीं कर सकता। जिसके चुम्बन के आवेग में मर मिटने का उन्माद नहीं है, उसके हाथ का कटार भी वैरी की आँत चीरनेवाला ताव नहीं रखता। मन जिस परिमाण से ऊपर

चढ़वा है, कुछ उसी परिमाण से नीचे भी गिरवा है। जिसे रिश्ता तोड़ने आता है, उसे जोड़ने भी आता है।

मन की शान्ति के लिए, अन्तर की प्रसन्नता के लिए, वैर जिस क़दर घातक है, उसी क़दर प्रेम भी। प्रेम की लगन हो या विद्वेष का स्फुरण, दोनों हालत में आत्मा की तबाही बराबर है। आत्मा की गर्दन पर दोनों ही बन्धन हैं। फ़र्क़ इतना ही है कि एक के ऊपर मनोहर मीनाकारी है और दूसरा लोहे की भद्दी जंजीर है। मगर, प्रकृति की पसली दोनों के भार से बराबर पिसती है।

समाज और धर्म ने प्रेम की साँकल पर कुन्दन का काम करके उसकी लौकिक महत्ता जो बढ़ा दी हो, उससे कुछ उसका भार नहीं कमता, न उसके दिलफ़रेब पंजे के नाख़ून ही टूटते हैं। धर्म और नीति ने वैर के सर पर ख़ुदा की लानत बरसाकर उसे लाख निंद्य और त्याज्य बना दिया हो, पर उसे वे मानव-जीवन के दायरे से हटा नहीं सके।

जब प्रेम की वन्दना होगी, तब वैर की प्राणप्रतिष्ठा आप-से-आप होगी। जब अन्तर में प्रेम की सत्ता कम है, तब साथ-साथ वैर का माद्दा भी कमज़ोर है। जब एक जवान होगा, तो दूसरा भी बलवान् होगा। यही प्रकृति है, यही चिरन्तन सत्य है। एक ही ममत्व के बीज से इन दोनों का जन्म है। नाम अलग हो, रूप अलग हो; पर आत्मा की सत्ता पर दोनों का असर एक है। कोई एक को दूर करके देखे; दूसरा आप-से-आप काफ़ूर हो जाता है।

अगर सबके लिए बराबर प्रेम हो जाय, तो प्रेम की आसक्ति जाती

रहे। अगर सबके लिए बराबर वैर हो जाय, तो वैर का विष आप-से-आप झर जाय। जिस घड़ी यह बात धँस जाय कि इस निखिल विश्व में कोई अपना ख़ास नहीं, उसी मंगल-मुहूर्त्त से हमारी निगाह में कोई यहाँ पराया भी नहीं रहता। यहाँ सब हमारे हैं, फिर भी कौन हमारा है?

अगर यह धारणा है कि प्रेम के बिना गुज़र नहीं, तो उस परा प्रीति को जगाना चाहिये, जिस प्रीति के ज़रिये उस स्थिति पर पहुँचा जा सके, जहाँ न प्रेम है, न वैर। और, अगर वैर के बग़ैर बनता नहीं, तो आस्तीन चढ़ाकर अपनी इन्द्रियों से भिड़ना है, ताकि इस निरन्तर विरोध से उस स्थिति पर पहुँचा जा सके, जहाँ न वैर है, न प्रेम।

हम ग़ैर से खिंचे रहते हैं; चूँकि हम अपने-आप पर मरते हैं। अगर हम अपने-आपसे खिंचना शुरू करें, तो फिर ग़ैर से प्यार अनायास हो जायगा।

जो बहादुरी अपने-आपसे भिड़ने में है, वह कभी ग़ैर से भिड़ने में नहीं। आदमी का इन्सान होने का दावा तभी निभ सकता है, जब वह ग़ैर के लिए आँखों में पानी रखता है और अपने लिए आँखों पर ठिकरी। जैसे ज़हरीले दुश्मन हमारे लहू के पर्दे में छिपे रहते हैं, वैसे बिछैले साँप न हमारी आस्तीन में मिलेंगे, न इस फ़लक की गर्दिश में। बाहर की उड़ती हुई चिनगारी से जिस क़दर घर जलने का डर है, उससे कहीं ज़्यादा घर के चिराग़ से ख़तरा रहता है।

जबतक हमारे घर का सुख-दुख हमारे जीवन का तमाम सुख-दुख है, तबतक औरों के सुख-दुख से हमारी दिलचस्पी मुमकिन नहीं। जबतक

हमारे हृदय का सहज उत्स हमारे स्वार्थ के संकीर्ण परिसर में बद्ध है—यानी जबतक हम अपने-आप पर निछावर हैं, तबतक हमारी निगाह में ग़ैर ग़ैर है; मगर कहीं वह उच्छ्वास उस ममता की तंग गंडी से उचककर बाहर निखिल में फैल सका, तो फिर बेगाना भी आशना बन जाता है, बन्दा भी ख़ुदा हो जाता है।

एकादश परिच्छेद

मिस्टर अहमद जब सलीम का असबाब लेकर स्टेशन पर पहुँचे, तब रात आधी से ज़्यादा उतर चुकी थी। वेटिंग-रूम के सामने आराम-कुर्सी पर सलीम चित लेटा है। न आँखें लगी हैं, न खुली। कौन कहे, वह चुपचाप आँखें बन्द किये अतीत के उन मधुमय दिनों को देख रहा है, जब उसके चमन की वासन्ती शाख़ों पर फूलों की महक थी और बुलबुल की चहक।

आज उसके जूते की करारी ठोकर उसी कमर पर जा पड़ी, जिसमें मुद्दतों तक उसकी विशाल भुजाएँ मुहब्बत की मेखला बनी थीं; और बिजली के हाथ का बेरहम ख़ंजर उसी गले पर उठा, जिसमें मुद्दतों तक उसकी मृणाल भुजाएँ मल्लिका की माला बनी थीं।

सच है—"वह भी देखी, यह भी देख; इन अँखियन कर यही बिसेख !"

वह मेघ-कज्जल सावन की सन्ध्या, जब बिजली की छहराती चन्द्रप्रभा साड़ी—उसके एक-एक अंग की लीला-चंचल लावण्य-भंगी—उसकी चपल चितवन की सलील स्फूर्ति तमाम टेनिस-लॉन पर बिजलियाँ बरसाती, आज अतीत के गर्त में सदा के लिए लीन हो गई। ज़िन्दगी के उन बहार के दिनों की याद आज दर्द की तरह उठी और आँसू की तरह गिर पड़ी !

सितार का अन्तिम मीड़—संगीत का अन्तिम सुर—जैसे गाने-बजाने की समाप्ति पर थर्राकर बन्द हो जाता है, और फिर तमाम महफ़िल में एक उदासी-सी छा जाती है, कुछ वैसी ही उदासी सलीम के मुहर्रमी चेहरे पर आज करवटें बदल रही है। वह मनोहर माया-जाल छिन्न हो गया, और अब चारों ओर मरघट की नीरवता छा गई।

एक वह दिन था, जब बिजली की आँखों में पानी था, और सलीम भी ख़ुशी से उसके ऐश और तैश के अत्याचार को तसलीम करता रहा; एक आज है कि किसी हालत से टूटे हुए कलेजे के टुकड़े कभी जुड़ नहीं सकते। दोनों के बीच विरोध का एक विराट् व्यवधान—पहाड़ बनकर—खड़ा हो गया है। अब तो बिजली वह बिजली न रही, जिस बिजली के क़दमों पर सलीम के सर का ताज था। उसका दिल वह दिल न रहा, जिस दिल पर उसे नाज़ था; और न वह शाख़ ही रही, जिसके पत्तों में उनका आशियाना था।

उसकी कनपटी में धँसे हुए शीशे के टुकड़े रह-रहकर टीस रहे हैं। पर, जो टीस थम-थमकर उसके प्राणों के पहलू में उठ रही है, उसके मुक़ाबले वह सर की चोट कोई चोट है!

सूने प्लैटफॉर्म पर वह मौन, सूना, पड़ा है। स्टेशन की निशीथ-शून्यता उसके अन्तर की पोर-पोर में भर रही है।

जब मिस्टर अहमद बिलकुल नज़दीक आ गये, और उनके जूते की आहट सलीम के कानों में पड़ी, तब उसने आँखें खोलीं, और मिस्टर अहमद को शून्य निश्चेष्ट दृष्टि से एक टक देखने लगा। कुली ने उसका सूट-केस, बिछौना और टेनिस का डंडा पास में रख दिया! सलीम ने झुककर देखा तक नहीं कि सामान सब दुरुस्त है या छूटा-भटका।

मिस्टर अहमद बोले—"मियाँ सलीम! तुम्हारे सर पर शामत सवार थी; तुम ख़्वामख़्वाह उबल क्यों पड़े?"

"साहब, बरदाश्त की भी तो एक हद है!"

"जी नहीं। अभी आप कच्चे खिलाड़ी हैं। सोसाइटी में ऐसी रकझक रोज़मर्रे की बात है। जब सोसाइटी में रहना है, तब ईमान को आस्तीन के भीतर रखना ज़रूरी है; इसे कोई लाकिट बनाकर बाहर नहीं लटकाता।"

"तो ऐसी सोसाइटी की ऐसी-तैसी! लानत है ऐसी सोसाइटी पर!"

"मगर आपकी बीवी?".....

"बाज़ आया बीवी से!"

"बाज़ आया! तुम भी अजब बुज़दिल हो। कोई मैदान छोड़कर

दुम दबाता है ! समझ गया, जानीवाकर न होता, तो तुम आज शेर भी न होते ! बच्चू, अभी तुम्हारे दूध के दाँत भी नहीं टूटे हैं।"

"क्यों ?"

"म्याँ, बात पीने की तारीफ़ है, उगलने की नहीं। दूसरे जान गये, तो वह छीछालेदर होगी कि मुँह दिखाना अज़ाब हो जायगा। फ़ैशनवाली बीवी की जूतियाँ तो माशूक़ की गालियाँ हैं। सर पर पड़ ही गईं, तो क्या हुआ ? फिर इसके लिए लाल-पीला होना !..... यह भी कोई बात है ! बीवी अलग चरती-चुगती रहे, तुम अलग चरते-चुगते रहो; सामने का आशियाना एक हो। और बस !"

"और बनाइये, और ! मैं सब समझ रहा हूँ। मगर, जनाब, अब इन तिलों तेल नहीं। मैं घर चला !"

"सच ! प्याला भर गया ?"

"भर गया प्याला।"

"ख़ुदा का शुक्र है। जवानी में ठोकर तो डॉक्टर का नश्तर है। दो दिन में ज़ख़्म भरा समझो !"

"यह दिल का ग़ुबार....."

"अजी, धुआँ बनकर उड़ जायगा ! यह भी कोई बात है ! टिकट के रुपये हैं ?"

"....."

"क्यों, रुपये हैं टिकट के ?"

"....."

"तो यह लो, दस-दस के तीन नोट मेरे पास हैं। दूर का सफ़र है।"

"थैंक्स, इस घड़ी को आप रख लेते। मैं इस हफ़्ते में रुपये भेज दूँगा; फिर आप इसे वापस कर दीजियेगा।"—सलीम ने कलाई की घड़ी खोल डाली।

"अजी वाह! मुझे इतमीनान है, घड़ी की ज़रूरत नहीं! यह भी कोई बात है!"

"आपको इतमीनान जो हो, पर मेरा ईमान तो नहीं मानता!"

"तुम्हारा नशा अभी तक उतरा नहीं। मुझे भी बिजली समझ रखा है क्या?"

"....."

"अच्छा, ट्रेन कब आती है?"

"तड़के पाँच बजे।"

"तो सो रहो। अभी काफ़ी वक़्त है।"

"भई, कहाँ का सोना! नींद तो आती नहीं।"

"आज़ादी के नग़मे शुरू करो। नींद तो आज़ादी की सहेली है।"

सलीम हँसकर चुप हो गया।

"अच्छा, तो मैं अब चला। ख़ुदा हाफ़िज़!"—मि० अहमद हाथ मिलाकर चल दिये; देखते-देखते आँखों से ओझल हो गये।

सलीम ने सोना चाहा। करवट बदली। हवा झिर-झिर बह रही है, मन्द और मुलायम। पर, वे रेशमी थपकियाँ सलीम को न सुला सकीं। वह उठ बैठा।

सब लोग प्लैटफ़ॉर्म पर बेख़बर सो रहे हैं। गच पर इधर-उधर सर पर हाथ रखे कुली पड़े हैं। कितने मुसाफ़िर बेंचों पर टाँग फैलाए नाक बजा रहे हैं। टिकट-बाबू सामने टेबुल पर माथा टेके खर्राटे भर रहे हैं। दो-एक सफ़ेदपोश बाबू तकियों को छाती से लिपटाये स्ट्रेचर पर पसरे हैं। शायद घोड़ा बेंचकर सोनेवाले या बारात रुख़सत होने के बाद ठाट से दुपट्टा तानकर पैर फैलानेवाले घराती भी इस बेख़बरी से न सोते होंगे। एक मालगाड़ी हड़हड़ाती हुई आई और गर्द उड़ाती हुई निकल गई। सोनेवालों ने जुम्बिस तक न ली।

ऐसी बेफ़िक्री की नींद सलीम को कहाँ नसीब! यह भुवन-मोहिनी माया उसकी चेतना पर—उसके लोचनों पर—क्यों नहीं आती?

वह उठ खड़ा हुआ। प्लैटफ़ॉर्म पर धीरे-धीरे टहलने लगा। टहलता-टहलता बाहर निकल गया।

सामने बाज़ार। दूकानों पर निस्तब्धता छा रही है। इधर-उधर लोग बिखरे पड़े हैं। सिर्फ़ दूर से कुत्तों के भूँकने की आवाज़ थम-थमकर उठ रही है। आम और मौलसिरी के पत्तों पर हवा के किलोलों की मर्मर-ध्वनि कितनी मीठी है!

वह यों ही सड़क पर आगे बढ़ता गया। आगे चलकर पार्क मिला। हरी-हरी दूबों की लॉन। कैना और क्रोटन की क्यारियाँ। एक एक्कावाला नशे में चूर, 'लगी यारी छोड़ दीना कुँअर कन्हैया' की रट लगाये, अपने एक्के को बेतहाशा दौड़ाये जा रहा है।

सलीम ने तन्मय होकर गाने को सुना। 'एक-न-एक दिन दुनिया

में सभी यारी छूट जाती है, यही दस्तूर है'—सोचता हुआ आगे बढ़ा।

सामने होटल पड़ा। वह ठिठककर खड़ा हो गया। सरसरी निगाहें फेंककर दूर से ही इमारत का मुलाहज़ा किया। ऊपर के एक कमरे की खिड़कियाँ खुली हैं। भीतर बिजली-बत्तियों का फ़ानूस हल्की हवा के इशारों पर झूल रहा है। अचानक सलीम के मुँह से भुन-से निकल गया—यही तो है उसका कमरा!

कुछ देर तक वह न जाने किस हैस-बैस में पड़ा रहा। फिर फाटक के पास पहुँचा। आँखें फाड़कर उस कमरे की ओर निहारने लगा। मन-ही-मन सोचने लगा—उसी के कमरे की रोशनी है या पासवाले कमरे की·····वह भूल तो नहीं रहा है! क्या अबतक वह जाग रही है? पलँग पर नहीं, गई?···नहीं, यह उसके कमरे की रोशनी नहीं·····न, न! उसी के कमरे की है?

वह एक छलाँग में फाटक टप कर दबे पाँव बरसाती के नज़दीक आ गया। होटल की दीवार के पास खड़ा होकर ग़ौर से ऊपर देखने लगा। उसे यक़ीन हो गया कि बिजली का ही कमरा है। कमरे की पूरबवाली खिड़की की जो झिलमिली एक जगह टूट गई थी, वह साफ़ नज़र आ रही है। बिजली के ही कमरे की रोशनी है, शक नहीं। शायद परीशानी की वजह से वह बत्ती गुल करना भूल गई।

वह सोचने लगा—"मुमकिन है, अब तैश का नशा उतर गया हो और वह अपनी ग़लती पर पछता रही हो। चढ़ाव के बाद उतार भी ज़रूरी है। यही जंगी मिज़ाज की ख़ासियत है। तो क्या वह शैम्पेन

का उफान ख़त्म हो चुका ?……"

एक आवाज़-सी उसके कानों में पड़ी। ऐं !……यह आवाज़ कहाँ से आई ? उसी कमरे से या और कहीं से ? होटल का चौकीदार तो बाहर खाट बिछाकर बेख़बर पड़ा है। तमाम होटल पर सन्नाटा है। तीन बज गये होंगे। इस वक़्त कौन जागता होगा ! तो फिर आवाज़—

वह चोर की तरह दबे पाँव बरामदे पर आया। सीढ़ियों से ऊपर चढ़ गया। इस ग़रज़ से कि कहीं चर्रमर्र की आवाज़ न हो, जूते को पतलून के पॉकेट के हवाले किया। एक-एक क़दम फूँक-फूँककर रखता हुआ उस कमरे के पास पहुँचा। यहाँ आते ही ठिठककर खड़ा हो गया।

दरवाज़े के पास जॉनी और टॉमी पहरे पर बैठे हैं ! आहट पाते ही दोनों के कान खड़े हो गये। जॉनी ने भूँकना शुरू किया। टॉमी तो तड़पकर टूट्या ही चाहता था कि सलीम एक बार पागल की तरह ठठाकर हँसा, और फ़ौरन् रेलिंग थामकर नीचे झूल गया। चौकीदार के सजग होने के पहले ही वह हवा हो गया।

"ऐं ! यह हँसने की आवाज़ कैसी ?"—कहती हुई बिजली मसहरी के भीतर हड़बड़ाकर उठ बैठी। मसहरी से बाहर निकलना ही चाहती थी कि एक लम्बा हाथ सरककर कमर से लिपट गया—"लिल्लाह ! यक़ीन मानो, यह हँसी नहीं, जॉनी के भूंकने की आवाज़ है !"

बिजली पलँग पर फिर लेट गई। चारों ओर सन्नाटा छा गया। महज़ कचनार के पेड़ से एक कुचकुचे की आवाज़ रह-रहकर सन्नाटे को चीरती रही।

द्वादश परिच्छेद

दिन के दस बजे होंगे। आकाश पर बादलों की काली लटें छाई हुई हैं। पृथ्वी पर सावनी संगीत का सुर शुरू है—झम-झम-झम-झम! यही वर्षा की अनन्त छन्द-लहरी है—प्रकृति के चंचल चरणों की नूपुर-ध्वनि। अजस्र सुर-निर्झर—कभी कोमल, कभी गांधार। प्रकृति का हरा-भरा आँचल विविध बेल-बूटों से लहालोट है। नवजीवन का प्राण-हिल्लोल तमाम विश्व में फैल चुका है। ज़र्रे-ज़र्रे पर हरियाली छा रही है। ऐसे वक्त में भला किस दिल के पहलू में कोंपल नहीं उठती?

बिजली होटल के कमरे में बन्द मेघ-कजल आकाश के वितान को देखती, कान देकर श्रावण-वर्षण के आनन्द-चंचल मलार को सुनती। कभी वृष्टि की ध्वनि क्षीण होती, कभी चारों ओर से झंकार

देकर नाच उठती। खिड़कियों पर बूँदों की टपटप—झिलमिली के शीशों पर छीटों की छम-छम—उसके कानों में मुक्ति के आह्वान की वाणी है।

वह होटल के कारागार के सीख़चों को तोड़कर इसी धारा-प्रवाह में कूदना चाहती है। आज पन्द्रह दिनों से वह मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ रही है; पर सर पीटती हुई क़ैद में उलझी पड़ी है। ऐसी परिस्थिति में आ पड़ी है कि तमाम ऐशो-इशरत का सरंजाम रहते हुए भी उसके दिल को घड़ी-भर के लिए चैन नहीं। किसी तरह वह निकल भागती! वह उठते-बैठते आज़ादी की हवा ढूँढ़ रही है; मगर रेशमी शिकंजों में ऐसी बँधी है कि हाथ फैलाने को भी जगह नहीं।

कल रात से सावन की धारा हहास बाँधकर आई और अविराम बरसती रही। निशीथ के अँधेरे में वह वृष्टि-प्रपात की झम-झम बिजली के सन्तप्त प्राणों पर क़ैदी की जंजीरों की झन-झन सी बजती रही।

और रात आँखों में कट गई। मुँह-अँधेरे उठकर उसने खिड़कियों से झाँका और विश्व के कोने-कोने में नवजीवन के जागरण को देखा।

वह एकाएक होटल के माया-जाल को दाँतों से काटकर छिन्न कर देने के लिए बद्ध-परिकर हो गई। फिर तो वही वर्षा की झम-झम भोर की शहनाई का सुर उठाकर उसके प्राणों में नाच उठी—झम-झम-झम-झम!

वह उठी। बाथ-रूम के टब में जाकर बैठ गई। आध घंटे तक सुरभित जल में छप-छप करती रही। फिर तमाम शरीर में तौलिया

लपेटकर आराम-कुर्सी पर लेट रही। भीगी लटें कुर्सी के पीछे लटक गईं और बिजली के पंखे की हवा पर थिरकने लगीं।

उसने छाती पर गुलगुले कुशन को समेट लिया, और अलसाई-सी पड़ी-पड़ी विलायती मेमों की फैशन-पत्रिका की तसवीरें देखती रही। मेमों की नई-नई लिंगरी और शमीज़, नई-नई काट के पेटीकोट और ब्लाउज़, कार्सेट और जम्पर, जैकेट और जर्सी—किस तरतीब से साड़ियों के मेल में खुल कर निखरेगी, इसी उधेड़-बुन में वह चूर हो गई।

उसकी निगाह में साड़ी और जैकेट की उपयोगिता तभी है, जब उनके पहनने से एक-एक अंग उभर-उभरकर मुस्कुराता रहे। वह एक-एक डिज़ाइन पर ठहर-ठहरकर ग़ौर करती और किस पैटर्न में कहाँ तक रहस्य और नवीनता है, उससे किस हद तक अंगों की श्रीवृद्धि होगी, उसके छोर पर लैस या चुन देने से कहाँ तक बारीकियाँ खुलेंगी, साड़ी की लपेट में उस तर्ज़ के जैकेट के विकास का ह्रास तो नहीं होगा—इन्हीं सब ज़रूरी बातों की जाँच-पड़ताल में वह आसमान से ज़मीन पर आती और ज़मीन से आसमान पर उड़ती। कभी लाल पेंसिल लेकर जगह-जगह निशान करती और कहीं-कहीं मार्जिन में ज़रूरी नोट टाँकती जाती।

सहसा किवाड़ पर ठोकरें पड़ीं। वह चौकन्नी हो गई। महज़ तौलिया लपेटे वह विलायती मेमों की तरह दिगम्बरी आनन्द का मज़ा ले रही थी। इधर लञ्च का समय आ गया। वह उठ पड़ी। आइने के पास खड़ी होकर कुछ देर तक अपनी नंगी तसवीर देखती रही!

वह बचपन ही से अपने अनावृत अंगों की एक-एक उन्नति-शील रेखा

पर कड़ी निगाह रखती चली आई। अन्दाज़ से न मोटी हो, न पतली—यही निगरानी उसकी ज़िन्दगी की परीशानी रही। इस क़म को क़ायम रखने के लिए वह प्रतिदिन नियमित कसरत करती या टेनिस खेलती। हर महीने की पहली तारीख़ को फ़ीता लेकर कमर, गरदन और सीने की नाप लेती। इसी निरन्तर शासन और मासिक परीक्षा की कड़ाई से उसने तमाम अंगों को हाथ में रखा और किसी एक को भी बहककर न ढीला होने दिया, न गुलगुला। उसने 'मूलर' वाली विलायती शिक्षा-प्रणाली पर अंगों की तालीम दी थी; और यही वजह है कि उन अंगों की सुश्रृङ्खला क़ाबिले-तारीफ़ थी। उसने एक दिन के लिए भी इस ड्यूटी में न लापरवाही की, न सुस्ती; चूँकि वह जानती थी कि अंगों की यही सुडौल तैयारी उसके जीवन की तमाम पूँजी है—और उसकी तमाम उम्मीदों की कुंजी भी।

बिजली ने आइने में अंगों का मुआयना ख़त्म करके सूखे-बिखरे बालों को समेटकर बाँध डाला, और आलमारी का दराज़ खोलकर साड़ी और पेटी-कोट का चुनाव शुरू किया। किसे पहनूँ—किसे न पहनूँ, इसी पशोपेश में कोई आध घंटा लगा।

आख़िर विलायती वॉयल की एक ख़ुशरंग साड़ी पसन्द आई। ज़ाफ़रानी ज़मीन पर अबीरी छींटे। साथ-साथ रेशमी कत्थई जम्पर रहा।

वह सजधजकर तैयार हो गई। आगे बढ़कर किवाड़ खोला, तो नवाब साहब के असिस्टेंट सेक्रेटरी मियाँ ख़ुरशीद खड़े मिले।

मियाँ ख़ुरशीद का सिन लगभग पचपन का होगा। लम्बी खिचड़ी

दाढ़ी, मटमैला रंग, गोल-गोल आँखें, नाक पर चश्मा, सर पर टर्की टोपी, बन्ददार अद्धी का अंगरखा और लंकलाट का चूड़ीदार पाजामा। हाथ में रूमाल ; रूमाल में पान के दाग़। कम खाते, कम बोलते और सबके सामने आँखें नीची किये रहते। उनको सर उठाकर देखते या बातें करते शायद ही किसी ने कभी देखा होगा। नमाज़ी आदमी—ख़ुदा-रसूल के अनन्य भक्त।

होटल में रहकर भी होटल के वायु-मंडल से वे अलग रहे—न सिगार से सरोकार, न जानीवाकर से प्यार। हाँ, पान और हुक्के के बेहद शौक़ीन। जब देखिये, गाल में गिलौरियाँ भरी हैं और मुँह से अम्बरी तम्बाकू की ख़ुशबू उड़ रही है। ज़माने की हवा कभी लगी नहीं।

सुबह में सिर्फ एक प्याली चाय और एक काश सेब का मुरब्बा उनका नाश्ता ठहरा। खाने के लिए दोनों वक्त चपाती और शोरबा। ऐसे तो कुछ सिड़ी-से नज़र ज़रूर आते; मगर आदमी थे मुस्तैद। जिस काम में लग जाते, कोल्हू के बैल बन जाते। बस, ताँगे के टट्टू की कैफ़ियत। सुबह से आधी रात तक जुते रहें, कुछ परवा नहीं!

बिजली, उनकी शक्ल देखते ही, झल्ला उठी। वे ऐसे शख्स थे, जिन पर उसकी साड़ियों का रंग चढ़ सकता, न उसके नाज़ो-अन्दाज़ की बारीकियों की छाप उखड़ सकती। न वे किसी चितवन के फेर में पड़ते, न किसी शीरीं ज़बान की चाशनी में घुलते। उन पर न हुस्न का रोब चलता, न मुस्कान का असर पड़ता। होटल में बिजली की आठों पहर निगरानी उनकी रोटी थी!

वे ड्यूटी के पक्के थे। साये की तरह चुपचाप साथ लगे रहते। न पुचकारने से दुम हिलाते, न लतियाने से दुम दबाते। ख़ास ख़ूबी उनकी यह है कि न वे लगे रहते, न अलग रहते। बिजली के कमरे का किवाड़ खटका और हाज़िर हो गये; आधी रात हो या दुपहरी। अगर वह बाहर हवाख़ोरी के लिए निकली, तो शोफ़र की बग़ल में मौजूद।

बिजली ने उन्हें लाख मिलाना या बहलाना चाहा; पर तीर पत्थर पर पड़कर मुड़ गये। बिजली ने कमान रख दी। वह एक परिमित परिधि के भीतर जो जी चाहे खाये-पीये, पहने-ओढ़े; उसका पाई-पाई बिल चुका देना उनका काम था, और उसे वे बड़ी ख़ूबी से अंजाम भी देते। पर, उस परिधि से बाहर न वह जाती, न जाने पाती।

नवाब साहब की अदम-मौजूदगी में बिजली की देख-रेख के लिए उनकी तैनाती रही, और वे फ़रिश्ते की तरह अलक्ष्य रहकर साथ सोते और साथ जागते।

"आप ही किवाड़ खटखटा रहे थे?"—बिजली ने छूटते ही पूछा।

"जी हुज़ूर।"

"क्या लंच का टाइम हो गया?"

"जी हाँ।"

"गांग तो बजा नहीं!"

"कभी बज गया!"

"मैंने सुना नहीं!"

"....."

"लिल्लाह ! खाने के वक़्त भी तो अपनी सूरत छिपाकर रखिये।"

"सो क्यों ?"

"मुझे मतली-सी आती है ! खाना हराम हो जाता है !"

"....."

मियाँ ख़ुरशीद ने मुंह लटका लिया।

"क्यों, आज मिस्टर अहमद को नहीं देखती !"

"मिस्टर अमीन आ गये हैं। उन्हें कमरे दिखाने गये हैं।"

"मिस्टर अमीन ?"

"जी हाँ।"

"आज आये ?"

"अभी आये हैं।"

बिजली ने और ज़्यादा दरियाफ़्त करना मुनासिब नहीं समझा। उसकी म्लान आँखें खिल गईं। वह ख़ुश हो गई कि अब उसकी साड़ी की रंगत बेकार नहीं होगी।

'अभी आई'—कहती हुई वह फ़ौरन् कमरे में लौट आई। आइने के सामने खड़ी होकर चेहरे पर पाउडर और क्रीम की पॉलिश कुछ विशेष मनोऽनुकूल की। गालों और लबों की गुलाबी गुलेनार हो गई। चेहरे की ताज़गी दुगनी बढ़ गई। कबरी-कलाप पर मोतियों का जाल लपेटा। सूने कानों में हीरे के झुमके डाले।

बन-ठनकर बाहर निकली, तो ठमककर फिर बातें करने लगी। ज़रा

झुँझलाकर पूछा—"हाँ साहब, नवाब साहब की क्या ख़बर है ?"

"वे तो इलाक़े में दौरे पर हैं !"

"यह सुनते-सुनते तो कान पक गये।"

"....."

"उनको गये आज एक माह हो चुका। बाट जोहते आँखों पर जान आ गई ! आख़िर लौटने की ख़बर.....?"

"हुज़ूर, मुझे तो कोई ख़बर नहीं !"

"तो क्या यहीं पड़ी मैं सड़ती रहूँगी ?"

"मैं तो हर तरह से ख़िदमत में हाज़िर हूँ ! किसी बात की तकलीफ़....."

"फिर आप तो नवाब साहब नहीं हो सकते ?"

"मैं तो, हुज़ूर, ख़ादिम हूँ—हुक्मी बन्दा !"

"तो फिर आप मेरे दर्द को क्या समझेंगे !"

"जो हुक्म हो, उसे पूरा करूँगा।"

"ख़ूब ! मेरी मुराद तो पूरी होती नहीं, और आप हुक्म पूरा करने चले हैं !"—बिजली ने तुर्श होकर कहा।

"वह कौन-सी मुराद....."

"मैं आज़ादी चाहती हूँ—आज़ादी !"

"मैं तो समझता हूँ, हुज़ूर, आज़ाद तो एक ख़ुदा की ज़ात है। इन्सान तो बन्दा है; और बन्दे को आज़ादी नहीं। वह तो क़ुदरत में गिरफ़्त है—ज़माने में मुबतला है।"

"आप फिर वही बे-सर-पैर की हाँकने लगे!"—बिजली ने तमककर कहा। उसकी आँखों से चिनगियाँ छूट पड़ीं।

"हुज़ूर! लंच का वक़्त टला जा रहा है।"

"चलिये। आपसे कहना दीवार पर सर फोड़ना है। अगर आप-की छाती में दिल·····"

"हुज़ूर! ख़ादिम दिल नहीं रखता, ईमान रखता है।"

"सच! मैं तो समझती हूँ, बे-दिल नौकर दुश्मन के बराबर है।"

बातें करते दोनों डाइनिंग-हॉल की ओर चले। वहाँ पहुँचकर देखा, मिस्टर अहमद पहले से ही डटे बैठे हैं। वही सिगार, वही साग़र!

बिजली ने हँसते हुए आँखें नचाकर कहा—"क्यों, मिस्टर अहमद! आप वह अंगूरी लैस लाये?"

"अंगूरी लैस?"

"वाह! भूल गये! आपने उस दिन कहा था न कि मगनोलिया-फूलवाली बेल और अंगूरी या मोरपंखी लैस नज़र करूँगा!"

"वल्लाह! मगनोलिया-फूलवाली बेल? मैं तो इस चमन के रंग और फूल से भी·····"

"उस दिन मिसेज़ दत्त की संदली साड़ी पर जो सुनहले फूलों की बेल थी, उनके जैकेट पर जो लैस था, उसी नमूने पर·····"

"हाँ-हाँ; मैं तो बिलकुल भूल ही गया था। क्या कहूँ, जब हाथ ख़ाली रहता है, तब दिमाग़ भी खाली रहता है!"

"आपका हाथ, और ख़ाली!"

"किससे कहूँ, कोई समझता भी है? मेरी तनख़्वाह तक ज़ब्त है!"

"आपकी तनख़्वाह! आप क्या होटल के कोई मुलाज़िम ठहरे?"

"मेरा मतलब एलावेंस से है। दुनिया तो अन्दरूनी हालत को देखती नहीं। यहाँ तो माल शामलाल का है। लिहाज़ा, उसके हाथ-तले मेरी भी लट दबी है। वह एक चंट—इस दर्जे का संग-दिल है"—मिस्टर अहमद ने तपाक से सर्द आह खींचकर कहा—"कि एक-एक पैसा दाँतों से उठाकर रखता है। आज एक हफ़्ता हुआ, हमारे चन्द मिहरबान दोस्त खा-पी रहे थे। एक मस्ती का आलम था। एकाएक किसी के पैर से लगकर मेज़ लुढ़क गई। शेरी और ह्विस्की के दो लबरेज़ डिकैंटर और चन्द प्याले चकनाचूर हो गये। बदक़िस्मती से मैं भी वहीं था। क्या कहूँ, मैं तो चुप भी रह जाता; मगर वह ज़ालिम सुनता ही नहीं! कहता है—'तमाम बरबाद हुई चीज़ों की क़ीमत गिन दो। तुम दो या तुम्हारे दोस्त दें, वरना एलावेंस ज़ब्त समझो। यह रोज़गार का मुआमला है'!"

"आपके दोस्त कहीं बाहर के थे?"

"जी नहीं। इसी होटल में वे ठहरे हुए हैं।"

"तब आप उनसे तलब क्यों नहीं करते?"

"यह भी कोई बात है! ख़ुदा जाने, किसके पैर से मेज़ लुढ़की!"

"आपके पैर तो कभी उखड़ते नहीं। जानीबाकर भी आपसे बेज़ार

है। उसकी भी एक नहीं चलती। आप ही को तो मैंने शराब पीते देखा। औरों को तो शराब ही पी डालती है!"

"ख़ैर····मगर, मुझे तो दोस्तों से क़ीमत तलब करते बड़ी झेंप आती है।"

"अजी वाह! होटल की मैनेजरी और ऐसी शर्मसारी! घोड़ा घास से यारी करे, तो खाये क्या—अपना सर?"

सब लोग हँस पड़े। कुछ दूर पर वे चन्द मेहरबान दोस्त मेज़ पर बैठे लंच खा रहे थे। मिस्टर अहमद की तनख़्वाहज़ब्ती की इत्तला उनके कानों तक पहुँच गई। मिस्टर अहमद ने एक ही तीर से दो शिकार किये।

लंच शुरू था। वही शोरवा, वही मछली; चपातियाँ और फ़ाउल करी। मछली की प्लेट अभी टेबुल से उठी भी न थी कि अमीन आ टपका।

बिजली ने उसे आँखें नचाकर देखा; उसने बिजली को आँखें बचाकर देखा।

बिजली का एक-एक अंग मुस्कुरा उठा। उसकी ज़ाफ़रानी साड़ी हवा पर उड़ चली। कंधे से आँचल सरक पड़ा; जैकेट का तुषार-रहस्य खुलते-खुलते रह गया। कॉकटेल के रंग में रंग आ गया। मछली की लज़्ज़त में जान पड़ गई! आँखों-आँखों में मिज़ाज-पुरसी हुई; किसी के कानों को ख़बर तक न लगी।

अमीन इतमीनान से बैठ गया, शोरबा के लिए वेटर को इशारा किया, और ख़ुद टोस्ट के काशा कुतरने लगा। इसी बीच अमीन की

ओर निगाह फेंककर मुस्कुराती हुई बिजली बोली—"आप तो ईद के चाँद हो रहे हैं ! ज़माने पर सूरत नज़र आई !"

"क्या करूँ, बनारस-ब्रैञ्च में हूँ। यहाँ तो छठे-छमासे किसी काम से आ गया !"

"कबतक क़याम है ?"—मियाँ ख़ुरशीद ने पूछा।

"यही हफ़्ता—दस दिन !.....आज-कल नवाब साहब कहाँ हैं ?"

"दौरे पर।"

"यह कब से ?"

"क़रीब एक माह हो चला।"

"और आते कब हैं ?"

"पता नहीं।"—मियाँ ख़ुरशीद ने सर झुकाये दाँतों से टील की खाल उधेड़ते हुए कहा।

"ज़माने पर तो आये; दोस्तों के लिए कुछ लाये नहीं ?"—मिस्टर अहमद ने मछली के काँटे को चहू की घाटी से निकालते हुए पूछा।

"क्या कहूँ दोस्त, बीवी की बीमारी से परीशान हूँ।"

"सच ! ख़ैरियत तो है ?"

"हाँ, बुख़ार तो छूट गया है; मगर अभी जोफ़ मौजूद है।"

"इलाज ?"—मियाँ ख़ुरशीद ने टुड्डी की दाढ़ी पर से कलिया के रोग़न को साफ़ करते हुए फ़रमाया।

"डॉक्टरी।"

"माज़ल्लाह ! म्याँ, यूनानी आज़माओ—यूनानी ! जवाहर-मोहरा

खिलाकर देखो, दो दिन में रंग पलट देगा।"

"अच्छा, तो आप ख़ाली हाथ आये!"—मिस्टर अहमद ने काँटे से मछली के काँटे चुनते हुए फिर छेड़ा।

"नहीं, बिलकुल ख़ाली तो नहीं आया! मगर....."

"हाँ-हाँ, फ़रमाइये तो सही।"

"यही फल-वल....."

"आम?"

"जी हाँ। तोतापरी और फ़ज़ली।"

"सुभानल्लाह! तो फिर मँगवाइये। देर काहे की!"

वेटर दौड़कर आम लाये, प्लेटों पर रखकर परस दिये। यारों ने सराह-सराहकर खाना शुरू किया।

"तोतापरी तो शाहपसंद से भी मैदान ले गया!"—मिस्टर अहमद ने चहककर कहा।

"शीरीं तो ज़रूर है; मगर आम तो सफ़ेदा मलीहाबादी से ख़त्म है।"—मियाँ ख़ुरशीद ने भी चुटकुला छोड़ा।

"और लँगड़ा—हाजीपुरी?"—अमीन ने पूछा।

"वाह! सिपिया दशहरी क्यों भूल गये?"—बिजली बोली। "भई, जो हो, तोतापरी अपना सानी नहीं रखता। यों तो बुलबुले-चश्म और शाहबेला भी बेनज़ीर हैं।"

आम के साथ आमों की आलोचना भी ख़त्म हुई।

मियाँ ख़ुरशीद ने रूमाल लेकर रसाल-रस-प्लावित श्मश्रु की क्यारियों

को साफ़ कर दिया। फिर पाकेट से डिब्बा निकालकर गालों में गिलौरियाँ दबाईं। ऊपर से दो डबल चुटकी ज़ाफ़रानी ज़र्दा भी छोड़ा।

अमीन ने गोल्ड-केस से गोल्ड-प्लेक सिगरेट निकाली। मिस्टर अहमद ने भी अपना सिगार जलाया।

"आज जुमे की नमाज़ है। दस मिनट के लिए ग़ैरहाज़िरी की मुआफ़ी·····"—मियाँ ख़ुरशीद ने बिजली की ओर मुड़कर कहा।

"हाँ-हाँ, ख़ुशी से जाइये।"—बिजली बोली।

शायद अभी आप·····"

"नहीं; मुझे तो लञ्च के बाद सो जाने की आदत है। मैं भी कमरे में जाती हूँ।"

"और आप?"—मियाँ ख़ुरशीद अमीन की ओर झुके।

"मुझे तो, साहब, शहर जाना है। बिलकुल फ़ुरसत नहीं।"

"म्याँ! जुमे की नमाज़ भी कोई·····".

"वल्लाह!"—मिस्टर अहमद ने बात काटकर कहा—"आप क्यों सिर हो रहे हैं? ख़ुदा मियाँ उनसे समझ लेंगे!"

मिस्टर अहमद और मियाँ ख़ुरशीद साथ-साथ बाहर निकल गये। बिजली ने अमीन को इशारे से रोक रखा।

जब मिस्टर अहमद और मियाँ ख़ुरशीद आँखों से ओझल हो गये, तब वह फ़ौरन अमीन को लेकर नेवारी की क्यारियों में चली आई।

चारों ओर गुलचाँदनी और कामिनी के झुरमुट हैं। मिहराब पर फूली-फली मालती की बेल। वहीं गुलचीन की छाया में एक बेंच

पर दोनों बैठ गये।

पानी खुल गया है। हरे-हरे पत्तों से बूँद टपक रही है। आसमान पर सावन की घटा ख़ाकी चाँदनी सी तनी है।

"मिस्टर अमीन! आप नहीं जानते, क्यों आपको देखकर मेरी जान में जान आ गई।"

"ज़हे-क़िस्मत!"—अमीन ने भी मुस्कुराकर कहा।

"मैं जान दे देती या जान लेकर कहीं भाग जाती। क़ैद में पड़ी हूँ और काँटों पर लोट रही हूँ।"—बिजली ने ज़रा भर्राई हुई आवाज़ में कहा।

अमीन ने चमत्कृत नेत्रों से बिजली को देखा; पर उसके गुलाबी चेहरे के गुलज़ार से—ज़ाफ़रानी साड़ी की बहार से—किसी तड़प का अन्दाज़ न मिला।

"आख़िर बात क्या है? मैं तो उसी डिनरवाली रात से ग़ायब हूँ। डिनर के बाद ही घर का ज़रूरी तार मिला। मिस्टर सलीम भी उसी गाड़ी से गये। मगर, न जाने क्यों, मुझसे वे कुछ खिंचे-से रहे। कुछ बात न हुई।"

"सलीम का ज़िक्र फ़िज़ूल है। उसे तो, ज़माना हुआ, मैंने दिल से उतार दिया। जो बात—बुरी या भली—हो चुकी, हो चुकी। उसके लिए मैं सर नहीं धुनती। मैं मुड़कर पीछे कभी नहीं देखती; हमेशा आगे देखती हूँ। मगर, जिस आज़ादी के लिए मैंने घर छोड़ा—सलीम को सलाम किया, उसी आज़ादी के आज मुझे लाले पड़े हैं।"

"मैं समझता नहीं !"

"आपसे तो कुछ परदा नहीं है। सच कहती हूँ, नवाब साहब का क्या ज़िक्र—ख़ुदा मियाँ की ताबेदारी भी मुझसे मुमकिन नहीं। उस डिनरवाली रात के तीसरे हफ्ते में एक दिन नवाब साहब को घर से एकाएक तार मिला; कहीं इलाक़े पर रिआयों का दंगा—या ख़ुदा जाने, क्या—हो गया था। बस, हाली-मोहाली लिये वे मोटर से चल दिये। मुझसे कहते गये—दस दिनों में वापस आ जाऊँगा। आज महीना गुज़र चला। तो अब वे वापस आयें या न आयें, मेरे लिए दोनों बराबर है। एक बात थी, सो हो गई। मुझे कंधे पर सर रख कर देखने की आदत नहीं। अगर वे कलियों के मदमाते भौंरे हैं, तो मैं फूलों की रस-पीती तितली हूँ। ख़ैर, अब झींककर क्या होगा? उनके सिर की कलँगी उन्हें मुबारक रहे। बिजली किसी नवाबी ताज की मुहताज नहीं। समझते होंगे; बिजली भी कोई पालतू कुतिया है जो उनकी टेबुल के टुकड़े पर दुम हिलाती फिरेगी; और जब जी चाहा उसे झाड़-पोंछ, बना-बुनू, मोटर पर बग़ल में बिठाये, हवाख़ोरी को ले गये; फिर गले में सोने की क़ीमती जंजीर देकर खूँटे पर बाँध रखा। मैं गले में फाँसी डाल लूँगी; मगर गरदन में यह फाँस नहीं रख सकती।"

मुग्ध और अभिभूत अमीन बिजली की एक-एक चेष्टा पर कौंधती हुई बिजली को देख रहा है। बिजली का तमतमाया हुआ चेहरा उसकी आँखों में नूर का टुकड़ा हो रहा है।

"आप जानते नहीं"—बिजली ने फिर कहना शुरू किया—"नवाब

साहब तो चले गये; मगर, इन दो ताजी कुत्तों को मेरी निगरानी के लिए तैनात करते गये।"

"दो ताजी कुत्ते !"—अमीन अकचकाकर बोला।

"जी हाँ, ख़ुरशीद और अहमद ! दोनों छँटे हैं; नम्बरी लफ़न्दर। 'एक एक का जवाब है; दोनों हैं लाजवाब !' ये दोनों शैतान के बच्चे आठों पहर मेरे पीछे जासूसी कुत्तों की तरह सूँघते चलते हैं। ख़ुरशीद तो बग़लवाले कमरे में रहता है और रात-भर कुत्ते की नींद सोता है। अहमद की एक आँख मेरे ऊपर बराबर तनी रहती है। आज जुमे की नमाज़ न होती, तो आपसे बातों का मौक़ा तक न मिलता ! मैं न किसीसे बोल सकती हूँ, न किसी से दिल खोल सकती हूँ। मुझे खाने-पीने, कपड़े-लत्ते की कोई तकलीफ़ नहीं। जो ज़रूरत होती है, एक हद तक रफ़ा हो जाती है। यों तो, मैं चैन से हूँ; मगर मैं इस चैन की चैन से—अमीरी की आसीरी से—इस आसाइश की चपकलिश से—ऊब गई हूँ। जंजीर जंजीर ही है, लोहे की हो या सोने की। आज़ादी के सामने मुझे बहिश्त की न्यामतें भी मंज़ूर नहीं। मुझे दुनिया में मैदान लेना है। मैं आँचल पसारकर भीख नहीं लूँगी। जो लेना होगा, तह तोड़कर लूँगी। लिल्लाह मुझे इस सैयाद के पंजे से छुड़ाइये, नहीं तो मेरे अरमानों की रंगीन दुनिया और दुनिया के तमाम अरमान कलेजे के लहू में डूबकर तबाह हो जायँगे। आप जानते हैं—मैंने जब सलीम के दिल को तसलीम नहीं किया, तो फिर एक नवाब के पलँग की ताबेदारी करूँगी ! मुझे काफ़ी ठोकर लग चुकी, अब ऐसी भूल

दम रहते कभी मुमकिन नहीं। दूध का जला मट्ठा फूँक-फूँककर पीता है।"

अमीन विलायती आबोहवा में फूटकर खिला है। लिहाज़ा बात-की-बात में उसपर बिजली का जादू सवार हो गया। उसने हिन्दुस्तान की औरतों में ईमान पाया था, हुस्न भी देखा था; पर ऐसी आबोताब—यह विलायती हाव-भाव—देखने का उसका पहला मौक़ा है। वह इस देश की स्त्रियों को अपनी परदानशीं बीवी के नमूने पर मिट्टी की मूरत समझ बैठा था; पर आज उसने बिजली का एक पलीता देखा—वही पलीता, वही सलील सजीवता, वही सतेज विलासिता, जिसे—विलायती मिसों की मोहिनी माया में पड़कर—उसने नारीत्व का आदर्श समझ रखा था। उसकी निगाह में सतीत्व से कहीं ज़्यादा क़ीमत व्यक्तित्व की है और सतीत्व तो व्यक्तित्व की समाधि है।

आज कितने नवयुवक इसी चकमे में आकर ठोस के बदले चटक को पसन्द करने लगे हैं। बू हो या न हो, फूल ख़ुशरंग ज़रूर हो। जिसे आँखों ने मान लिया, उसे दिल ने लगा लिया। पश्चिम से जिस रुचि की लपट आती है, वही पूरब में दुन्द बाँधकर फैल जाती है। आज इन्द्रिय-परायणता स्वच्छंदता के नाम से मशहूर है। यूरप ने इस अराजकता को स्वराज्य पुकारकर आदमीयत के मैदान को घेर लिया। यही वजह है कि आज दुनिया में गुड़ के बदले चीनी, सादगी के बदले शोख़ी, पायदारी के बदले आतिशबाज़ी आसानी से खप जाती है, और इसीलिए घर की देवी से मजलिस की परी दुलमुल दिलों पर करारी पड़ती है।

हम अगर स्त्रियों के स्वातंत्र्य के समर्थक हैं, तो साथ-साथ यह आशङ्का बनी है कि स्वतंत्रता की सहचरी स्वेच्छाचारिता भी न घर कर ले। फिर तो हमारी संस्कृति—हमारे घरों की शान्ति—कहाँ रहेगी? अगर हम उनको परदे में डाल रखते हैं, तो फिर हम आचार का दम भरते-भरते सीधे अत्याचार पर चले जाते हैं। इस निरन्तर अवरोध से उनके व्यक्तित्व का नाश ही नहीं—सर्वस्व का सत्यानाश है। अगर रास ढीली होती है, तो ठोकर का डर है; खिंचकर कड़ी होती है, तो कुल्हा उखड़ जाने का ख़ौफ़ है। दोनों हालत में हमारी मर्यादा की गाड़ी गढ़े में जाती है। यहाँ इस अन्दाज़ से रास रखनी है कि न ढीली हो, न कड़ी।

पर, अब तो एकबारगी यह सवाल उठ पड़ा है कि बागडोर की ज़रूरत ही नहीं; और अगर है भी, तो यह सारथ्य मर्दों के हाथ में क्यों रहेगा? क्या स्त्रियाँ इस बागडोर को ख़ुद नहीं थाम सकतीं? ज़रूर थाम सकती हैं—बशर्ते कि समुद्र-पार के झोंके आकर उनकी उँगलियों में लरज़िश न पैदा कर दें।

ज़माना पलट रहा है। अब पश्चिम को हमारी आँखों में उँगलियाँ देने की ज़रूरत न रही। ख़रबूज़े ने ख़रबूज़े को देखकर ख़ुद रंग बदल दिया। भारत की स्त्रियाँ अब अँखफोर हो चलीं। वे समझ गईं कि पुरुष अगर उनको जीवन की सङ्गिनी और माथे की मरकत-मणि बनाकर नहीं रख सकते, तो अब वे बाँदी या बन्दिनी बनाकर हरगिज़ नहीं निभ सकते। पुरातन की बेड़ियों में जंग लग गया है—वे अब टूटा ही चाहती हैं।

यह ठीक है कि युगधर्म कभी सनातन धर्म नहीं हो सकता। अब सतीत्व का युग नहीं रहा, व्यक्तित्व का युग आया। त्याग के बदले भोग का दौरदौरा है। स्त्रियाँ अब चिता पर सवार नहीं होतीं; बल्कि—ब-क़ौल बिजली—छाती पर सवार होंगी! जो हो, आज उनके चरणों पर घूँघरू और नूपुर, मेंहदी और महावर के बदले मोज़े और जूते की आन-बान रहे, तो चन्दा कोई हर्ज नहीं—यद्यपि मोरक्को-जूते की नोक के स्पर्श से किसी अशोक-यष्टि के पुलकित होने की सम्भावना जाती रही। मगर कहीं उनकी कमर में किलोलिनी मेखला के बदले किरच-परतले की पेटी होगी, तब तो पुरुषों को कमर पकड़कर बैठ जाने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं।

एक बात और है। महिलाओं को अगर आज़ादी के वेश में ख़ुदसरी की तलाश है, तब तो मामला बेढब होगा। जबतक क़ुदरत की परिपाटी पलटती नहीं, तबतक तो यह कैवल्य की प्राप्ति कभी मुमकिन नहीं। वास्तविकता के निर्मम ठोस पत्थर पर सर पीटने से वही गति होगी, जो शायद आज यहाँ के पुरुषों को नसीब है। प्रगतिशील युग के अनुकूल चलने का मतलब प्रकृति के प्रतिकूल चलना नहीं हो सकता। ये परदातोड़ महिलाएँ परम्परा की गर्दन भले ही मरोड़ डालें; पर जो परम्परा के परे है, उसका पर बाँध देना हमारे और उनके—दोनों के—सामर्थ्य के परे है। वे सीने पर सवार होकर हमारी छाती से कलेजा भले ही निकाल लें, पर लाख सर पीटकर भी वे हमारी छाती से दूध न निकाल सकेंगी।

पर, शायद यहाँ भूल हो रही है। उनकी शक्ति के परे तो इस विश्व में कोई सत्ता नहीं। वे तो अबला नहीं, सबला हैं। कहीं शक्ति भी अबला हुई है? नारी प्रकृति है, और प्रकृति ही विश्व की शक्ति है। वह न हो, तो ब्रह्म भी आँख रहते अंधा, कान रहते बहरा, चैतन्य रहते जड़ और आनन्द-घन रहते भी निरानन्द है। ब्रह्म भी अगर उसका दम नहीं भरता, तो आज कहाँ का रहता!

रावण के विजेता राम को जब सहस्रबाहु से मैदान लेना पड़ा, और उस पाताल-युद्ध में इक्ष्वाकु-वंश की मर्यादा तिलमिला उठी, तब उन्हें आप मालूम हो गया कि उनकी भुजाओं की ख्याति कहाँ तक सच्ची है और अशोक-वाटिका की बन्दिनी अबला में किस पौरुष की सत्ता है। शायद सीता न होतीं, तो रघुकुल की नाक कट ही चुकी थी।

शङ्कर को भी एक दिन शैल-सुता की प्रलयिनी शक्ति के सामने पैरों-तले ज़मीन नापनी पड़ी है।

अब, देखना है आज की नई रोशनी की रफ़्तार किस रंग पर आती है, किस दिशा में मुड़ती है। अगर हमारी प्रगतिशील महिलाएँ मकान के आसपास मैदान न लेकर मैदान में कमान लेना चाहती हैं, तो फिर स्नेहमयी जगज्जननी की इस महाकाली मूर्त्ति को हमारा करबद्ध कोटि-कोटि प्रणाम है!

त्रयोदश परिच्छेद

बिजली की चितवन ने अमीन को जाने क्या पिला दिया कि वह एकबारगी चूरचूर हो गया। कौन कहे, उन दो चंचल पुतलियों के स्पन्दन में क्या इशारा है कि ज़माने का एक ऐसा प्रवीण पारखी भी यों उखड़कर हथेली पर अपना सर्वस्व रख देने को तैयार है ।

शायद डूबती उतराती बिजली का आज अकेला वही सहारा है, बिजली के हृदय में उसके लिए प्रगाढ़ विश्वास है—यही आन की अनी उसकी छाती में धस गई। यह कुछ कर दिखाने का हाथ में आया हुआ मौक़ा क्या फिर आने को है! और कर दिखाने ही का क्यों, बिजली को अपनाने का भी तो यह सुन्दर सुयोग है! बिजली की आँखों पर आँख रखकर भर्राई हुई आवाज़ में वह बोला—"बिजली!"

तीर निशाने पर बैठ गया। बिजली मुस्कुराई—"अमीन!"

"तुम्हारे लिए जान हाज़िर है, जानेमन! मैं तुम्हें शैतान के पञ्जे से नजात दूँगा।"

"मैं जानती हूँ, तुम्हारी छाती में वह हिम्मत है, तुम्हारी आँखों में वह मुरव्वत है, और·····"

"और क्या, बिजली?"

"और तुम्हारे बाज़ू में वह क़ूवत है।"

"मगर तुम जाओगी कहाँ?"

"कहीं भी। मुझे बनारस ही भेज दो। तुम्हारे साये में···" सहसा अमीन गहरे विचारों में डूब गया—

"नवाब साहब सुनेंगे, तो तमककर म्यान से तलवार खींच लेंगे··· मगर मुमकिन है, वह जोश मिट चुका हो। नवाबों का प्यार तो दूध का उबाल ठहरा; उठा और गिरा—घड़ी में माशा, घड़ी में तोला! मगर···मगर नवाब साहब से साल में हज़ारों का मुनाफा है। जाने कब से सरोकार है।

"वालिद को ख़बर होगी, तो फ़ौरन बनारस-ब्रैंच से दिल्ली बदल देंगे। बिजली तो अपनी बिजली हो नहीं सकती। बीवी मौजूद है।·····और यह आन-बान की बिजली किसी की ताबेदारी कभी क़ुबूल नहीं करेगी। यही तो इसकी ख़ास ख़ूबी है।···जो हो, बनारस तो रहेगी! यही क्या कम है? परवाना बन कर मँड़राने का तो मौक़ा रहेगा! सरे-बाम पर रसाई तो होगी!

"मगर, बिजली, तुम्हारा बनारस चलना मेरे लिए मौत का सामना है।"

"वह क्यों?"

"चूँकि मुझे परवाने की मौत नज़र आती है। और इसी मौत में तो इस ज़िन्दगी का मज़ा है। यह मेरी मुहब्बत की कशिश है जो तुम खिंचकर बनारस जा रही हो!"

"अमीन, सच कहती हूँ, मुझे अफ़सोस है कि तुम मेरी ज़िन्दगी में पहले नहीं आये, वरना आज इसकी रवानी कुछ और ही होती!"

"पहले न आया—न सही, अभी क्या बिगड़ा है? तुम तो मेरी निगाह में बहार की नई कोयल—फ़िज़ाँ की नई बुलबुल—ही रहोगी!"

"बिलकुल दुरुस्त! मगर, अमीन,''तुम आज़ाद नहीं और मैं अपनी आज़ादी की क़ुरबानी पर तैयार नहीं!"

"तो क्या तुम मेरी आँखों की पुतली होकर नहीं रहोगी?"

"आँखों की या हाथों की?"

"दोनों की!"—अमीन ने मुस्कुराकर कहा।

बिजली हँसी।

पुरुष जब स्त्री को प्यार करता है, तब उस पर सोलहों आने क़ब्ज़े की क़िलाबन्दी करता है। वह अपनी नज़रों के साये में उसे नज़रबन्द करके रखना चाहता है।

मगर बिजली इस नज़रबन्दी का मज़ा काफी चख चुकी है। एक नवाब के शिकंजों से निकलकर वह एक गुहरफ़रोश के हाथों की पुतली

होगी ! उसकी मुस्कान से तो ख़ुद मोती झड़ते हैं ! फिर एक मोती बेचनेवाले की तावेदारी कैसी ! कहाँ एक की फ़रमा-बरदारी—वह हज़ार में एक क्यों न हो, और कहाँ सैकड़ों झुकी गरदनों को सलामी ! कभी दोनों एक हो सकती हैं ! ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ ! वह तो उसके रुख़े-रौशन पर परवाना बनकर मँड़राता ही रहेगा ! उसकी चितवन की कोर में सैकड़ों अमीन को नचाये रखने का जादू मौजूद है।

मगर बिजली साफ़ जवाब देने से हिचकती रही—चूँकि इस वक़्त अमीन के सर पर पैर रखकर उसे क़ैद की खिड़की पर से बाहर कूदना है।

"तो फिर वहाँ तुम्हारा गुज़र·····"—अमीन ने फिर रुकते हुए पूछा।

"तुम ज़रा-सी फ़िक्र न करो। मैं जहाँ रहूँगी, गा-बजाकर भी पेट पाल लूँगी। तुम्हें यक़ीन दिलाती हूँ, मेरी शान-शौकत में कमी कभी न होगी।"

"मगर, बिजली ! बाज़ार की ख़ाक छानना·····"

"अमीन !"—बिजली ने बात काटकर कहा—"तावेदारी के बहिश्त से आज़ादी का जहन्नुम भी कहीं बेहतर है। मैं उसी बाज़ार की ख़ाक पर बहार के बेल-बूटे न उगा दूँ, तो नाम बिजली नहीं !"

"सो तो मैं मान गया कि तुम जहाँ रहोगी, वहीं बहार—वहीं गुलज़ार होगा। मगर फिर भी·····"

"कहो-कहो, रुके क्यों ?"

"तुम आज़ादी नहीं चाहती, ख़ुदसरी चाहती हो।"

"मेरी निगाह में दोनों एक ही है। ख़ैर, यह ख़याली पुलाव अभी रखो। पहले मुझे यहाँ से निकालने का तो छंद-बंद करो। और, तारीफ़ यह कि किसी को कानों-कान ख़बर तक न हो, और कारवाँ गंगा के किनारे बात-की-बात में उतर पड़े। बनारस तक तो मोटर की सड़क होगी ही?"

"क्यों नहीं! मगर ठहरो, मैं इस चिड़ीतन के बादशाह को चलता करूँ। फिर तो रास्ता आप ही साफ़ हो जायगा।"

"किसको?"

"अजी, मियाँ ख़ुरशीद को!"

"शाबाश! मगर, कब तक?"—बिजली बाग़बाग़ हो गई!

"यही, दो-चार दिन में। फिर तुम्हें निकाल देना बाएँ हाथ का खेल है।"

"हो तुम एक ही होशियार! मगर देखो, तुम पर कोई आँच न आये।"

"आने दो! मुझे परवा नहीं। हाँ, मैं तुम्हारे साथ नहीं चलता। यह बिछुखोपड़ा अहमद फ़ौरन् ताड़ जायगा। बस, हम-तुम आज से अलग ही रहें, ताकि किसी के कान न खड़े हों। यहाँ कान भरनेवालों की कमी नहीं। मैं बनारस तार देकर तुम्हारे ठहरने के लिए एक मकान ठीक कराये देता हूँ। पहले तुम वहीं ठहरना। फिर जहाँ जी चाहे....."

"मगर, यहाँ से जाने का इन्तज़ाम?"

"तुम बे-फ़िक्र रहो। तुम्हें वक़्त पर इत्तला हो जायगी।"

"तो कहते क्यों नहीं? मंतर की फूँक पर उड़ा दोगे?"—बिजली ने, मालती-लता का एक गुच्छा तोड़ते हुए, ज़रा बेचैनी से पूछा।

"तमाशा तो देखो! तुम्हारे पैर में पर लग जायँगे!"—अमीन ने हँसकर कहा।

"आहा! डियर-डार्लिङ्ग अमीन!"

बिजली ने जामे से बाहर होकर अमीन के गले में हाथ डाल दिया और उस फूल की डली को अमीन के कोट के बटन-होल में अँटका दिया। इस क्षणिक स्पर्श से अमीन की नस-नस में जैसे माद-कता की बिजली दौड़ गई। मालती-कुञ्ज की इस ख़िलवत ने उसकी—हाइड-पार्क के झुरमुटों की रहस्य-लीला की—मधुर स्मृतियों को झकझोर कर जगा दिया।

"बिजली, तुमने इस कलूटे कोट को ज़ीनत बख्शी; मगर इस अभागे होंठ को···"—अमीन ने मिन्नत-भरी निगाह से होंठ दिखा-कर कहा।

"वे तो आप ही गुलफुल हैं—खिल रहे हैं!"

"रस तो पड़ा नहीं, खिलेंगे क्या ख़ाक? जबतक तुम्हारे होंठ सींचते नहीं, तबतक·····"

"नहीं-नहीं"—बिजली ने मीठी भवें तानकर सरस 'नहीं' का सर हिला दिया।

अमीन हँसकर बोला—

"कोई मुँह चूम लेगा इस 'नहीं' पर !
शिकन रह जायगी यों ही जबीं पर !"

बिजली उठी और अमीन के होठों पर एक सलील सुकुमार चुम्बन देती हुई चटपट कुञ्ज के बाहर निकल गई। अमीन ने हाथ पसारकर उसे भुजान्तराल में बाँधना चाहा; पर बिजली भी कहीं अंक में भरी जा सकती है ! वह मायाविनी थिरकती हुई होटल के बरामदे पर चढ़ गई, और वहीं से उँगलियाँ हिला कर बिदा लेती हुई आँखों से ओझल हो गई।

अमीन के होठों पर वह क्षणिक पुलक-स्पर्श उसे तोप के मुँह पर दौड़ा देने के लिए काफ़ी था।

वह रसावेश की मौज में झूम-झूम गया। गागर में सागर भरकर छलक उठा।

बिजली जब कमरे में आई, तो देखा कि बीचवाली मेज़ पर फल-फूल की डालियाँ रखी हैं। तश्तों में ताज़े फल भरे पड़े हैं। ऊपर से ज़री का तश्तपोश पड़ा है। निगाह सामने के कार्ड पर पड़ी, तो उसने उठाकर देखा। लिखा है—

With love,

—Amin

उसने समझा, जब वह लंच पर थी—अमीन ने यह डाली उसके कमरे में भिजवा दी होगी; ख़ानसामे ने यहाँ लाकर क़रीने से सज दिया।

मर्तबान और काबुली केले, जाफ़ा और माल्टा के संतरे, अंगूर

और ख़ुबानी, सेब और नासपाती—सब कुछ मौजूद हैं। तरह-तरह के नीबू—गलगल और सिलहटी, काग़ज़ी और मोसम्मी। आम ही—अंगबीन और तोतापरी, शाहबेला और फ़ज़ली। चाकलेट और टॉफ़ी भी है।

रंगीन काग़ज़ का एक चौखूटा बक्स भी है। बिजली ने ढक्कन उठाकर जो देखा, तो आँखें खिल गईं। कोमल क्रेप की किसमिसी साड़ी, किनारे पर कचनार के फूलों-जैसी कासनी बेल, तह में कमरख़ी कमख़ाब का ब्लाउज़-पीस—उसमें भीनी-भीनी जैस्मिन की ख़ुशबू।

भगवान् जब देता है, तब यों छप्पर फाड़कर देता है!

चतुर्दश परिच्छेद

दिन के तीन बजे होंगे। आसमानी मैदान में स्याह-रू बादलों की धुड़दौड़ शुरू है। पुरवैया के झोंके खिड़की के शीशे पर हरहरा रहे हैं।

बिजली अँगड़ाइयाँ लेती हुई पलँग से उठी; टम्बलर में संतरों का रस निचोड़ा, और पी गई। फिर उठकर खिड़की के पास आई। शीशा खोलकर बाहर चौक की चहल-पहल देखने लगी। देखते-देखते तसवीर बन गई। अविराम जन-स्रोत! ताँता बँधा है।

खिड़की की चौखट पर लाल-लाल हथेलियों के बल सर टेककर न जाने वह कबतक बुत बनी रही। फूलों की लड़ी उसकी शिथिल कबरी से गिरकर उसकी छाती पर आ पड़ी है, मगर वह बेख़बर खड़ी की खड़ी जन-समूह की लहराती हुई बाढ़ की एक-एक तरंग को एक टक हेर रही है।

दो युवक सावन की कजली गाते झूमते चले आ रहे हैं। दूर ही से बिजली को देखकर ठिठक पड़े, चितवनों की तीरन्दाज़ी की, फिर ऊँची टीप से तान लेकर आगे बढ़ गये।

थोड़ी देर बाद बिजली के कानों में फिर कजली की वैसी ही ऐंठती हुई आवाज़ पड़ी। उसने जो गरदन उस ओर की, तो देखा, वे ही दोनों लौटे आ रहे हैं—मस्ती में डूबे हुए। एक सर डुला-डुलाकर ताल दे रहा है, दूसरा सीना ताने और बायें कान पर हाथ दिये गा रहा है—

"झरोखे गाल पर हथेली दिये कौन है खड़ी!
भूली माला की गुँथन फूल-गोद में गिरी!"

बिजली कुछ शरमाई, कुछ मुस्कुराई, और झट खिड़की का पर्दा खींचकर गिरा दिया!

सहसा दरवाज़े पर हल्का-सा खटका हुआ। बिजली ने मुड़कर देखा, मियाँ खुरशीद तोबड़ा-सा मुँह लटकाये खड़े हैं!

इधर बिजली बड़े तपाक से सेक्रेटरी साहब का स्वागत करती—उनके आगे दीठ बिछा देती। जिस दिन से अमीन से खुलकर बातें हुईं, उसी दिन से उसने भाव पलट डाला। मगर, इस नये अन्दाज़ को वह इस अन्दाज़ से अदा करती कि मियाँ खुरशीद उसे नुमायशी समझकर कहीं कान न खड़े करें।

पहले तो वह उनकी सूरत देखकर नाक-भौं चढ़ा लेती थी; लेकिन अब उस कमान के चढ़ाव को उसने धीरे-धीरे उतार डाला। वह अब उनसे भर-मुँह बातें करती, हँसती, सटकर बैठ जाती।

कभी-कभी तो लापरवाही की एक अदा से कंधे पर हाथ रख उनके चेहरे की रंगत के उतार-चढ़ाव को कुतूहली कनखियों से देखती भी।

अक्सर तीसरे पहर या शाम को वह अल्लाह-रसूल की तारीफ़ में उन्हें ग़ज़लें सुनाती। आँखों में आँसू भरकर बड़ी दर्द-भरी ज़बान से अनीस और दबीर के मरसिये पढ़तो, उर्दू के शाहनामे से रुस्तम और असफ़न्दियार के पुरजोश क़िस्से बयान करती। और, जब कभी उनको ख़ुशरंग पाती, तब हाफ़िज़ की—शहद की स्याही में लिखी हुई—ग़ज़ल 'ताजा ब ताजा, नौ ब नौ' हारमोनियम पर इस मीठे स्वर से गाती कि वे मोम होकर फ़र्श पर लुढ़क पड़ते; और फिर दाढ़ी पर हाथ फेरते आँखें उठाकर फ़रमाते—"बिजली! जब तुम गा ही रही हो, तो लिल्लाह! उसे भी सुना दो—वही—"बुलबुल ज़ तो आमोखतः शीरीं सख़ुनी रा सखुनी रा!"

बिजली उन आँखों में रस का आभास देखकर मुस्कुराती हुई कहती—"ज़रूर, चचाजान! एक नहीं, दो सुनिये!"

बिजली ने इसी बीच उनको चचा बना लिया, और वे भी अब बड़े प्यार से बिजली का नाम लेकर ही उसे पुकारते!

बिजली ने देखा, उनका चेहरा आज उतरा हुआ है, और वे किवाड़ के पास किसी सोच में चुप खड़े हैं। वह उनके सामने सोफ़ा सरकाती हुई बोली—"आइये, भीतर आइये। मैं तो आप ही की बाट जोह रही थी।"—उसने ज़री-किनारे की चिनियापोत साड़ी के आँचल से सीट को झाड़ डाला और उन्हें बैठने के लिए इशारा किया।

"क्या बताऊँ, बिजली ! मैं तो चला ! यह तार देखो ! नवाब साहब के सेक्रेटरी मिस्टर नूर ने शिकोहाबाद से भेजा है।"

बिजली समझ गई; इस तार की बुनियाद कहाँ थी·····ओहो ! अमीन तो दूर की कौड़ी लाया है !··उसने तार देखा, और होंठों पर उँगली से थपकियाँ देकर अपनी पशोपेशी और बेचैनी ज़ाहिर की। बोली—"बड़ा ग़ज़ब हुआ ! कब जाते हैं आप ?"

"बस, इसी शाम की ट्रेन से।"

"कौन ऐसी सख्त ज़रूरत आ पड़ी !"

"यह तो कुछ लिखा नहीं है·····कोई बात ज़रूर होगी।"

"वापस कब आते हैं ? मैं·····यहाँ·····अकेली···"—बिजली ने रुँधे गले से कहा !

"ख़ुदा पर—तुम्हारे ईमान पर—समझता हूँ, मैं परसों लौट आऊँगा। मगर, मेरा आना या न आना तो नवाब साहब के हाथ है ! जैसी मर्ज़ी—हाँ ! देखो, कहीं इधर-उधर न बहक जाना।"

"आपकी भी क्या बातें हैं ? मैं कहाँ जाऊँगी ?"—बिजली ने ज़रा आहत स्वर में कहा—"कल दर्ज़ी के यहाँ से उस सरदई साड़ी पर बेल टँककर आ जायगी, तो फिर·····"

"मैं आकर बिल चुका दूँगा, इतमीनान रखो। बस, यही इल्तजा है, कहीं सैर-सपाटे में न निकल जाना। मेरी सुफ़ेद दाढ़ी की आबरू तुम्हारे हाथ है। कहीं कुछ हो गया, तो नवाब साहब एक-एक बाल चुनवा लेंगे।"

यहाँ तो बिजली उलटे उस्तरे से मूँड़ने को तैयार थी! पसलियों से उपटती हुई हँसी को कंठ तक आते-आते वह पी गई।

वाह री नारी! तुम्हारी माया की उत्ताल तरंगों पर पुरुष की बुद्धि की तरी कहाँ तक तैर सकती है!

"मैं इस आराम को छोड़कर कहाँ मँड़राती फिरूँगी—मुझे क्या पर जमे हैं!"

"हाँ, बिजली, एक बात मानोगी?"—मियाँ ख़ुरशीद ने ग़ैर-मामूल ज़मीन से आँखें उठाकर बिजली पर रखीं।

"एक नहीं, सौ, और वह भी ख़ुशी से....."

"ख़ुदा जाने, तुम्हारे गले की सुरीली तान अब इस ज़िन्दगी में सुनने को कब मिले, एक बार उसी ग़ज़ल को सुना दो।"

"कौन—ख़ुदा-रसूलवाली?"

"नहीं-नहीं; अजी वह, जिसे कल शाम को तुमने गाया था।"

बिजली मुस्कुराई और हारमोनियम लेकर फ़र्श पर बैठ गई। उसने बाजा छेड़ा और मुलायम स्वर में गाना शुरू किया—

"चश्मे जानाँ और है, चश्मे ग़ज़ालाँ और है;
तर्ज़े इन्साँ और है, तरकीबे हैवाँ और है!
...चश्मे जानाँ..."

"सच है—'माहेताबाँ और है, रुख़सारे जानाँ और है!"—मियाँ ख़ुरशीद आँखें बन्द किये गुनगुनाने लगे।

"वह ख़ुदा रसूल की तारीफ़वाली ग़ज़ल भी सुना दूँ?"

"नहीं-नहीं, ट्रेन का टाइम हो चला !"

शायद मियाँ ख़ुरशीद ने समझा कि इस रसाल-नन्दन के वायु-मंडल में शुष्क पतझड़ का झोंका क्यों आने पाये ! जिस मजलिस की शुरुआत ख़ुदा-रसूल के यश-कीर्त्तन से हुई थी, वह रुख़सारे-जानाँ की ज़यारत पर आकर ख़त्म हुई !

"तो एक छोटी बहर की चीज़ सुनिये।"

मियाँ ख़ुरशीद जेब से घड़ी निकालकर टाइम देखते उठ ही रहे थे कि बिजली ने झूमकर फिर छेड़ा—

"रक़्से-बिस्मिल पर क़ज़ा लोट गई,
तेग़-क़ातिल पर अदा लोट गई !
हँस पड़े आप तो बिजली तड़पी,
बाल खोले तो घटा लोट गई !"

इधर मियाँ ख़ुरशीद भी लोट गये। उनकी उँगलियाँ—न जाने किस आवेश से चंचल—सोफ़े की पीठ पर भड़क-तिल्ला छेड़ने लगीं ! उनकी गोल-गोल आँखें भंटे की तरह फूल उठीं। जो आँखें कभी बिजली के जूते के फुँदने से ऊपर नहीं उठती, वे उसके चेहरे की चाशनी में मधुमक्खियों की तरह लटपटा पड़ीं।

बिजली मुस्कुराती जाती और उनकी आँखों पर आँख रख कर गाती जाती। गाना थम भी गया, तो उनका नशा न टूटा। कंधे के शाल-रूमाल पर बकरे की-सी दाढ़ी ताथेई नाच उठी। वे गुनगुनाते ही रह गये—

"पाये-रंगीं पर हिना लोट गई

·····पाये-रंगीं·····"

तबतक बाहरी बरामदे से ख़ानसामे की आवाज़ आई—"हुज़ूर, मोटर तैयार है।"

"चलो, आता हूँ।"

मियाँ खुरशेद ठुमुककर किवाड़ के पास जा पड़े। एकाएक ठिठक गए, मुड़कर बोले—

"बिजली, जाने को तो मैं जाता हूँ। मगर·····"

बिजली एक चौतालिया। गला कँपाती हुई कूक कर बोली—

"अजी वाह! क्या जाना है! जाइए तो मेरे दिल से!

ये माना, निगाहों से छिप जाइयेगा,

ख़यालों से बचकर किधर जाइयेगा।"

"सच, बिजली! तुम दिल से·····"

कि मोटर का हॉर्न कानों पर फट पड़ा और पेट की मार के डर के आगे दिल की मार को दिल ही में समेट कर वह खिंचते-खिंचाते सीढ़ियों तक जा पड़े और 'ख़ुदा-हाफ़िज़' कहते चलते हुए।

उनका जाना था कि बिजली खिलखिलाकर हँसी और उछलकर सोफ़े पर लोट गई। वह खिल उठी कि जब वह इस खूसट ख़ब्बीस के सूखे अंगों में भी रस का संचार उठा सकती है, तब वह चुटकी बजाकर पत्थर पर भी दूब उगा देगी—और, मुस्कान से मोती कौन पूछे, हीरे-जवाहर भी बिखेर सकेगी।

उसके रंग-रूप में कुछ ऐसी शोख़ दिलकश माधुरी—कुछ ऐसी कमाल की बारीकी है, जो राह-चलतों की आँखों में भी रूह फूँक देती है। अगर इसी बारीकी की नोक को वह मुस्कान का सान देकर तेज़ कर ले, तो कुलिश के कलेजे को भी आसानी से चीर डालेगी। इसी हथियार को लेकर तो विश्व के मैदान में उसे दिग्विजय करना है।

एक ज़रा-सी मुस्कुराती चितवन किस आसानी से पुरुष की बुद्धि को लख़लख़ा सुँघा कर मुट्ठी में थाम लेती है, यह तमाशा तो कोई बिजली की बिजली गिराती नज़रों में देखता!

बूँदें फिर टपटपाने लगीं। कभी रिमझिम, कभी झमझम। साँझ होते-होते उसे फूलों के तोहफ़े के साथ एक कार्ड मिला, जिसके पुश्त पर लिखा था—"आज बरसात की रात आज़ादी की रात है!"

बिजली ताड़ गई। आज बेड़ियाँ खुल रही हैं। वह वर्षा की झम-झम उसके कानों में एक अश्रुतपूर्व संगीत की लहरी बन गई।

जो गीति-वन्या आज विश्व के ज़र्रे-ज़र्रे पर प्रवाहित थी—जो सुर-समुद्र आज आकाश से पृथ्वी तक उमड़ रहा था, उसी विश्व-रागिनी की मूर्च्छना आज बिजली की हृत्तंत्री पर बज उठी।

इस निखिल के मर्मस्थल में जो आनन्द-हिल्लोल निरन्तर प्लावित है—और जिसकी सूक्ष्म सुरीली अशरीरी वाणी वासन्ती संध्या की नीरवता में, सावनी जल-धारा की सजीवता में, शरत् की चाँदनी के उजेले में, गो-धूलि की रंगीन मेघ-माला में, फूल फूल के पुलक में, तारों की निर्निमेष झिलमिल में, निर्झरिणी के अजस्र निर्झर में, रसाल-पल्लव के निशीथ-

मर्मर में, गंगा के हिलोरों में, मलय-मारुत के झकोरों में, कभी-कभी किसी मंगल-मुहूर्त्त की अनुभूति के अन्तस्तल में सुन पड़ती है, और न जाने किस निर्विकल्प स्पन्दन से अन्तर का ज़र्रा-ज़र्रा काँप उठता है—उसी आनन्द की वाणी को, उसी विश्व-वीणा की निःशब्द ध्वनि को, आज बिजली के दिल के कानों ने सुना, और वह वाणी—वह ध्वनि—उसकी धमनी की पोर-पोर में खेल गई।

उसका हृदय असीम की इस अव्यक्त झंकार को पाकर आत्मीयता के रस-सञ्चार से भर उठा। वह विश्व-चराचरपर अपने-आपको निःस्व लुटाकर फैल जाने के लिए उतारू हो गई।

वह जिस काम में हाथ लगाती, उसे लगे हाथों निबटाकर ही दम लेती। उसने चटपट अपना कैश-बक्स खोला, जो कुछ नक़द और नोट मिले, हैंडबैग में रखकर कोठे से नीचे उतर आई।

नीचे मिस्टर अहमद मिले, तो उनसे शाम की सैर के लिए मोटर तलब की। मिस्टर अहमद उसे इस लिबास में निकलते देख बोले—"इस बूँदा-बूँदी में, लिल्लाह! कोट तो पहन लीजिये। उफ़, हवा कितनी सर्द है!"

"ठंढी तो ज़रूर है, मगर सर्द नहीं"—बिजली लहराती हुई बढ़ चली।

"आप तो अकेली पड़ गईं। किसी को साथ कर दूँ?"—मियाँ अहमद ने फ़रमाया।

"पासबानी के लिए, ख़ासदान उठाने के लिए!"—बिजली हँसती

हुई बोली—"आप ही क्यों नहीं चलते ?"

"मुझे तो आज एक टी-पार्टी का इन्तज़ाम है, वरना ज़रूर साथ देता। मिसेज़ सूर एक दोस्त के साथ कमरे में 'पिंग-पौंग' खेल रही हैं। ख़ैर, मोटर तो ठीक कर दूँ !"

मिस्टर अहमद ने अपने एक विश्वस्त ड्राइवर को मोटर लाने का ऑर्डर दिया और झुककर उसके कानों में कुछ हिदायत दी। बिजली के होठों पर वक्र हास की विद्युत्-रेखा-सी चमकी।

वह सर झुकाये मोटर पर सवार हो गई। एक घंटे तक इधर-उधर घूमती रही। रास्ते में चिथड़ों में लिपटे ग़रीबों को देखती—लूले-लँगड़ों और अंधों को पाती, तो मोटर रुकवाकर उन्हें पैसे की जगह रुपये देती और दुआएँ लेती।

ड्राइवर दाँतों उँगली काटकर रह जाता। उसे इस ख़ब्त के ओर-छोर का कुछ पता नहीं चलता।

चिराग़ जलते जब वह लौटी, उसकी जेब ख़ाली थी! पर उसे ऐसा मालूम हुआ, मानों कहाँ का धन कमा लाई हो। ड्राइवर को इनाम देकर वह ऊपर गई और कमरा बन्द कर जल्दी-जल्दी ट्रंक और बिस्तर समेटने लगी। उसकी जीवनी-शक्ति आज दुगनी हो उठी। वह गुन-गुनाती हुई हवा पर उड़ने लगी।

जब वह कैलिको-सिल्क की मयूर-कंठी साड़ी लहराती हुई डाइनिंग-हाल में उतरने लगी, उसके इस्तक़बाल के लिए अमीन की प्राणमयी आँखें पहले से ही सामने मौजूद थीं। वह एक-एक सीढ़ी झूम-झूमकर

उतरने की भङ्गिमा, वह ख़रामे-नाज़ की मस्तानी मौज क़दम-क़दम पर गुल कतर रही थी—गुल ही नहीं, दिल भी कतर रही थी;—अमीन से कोई पूछता, तो यही जवाब पाता; उसकी निगाह में आसमान से चाँद उतर रहा था।

वह प्राणों का अर्घ्य लिये विनीत खड़ा था। अरमानों ने बलाएँ लीं, चितवन ने आरती उतारी, गरदन ने झुककर सलामी दी।

बिजली ज़मीन पर उतर तो आई, पर उसके पैर गोया ज़मीन के ऊपर थे; और अमीन का एक-एक ज़र्रा जैसे उस ज़मीन को चूम रहा था।

"बिजली! काश तुम इसी ख़रामे-नाज़ से मेरे दिल में उतर आती!"

"क्या बताऊँ! तुम्हारे दिल में जगह होती, तो अब तक सर के बल उतर गई होती।"

"जगह! तुम्हें जगह ही नहीं मिलती?"

"तुम्हारी निगाहों में जगह ज़रूर है; मगर, दिल में तो गुंजाइश नहीं। और अगर हो भी, तो मैं चोर की तरह आना नहीं चाहती। तुम्हीं समझो—जब दिल तक रसाई नहीं, तो फिर आँखों में गुज़र होकर ही क्या होगा?"

"क्यों? दिल तक रसाई क्यों नहीं?"

'इसलिए कि तुम्हारे दिल पर दावा किसी और का है।"

"दावा जो हो, मगर, यहाँ दिल तो वीरान पड़ा है!"

"मैं तो वीरान में जाती नहीं, मुझे चमन की तलाश है !"—बिजली ने हँसते हुए आँखें मटकाकर कहा।

"तो बस, तुम्हारे क़दम आने की देर है। एक-एक ज़र्रा गुल हो जायगा !"

"मगर, उस गुल की बुलबुल तुम्हारे घर में मौजूद है, इसे क्यों भूल जाते हो ? एक म्यान में दो तलवार नहीं होती, अमीन !"

"बिजली, मेरी हालत पर तरस खाओ ! ऐसी संगदिली तुम्हें नहीं फबती।"

"अमीन !"—बिजली बिलकुल पास आकर साँसी में बोली—"मुझे अपने दिल पर सिल रखना है, ताकि तुम अपनी दिलरुबा बीवी से दिल फेर न लो।"

बिजली के हृदय में आज सहृदयता का सोता उमड़ रहा है। उसकी इस महत्ता पर अमीन मुग्ध हो गया। थोड़ी देर सोचता रहा, फिर सँभलकर बोला—"यहाँ वह सवाल नहीं। मुद्दत हुई, मैंने उसे दिल से उतार दिया।"

"तुमने उतार दिया और वह उतर गई ! इतना आसान समझ रखा है ! दीवार की तसवीर है कि चढ़ाई और उतारी ?"

"वल्लाह ! रज़िया बिलकुल तसवीर-ही-तसवीर है। न ज़बान में जुम्बिश, न मिज़ाज में कशिश। बस, मिट्टी की मूरत ही समझो।"

"मगर, दुनिया में एक बे-ज़बान मूरत की पूजा तो जाने कब से चालू है।"

"माफ़ करो, मैं बुतपरस्त नहीं हूँ। जिसे ज़बान नहीं···"

"···उसे दिल भी न हो, यह कहाँ की बात है?"—बिजली ने बात काटकर कहा।

"मैंने तो आज तक नहीं पाया।"

"बन्दा-परवर! दिल डालने से दिल मिलता है न!"

"सो तो मैं डालकर देख चुका हूँ—और ख़ूब देख चुका हूँ।"

"क़सम!"—बिजली अमीन की आँखों में आँख डालती हुई बोली—"चलो, अब बनारस में ही यह मसला हल होगा।···हाँ जी, आज···"

"ठीक ग्यारह बजे मोटर हाज़िर रहेगी। तुम पहले से तैयार रहना। और सुनो, दीवार के भी कान होते हैं।···ख़याल रहे·····हाँ।"

"ख़याल ही नहीं, मेरी जान इसी पर टँगी है!"

अमीन चला गया। बिजली डाइनिंग-हॉल में दाख़िल हो गई।

अभी सवेरा है। वहाँ कोई चहल-पहल नहीं। मिस्टर अहमद किसी अमीर की डिनर-पार्टी के इन्तज़ाम में सिगार का धुआँ उड़ाते व्यस्त हैं। मिसेज़ सूर, गाल के गुलाबी जमाल को प्याज़ी बनारसी साड़ी की दीप्ति पर सान धराये, कॉकटेल की उपासना में मसरूफ़। बिजली इतराती हुई उनकी टेबुल पर चली आई और वहीं खाने बैठ गई।

उस डिनरवाली रात की सीन के बाद बिजली कभी मिसेज़ सूर से भर-मुँह बोलती न थी; कन्नी कटाती चलती। जब कभी आँखों-आँखों में संघर्ष होता, तब चिनगारियाँ निकल आतीं।

मिसेज़ सूर की जानिब से तो ऐसी कोई बात न थी—न बात होने की वजह थी, चूँकि होटल के प्रत्येक खोटे-खरे की नाज़बरदारी उनकी रोटी है। पर बिजली की धमनी की धारा तो कुछ और है। हाँ, दिलों के पहलू में लाख तनातनी हो; सामने आने पर तो मुस्कान ही की रस्म है। बिजली इस रीति से परिचित थी। मगर, कहीं 'चूमने चले और दाँत गड़ गये' वाली बात न हो जाए, इसलिए अलग ही से चितवन से मिल तो लेती; पर आँखों के आगे—बातों तक नहीं जाती।

आज तो रंग कुछ और है। उसकी छाती उमड़ रही है।

उसने आते ही मिसेज़ सूर से बच्चों की ख़ैरियत दरियाफ़्त की; पानी और सर्दी से उन्हें बचाकर रखने की मीठी हिदायत की।

मिसेज़ सूर इस स्नेह-निदर्शन से घुल पड़ीं।

स्नेह की ज़रा-सी रश्मि किसी दिल पर की हिम-शीतल सिल को भी पिघला देने के लिए काफ़ी है।

फिर तो बाँध टूटा और बातों का सोता खुल पड़ा। लैसों और रिबन की, साड़ियों के फ़ैशन की, बेलों के डिज़ाइन की, जम्परों के पैटर्न की चर्चा छिड़ गई।

जब टेबुल पर मीठे का अन्तिम कोर्स पास हो गया, तब बात-ही-बात में वह मन की बात पर आई—"मिसेज़ सूर, मैं ज़माने से सोचती चली आई कि आपको कुछ नज़र करती। मगर मौक़ा न मिलने से दिल की बात दिल ही में रह गई। आज आपको अकेली पाकर मुझे जुर्रत होती है।"

उसने एक जोड़ा मोती का झुमका धीरे से बढ़ा दिया। मिसेज़ सूर ने कनखियों से देखा कि झुमके क़ीमती हैं और नायाब भी।

"नहीं-नहीं; इसकी क्या ज़रूरत ? आपकी नज़र काफी है·····"

मिसेज़ सूर की ज़बान रुक गई। वे बिजली का यह रूपान्तर देखकर विस्मित हो गईं। यह उनकी कल्पनातीत बात थी। उसके दिल के इस पहलू का उन्हें बिलकुल पता न था। वह वज्र की तरह कठोर है, पर फूल की तरह कोमल भी।

मानव-प्रकृति के मैदान में राग और विराग क़दम से क़दम मिलाये चलते हैं। ज़मीन एक बार लू से तपती है, फिर रस के छींटों से हरी हो जाती है। आज पूनो की टहटही चाँदनी है, कल अमावस की अँधेरी यामिनी। यही विश्व-चराचर में क़ुदरत की चिरन्तन लीला है।

इस जीवन में ऐसा कोई चित्र नहीं, जिसके श्याम और उज्ज्वल दो पक्ष न हों। दुनिया में न कोई निरा अच्छा है, न कोई निरा बुरा। न निछक्का पाप है, न निछक्का पुण्य। वेश्या की छाती में भी दिल है और संन्यासी की छाती में भी सिल। दिल के साथ सिल है और सिल के साथ दिल। जिस कोष में पराग है, उसी में संचित आग भी है। जिस फूल में रस है, उसी में कहीं विष भी है; भौंरे उसमें रस पाते हैं—बर्रे उसी से विष लाते हैं। जीवन में इन दोनों का जुज़ हमेशा मौजूद है—कम या बेश। जिस वायुमंडल में जो प्रबल हो जाय, उसी का बोलबाला है। जब साम्य है, तब निर्दोष है; जब अति है, तब दोष है।

आचार में भी अति कर देने से अत्याचार हो जाता है। दान के आतिशय्य से बलि का भी बलिदान हो गया। संन्यास की शिद्दत से भारत के गले में भीख की झोली पड़ गई—उसकी प्रगति में जड़ता की बेड़ी लग गई है; उधर भोग-लिप्सा की ज़्यादती से पश्चिम के ऐश्वर्य्य के मर्मस्थल में हिंसा के विषाक्त कीटाणु पनप रहे हैं। यहाँ अत्यन्त अध्यात्मतत्त्व की ख़ललदिमाग़ी है; वहाँ अत्यन्त वस्तुतत्त्व की बदहज़मी। यहाँ निर्विकार शान्ति की जड़ता; वहाँ दुर्निवार अशान्ति की तांडव-लीला।

भलाई और बुराई का न तो कोई विश्व-स्वीकृत नियमित तौल है, न मापदंड। ये न सत्य हैं, न नित्य। आज जो पाप के नाम से बदनाम है, कल पुण्य के नाम से वही नेकनाम हो सकता है। देश, काल और विविध परिस्थितियों की लपेट में धर्म और अधर्म की सूरत बदलती रहती है।

आसिन की धूप पहाड़ पर जितनी सुखद है, ज़मीन पर उतनी ही दुखद। एक की निगाह में जो अधर्म है, मुमकिन है, दूसरे की निगाह में वही धर्म हो। हम गोमांस खानेवाले अपने पड़ोसी को जानवर समझते हैं, और वह गोमूत्र को पञ्चामृत समझकर पीनेवाले को गधा समझता है। दोनों की समझ का फेर है। गऊ की लाश के काश को मज़ेदार समझकर खाने से न कोई जानवर हो जाता है, न गऊ के मूत्र की बूँद को पवित्र मानकर पीने से कोई गधा ही हो जाता है। अपनी आँख की फूली नहीं सूझती; मगर दूसरे की आँख का माँड़ा चटपट

सूझ जाता है। एक को लाश मुबारक है, दूसरे को पेशाब। एक इतमीनान से उसे चबाया करे, दूसरा आनन्द से इसे पीता रहे। इधर शुद्धि या प्रतीति है, उधर क़ुरबानी या रुचि। आख़िर दुनिया के तमाम मज़हब अंधविश्वास के ज़ख़ीरे हैं, फिर इसमें आपस की चुनाचुनी या तनातनी की गुञ्जाइश कहाँ है!

मुश्किल यही है कि हम दुनिया की तमाम चीज़ों की, अपनी किताब की दर से या अपनी गली के बाज़ार की दर से, दर लगाते हैं। मगर, दुनिया में न बाज़ार ही एक है, न दर ही एक है। इस विश्व में हमारा ही दृष्टिकोण एक पेटेंट दूरबीन नहीं है। हम जब बाज़ार में दूसरे की बहू-बेटी को घूरते हैं, तब हमें यह ख़याल नहीं रहता कि हमारी बहू-बेटी को घूरने के लिए औरों के भी वैसी ही आँखें हैं। हम यह भूल जाते हैं कि आँखें देखने के लिए हैं, घूरने के लिए नहीं। हम अपनी आँखों से अगर अपनी सूरत भी निरन्तर देख पाते, तो शायद दुनिया में हमें कोई भी सूरत बदसूरत नज़र नहीं आती; वरञ्च, मुमकिन है, हम यह समझते कि 'हर सूरत कलेजे से लगा लेने के क़ाबिल है'!

मिसेज़ सूर आँखें फाड़कर बिजली को देखने लगीं। इस आन-बान और विलासिता की पुतली की छाती में कहीं छिपा हुआ एक हृदय भी है, और उस हृदय में स्नेह की हरियाली भी—यह एक अनहोनी बात-सी थी।

बिजली, मिसेज़ सूर का हाथ थामकर, बोली—"मेरी नज़र क़बूल न होगी, तो सच कहती हूँ, मेरी दिल-शिकनी होगी!"

मिसेज़ सूर चुप हो गईं, सँभलकर बोलीं—"यह आज पहला मौक़ा है कि मुझे एक लेडी से प्रेजेंट मिल रहा है। जेंटिलमैनों के प्रेजेंट तो कभी मतलब से खाली नहीं होते। मगर, शायद आपसे पहले इस होटल में कोई दिलवाली लेडी आई ही नहीं—कम-से-कम मैं तो नहीं जानती।"

बिजली ख़ुश हो गई। कल मिसेज़ सूर का लहू पीने को तैयार थी; आज उनके लिए लहू भी बहा देती!

वह 'गुड-नाइट' कहती हुई उठी और सीधे कमरे में चली आई। कमरा बन्द करके वह मिस्टर अहमद को एक ख़त लिखने बैठी। यहाँ की नियमित ज़िन्दगी से बेज़ार होकर वह निरुद्देश निकली जा रही है—यही सुर बाँधा। साथ-साथ उसने माफ़ी भी माँगी। वेटरों के लिए लिफ़ाफ़े में बीस के नोट रख दिये। आज उसका चश्मे-फ़ैज़ ओज पर था।

ख़त लिखकर वह खिड़की के पास आ खड़ी हो गई और सड़क के जन-प्रवाह को देखती रही। फुहियाँ पड़ रही हैं। सड़क चल रही है। वह सोचने लगी--उसे भी तो इसी बरसाती रात में जाना है; पानी पड़े या पत्थर, दुनिया में कभी कोई काम बन्द होता है? तूफ़ानी आँधी-पानी में हवाई-जहाज़ कहाँ-से-कहाँ निकल जाते हैं!

उसने म्युनिसिपल लैम्प की रोशनी में देखा कि चिथड़े में लिपटी हुई एक बुढ़िया, पानी से बचने के लिए, सामने की—बनिये की—दूकान के छज्जे के तले, दबकी खड़ी है। बनिया हाथ में सोंटा लिये उसे डाँट बता रहा है।

बिजली से न रहा गया। उसने चिल्लाकर बुढ़िया को पुकारा, और टप-से दो रुपये उसके सामने फेंक दिये। बुढ़िया ने झुककर रुपये उठा लिये, और दुआ देती हुई निकल गई।

होटल की चहल-पहल धीरे-धीरे कम होती गई। पर बिजली के हृदय की हलचल धीरे-धीरे बढ़ती गई! बिदाई की घड़ी सर पर आते ही कमरे की एक-एक चीज़ से उसके दिल में मुहब्बत उमड़ आई। जेल से भी छूटने के वक़्त आदमी को मोह सताने लगता है; यहाँ तो एक बहिश्ती चमन से आशियाना उठाना था।

उसके सुख-दुख के न जाने कितने दिन उसी कमरे में बीते हैं! न जाने कितनी मधुर करुण स्मृतियाँ उन दीवारों पर अङ्कित हैं! उस पलँग से, उस आइने से, उस सोफ़े से, उस फ़र्श से और उस मेज़ से न जाने कितनी कहानियाँ जड़ित हैं! वह एक-एक से गले लिपटकर मिलती रही। शायद आज उन्हें छोड़कर जाते उसकी आँखें तर हो रही थीं।

गोल मेज़ पर कमल की शक्ल का एक फूलदान था। वह प्रतिदिन उसे झाड़-पोंछकर साफ़ रखती और अपने हाथ से ताज़े खुशरंग फूलों की डाली भरती। आज उसने उसे उठाकर छाती से लगाया और होठों से चूमा।

उसकी साड़ी का एक छोर आइने के हुक से उलझ गया। वह हुक से अपनी साड़ी छुड़ाने लगी, तो अचानक वह दिन याद आ गया, जब स्कूल जाते समय उसके आँचल का एक छोर आइने के दराज़ में

फँस गया था। उसे यह बात याद हो आई कि उसके अपने घर का कमरा भी ऐसा ही कुशादा और हवादार था। उसकी खिड़की भी कुछ ठीक इसी तरह सड़क पर खुलती थी, जिस पर वह घंटों खड़ी रहती—उसकी आँखें सलीम को ढूँढ़तीं और उसके कान घंटी की आवाज़ को।

अचानक ग्यारह का घड़ियाल बजा। उसे अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ, और बचपन के दिनों की वह धुँधली तसवीर आँखों से ओझल हो गई।

वह दौड़कर किवाड़ के पास खड़ी हो गई और सोचने लगी—अमीन आता ही होगा, आकर किवाड़ खटखटायेगा, और वह इस होटल के जंजाल से मुक्त होगी।

वह उतावली हो गई। एक-एक मिनट मन्वन्तर हो चला। घड़ी की टिक-टिक उसकी छाती की धुक-धुक में लीन हो गई।

अब इस कमरे में एक लहमा भी ठहरना काल हो गया। उसे सन्देह होने लगा कि कहीं ब्रैन फ़ेल तो नहीं कर गया। उसे उन्माद ने आ घेरा। कमरे की एक-एक चीज़ उसके लिए तलवार बन गई। उसने उन्हें तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर देना चाहा। उसके तेवरों में बल पड़ गये। नथने फड़क उठे। जिन्हें आध घंटा पहले अपने गले का हार बना रही थी, अब गरदन रेतने के लिए उनके ही गले पर सवार हो गई। आँतें गले में आ पड़ीं।

उसने तड़प कर मेज़ से फूलदान को उठा लिया और घुमा कर खिड़की के बाहर फेंका। वह चीनी का फूलदान नीचे बनिये के छज्जे पर

जाकर चनाक से पड़ा और चूर-चूर हो गया। वह ठठाकर हँसी।

उसने दिल का बुख़ार फिर आइने पर निकाला। इस ज़ोर की उस पर लात मारी कि वह तिलमिलाता हुआ भड़भड़ाकर ज़मीन पर जा गिरा। वह चौंक उठी—किसी ने सुना तो नहीं! उसके रोंगटे खड़े हो गये। फिर बड़ी आजिज़ी और प्यार से उसे उठाया—जगह पर रख दिया; मगर उसकी छाती पर जूते की ठोकर एक लम्बी लकीर बनकर स्पष्ट हो गई थी।

वह पलटकर किवाड़ के पास आई और कान देकर आहट लेने लगी। चारों ओर सन्नाटा। बूँदों की टिप-टिप इस सन्नाटे को और भी तीव्र कर रही थी। वह सोचने लगी—अमीन अभी तक आया नहीं, न किवाड़ पर ठोकरें पड़ीं। अगर वह आकर किवाड़ न खटखटायेगा, तो वह नहीं जायगी? मुर्ग़ा बाँग न देगा; तो क्या सवेरा न होगा?

नहीं, अब वह रुकती नहीं। अमीन आये या न आये, डर किसका है? वह पेटी कस चुकी है। जो सामने आयेगा, उसे तलवार के घाट उतार देगी। इस अँधेरी आधी रात को जागता ही कौन होगा? मियाँ ख़ुरशीद तो हैं नहीं। जो दो-चार छोटे मुलाज़िम हैं, वे ठर्रा पीकर होटल के सकरपेशे में पड़े हुए हैं; और अगर सामने हों भी, तो बिजली उनसे समझ लेने के लिए काफ़ी है। मिस्टर अहमद तो ख़र्राटे भर रहे होंगे। जागते भी हों, तो क्या करेंगे·····होटल के बिल की धमकी? बिल की गीदड़-भबकी से बिजली अब बिल नहीं दूँदती। होटल का बिल नवाब साहब चुकाते चले आये, और न भी

चुकाये हों, तो बिजली एक लहमे में चुका देगी। बस, एक ही ज़ेवर काफ़ी होगा।

·····नहीं, वह अब क़दम पीछे नहीं पलटती। सवारी न मिलेगी—बला से, वह पाँव-पैदल ही स्टेशन दौड़ जायगी—बिजली गिरे या ओले बरसें।

अकस्मात् किवाड़ पर खटका हुआ। बिजली ने चट दरवाज़ा खोलकर देखा, तो अमीन खड़ा है—सर से पैर तक ओवरकोट में ढका। वह बोला—"मिस्टर अहमद अभी अपने क्वार्टर में गये। इसी से देर हो गई। जल्दी करो·····"

"बरसाती में कोई·····"

"बस, मैदान ख़ाली है। मैं देखता आया हूँ।"

अमीन ने चमड़े का सूट-केस उठाया और बिस्तर को बग़ल में दबाया। बिजली ने हैंड-बैग उठाया। दोनों दबे पाँव ऊपर से उतरकर नीचे लॉन में आये, इधर-उधर एक उड़ती निगाह फेंकी, और दन से फाटक से निकलकर सड़क पर चले आये। वहीं मौलसिरी की छाया में मोटर खड़ी थी। असबाब चटपट मोटर में फेंक दिया गया।

बिजली, अमीन के होठों पर कृतज्ञता-सूचक एक सलील चुम्बन देकर, गाड़ी में बैठ गई। अमीन की ज़बान से बिदाई की शुभ कामना निकलने भी न पाई थी कि मोटर सर्राटे से निकल चली।

वह आराम से गुलगुले गद्दे पर लेट गई। उसकी नस-नस में उल्लास की बिजली दौड़ रही थी। वह सावन की निशीथ-विभीषिका

उसकी निगाह में सुहावनी छटा बन गई।

कल सुबह अहमद के हाथ से किस तरह ह्विस्की का गिलास छूटकर ज़मीन पर जा पड़ेगा और नवाब साहब के मुलाज़िमों के चेहरे पर कैसी हवाइयाँ उड़ती रहेंगी—इसी मनोरम दृश्य को कल्पना की आँखों से देखती हुई वह झूले की कजली गुनगुनाने लगी।

मोटर की खिड़कियों से बूँदों के छींटे गुलाब-पाश के छिड़काव हो रहे हैं। भीगी मिट्टी और भीगी वनस्पति के सौरभ से लदी हवा उसकी रूह को भी लख़लख़ा सुँघाने लगी।

उसकी आँखें लगीं झिपने। वह सो गई।

सहसा मोटर रुकने के दचके से उसकी आँखें खुल गईं। उँगली से इशारा करते हुए ड्राइवर ने बतलाया कि सड़क के किनारे एक औरत की लाश-ऐसी जाने क्या पड़ी है!

कौन कहे, कहीं मोटर के मडगार्ड से धक्के खाकर वह गिरी हो।

बिजली सचेत हो गई। फ़ौरन उतर पड़ी। पास ज
कि एक जवान औरत बासी फूल-सी मुरझाई पड़ी है। साड़ी भीगकर शरीर में चिमट गई है। बिखरी लटें मिट्टी में लतपत हैं। चेहरे पर स्निग्ध करुण सुषमा की एक रेखा है। उषा की लालिमा पल्लव-पेलव कपोलों पर प्रवाल-लेखा की तरह दमक रही है। पास ही रामायण का गुटका फूलकर बासी लिट्ट हो गया है।

पानी थम चला था। हवा भी शान्त हो चली। बिजली ने ड्राइवर को नज़दीक के गाँव से गर्म दूध लाने को भेजा, और खुद

सूट-केस से तौलिया निकालकर उस मूर्च्छिता की शुश्रूषा में तत्पर हो गई। उसके अंग-अंग को तौलिये से रगड़कर पोंछ डाला। भीगी साड़ी खोल कर दूसरी साड़ी लपेट दी। एक गर्म जाकेट पहना दिया। फिर अपनी छाती में सिमटाकर गर्मी देने लगी।

उस स्त्री के चेहरे की कुदरती कुन्दन-सी कान्ति को देखकर बिजली न जाने क्यों लहू की लहर से चंचल हो पड़ी—और उसका मुँह चूम लिया।

तबतक दूध लिये ड्राइवर भी आ पहुँचा। बिजली ने उसके मुँह में दो-चार चमच गर्म दूध दिया, तो उसकी आँखें खुल गईं। बिजली ने उसका सर सहलाते हुए पूछा—"कौन हो, बहन! कहीं चोट है?"

"....."

"डरने की कोई बात नहीं, बोलो!"

"बेला....."

"यहाँ कैसे आई? घर कहाँ है?"

"....."

"कहाँ जाना चाहती हो?"

"क्या कहूँ.....!"

"क्या तुम्हारा कोई अपना नहीं?"

बेला की आँखों में आँसू उतर आये। उसने सर हिलाकर कहा—"उहुँक्!"

"तो आओ, मेरे साथ चलो। हम दोनों की शायद एक ही मंज़िल होगी।"

बिजली ने उसे उठाकर मोटर में लिटा दिया, और ख़ुद उसे सहारा देकर बैठ गई। मोटर छूट चली।

तृतीय खंड

बेला और बिजली

प्रथम परिच्छेद

शाम का सुहावना समय है—शान्त, सौम्य, श्यामल। फूली सेवती के परिमल से लदी हवा बह रही है—मन्द, मधुर, शीतल।

एक आलीशान दुतल्ले मकान की छत पर एक युवती और दो युवक बैठे हैं। युवती बिजली है; युवक—सुरेशकुमार और चुन्नीलाल। सोफ़े पर बैठा हुआ सुरेशकुमार, गाव-तकिये के सहारे लेटी हुई बिजली से, हँस-हँसकर बातें कर रहा है। एक अलग कुर्सी पर बैठा चुन्नीलाल सिगरेट का कश ले रहा है।

"क्यों, देवीजी आज नजर नहीं आतीं!"

"देवीजी कौन?"—बिजली ने हँसकर पूछा।

"अजी, वह—बेला बाई!"

"अच्छा! वह देवीजी कब से हो गईं?"

"सो मत पूछिये। सनम के दर पर कोई धरम का उपदेश सुनने नहीं आता। बेला बाई तो लेक्चर झाड़ती हैं। फ़रमाती हैं—'तुम ब्राह्मण होकर शराब पीते हो, मुर्ग़ी खाते हो, तुम्हें परलोक की फ़िक्र नहीं। राम-राम, तुमने लुटिया डुबो दी।' अब आप ही कहें, ज़माने में एक मैं ही गया-गुज़रा हूँ या और भी कोई है! वाराङ्गना का घर तो कोई गुरु का घर नहीं। साक़ी की ज़बान से शराबी की मरम्मत! वही मसल—देशी मुर्ग़ी, विलायती बोल! यहाँ खाना-पीना, गुलछर्रे उड़ाना न रहता, तो मैं यहाँ आता ही क्यों कर? ज़िन्दगी का लुत्फ़ उठाने आता हूँ या गुरु-मंत्र की दीक्षा लेने?"

"वह आपको दिल से चाहती होगी; इसीलिए मुमकिन है, चेतावनी देती हो। आख़िर तो औरत....."

"ख़ूब! क्या दिल से चाहना है! कभी पास तो फटकती नहीं। कहीं छाती से लगा पाया, तो मालूम होता है कि संगमरमर के बुत को लिपटा रहा हूँ! हड्डियाँ अकड़ जाती हैं। उसे प्यार करना उसकी सज़ा करना है। भगवान् जाने, बदन में ख़ून है या पानी। न होंठों में जुम्बिश, न तबीयत में चुलबुलापन। इससे तो कहीं बेहतर था कि उसकी तसवीर को गले लगाता! यह गुनाह-बेलज़्ज़त! आख़िर बदनाम भी हुआ और इधर भरमुँह बोसा भी न मिला!"

"तो क्या दुलत्ती झाड़ती है?"—बिजली ने हँसकर पूछा।

"अजी, वह भी झाड़ती, तो एक बात होती। ठोकरें तो मिलतीं; कुछ हरकत तो नज़र आती! न सही प्यार, तकरार तो रहती! किसी

हालत से एक छोर तो मिलता ! मगर, यहाँ तो बिलकुल कुछ नहीं। गले से लगाते ही न जाने किस तरह अपने-आपको ऐसा समेट लेती है कि हिलाने पर भी नहीं हिलती। न जाने हाड़-मांस की देह है या पत्थर की। ख़ुदा जाने, यह कैसा निराला अन्दाज़ है। मैंने तो आज तक न सुना, न देखा। न लहू का पता चलता है, न दिल का हवाला।"

"वाह ! आप दिल हार क्यों चले ! दिल डालने से दिल मिलता है। आज न वह बर्फ़ की तरह कठोर है ! मगर जब प्रेम की आँच पर पिघलेगी, तो पहाड़ की चोटी से छूटी धार की तरह तमाम बाधाओं को तोड़ती हुई आपकी ज़िन्दगी में उमड़ पड़ेगी।"

"और मुझपर जो धर्मकर्म की फबतियाँ चुस्त की जाती हैं !"

"यह भी एक निराला अन्दाज़ है। वह ख़ुद भी न शराब पीती है, न मीट खाती है। आज सात बरस हम दोनों को यहाँ आये हो चले; मगर मैंने एक दिन भी उसे बग़ैर गङ्गा-स्नान किये, बिना पूजा-पाठ किये, मुँह में दाना डालते नहीं देखा। आप शायद जानते होंगे, उसने एक गाय पाल रखी है और अपने हाथों से उसे खिलाती-पिलाती है। जब वह उसका नाम लेकर पुकारती है, तब उस जानवर की जाँनिसारी देखकर हैरत में आ जाना पड़ता है। अलग एक कोठरी में राम की एक छोटी-सी मूरत भी है। यही मूरत उसकी ज़िन्दगी की किल्ली है। मैंने जो उसे गाने-बजाने की तालीम दी, वह उसे फल गई। आज वह बड़े-बड़े उस्तादों के कान तराश लेगी। भजन गाने

में तो उसने कमाल का अन्दाज़ पाया है—सुरूर में सुर बाँध देती है, गले में दिल डाल देती है। बस, भक्ति का सोता उमड़ आता है। आप कभी उसके मुख से 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन' सुनिये, तो आपके सर पर भी राम का जादू सवार हो जाय!"

"फिर तो आपकी बहन दूसरी 'मीरा' होगी! कहाँ राम की भक्ति, कहाँ वेश्या की वृत्ति! शायद वे आसमान-ज़मीन के कुलाबे एक कर रही हैं। मैं यह पहले जानता, तो इस बहिश्ती गुलशन में क़दम भी न रखता। इस नन्दन-वन में तो फ़िरिश्तों का गुज़र होगा, मेरी क्या बिसात!"

"और क्या! उसका शरीर वेश्या का जो हो; पर उसकी आत्मा तो किसी देवी की है। यही तो ख़ास ख़ूबी है। कहती है, दुनिया में कोई भी रोज़गार ख़राब नहीं; जैसी नीयत होती है, वैसी ही बरकत होती है। बस, नीयत ही सब कुछ करती-कराती है। कभी-कभी तो ऐसा भी कह डालती है कि उसने किसी शाप को सर पर रखकर इस कूचे में क़दम रखा है।"

"ओ! यह बात है! फिर तो लीजिये, उसका रंग ही ज़माने से जुदा है। नई ज़मीन है, नया आसमान। यह वेश्या-वृत्ति क्या है—किसी यज्ञ का अनुष्ठान है! कहीं अहल्या की तरह कोई देव-कन्या शाप के वश पृथ्वी पर न आ पड़ी हो! यह राम की भक्ति भी तो इसी ख़याल को मज़बूत करती है। अहल्या तो मुजस्सिम शिला थी और यह भी तो आख़िर सिल-ही-सिल है! ख़ैर, यह तो आपकी बहन की तारीफ़ हुई। और आपकी?"

"मेरी ! मैं तो महज़ बिजली हूँ और बिजली गिराना मेरा काम है !"

"क्या बात है ! आपकी तो एक-एक अदा की चुटकी जैसे दिल की रगें झंझोर डालती हैं !.....मगर, मेरा मन्शा कुछ और था। आख़िर आपकी रुझान किधर है—राम से नाता है या इस्लाम से ?"

"दोनों से या किसी से नहीं। दिल के करोबार में राम या रहीम का तो सवाल नहीं उठता। साहब, मैं तो आज तक किसी मज़हब की क़ैद में नहीं पड़ी—

"हम इश्क़ के बन्दा हैं, मज़हब से नहीं वाक़िफ़ ;
गर काबा हुआ तो क्या, बुतख़ाना हुआ तो क्या !

"मैं तो दिल तलाशती हूँ। वह काबा के साये में मिले या काशी के कूचे में, इससे मुझे क़तई बहस नहीं।"

"वाक़ई ! क्या बात है, यह आज़ाद तबीयत की मौज है। कोई मज़हबी उलझन नहीं।"

"जी हाँ। मैंने अपने दिल के पहलू में मज़हब को कभी तिल-भर भी जगह नहीं अता की। मुझे इस दुनिया के चमन में आज़ाद उड़ना पसन्द है। जिस डाल पर बहार के फूल हों, उसी डाल की मैं बुलबुल हूँ। रस लेती चहचहाती फिरती हूँ। अगर, आशियाना ही बाँधना पड़ा, तो मुहब्बत की किसी शाख़ पर बाँध लूँगी। मज़हब की क़ैद तो सैयाद का पंजा है। अगर दिल में तंगी नहीं, तो—'बुतख़ाने में काबा है, काबे में है बुतख़ाना'।"

"काश मैं भी आपकी तरह आज़ाद रहता! मगर, क्या बताऊँ, यहाँ तो एक देवी की वेदी पर बलिदान का शिकार हो रहा हूँ और देवीजी की पलकें भी नहीं पसीजतीं!"

"पसीजेंगी क्यों नहीं! आप बेज़ार क्यों हो रहे हैं? अभी कुछ दिन और माला जपिये!"

"यही तो आप महीनों से बताती चली आईं, मगर देवीजी तो बस बुत बनी बैठी हैं।"

"सुनिये, सब्र की डाल में मेवा फलता है। दिल डालने से पत्थर भी पिघल पड़ता है। अभी वह आपकी जाँनिसारी का इम्तिहान ले रही होगी।"

"यह अच्छी रही—

"मेरी ख़ाक भी लहद में न रही 'अमीर' बाक़ी,
उन्हें मरने ही का अबतक नहीं एतबार होता!"

"तो वाक़ई आप बेला को दिल से चाहते हैं?"

"आज दो बरस हुए, मैंने उसे गङ्गा के किनारे तुलसी-घाट पर रामायण की कथा सुनते देखा। उसी दिन से वह मेरी आँखों में खुब गई। फिर तो वह जिस राम के मन्दिर में जाया करती थी, वहाँ मैंने भी चक्कर देना शुरू किया। वहाँ जब उसकी चितवन को न फेर सका, तो आख़िर इस कूचे में भी दाख़िल हुआ। भगवान् जाने, मंज़िले-मक़सूद तक इस शरीर से पहुँचना लिखा है या नहीं। जब यहाँ आ पड़ा, तो यहाँ की आबोहवा से बचकर कहाँ जाता! शराब और कबाब

का चसका लगा।"

"तो क्या मैंने मीने की मोहिनी डाली? हरगिज़ नहीं। मुझे ज़माने से मालूम है, आप एक कुलीन सनातनी ब्राह्मण हैं। आपके घर में बड़े-बड़े रजवाड़ों की पुश्तैनी पंडागिरी है। बेला भी तो आपकी मय-परस्ती पर नाक-भौं सिकोड़े रहती है! मगर, देखती हूँ, आप पर कुछ असर नहीं पड़ा।"

"वाह! दुनिया की तमाम लज़्ज़तों से हाथ धोकर बैठ जाऊँ और उसे भी न पाऊँ! परी नहीं, तो प्याली सही। घर पर तो कभी कुछ खा-पी नहीं सकता। यहां कन्नी कटाकर आ जुटता हूँ। देवी के दर्शन भी हुए, प्रसाद भी मिला।"

"अच्छा, आज मैं बेला के हुज़ूर में आपकी अर्ज़ी ज़रूर पेश करूँगी!"

"आप अगर ज़रा ज़ोर दें, तो फिर मजाल है कि वह चूँ कर सके! आप क़ायदे से समझा दें कि आज क्यों उस पर ज़माना फ़िदा है। आख़िर क़ुदरत के दरबार से उसे जवानी का दमामी पट्टा नहीं मिला है। उन गालों की रंगीनी कुछ पारिजात की जवानी नहीं रखती। वह चितवन की चाँदनी कभी तो चिराग़ो-सुबह की लौ होगी? जब उतार के दिन होंगे, तो फिर यह सारी हैंकड़ी किरकिरी हो जायगी! आख़िर यह भजन-पूजन का ढकोसला एक हद तक ही निभ सकता है।"

"वह तो मैं समझ गई। मगर यह तो बतलाइये कि आख़िर आपकी अर्ज़ी क्या है?"

"पाँच सौ रुपये नक़द माहवार, एक आलीशान हवेली, दो दरबान, एक मोटर और सुरेश की जाँनिसारी !"

"आज मैं उसे छेड़कर देखूँगी। मगर, शायद वह अपनी आज़ादी की क़ुर्बानी पर तैयार नहीं होगी। वह किसी की रखेली नहीं बन सकती।"

"तो क्या बीवी बनेगी ?"—सुरेश ने कटाक्ष करते हुए पूछा।

"फ़र्ज़ कीजिये, वह यही तलब करे, कोई दूसरी सूरत न हो।"—बिजली ने छेड़ने की ग़रज़ से कहा।

"शादी·····?"

"जी हाँ।"

"ना भाई, यह तो कभी मुमकिन नहीं—आसमान के सितारे भी ज़मीन पर उतर आयें, तो भी नहीं।"

"समझ गई, आपकी तमाम लन्तरानियाँ महज़ ज़बानी लफ्फ़ाज़ी थीं। दिल से सरोकार नहीं।"

"सो क्यों ?"

"चूँकि रखेली बनाकर क़ैद रखना उसकी तमाम उम्मीदों का ख़ून करना है। आज़ादी भी गई, शरीफ़ों में गुज़र तक न हुआ !"

"तो आज वह कौन शरीफ़ों का सिरमौर है ?"

बात बिजली को लग गई। वह खीजकर बोली—"न सही शरीफ़, आज़ाद तो है। किसी की चादर के खूँट में तो नहीं बँधी है ! दिन अपना है, रात अपनी है; मन अपना है, बात अपनी है। यही क्या कम है ! आप-ऐसे सैकड़ों शहर के शुरफ़े दरो-दीवार पर नाक रगड़ते

हैं। बेला की शराफ़त को आप सौ जन्म में नहीं पा सकते। एक पैसा हराम का छूती तक नहीं। आप जिस हलाल की कमाई पर शेर बने हैं, मुझसे परदा नहीं है।"

"जो हो; मगर, आख़िर तो वह वेश्या·····"

"आख़िर तो आप पंडे! जो मेरी दूकान है, वही आपकी भी। मैं बदन ही बेचती हूँ, कुछ ईमान नहीं।"

बिजली का चेहरा तमतमा उठा था। वह सुरेश की बात पर बेहद खीज चली थी।

"ख़ैर, यहाँ तो शादी का सवाल पेश था। शराफ़तवाली बात जाने कहाँ से टपक पड़ी! हाँ, तो फिर·····"

"तो फिर क्या?"

"यही कि शादी होगी किस क़ायदे से! एक तो मैं हिन्दू, हिन्दुओं का सिरताज ब्राह्मण, ब्राह्मणों का सिरताज कुलीन, और कुलीनों का सिरताज पंडा—यानी परलोक का पुरोहित। मेरी गिनती कुछ ऐसे-वैसे में नहीं!"

"अजी, वाह रे पुरोहित! क्या बाभन के घर में पैदा होते ही परलोक की पतवार हाथ में आ गई? आचार कुछ सही, विचार कुछ सही?"—बिजली ने ज़रा व्यंग्य-भरे स्वर से पूछा।

"औरे क्या? यह पैदाइशी हक़ है। जो ब्राह्मण है, उसी के हाथ में परलोक की मौरूसी एजेन्सी है; दूसरे के नहीं।"

चुन्नीलाल बैठा-बैठा बातें सुन रहा था। एकाएक उबल पड़ा—

"ख़ूब ! और उसको यह भी पता न हो कि परलोक किस चिड़िया का नाम है ! यह तो ठहरे ब्रह्मा की औलाद; और कितने हैं जो सूर्य के वंशज बने फिरते हैं, गर्चे बिल्ली की चौकड़ी पर उनकी तमाम चौकड़ी क्यों न हवा हो जाय !"

"अच्छा ! आप भी किसी आसमानी सितारे की नस्ल के हैं क्या ?"—बिजली ने हँसकर चुन्नीलाल की ओर रुख़ किया।

"आप जानतीं नहीं"—सुरेश ने मुड़कर नहले पर दहला दिया—"ये जहन्नुम के हेडक्लर्क की औलाद हैं !"

"किरानी की औलाद ?"

"जी हाँ, किरानी की औलाद !"

"किस महकमे के किरानी ?"

"फ़ौती महकमे के। मुन्शी लोग अपने इन्शा-परदाज़ी जोश में किसी की दाल नहीं गलने देते थे, पूजा-पाठ के सिलसिले से फटकते चलते थे; लेकिन पंडितों के दिमाग़ ने यमराज के दफ़्तर के सियाहा-नवीस को खड़ा कर—उनके कान पर कंडे की क़लम, जेब में छुरी, हाथ में दावात, बग़ल में बस्ता देकर—एक रूप तैयार कर दिया। फिर तो हिन्दुस्तान के तमाम मुन्शी क़लम-दावात की वज़ेदारी पर लट्टू हो गये और चटपट उनको अपना बुज़ुर्ग मान लिया। और, जब इस चकमे में आ गये, तो फिर उनकी जूतियाँ सर पर ढोनी ही पड़ीं।"

"मान गई, आपके मुक़ाबले कायथ की खोपड़ी भी नहीं चल सकती।"—बिजली ने मुस्कुराकर कहा।

"मगर, यहाँ तो ज़रूर चल गई! सुरेशकुमार टापते ही रह जाते; मगर बेला का पता न पाते। महीनों मन्दिरों की ख़ाक छानते रहे। आख़िर मैंने ही पता लगाया, और यहाँ लाया।"

"ओहो! बड़े आये हो मर्द बनकर। भला घर का पता बताकर तुमने कौन पहाड़ तोड़ लिया, जब उसके दिल का पता न ला सके?"—सुरेश ने आँखें मटकाकर कहा।

"यह तो आपका मैदान है, मेरा नहीं। आप अपना जौहर दिखलायें। मुझे दिल डालना रहता, तो अबतक सीने से कलेजा निकाल लेता।"—चुन्नीलाल ने मूँछों पर ताव देते फ़रमाया।

"भई, मैंने तो उसके क़दमों पर कलेजा तक निकालकर रख दिया; मगर वह मुड़कर देखती तक नहीं। अब सुनता हूँ, वह शादी पर तुली है!"

"मैंने यह कब कहा? महज़ अपनी तरफ़ से एक सूरत निकाली थी!"—बिजली ने पलटकर कहा।

"ख़ैर, अब यह सवाल है कि शादी कैसे होगी, कहाँ होगी? मैं पंडे·····"

चुन्नीलाल, सुरेश की तरफ आँख मारते हुए, बीच में कूदकर बिजली से बोला—

"हाँ जी, शादी मंजूर है। कलकत्ता में और ब्रह्म-समाज के क़ायदे से। मगर, वह पहले तैयार तो हो!"

"आप तैयार हैं भी?"—बिजली ने हँसकर पूछा।

"वह दिल से मिले, तो सुरेश उसपर हिन्दुस्तान का तख़्त भी निछावर कर दे।"—चुन्नीलाल ने पट्टी लगा दी।

"सच !"—बिजली ने सुरेश के चेहरे पर आँख रखते हुए कहा।

"और क्या ? मेरी लाखों की सम्पदा उसके क़दमों पर निछावर····"—सुरेश, बिजली से नज़र चुराता हुआ, बोला।

"ख़ैर, शायरी रखिये। अब फिर कब आते हैं ? आज तो बेला रामबाग़ में भजन सुनाने गई है।"

"तो कल इसी वक़्त। और यहीं रात के खाने का भी माक़ूल इन्तज़ाम रहे।"

"क्या खाइयेगा ? रबड़ी और पूरी ?"

"नारायण ! नारायण ! यही खाना रहता, तो मैं यहाँ क्यों आता ? अजी, मुर्ग़ का मुरग़्ग़न कलिया हो और ह्विस्की का फेनिल प्याला। और आपकी कल रातवाली जामनी साड़ी !"

"और बेला की ?"—बिजली ने बात काटकर पूछा।

"मेरे कलेजे के लहू के रंग की जल्लादी ज़रीं साड़ी, गुलेनार पोत का अँगिया। देखिये, वह कन्नी न कटाने पाये। भर-भर कर जाम देना होगा उसे !"

"और मैं जो भरकर दूँगी, तो इनकार है ?"

"इनकार का तो कोई सवाल नहीं। वह लुत्फ़, वह मीठी रकझक तो न होगी। आपने सात बरस उसे पेशे की तालीम दी; मगर आज तक उसकी धुकधुकी छुटी नहीं। वन की हरिनी मानों भटककर गाँव के

दामन पर आ पड़ी हो। किसी की आँख-में-आँख पड़ी कि जैसे बिजली छू गई। कभी आँचल सँभालती है, कभी नज़र चुराती है, कभी मुँह फेर लेती है, और मेरी घूरती हुई आँखों की चोट पर तो शर्म से सहमकर पानी-पानी हो जाती है। आप उसे लाख उभारें; मगर वह तो बस कुछ यों हीं है। वही, अन्दाज़ कि—

'अँगड़ाई भी न लेने पाये वह उठा के हाथ,
मुझको देख छोड़ दिया मुस्कुराके हाथ'!"

"आपकी निगाह में अभी तक वही तस्वीर नाच रही है!"

"जी हाँ, ख़ास करके—

"देना वह उसका साग़रे-मय याद है 'निज़ाम' ;
मुँह फेरकर उधर को इधर को बढ़ा के हाथ!"

सुरेश हँसता हुआ उठा और चुन्नी की बाँह पकड़कर कमरे के बाहर निकल आया। दोनों टहलते हुए घर की तरफ़ बढ़े। सुरेश बोला—"भला चुन्नी! तुमनें आगे बढ़कर शादी मान ली। तुम्हीं कहो, यह कभी मुमकिन है!"

"बस, रहे तुम योंही! अजी वह क्या तुम्हारे घर की बहू होने जा रही है!·····अरे यार, कलकत्ते ले चलो। वहाँ, जबतक जी भरे, बीवी बनाकर रखना, फिर कुछ उसे नज़र-नेयाज़ चटाकर घर लौट आना। आख़िर तो रंडी ही ठहरी! वह क्या इस परिस्थिति को नहीं समझती!"

"मगर, भई! यह तो सरासर विश्वासघात है!"

"वेश्या के साथ विश्वासघात किस नीति से गुनाह है ? वह तो ख़ुद धोखे की टट्टी है। 'शठे शाठ्यं' कहावत तुमने सुनी नहीं ?"

"कहीं वह माँ हो गई तो ?"

"तो क्या हुआ ? कुछ नज़र की रक़म बढ़ा देनी होगी; और बस ! तुम्हारे कितने कठभाई यहाँ रंडियों के तबलची हैं। तुम्हारे पिता ने बड़ी बारीकी से उनको कुछ दे-दूकर टरका दिया।"

सुरेश चुप हो गया। उसने चुन्नीलाल से तू-तू—मैं-मैं करना मुनासिब नहीं समझा। उसके जीवन का ताना-बाना अलग था, साफ़ और सीधा।

सुरेश बनारस के एक मशहूर पंडे का लड़का है। रजवाड़ों से ख़ासी आमदनी है। उसे ख़ुद तो बत्ती की टेम भी नहीं झाड़नी पड़ती। नौकर-चाकर रोज़गार चलाते; वह पैर-पर-पैर रखकर चैन की मुरली बजाता रहता। दोहरी देह, लम्बी क़लम, घुँघराली बुलबुली, उठती हुई कोंपल, नशीली झूमती आँखें, आँखों पर ऐनक, चौड़ी पेशानी, जुटी हुई भवें, हँसमुख चेहरा, खुलता रंग; वह एक होनहार जवान है। उसका बसारसी ठाट भी एक ही है—बारीक आबेरवाँ का पंजाबी, काशी-सिल्क की फीकी लवेंडरी चादर और जरीं-कोर की शान्तिपुरी धोती।

उसने तबीयत भी अजब रंगीन पाई है। हिन्दी और उर्दू की शायरी से ख़ास दिलचस्पी भी है। 'पद्माकर' और 'पजनेस' की केसर की क्यारियों का मधुकर होकर उसे दुनिया में रस और शृङ्गार के चयन और वितरण के अतिरिक्त कोई काम नहीं। उसे हर वक़ गोकुल की

गली चाहिये और झूले की कजली; मोहन की मुरली हो और गोपियों की अवली।

वह रस की कविताएँ निरन्तर पढ़ता या सुनाता और आठों पहर कल्पना के सहारे गोपाल और गोपबाल के विलास-मंडल में विचरते-विचरते उसका भाव-प्रवण रसिक मन करील और कदम्ब के किलोल-कुंजों की क्यारियाँ ढूँढ़ने लगता। वह बनारस की असूर्यम्पश्या गलियों की खाक़ छानते-छानते व्रजवीथियों की साँकरी गली का स्वप्न देखता और कालिन्दी-कूल के विविध रस-विलास का आस्वादन उसे गङ्गा-तट पर किसी रोमैंस—किसी रहस्य-लीला—की तलाश के लिए विकल करता। पर गङ्गा न यमुना हो सकी और न बनारस बरसाने हो सका। कचौड़ी-गली न कुंज गली में पलट सकी, न दाल की मंडी माखन की मंडी बन सकी।

उसकी प्रकृति-गत लज्जाशीलता उसे ढीठ नहीं होने देती। फिर भी 'मतिराम' और 'बिहारी' के लख़लख़े परकीया-कुंज की उन्मादिनी गंध की लपट लाये; 'अमीर' और 'आतिश' की मस्ती ने उसे मीने की परी की झलक दिखाई।

यद्यपि काव्य-कल्पलोक की रसधारा ने उसके चारों ओर एक अभावनीय रहस्य-माधुर्य का एक आवर्त्त खड़ा कर दिया; पर बनारस के स्थूल-जगत में उसे न तमाल-निकुंजों की माया मिली, न बकुल-वीथियों की अभिसारिका ही। वह गङ्गा के तीर पर कड़ाके की धूप में पसीने से तर-ब-तर होकर अपने भावविभोर हृदय को सर पर लिये चक्कर काट आता; पर कोई भी आँचल पसारकर उसे मीठे स्वर में नहीं पुकारता कि

आइये—"धाम धरीक निवारिये कलित ललित अलिपुंज !"

सुरेश का यौवन-वेदना-स्पन्दित हृदय किसी निविड़ रस—किसी निविड़ स्पर्श—की तलाश में इधर-उधर मँडराया किया; और आख़िर गंगा-तट की पुजारिन बेला की रहस्य-मधुर स्निग्ध चितवन उसकी आँखों में खुब गई। फिर तो वह धीरे-धीरे अधीर होता गया और तमाम बाधा और द्विधा को अमान्य कर उस कूचे की चहलक़दमी जारी कर दी।

बेला तक उसकी रसाई हो गई सही; पर बेला के दिल का कपाट तो खुला नहीं। सुरेश ने उसके एक-एक अंग को हिला-डुलाकर देखा। उसमें विश्व का सौन्दर्य था, पारिजात का परिमल था; पर लहू का चांचल्य नहीं। उसे बू मिली, पर रस न मिला। उसने सर तोड़ा, पर बस न चला। फिर भी वह गुलफुल बना रहा। उसकी काव्य-वीणा को एक नया सुर मिल गया। उस सुर की झङ्कार में उन्माद की मूर्च्छना थी; उसके भावों के प्रवाह में अंगूरी का फेनिल उफान था।

बेला का सरल सुन्दर निश्छल व्यवहार, उसमें चटुल हाव-भाव का अभाव, उसकी चितवन का सुधासिञ्चन, उसका पुनीत भक्त-जीवन—यह सभी सुरेश की निगाह में किसी सुदूर अज्ञात के रहस्य थे। उसके काव्य की सहचरी कल्पना अलौकिक रंगों की माधुरी मिलाकर उस मनोरम मूर्त्ति को मानस-पट पर रँगती रही।

सुरेश ने देखा, इस घर में अकेली बेला ही नायाब नहीं थी, बिजली भी विचित्र थी। एक सुरलोक की देवी थी, दूसरी इन्द्रलोक की

किन्नरी। बेला में माधुरी थी, बिजली में चातुरी। उधर हया, इधर शोख़ी। उधर सौम्य आकाश की प्रसन्न नीलिमा, इधर लीला-चंचल लावण्य की विलास-भङ्गिमा। ये दोनों दो विभिन्न लोक की प्रतिनिधि थीं और एक दूसरे का जवाब भी।

सुरेश ने बेला की चौखट पर आकर हज़ार बार सर पीटा; पर ख़ैरियत यही थी कि इस धमक़ से उसका दिल नहीं टूटा। वजह यह थी कि उसको मधुर रस के साथ-साथ हास्य-रस का भी चसका था। वह किसी चित्र के श्याम पक्ष को कभी देखता नहीं। ख़ुशदिल और ख़ुश-मिज़ाज—वर्त्तमान का उपासक!

चन्द साल पहले जब वह दो-चार दोस्तों के साथ विन्ध्याचल की सैर को गया था और चाँदनी रात में गङ्गा के किनारे बजड़े पर चकल्लस की पार्टी की तैयारी हो रही थी, उस वक्त ख़बर आई कि वह और उसका दिली दोस्त चुन्नीलाल मैट्रिकुलेशन के इम्तिहान में फ़ेल हो गये। चुन्नीलाल तो चोट पाकर इस क़दर ऐंठ गया कि वह लुढ़ककर गङ्गा में जा पड़ता; पर सुरेश ने उसकी पीठ पर दिलासे की थपकियाँ दे-देकर हँसते हुए कहा—"वाह! अजब सिड़ी हो! इतने में ही अंटागफ़ील हो गये। मुझे क्यों नहीं देखते? मेरा उसूल तुम भूल गये? जो बात बीत चुकी, वह बीत चुकी; जो आनेवाली है, वह आयेगी ही। फिर तुम्ही कहो, आज बहार की रात में अतीत और भविष्य की तड़पन में पड़कर हम होठों के सामने लहराते हुए गरमागरम पुलाव और कोरमे को ठंढा क्यों होने दें! यह भी कोई अक्लमन्दी है?"

चुन्नीलाल के चेहरे की शिराएँ खिंची ही रह गईं; पर सुरेश के चेहरे पर एक शिकन तक न आई। उसके मिज़ाज की चुहलबाज़ी की लपटें दिल पर बादलों को कभी घिरकर जमने नहीं देतीं।

पार साल जब उसकी स्त्री अचानक मायके में प्रसव-पीड़ा से चल बसी, तो ख़बर पाते ही उसने एक हाथ कलेजे पर रखा और दूसरे हाथ से फेनिल प्याले को होठों से लगाया। उसने आठ आँसू गिनकर उस बिचारी के स्मृति-तर्पण में ख़र्च किये, एक दर्द-भरी कविता लिखी और फिर यारों के साथ चकल्लस की महफ़िल में लवलीन हो गया।

उसकी शादी की चर्चा फिर चल रही थी; पर उसे कोई मनचीती पात्री नहीं मिलती थी। अब वह बच्चा नहीं था कि उसके पिता कुलीनता की वेदी पर उसे हलाल कर दें। वह स्वयं देखे-सुने बिना किसी भी अजनबी चिड़िया को अपने आशियाने में जगह देने को तैयार न था। इसी बीच बेला की आँखों की माधुरी और साक़ी की सुराही की अंगूरी उसके दिल की तसल्ली के लिये काफ़ी हो गई।

दिन-भर वह पलँग पर लेटा हुआ रस-भरी कविता पढ़ता या कुंजगली की बेला का स्वप्न देखता। घर का तमाम काम पिता के या नौकरों के सर पर था। सही शाम ही वह शहर के बाहरवाले बाग़ीचे में गाने की तैयारी से निकल पड़ता और आधी रात तक सुर्ख़ आँखें रँगे, मुख से पान-सुपारी और इलायची-दारचीनी की ख़ुशबू छोड़ते, घर लौटता। जिस मदिरा-मधुवन की सैर मदीरा से शुरू हुई थी, वह शेरी और पामरी की क्यारियों से होती हुई ह्विस्की की चोटी तक पहुँच गई।

चुन्नीलाल छाया की तरह सुरेश का साथ देता रहा। उसी ने .खुशरंग प्याली की क्यारी भी दिखाई। वह कायस्थ-बच्चा था और उसने पाई भी थी कायस्थ की खोपड़ी। भभूका गोरा, नाक ऊँची; पर बिल्ली की-सी आँखें। सुरेश की शायरी और सवैयों पर उसके मुक़ाबले दाद देनेवाला कोई दूसरा न था। चकल्लस की पार्टी के वक़्त बूटी में बादाम और केसर के जुज़ घोंटनेवाला उसके ऐसा कोई दूसरा सिद्धहस्त न था। होटल से जानीवाकर की बोतल को लपेटकर, बग़ल में दबाये, तमाम जनता की आँखें बचाकर, सुरेश के अलग कमरे में पहुँचा देनेवाला उसके ऐसा कोई दूसरा विश्वास-पात्र भी न था।

सुरेश अमीर है; चुन्नीलाल ग़रीब। पर, ग़रीब होने की वजह से भी उसे एक विचित्र अभिमान था! सुरेश स्वभाव ही से सीधा सहृदय और चुन्नीलाल चुस्त-चालाक। जब चुन्नीलाल को रुपये-पैसे की ज़रूरत आ पड़ती, तब सुरेश दाँत में तिनका लेकर उसे इस तरह देता, जैसे वह उसका अहसान ले रहा हो।

बेला के दरबार में सुरेश की रसाई कभी न होने पाती, अगर चुन्नीलाल की मदद उसे न मिलती। इन्हीं ख़िदमत की वजह से सुरेश अपनेको सदा कृतज्ञ समझता और अपने भार को हल्का रखने की ग़रज़ से चुन्नीलाल के पैरों पर वह कंचन की डालियाँ लगाता। वह अपने परिजनों के सुख-दुख में हाथ बँटाता रहता और मुहल्ले के ग़रीब दुखियों पर भी एक आँख बराबर रखता। कितनों ने चकमे देकर अपना उल्लू भी सीधा किया; पर उसने कभी आँखें नहीं बदलीं।

लिहाज़ और मुरव्वत ज़िन्दगी की दो बड़ी न्यामतें हैं; पर अगर कहीं आँख खुली न रही, तो ये ज़हर की बूँद भी हो जाती हैं। शायद आँखों में जब पानी की बाढ़ आ जाती है, तब ज़माने की हवा का रंग परखना आसान नहीं रहता।

अमीरों की महफ़िल में तौबा कहनेवालों की जितनी सख्त कमी होती है, उतनी ही वाहवाही देनेवालों की ज़्यादती। यारों ने सुरेश को दिलदार पाकर उसे चंग पर चढ़ा रखा। सुरेश को अपनी कविता बड़ी मीठी लगती और उस कविता पर दस की मीठी ज़बान की दादख़ानी दही पर चीनी का काम करती।

अक्सर दोपहर को मुहल्ले के मेहरबान दोस्तों की मजलिस बैठती और उनकी करतालियों के ताल पर कवि की तुकबन्दियाँ आसमान पर थिरकतीं। जब हवा बँधती, तब सुरेश को चारों ओर सब्ज़बाग़ ही नज़र आते।

हवाई वाहवाही के प्रवाह में बड़े-बड़े बहादुरों के पैर उखड़ जाते हैं। कितने कठोरव्रती नेता, जिनके दिल पर न रूप की आँच लगी, न मोहरों की छाप पड़ी, इस साधुवाद की सुराही की सस्ती शराब की चाट पर पंदा चाटने से भी बाज़ नहीं आते। किस सार्वजनिक जीवन की तपस्या इस मेनका की मोहिनी से बेदाग़ बच सकी है!

फिर सुरेश तो बचपन ही से ढुलमुल-यक़ीन था। धीरे-धीरे बिरादरी के बूढ़े-बड़े भी उसके दरबारियों में दाखिल हो गये।

जिस दरबार में चारणों के बदले मंत्री और मुसाहबों ने भाट बनकर

मंगलाचरण छेड़ा, उसका दबदबा बहुत दिन टिक नहीं सकता।

बचपन में सुरेश पलकों के पलने पर झूलता रहा। जवानी में भी उसे रेशमी डोरियों का हिंडोला ही मिला। माँ-बाप ने उसे आराम में रखकर आरामतलब बना दिया, दोस्तों ने विलास का चसका देकर उसे विलास-प्रिय बना डाला और काव्य ने उसकी पोर-पोर में रस भरकर रसलीन कर दिया। इस भोग-विलास के मख़मली रास्ते पर उसे किसी जानिब से ठोकर नहीं लगी; इसी से उसे जीवन की चेतावनी नहीं मिली।

मुमकिन है, अगर वह इमारत की गोद में न पलता, तो उसके अन्तर की नाज़ुक वृत्तियों को आलस्य और विलासिता की चिकनाई पर फिसलने का मौक़ा नहीं मिलता।

बिना पसीने की कमाई के ज़र से बढ़कर यौवन का दूसरा शनिश्चर नहीं; चैन और इतमीनान की परिमल-लदी मलय-लपट से बढ़कर उठती हुई कोंपलों का दूसरा सङ्कट नहीं।

शायद भीगती मसों के लिए अभाव से कहीं ज्यादा भयङ्कर विभव का वायुमंडल है। घोली हुई सत्तू की पिंडुलियों से कहीं ज़्यादा शरारत का जुज़ दही की छालियों में है।

जवानी में जब कोई लोहे के चने चबाता है, तब कहीं आगे चलकर दुनिया के मैदान में लोहा ले सकता है। मगर मक्खन और मलाई से मुलायम मुँह में लोहे के चने तोड़ना पहाड़ तोड़ने से कम नहीं।

जगत् के धुरन्धर यशस्वियों के जीवन की छानबीन हो, तो उनमें सैकड़े नब्बे ऐसे ही मिलेंगे, जो अभाव की घाटियों से ही होकर यश के

शिखर पर चढ़े हैं। विभव की दिलकश रेशमी क्यारियों से दामन छुड़ाकर यश की पथरीली चोटियों पर चढ़ जाना आसान नहीं। पहाड़ की चढ़ाई पर बूट-सज्जित पैर, मुमकिन है, फिसल पड़ें; पर छाले-पड़े नंगे पैर बेखटक आगे निकल जाते हैं।

बात यह है कि विभव में विकास की जो सुविधाएँ हैं, वे अभाव में नहीं हो सकतीं; पर साथ-साथ यहाँ ऐसे दिलफ़रेब ख़तरे भी हैं, जिनसे बचकर चलना तलवार की धार पर चलना है। अकेला अभाव ही मनुष्य को रसातल का रास्ता नहीं दिखाता, विभव भी दिखाता है। या यों कहिये, विभव और अभाव पर किसी का बनना-बिगड़ना निर्भर नहीं; यह सब कुछ स्वभाव पर निर्भर है।

सुरेश की ख़ुशअख़लाक़ी और नेकमिज़ाजी उसे विभव के विषाक्त वायुमंडल की लपटों से न बचा सकीं। वह अजातशत्रु होकर भी स्वभाव जनित शत्रुओं से घिर गया। दस की वाहवाही की आबोहवा में किसे नहीं हवा लग जाती? उसने सहृदय हृदय तो पाया; पर उसे दुनिया का यथार्थ परिचय न मिल सका। वह चमन के फूलों के रंग और बू पर मस्त था; पर उनके कंटकाकीर्ण वृन्तों का उसे पता न था।

उसकी समझ की तंगी ने—अनुभव की कमी ने—उसके मन की सुकोमल वृत्तियों के आब को धूमिल कर दिया; और आख़िर उसके अन्तर की अतुल सम्पदा आराम और विलासिता के आवर्त्त में पड़कर बेकार हो गई।

शायद जो दिलदार होता है, वह अक्सर समझदार नहीं होता; और

जो समझदार होता है, वह अक्सर दिलदार नहीं होता। दिल और दिमाग़—दोनों का आब बराबर हो, ऐसा नायाब मोती दुनिया के समुन्दर में विरला ही मिलता है।

द्वितीय परिच्छेद

बनारस में आकर भी बेला बेला ही बनी रही—बेला-सी कोमल, बेला-सी विमल। शरद के हास-सी मीठी, रसाल की कोंपल-सी चिकनी; बालक के हृदय-सी सरल, मल्लिका के मुकुल-सी मञ्जुल; माता के आँसू-सी निर्मल, आरती की शिखा-सी उज्ज्वल; विधवा की मुस्कान-सी करुण, सती की छाती-सी कठिन; नव वधू की लज्जा-सी मधुर, उषा के तुषार-सी सुन्दर।

बिजली भी बिजली ही बनी रही—बिजली-सी चपल, बिजली-सी प्रबल। अंगूरी की झाक-सी तीखी, नदी की बाढ़-सी भूखी; कामिनी के कटाक्ष-सी चुटीली, नृत्य की छन्द-लहरी-सी रसीली; पाजेब की झंकार-सी मत्त, यौवन की वासना-सी मस्त; मन के स्वभाव-सी चंचल, कामना की

किलोल-सी विकल; सावन के समीर-सी आतुर, मानिनी के सुहाग-सी प्रखर।

बेला लज्जाशीला कुलवधू की तरह महफ़िल में भी आँचल सँभालती रहती और ज़मीन से आँखें उठाकर किसी की आँखों के सामने लाते ज़मीन में गड़ जाती। उसकी चितवनों में न जादू-नज़री थी, न चेहरे पर मीनाकारी।

बिजली के चेहरे की शान तो चाँद को चुनौती देती। सितारों में वह चाँद बनी रहती।

सारे शहर में उसकी डौंड़ी बज गई। न उसके ठाट-बाट में कमी हुई, न आन-तान में। वह वाराङ्गना-सी तो होकर रही; पर कुछ दालमंडीवाली रंडी नहीं। मजाल न थी कि कोई मुजरे की ग़रज़ से उसके पास तक फटक जाय।

उसके हुज़ूर में उसी का गुज़र था, जिसके घर पर हीरे और मोती की फ़सल होती; और जबतक वह फ़सल तबाह नहीं होती, उसके माया-जाल से कभी मुक्ति न थी।

उसकी चितवन की मिसरी में पगी कटारी कलेजे को चीरकर मिठास भर देती, और शहर के शौक़ीन रईस अपना सरबस लुटाकर भी उस नश्तर की मीठी नोक को दिल में जगह देने के लिए हथेली पर जान रखते थे।

वह कभी किसी के घर गाने-बजाने नहीं जाती—वहाँ के वेश्या-समाज से मरासिम भी नहीं रखती। उसकी दुनिया ही अलग थी। यह बात और है कि दोस्तों के इसरार पर कभी कुछ हरमोनियम पर गा-बजाकर

सुना दिया, या कभी जी चाहा, तो दो-चार अभिनव नृत्य-कला का इज़हार देकर चमत्कृत कर दिया। उसकी गति और भङ्गी की छन्दलीला कला की कुलेलों की पराकाष्ठा थी।

वह एक प्रगतिशील प्रवीण फ़ैशनेबुल लेडी के ढाँचे में ढली वेश्या थी, जिसे लोग दिल में जो समझें; पर सामने आने पर बैठने के लिए कुर्सी उठाकर देते हैं; जिसकी कोमल कला की बारीकियों पर—संगीत और साहित्य की ख़ूबियों पर—मुग्ध होकर सर झुका देते हैं।

उसे भोग-विलास में कोई नैतिक द्विधा तो थी नहीं; वह तो इसे केवल स्वस्थ शरीर की एक प्रकृत क्षुधा समझती थी। और, अगर शरीर की भूख के साथ-साथ पेट की भूख भी मिटती हो, तो फिर पुरुषों के स्वास्थ्य और धन किस दिन के लिए बने हैं?

उसे अमीरों को निःस्व और बिस्मिल बनाकर तड़पाने में एक ख़ास मज़ा मिलता। किसी के सीने से कलेजा निकाल लेना उसके बाएँ हाथ का खेल था। उस किरातिनी के तीखे तीर ज़हर में बुझे थे।

उसके दिल में कहीं मुरव्वत की जगह न थी। मगर, यह बात ज़रूर थी कि अमीरों को इधर लूटती, तो कभी ख़ुशामद के झोंक पर ग़रीबों को हज़ार लुटा भी देती। अजब थी उसकी तबीयत की रवानी! जिस रंग में आती, उसमें तूफ़ान उठा देती।

पार साल उसने एक अनाथाश्रम बनाने के लिए पाँच हज़ार गिन दिये। अपने तमाम प्रेमिकों पर टैक्स लगाकर उसकी जड़ भी मज़बूत कर दी। उसके लिए यह रक़म कुछ बड़ी बात न थी। आमदनी

बेशुमार थी, तो ख़र्च भी कसीर था।

बेला ने भी पूरी मदद की; पर उसकी औक़ात ही कितनी।

यों ही बिजली की कुत्सा के कीर्त्तन के साथ-साथ कीर्त्ति-कीर्त्तन की काकली भी थी।

बेला उसी मकान के एक अलग क़िते में रहती। वह घर पर भी मुजरा सुनाती—बाहर भी। बस, एक बँधी हुई फ़ीस—कोई फ़रमाइश नहीं। वह वेश्या के नाम से मशहूर तो हुई ज़रूर, पर वेश्या के प्रपंच से—वेश्या के छल-छन्द से—उसने अपनेको अलग ही रखा।

जब वह बाहर किसी नवेद पर जाती, मनचले जवान उस पर मज़ाक की चुटकियाँ चुस्त करने से बाज़ न आते। उसके रूप की कशिश पर या लहू के जोश पर हाथ आगे बढ़ा ही देते थे; पर उसकी चितवन और चेष्टा से कुछ ऐसी रुखाई टपकती कि बीच ही में उन्हें हाथ समेट लेना पड़ता रहा।

किसे मालूम था कि उसके जीवन के अन्तराल में एक तीव्र हाहाकार छिपा है—वह वेश्या होकर भी वेश्या के आचरण से क्यों फटकी रहती है। जब बिजली साथ रहकर भी जान न सकी, तो औरों की क्या कहिए!

यह शुचिता का ढंग मुजस्सिम ढोंग है—यह आचार का तूमार सैकड़ों चूहे हज़म करनेवाली बिल्ली का वैराग्य है—एक दिन इस आडम्बर की तमाम पोल खुल पड़ेगी—यही धारणा उसके विफल-मनोरथ प्रेमियों की बराबर रही।

बिजली ने बेला को गाने-बजाने की तालीम तो दी; पर लाख कोशिश कर भी उसे वेश्या-सुलभ नाज़-अन्दाज़ की कला में दीक्षित न कर सकी। उसके गले में सुरीली तान की जादूगरी तो आई, मगर चितवन में न विद्युत्-कटाक्ष की बाजीगरी आ सकी, न मुस्कान में ज़हर की बुझी छुरी। न ज़िन्दादिली पनपी, न मस्तानापन आया।

बेला अपने स्वभाव और शील की शुचिता से उस दूषित वायुमंडली में भी वैसे ही प्रसन्न थी, जैसी काशी के सैकड़ों नाबदानों को पीती हुई प्रसन्न पुण्य-सलिला गङ्गा की निर्मल धारा। उसमें आबोताब के अभाव ने ही उसे बाज़ार में नायाब कर दिया। इधर बिजली कमाल के आबोताब के प्रभाव से नायाब थी।

बेला पौ फटते ही उठकर गङ्गास्नान को जाती, नहा-धोकर मन्दिरों का चक्कर काटती, दीन दुखियों में चवन्नियाँ वितरण करती। घर लौटकर अपने हाथों से सरजू को सानी-पानी देती, उसकी आरती उतारती, राम का नाम लेती, रामायण गाकर पढ़ती और तब अलग चौके में जाकर रोटियाँ सेंकती।

जब वह इधर खा-पीकर तैयार होती, तब उधर पलँग से उठकर जँभाई लेती हुई—या ग़ुस्ल-कमरे में विलायती वर्ज़िश में मसरूफ़—बिजली की आवाज़ कानों पर पड़ती—"बेला, टब के पानी में ज़रा लवेंडरी साल्ट तो छोड़ देना। और सुनती हो बहन, आलमारी से ज़री-किनारे की साड़ी निकाल देना—वह बुलबुल-चश्म जम्पर भी।"

बेला टब में साल्ट छोड़ती, फिर साड़ी निकालकर चुन देती।

ग़ुस्ल से निबटने के बाद बिजली आइने के सामने कुर्सी पर बैठकर प्रसाधन की तैयारी करती, तो बेला उसके लम्बे बालों में कंघी देती, सँवारती और जूड़े बाँधती। आपस में इधर-उधर की कुछ बातें भी चलती। साथ-साथ बिजली टोस्ट भी कुतरती जाती। चाय की चुस्कियाँ भी जारी रहतीं। कभी बिजली के रूप दीपक पर मँड़रानेवाले पतंगों की चर्चा छिड़ती। किसके पर झुलस चुके, किसके बिलकुल जल गये, किसके पर अभी जम रहे हैं, कौन अभी अलग ही से चक्कर काट रहा है और किस तरह वह इस दीपक की लौ पर टूटकर पड़ेगा।

ग़रज़ यह कि बिजली बेला को उल्लू फँसाने की कला समझाती और पुरुषों के कलेजे के लहू की धारा पर अपनी तारीफ़ों के पुल बाँधती। वह किस तरकीब से आज तक अमीन को उँगलियों पर नचाती चली आई और साथ-साथ बनारस के कितने रईसों को उलटे छुरे से मूँड़ डाला, इस कमाल के फ़न को तूल देकर समझाने में उसे ख़ास दिलचस्पी थी।

उड़ती चिड़िया पहचानना या किसी के मन के चोर को ताड़ लेना उसी चितवन की ख़ासियत है, जिसे डूबने की लत है। और, बिजली की आँखों में यह बाबत न होती, तो वह दुनिया को कभी चरा न पाती। उसे दिल टटोलने के लाखों लटके मालूम थे; पर उन्हें घोलकर बेला को पिला देना उसके इमकान के बाहर था।

बिचारी बेला इन्हें कहाँ तक समझ सकती और कहाँ तक इनपर

अमल करती ! वह कुछ सुनती, कुछ न भी सुनती; मगर हूँ-हूँ की झड़ी बाँधे रहती।

बिजली कभी झल्लाकर बेला को डांट सुनाती—"दुर पगली ! तुझे दिल चीरना है, तो चितवन की कोर को तिरछी रख ! सीधी आँखें क्या ख़ाक चोट करेंगी ? भला, तू इस तरह सहमी क्यों रहती है, लजाई-सी ? तेरे क़दमों में न शोख़ी है, न तेज़ी। मैं वह बिन ढूँढ़ रही हूँ, जब तू आसमान पर क़दम रखेगी। देख तो सही, मैं तेरे लिए घाट चराती थक गई, तुझे अबतक डोरी डालना भी नहीं आया। देखते-देखते हाथ से शिकार निकल जाता है।"

बेला सहमी हुई ज़बान से जवाब देती—"मैं नज़र डालना जानती, तो अब तक बाज़ आती ?"

बिजली झिड़कती—"नहीं जानती ! यह भी ज्यामेट्री का कोई फ़ार्मूला है, जिसे समझाने के लिए मास्टर की ज़रूरत है ? यह तो स्त्रियों का पैदाइशी हुनर है। घर में रहो या बाज़ार में, हर हालत में इसे जानना है—इस पर अमल करना है। मुझे क्यों नहीं देखती ? मेरे क़दमों पर रुपये कुछ आसमान से नहीं टपकते। तेरे गालों की क़ुदरती मीनाकारी अकेली कहाँ तक रंग लायेगी !"

कभी नये फ़ैशन की साड़ियों और जम्परों की आलोचना होती, कभी नये गानों के सुर की चर्चा चलती। कभी किसी दिलचस्प नॉवेल के पात्रों पर बहस छिड़ती—किसी कविता की मार्मिकता की छान-बीन होती।

बिजली बेला का दिल गुदगुदाती—उसके सूने जीवन में रस-संचार

की बन्दिश बाँधती—उसे धार्मिक किताबों की उदास बे-लौस आबोहवा से साहित्य की हरियाली की ओर खींच ले जाती।

बेला की उदासीनता पर बिजली लाख झल्लाती सही; पर उसे दिल से प्यार करती; मन-ही-मन उसकी मीठी बातों—मीठी चितवनों—की आरती उतारती। दोनों के मिज़ाज में—नाज़-अन्दाज़ में—आकाश-पाताल का अन्तर ज़रूर था; पर उस अन्तर के अन्तराल में एक गंभीर आन्तरिक स्नेह का समुद्र हिलोरें ले रहा था।

जब दो-पहर को बिजली सोती रहती, तब बेला अपनी किताबों में डूबी रहती; या कभी-कभी जी ऊबता, तो छत पर खड़ी होकर विश्व की हिल्लोल लहरी को हेरती—आकाश की सौम्य अनन्त नीलिमा पर आँख सेंकती, उसकी अपरूप मायामय किरणों की छटा अङ्क में भरती, ऊपर उड़ते हुए कबूतरों की कलाबाज़ी देखती, शून्य में तैरनेवाले अलबेले बादलों की बेकली ढूँढ़ती, सामने की मौलसिरी के पत्तों का मधुर मर्मर सुनती और किसी गंभीर अनुभूति के स्पन्दन से बार-बार काँप उठती।

वह देखती कि दाहनी ओर छिछली बावली में पालतू मरालों की अवली काँव-काँव करती हुई काई-कंकड़ी में किलोलें करती फिरती है; सड़क के उस पार मिठाई की दूकान पर टिफ़िन की छुट्टी पाये हुए स्कूल के लड़के दो-दो पैसे के मगदल और चमचम खरीदने के लिए पिले पड़ते हैं; बिजली की बाँदी की बेटी 'बूँदी' सड़क के पाइप से घड़ा भरते-भरते एक-आध मीठी मुस्कान और दो-एक चुटीली चितवन हलवाई के लौंडे को नज़र करती है, और उस उपहार के विनिमय में दो-चार लड्डू

या बताशे आँचल के छोर में बाँधती हुई घड़ा सर पर रखे चौके में झमक कर चली जाती है; मुरारि मिश्र की विधवा किशोरी वधू घर के तमाम जूठे बरतनों को आँगन में कुएँ के पास इकट्ठा करके सर झुकाये माँज रही है—पसीने से तर-ब-तर हो रही है, ओसारे पर बैठी उसकी सास अपनी गोद के नन्हें बच्चे को दूध पिला रही है और नथ हिला-हिलाकर बहू पर आवाज़ कस रही है।

यों ही जब दिन का मेला धीरे-धीरे शिथिल होने लगता और गली के मोड़ पर 'बाँकुड़ी चूड़ियाँ—शरबती चूड़ियाँ' की हाँक देकर चूड़ी-वाला दृष्टि-पथ से ओझल हो जाता, तब दुपहरिया की अलसाई अंगड़ाइयों में उदासी की एक लहर-सी उठ आती—साथ-साथ एक स्वप्नवाही शून्य रेखा बेला के अन्तर-पट पर खिंच जाती।

वह छत के एक ओर साये में बैठ जाती। जो निरानन्द निस्तब्धता प्रकृति के एक-एक जर्रे पर चुई पड़ती थी, वही निविड़ निःसङ्गता उसके कलेजे में मूक हूक बनकर धीरे-धीरे सघन होने लगती। वह ताड़ की चटाई पर चित लेट जाती और उसके चारों ओर एक रहस्य-तुषार घिर जाता। इस जन-विरल उदास दुपहरी में वह किसी कल्प-लोक की रचना करने लगती या—भगवान् जाने—अतीत की चिता-भस्म को कुरेद-कुरेदकर किसी अमिट मुहूर्त की कणा ढूँढ़ने लगती। जो हो, इस चिन्तन के साथ-साथ न जाने किस स्मृति-तर्पण के निमित्त उसकी आँखों से आँसू का अर्घ्य जारी हो जाता।

तीसरे पहर का प्रसाधन कुछ विशेष आयोजन के साथ होता।

बेला को भी रोज़गार के लिए लैस होना पड़ता। बिजली की देख-रेख में उसे साड़ी भी बदलनी पड़ती, लट भी सँवारनी पड़ती। चन्दनी साड़ी पर मुख की चाँदनी निखर पड़ती। ललाट पर कुमकुम की बिन्दी सोने की अँगूठी में रक्त-मुखी माणिक की चुन्नी-सी लौ फेंकती। गालों के क़ुदरती जावक पर न किसी विलायती गुलाल के छींटों की ज़रूरत थी, न ख़रबूज़े की तरह सुर्ख़ होठों पर कोई नकली रंग चढ़ाने की हाजत।

बिजली जानती रही कि उसका न बेला-जैसा चाँद-सा मुख है, न मुख पर वैसा काला तिल; न वैसा सोने का रंग है, न रंग पर वैसा स्निग्ध माधुर्य। मगर, वेश-भूषा के विकास के फ़न में वह उस्ताद थी और बेला अनाड़ी। उसकी शोख़ी की रँगरलियों में एक अजीब रंगीनी है, जो रंगीन तबीयतों पर बात-की-बात में रंग जमा देती है। और, मुस्कान और चितवनों की तीरन्दाज़ी के मैदान में तो वह धनुर्धरों में धनञ्जय है।

साड़ियों के रंग और शेड के चुनाव में वह अपना सानी नहीं रखती। वह अच्छी तरह जानती रही कि उसके शरीर की आभा पर किस रंग की साड़ी खुलेगी, उसके शरीर का रंग किस शेड की साड़ी पर फूट पड़ेगा, पहनने के वक्त कहाँ चुन देनी होगी, किस अङ्गों पर चुस्त करना होगा, कहाँ खुला या ढीला रखना होगा—ताकि उसके सुडौल स्वस्थ अंगों के उतार-चढ़ाव की दिलफ़रेब रेखाएँ शौक़ीनों के दिल पर नक़्श हो जायँ।

आजकल साड़ी और जैकेट किसी के नाज़ुक बदन पर बारीक चिलमन

का काम देते हैं। उन्हें तो एक-एक सुडौल अंग को परदे से इज़हार करना है, उन पर परदा देना नहीं है। अगर, साड़ी के परदे से छनकर शरीर की रंगीनी खुलकर चमकी नहीं, तो फिर क़ुदरती तसवीर पर ऐसे घटाटोप से फ़ायदा? अब परदे का ज़माना ही कहाँ रहा और उसकी ज़रूरत ही क्या रही—ख़ासकर इस गर्म मुल्क में!

जब बर्फ़ीले देशों में विलायती मेमों ने गाउनों की बुलन्दी की धज्जियाँ उड़ा डालीं और न्युमोनिया को अँगूठा दिखाकर हिमवान् के आगे खुला सीना भिड़ा दिया, तो फिर भारत की स्त्रियाँ इस तपिश में खुली गर्दन के जैकेट भी न पहनें? यह भी कोई बात है! और, जब उभार के ज़माने में हर अंग पर नई कोंपलें निकल आती हैं, तो फिर हवाये-बहार से आँचल का सरकना कोई ताज्जुब नहीं।

तृतीय परिच्छेद

सात बज गये होंगे। कमरों में रोशनी जल चुकी है। बेला और बिजली दुमंज़िले के बरामदे पर खड़ी हैं। एक की साड़ी कपूरी, दूसरे की फ़िरोज़ी। दोनों किसी ख़याल में चूर हैं। बेला तो बुत बनी है; पर बिजली तो चुप भी रहती, तो पल-भर स्थिर न रह पाती। उसके लीलायित तन की गति-भंगी जारी है—बोटी-बोटी फड़क रही है।

वह खड़ी भी रहती, तो मस्त झूमती हुई; मानों अपनी ही मौज में लहरा रही हो। वह बेवजह हिलती और इठलाती; आँखें नचाती और मुस्कुराती। कभी आँचल सरकाती, कभी उँगलियों में आँचल का छोर लपेटती, कभी हाथ उठाकर अँगड़ाइयाँ लेती। बस, नस-नस में वसन्त-चाञ्चल्य की लपट!

बेला हँसकर बोली—"बहन, जब तुम खड़ी भी रहती हो, तो लगता है, जैसे कि तुम झूम रही हो!"

"सच! जानती हो, बेला, इस ज़माने में ठिठककर खड़ा रहना गुनाह है। बस, झूमते रहो, बढ़े चलो! यह लो, तुम्हारा कुँअर कन्हैया आ पड़ा। पीछे पुछल्ला भी है—चुन्नीलाल।"

बेला चुप खड़ी रही।

"देख लेना, वह आते ही कुछ रंग लायेगा। उसके चेहरे पर मज़ाक के हुरूफ साफ़ झलक रहे हैं। आँखों में अंगूरी की शोख़ी भी साफ़ है। याद रखना, आज वह यहीं खाने को भी कह गया है!"

सुरेश सीढ़ियों से ऊपर चढ़ आया। वह बाँका-छैला बना है। बारीक सिल्क का पंजाबी और अंडी की हल्की फ़ालसई चादर। हाथ में चन्द बेले के फूल।

आते ही उसकी नज़र बेला पर पड़ी; और उसने चट फूल-भरे हाथों को जोड़कर, आँख और मुँह बनाये, ध्यानपूर्वक वन्दना शुरू कर दी—

"यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।"

"ये तो गीता के श्लोक हैं! अर्जुन ने जब भगवान् की वन्दना की थी! आप·····"—बेला ने मुस्कुराकर कहा।

"क्यों नहीं, सनम का दर्जा तो भगवान् से कम नहीं। बुत का रुतबा तो ख़ुदा से बढ़कर है। मेरी वन्दना तो बेवजह नहीं। ग़ौर फरमायें, कृष्ण ने ज्ञान-विज्ञान का अलौकिक उपदेश किसी तपोवन के वायुमंडल में नहीं

दिया था, दिया था युद्धक्षेत्र में। मैं जब यहाँ आता हूँ, आपको देखकर इस कुलीन ब्राह्मण के अन्तर में कौरवों और पांडवों की सेना खड़ी हो जाती है और आप उन दोनों प्रतिद्वन्द्वी सेनाओं के बीच में खड़ी होकर मुझे ज्ञान के उपदेश सुनाती हैं, तब मुझे भी तो लाज़िम है, अर्जुन की तरह आपके विराट् रूप का अभिनन्दन करना!"

"आख़िर इस अभिनन्दन का अभिप्राय?"—बिजली ने हँसकर पूछा।

"कहाँ का अभिनन्दन, बहन! यह चुटकियाँ हैं—चुटकियाँ!"

"ओ! यह रंग है! ज़रा मुझे भी तो समझाइये।"—बिजली ने भृकुटी पर बल देते हुए कहा।

"मैं इस कूचे में आकर जिस मरने-जीने के तमाशे को देखता हूँ, उसी को गा रहा हूँ—परवानों का शमा पर टूटकर आना और जल-भुनकर शहीद हो जाना!"

"अच्छा!"

"जी हाँ। इस महफ़िल में तो बग़ैर सर से कफ़न बाँधे किसी का गुज़र नहीं।"

"सो क्यों?"

"चूँकि इस महफ़िल का यही लिबास है—इस दरबार की यही वर्दी है। आख़िर आशिक़ों के सर की पगड़ी तो दूसरी नहीं। मुझे भी परवानों में नाम लिखाने का परवाना मिल चुका है!"

"तो पर भी जम चुके होंगे!"—बिजली मुस्कुराकर बोली।

"जी हाँ! मगर अभी शमा तक गुज़र नहीं; फ़ानूस के इर्द-गिर्द पर मार रहा हूँ!"

"आख़िर आप हैं किस महफ़िल के परवाना?"—बिजली छेड़ने की ग़रज़ से आँखें मारती हुई बोली।

"यों तो जिस बज़्म में उल्फ़त की लौ मिले, मैं जलने पर तैयार हूँ; मगर"—सुरेश ने बेला की तरफ़ इशारा करते हुए कहा—"यहाँ तो मैं इस बुते-बेपीर पर क़ुरबान हूँ। मैं जानता हूँ, आप जो तूफ़ान उठा सकती हैं, वह इसके लिए कभी मुमकिन नहीं। बोलचाल का सेहरा तो आप ही के सर है। बेला में न वैसी तबीयत की मस्ती है, न वह जादूकलामी—ख़ुशख़रामी। न वे निगाहों के करश्मे हैं, न मुस्कान के ग़ुच्चे!"

"लिल्लाह! बस कीजिये!"

मगर, इसकी छटा तमाम आलम से निराली कुछ और ही रंग लाती है। जब यह शर्म से नीची निगाह किये आँचल सँभालती है—झेंपती हुई बेवजह सर पर सरकाती है, तब वल्लाह! कलेजा निकाल लेती है। यह एक अनोखा अनमोल ढंग है, जो मेरे जिगर पर टूटकर आता है।"

"बहन, ये कवि हैं। इनकी बातों में न आना। बातों में पर बाँधते हैं।"—बेला ने झेंपते हुए, बिजली की ओर मुड़कर, कहा।

"कुछ परवा नहीं, उड़ने दो। यही रंग सही। कविजी, मुझे भी कभी अपना कलाम सुनाते!"

"हाँ हाँ, शौक़ से। किस मज़मून पर?"

"यही जो आप कह गये—आँचल सँभालने पर—यही सही !"—बिजली ने मुस्कुराकर कहा।

"जो हुक्म ! लेकिन यह तो बतलाइये, माशूक़ा हो या नायिका—बहार की बुलबुल या वसन्त की कोयल·····"

"मेरे लिए दोनों बराबर हैं, लैला या ललिता। सनम के कूचे की बादे-सबा हो या गोकुल की गली के मलय का झोंका—जो हवा हो, वह दिल के पहलू से उठे !·····"

"बस, मैं समझ गया। अच्छा, तो पहले एक पेग मँगवाइये, यों तो दिमाग़ की पपड़ियाँ खुलकर उभरेंगी नहीं।"

"तो बस, कमरे में सुराही और साग़र दोनों मौजूद हैं। वहीं जाम का दौर हो !"

"और कलाम का भी !"—सुरेश ने हँसकर कहा, और कमरे में घुस गया।

कल्पना की परी को जगाने के लिए शीशे की परी की मदद ज़रूरी थी। हलक़ के नीचे शराब उतरी और दिमाग़ की पंखड़ियाँ खुलकर रंग लाईं। फिर तो बात-बात में काव्य के छींटे बादल-से उमड़ आते।

बेला छत पर खुली हवा में चली गई। बिजली बरामदे में टहलती हुई चुन्नीलाल से बातें करने लगी।

"क्यों चुन्नी, कुछ गाढ़ी रक़म दिलवाओ, तो मैं तुम्हारे दोस्त की अर्ज़ी सरकार में पेश करूँ !"—बिजली ने छेड़ते हुए साँसी में कहा।

"आप अर्ज़ी मंज़ूर तो करायें ! मैं दस्तबस्ता हाज़िर हूँ।"

"पहले यह तो बताओ, वह बेला को जी से चाहता है या महज़ शायरी का मसाला ढूँढ़ता है !"

"जी नहीं, हुज़ूर ! दिल की लगी है, कोरी दिल्लगी नहीं।"

"जो हो, तुम भी अपना कमीशन ले लेना। आख़िर कहाँ तक ?"

"आप बेफ़िक्र रहें। सौ मन तेल की कमी न होगी, पहले राधा नाचना तो क़बूल करें !"

"यही तो टेढ़ी खीर है। ख़ैर·····"

कि सीढ़ियों पर जूता खटखटाता दरवान आकर हाज़िर हो गया—"हुज़ूर, तार है !"

"तार ?"

"जी हाँ।"

दरवान ने बिजली के हाथ में लिफ़ाफ़ा दे दिया। बिजली ने खोल कर पढ़ा, तो उसके होठों के अन्तराल में मुस्कान की एक छीन रेखा झाँक गई।

"क्यों, ख़ैरियत तो है ?"—चुन्नीलाल ने पूछा।

"हाँ, अमीन आ रहा है। इसी शाम की गाड़ी से। आध घंटे में पहुँच जायगा।"

"क्या वे बनारस में नहीं हैं ?"

"नहीं ! ज़माना हुआ, घर गया था—दिल्ली। बीवी बीमार थी।"

"फिर तो आज पार्टी जमकर होगी !"

"अच्छा, तुम मोटर लेकर जाओ। स्टेशन से यहीं लेते आना।"

चुन्नीलाल खट-खट नीचे उतर गया।

"किसका तार है, बहन!"

बिजली बेला की ओर मुड़ी और मुस्कुराकर बोली—"अमीन की बीवी चल बसी!"

"बिचारी·····"—बेला ने साँसी में कहा।

"महीनों से भुगत रही थी। नजात मिली। जभी तो अमीन हफ़्तों से दिल्ली में अँटका था। आज वह बनारस लौट रहा है।"

"ठीक है। यहाँ आने से दिल की कली खिल पड़ेगी।"—बेला ने ज़रा मुस्कुराते हुए कहा।

"तुम भी उड़ती हो, बेला!"—बिजली उसके चिबुक पर एक मुलायम ठुनक देती हुई बोली।

बेला और बिजली कमरे में दाख़िल हो गईं।

"कवि महाराज! कहिये, कविता तैयार है?"

"जी हाँ, सुनिये!"

सुरेश ने एक चुमुक में गिलास के रस को हलक़ के नीचे उतारा और काग़ज़ हाथ में लेकर सुनाना शुरू किया—

आँख के उजारे मों लालन पी प्यारे
कच कारे घुँघराले की छाया तन डारि दै।
कानि मों राखौ कान्ह सुनिये दे कान बिनय
कुंजन बिहार छाड़ि दुखिनी निहार दै॥
मुरली धर दीजै औ मुरलीधर देखौ ये

मारुत झँकोरन के दुख ये निवारि दै।
दुहूँ कर फँस्यो हैं गागर सर हाथ धरयो
उर उघरो हैं, नेक आँचल सम्हारि दै॥

"वाह! आपने तो क़लम तोड़ दी। एक-एक पद में जान फूँक दी है! बेला, क्या उधर बुत की तरह खड़ी हो? ज़रा इस कलाम के जौहर को दाद तो दो। मैं होती, तो मुँह चूम लेती!"

"काश बेला के भी दोनों हाथ योंही फँसे रहते और वह मुझे योंही आँचल सँभालने को·····"—सुरेश ने सीने पर हाथ रख एक सर्द आह ली।

"आप योंही रस की धार सींचते जाइये। कभी तो उसके दिल की कोंपलें सरस होंगी ही।

"मैं तो सींचने के लिए तैयार हूँ; मगर हाँ, उधर से थोड़ी भी मदद मिलती, तो आप देखतीं कि मेरी कविता की क्यारी में कैसे नायाब गुल-बूटे निकल आते हैं।"

"कैसी मदद चाहिये?"

"अजी, ज़रा काव्य के अनुरूप रूप होता। यहाँ तो पैरों में न मेंहदी है, न महावर; न मञ्जीर का शिञ्जन है, न घुँघरू की रुनझुन। जूते मोज़े आकर चरणों के चटक राग-रंग को चटकर गये। अब आप ही कहें, कवि का रंगीन हृदय काले-कलूटे जूते के हचर-मचर पर ख़ाक लोट-पोट होगा! काश, आँखों में मेघकज्जल अञ्जन होता— होठों पर पान का कुंकुम, माथे पर बिन्दी, कमर में किंकिनी, कपोलों पर

चन्दन का राग, अङ्गों में केसर का पराग·····"

"कवि महाराज! आप ख़्वाब तो नहीं देखते! अब तो न गोकुल की गली है, न मञ्जीरों की मुरली। औरतों की नज़ाकत के दिन गुज़र गये। अब आप उन्हें गहनों की दिलफ़रेब बेड़ियों में बाँधकर नहीं रख सकते। आपको अपने काव्य की क्यारी बदलनी होगी, कल्पना की दौड़ पलटनी पड़ेगी। वह दिन क़रीब है, जब औरतें ख़ुद कमान लेकर मैदान में उतरेंगी!"

"आख़िर यह हथियारबन्द होकर मैदान लेने की ज़रूरत तो नज़र नहीं आती। हम तो योंही जान दिये बैठे हैं। आपके अबरू को तो क़ुदरत ही ने कमान दे रखी है—एक-एक अदा में तमंचे की चोट भर दी है। मुस्कान में शमशीर है; चितवन में अक्षय तूणीर। पाञ्चजन्य की टनक चूड़ियों की खनक में हैं, गांडीव की टङ्कार मञ्जीर की झङ्कार में!"

"बस-बस, फिर वही शायरी—एक ही पेग पर धुन सवार हो गई! भई, अब इन लन्तरानियों में हिन्दुस्तान की औरतें आनेवाली नहीं। यहाँ मञ्जीर ही कहाँ रहा जो झङ्कार होगी!"

"न सही मञ्जीर, आपके गले की झङ्कार किस टङ्कार से कम है! एक तान में कलेजा निकाल ले!"

"पंडाजी, अब औरतें इस ज़नानपन को जूती की नोक पर मारती हैं। आपको पता भी है, हम आज क्या चाहती हैं?"

सुरेश इस 'पंडा' नाम पर खीज गया। झिझककर बोला—"बीबी-जान, आपके साथ यह सवाल नहीं कि आप क्या चाहती हैं। आपके

साथ तो सवाल यह है कि हम क्या चाहते हैं! हमारी चाह आपकी चाह की कुंजी है। हम आपमें जिस तसवीर को ढूँढ़ते हैं, वही तसवीर आपकी ज़िन्दगी का लक्ष्य है; कोई दूसरी मनमानी तसवीर कभी मुमकिन नहीं। कोई ज़माना क्यों न हो, नारी के अस्तित्व की भित्ति यही रही है और यही रहेगी। जबतक मेरी निगाह में औरत का ज़नानपन रंग रखता है, तबतक आपमें मर्दानगी कभी पनप नहीं सकती। यही Psychology है। मर्द के हाथों में चूड़ियाँ कभी आब नहीं देतीं; औरत के चेहरे पर मूँछें कभी ताव नहीं लेतीं। आपकी निगाह में जो क़द्र हमारी चौड़ी छाती की है, वही क़द्र मेरी निगाह में आपकी उभरी हुई छाती की है। जो लुत्फ़ आपको जूड़ा बाँधने में है, वह कभी परतला बाँधने में नहीं मिल सकता। आप बन्दूक़ छतियाने से दूध-पीते बच्चे को छतियाये रखना ज़्यादा पसन्द करती हैं। यही क़ुदरत का फ़रमान है। जीवन के रण में चारों ओर झनकती तलवारों में घुसकर मारना और मरना आपका काम नहीं। हाँ, उस जंग में घायल बिस्मिल को सेवा का रस पिलाकर ज़िन्दा कर देना आपके बाएँ हाथ का खेल ज़रूर है। मैं समझता हूँ, आपके जीवन की प्यास हमारे दिल की तलाश है; और हमारी दिली तलाश औरत के भीतर नख़रा है—नाज़ है—हुस्न है—अन्दाज़ है—सिंगार है—साज है—शर्म है—लिहाज़ है।"

"बस-बस, मैं समझ गई। आप उसे अपनी लालसा की पुतली बनाकर रखना चाहते हैं। मगर उसे सिंगार के माया-जाल में—ज़ेवरों की मनोहर जंजीर में—बाँध रखना अब मुमकिन नहीं। अब औरत की

प्रगति के लिए मर्द की अनुमोदन-दृष्टि की ज़रूरत रही नहीं। आज वह आज़ादी की दीवानी है। जीवन के मैदान में अपना क्षेत्र वह आप चुन लेना चाहती है।"

"माफ़ कीजिये। आप हवा पर उड़ रही हैं। ये सब बहस की बातें हैं। यह आपकी बुद्धि की माँग है; आपके हृदय की नहीं। आप ज़बान से कुछ और चाहती हैं, दिल से कुछ और। जब इधर ज़बान से 'ना' निकलता है, तब उधर दिल से 'हाँ' उठता है। यह आपका निराला अन्दाज़ हम रोज़मर्रा देखते हैं। उधर भवें तनती हैं, इधर पलकें झिपती हैं। औरत की ईर्ष्या लाख प्रलयिनी क्यों न हो, उसका गुस्सा गुलाब का काँटेदार फूल है। आप नई रोशनी की तालीम पाकर आज़ादी का राग लाख अलापती रहें, मर्दों से मैदान लेने के लिए आप हज़ार आसमान सर पर उठा रखें; मगर यह तमाम भफ़ारेबाजी आपके दिल की बेकली नहीं—आपकी ख़ललदिमाग़ी है। पुरुष की ग़ुलामी का ज़िक्र होते ही आज औरत बल्लियों उछल जाती है। मगर, उसी ग़ुलामी में, उसी सेवा में, उसके दिल की कली खिलती है—उसी जाँ-निसारी में उसके जीवन की संजीवनी है; इसीलिए आपका यह हवा बाँधना मुझपर कुछ रंग नहीं ला सकता; चूँकि हम जानते हैं कि आपकी प्रकृति क्या है, क़ुदरत ने आपको क्या दिया है—क्या नहीं दिया है—आपकी दिली आरज़ू क्या है—आपकी तलाश क्या है।"

"आख़िर वह क्या है?"—बिजली ने तिनककर पूछा।

"स्त्री को न धन की तलाश है, न यश की; न पद की, न गौरव

की; न मान की, न शान की। वह ढूँढ़ती है—पुरुष के प्रेम की छाँह, वह ढूँढ़ती है पुरुष की निर्भरशील बाँह। वह हरगिज़ आज़ादी की दीवानी नहीं। यह महज़ ज़माने की लन्तरानी है।"

"मैं हरगिज़ इसे तसलीम नहीं करती।"

"सच है, आप कभी इसे तसलीम नहीं करेंगी; आपका स्वभाव ही ऐसा है। स्त्री का कारोबार स्वप्न से है, सत्य से नहीं। स्वप्न मनोहर और कोमल है; सत्य कठोर। मनाने से औरत नहीं मानती—चूँकि इससे उसके मान पर आघात पहुँचता है। गुस्ताख़ी माफ़ हो, नारी को ज़नाना ही रहने में कुशल है—चूँकि उसके ज़नानपन की दौड़ मर्दों के दिल तक है। वह मर्द नहीं हो पाती, न सही; मगर पैदा तो करती है मर्द! यही क्या कम है? अगर वह पर बाँधकर पुरुषों की पाँति में उड़ना चाहती है, तो आधा मुर्ग़ आधी बटेर होकर कहीं की नहीं रहती। कहीं पर बदलने की जगह पर न निकल आवें! एक तो वह नारीत्व के गौरव से गिर जाती है, दूसरे इस शरीर से वह उस पौरुष की मंज़िल तक पहुँच भी नहीं पाती। ज़मीन तो छूट ही जाती है, आसमान भी नहीं मिलता। आज वह जोश में आकर मैदान लेना जो चाहती हो, मगर घर के आँगन की माया तो उससे छूट नहीं सकती। प्रकृति के पत्थर पर सर पीटकर क्या करेगी? दिल की दाल गलेगी, दिमाग़ की नहीं।"

"अगर गल गई तो?"—बिजली ने खीजकर पूछा।

"मुमकिन नहीं। मगर, हाँ, कहीं सचमुच उसकी प्रकृति की ऐसी विकृति हो गई—मीठे ज़नानपन को तर्क कर बेदर्द मर्दानगी पर चली

गई, तो फिर इस सृष्टि के खेल की बाज़ी ज़िच हो जायगी। यौवन में न रस रहेगा, न जीवन में रहस्य।"

"रहस्य?"

"हाँ, रहस्य। आपके चारों ओर एक रहस्य-तुषार का घेरे रहना ज़रूरी है, ताकि पुरुष का कुतूहल बराबर दून पर रहे। इस माया-महल के इर्द-गिर्द उसकी कल्पना चक्कर काटती रहेगी। जभी तो आपके चेहरे पर कोई घूँघट का पट ज़रूरी है, ताकि मर्द की आँख पर पर्दा पड़ा रहे।"

"मैं देखती हूँ, आपकी समझ पर पर्दा है। जिस कमज़ोरी—जिस ज़नानपन—को आप नारी की प्रकृति समझते हैं, वह उसकी प्रकृति नहीं, उसकी प्रकृति की विकृति है—सदियों से ग़ुलामी की बागडोर में बँधी हुई उसकी आत्मा की तबाही। आपने न उसे तालीम की रौशनी दी, न दुनिया की जानकारी। अगर कहीं कुछ दी भी, तो अपने स्वार्थ के काँटे पर तौली हुई। वह घर के कोने के अँधेरे में पड़ी-पड़ी सड़कर सिकुड़ गई। उसी सिकुड़न को आपने उसका क़ुदरती गुन समझ लिया। उसका आचार रहा—अन्ध-परम्परा पर चलना; उसका धर्म रहा पत्थर पर सर रखना और छाती पर पत्थर। ख़ैरियत है, अब हवा पलटी है, उसकी आँखें खुल रही हैं—वह बेड़ी की एक-एक कड़ी को तोड़ रही है और दुनिया इस जीवट के तमाशे को देखकर दाँतों उँगली काटती है; मर्दों के पाँव-तले से ज़मीन सरक रही है। मगर, वे नित्य नई दलील खड़ी कर अपनी हुकूमत की खिसकती दीवार को थाम रहे हैं। यह प्रकृतिवाली दलील कोई नई नहीं है। आप अपने इस मुल्क के

मर्दों की कैफ़ियत देखिये। उनका कहीं मर्दों में शुमार है भी? उनमें मर्दानगी की बू भी रह गई है? उनकी आत्मा का कहीं पता भी है? उनके ख़ून में कहीं गर्मी भी बाक़ी है? जब चन्द सदियों की ग़ुलामी की वजह वे आदमी से गधे बन गये, फिर यहाँ तो हज़ारों सदियों की चपकलिश की मार है। भरसक आज औरत अपनी आत्मा खो बैठी है? आप आइने में अपनी सूरत क्यों नहीं देखते? आज सभ्य दुनिया ने आपको क़ुदरती ज़नख़ा समझ रखा है—क्यों, क्या यही आपकी प्रकृति है? कुछ ईश्वर के दरबार से हिन्दुस्तानियों के बाँट में ग़ुलामी का तौक़ नहीं मिला। आप ईश्वर के अनन्य भक्त ठहरे—ऐसी ज़बरदस्त आपकी आस्तिकता चली आई, फिर अल्लाह के बन्दों के सर पर यह फिटकार क्यों? भाईजान, आप ईश्वर के बल खड़े न होकर अपने पैरों के बल खड़े रहते—ईश्वर की ओर झुकी निगाह न रखकर अपनी ओर निगाह रखते—दुनिया से निगाह मिलाते रहते, तो शायद आप आज ऐसे क़ुदरती ज़लील नहीं समझे जाते।"

"यह भारतीयों की प्रकृति नहीं, उनकी प्रकृति की विकृति है। आज भी वे गर्द झाड़कर उठ खड़े हों"—

"जी हाँ, गधा घोने से बछड़ा हो सकेगा; क्यों? हाँ, ठीक, आपकी ग़ुलामी क़ुदरती नहीं, हमारी ग़ुलामी क़ुदरती है; क्यों? हम आपकी चिलम भरने के लिए—आपकी दिलचस्पी के लिए ही बनी हैं, और आप हुकूमत के कोड़े फटकारने के लिए; क्यों? हम सनातन के शिकार हैं और आप सनातन के शिकारी—क्यों?

"आप किसी घर की लक्ष्मी रहतीं, तो फिर ऐसी ग़लतफ़हमी···"

"लक्ष्मी ? चरणों की चेरी—लक्ष्मी ? जेल की बन्दिनी—लक्ष्मी ? आप बाँदी को लक्ष्मी की टाइटिल न देते, तो आसानी से उसकी छाती से कलेजा निकाल न पाते। जब आज़ादी न रही, तो फिर पाकदामनी की खोखली मर्यादा उसकी आक़बत में काम देगी ? मुझे तो बाज़ार की रंडी क़ुबूल है, किसी घर की लक्ष्मी नहीं। उस कूचे में एक हद तक आज़ादी तो है। ताबेदारी भी है, तो अपनी मर्ज़ी की। आपने औरतों के लिए स्वच्छन्द जीवन का और तो कोई रास्ता रख नहीं छोड़ा है !"

"चूँकि स्वच्छन्द जीवन उनके लिए रसातल का रास्ता है।"

"और आपके लिए वही स्वर्ग का सोपान है, क्यों ?"

"आप समझतीं नहीं, मनुष्य के भीतर जो पशु है, उसे शान्त-संयत रखने के लिए धर्म का अंकुश—समाज का नागपाश—ज़रूरी है, चूँकि उसकी उद्दाम प्रवृत्ति केवल विवेक की बाग नहीं लेतीं ! अगर वह पशु मर्यादा की गड़ी के भीतर चरता-चुगता पोस मान गया, तो फिर कामधेनु बनकर वह जगत् को छाती का रस देता है। वही रस विश्व का पीयूष है—दिव्य प्रेम। जो सेक्स इंस्टिंक्ट—जो पशु-वृत्ति—कठोर शासन के अधीन कल्याण का पुलक है, वही शासन के बाहर कामुकता का कलंक। एक ही कामना संयम के तले सदाचार बनती है और अबाध स्वच्छन्दता के तले व्यभिचार। इधर मन का प्रसार है, उधर मन का विकार। इसीलिए स्वच्छन्द जीवन·····"

"तो आख़िर"—बिजली ने बात तराशकर पूछा—"आपका क्या मक़सद है ? वह पशु औरत ही के भीतर है, पुरुष के भीतर नहीं ?"

"नहीं, दोनों में बराबर है। मगर आपके लिए वह ऐसा भयंकर है....."

"बस, यही तो दाल की मक्खी है। बेदर्द समाज ने एक ओर तो रेशमी रास ढीली रख छोड़ी है और हमारी सहज प्रवृत्ति की गर्दन में लोहे की जंजीर डाल दी है। इधर पंजरियाँ पिस गईं; उधर एक बाल भी बाँका न हुआ। आप दगे साँड़ की तरह हरी-हरी फसल चरा करें—कोई रोक-टोक नहीं, और हमारे लिए ज़माने-भर की ज़िम्मेवारी है—पद-पद पर पाबन्दी, तिल-तिल पर पद्धति। क्या इन्साफ़ है ! युग-युग मर्दों पर सब कुछ निछावर करके भी आज स्त्री किरकिरी की किरकिरी ही रह गई—न पाया आदर, न पाया प्यार। आपने देवी, धर्मपत्नी और लक्ष्मी की धाँधली में रखकर उसका सर्वस्व लूट लिया। वह बुरी तरह ठगी गई। इसीलिए आज वह नई क्रान्ति—नई संस्कृति—के लिए कमर में तलवार बाँधकर खड़ी है। आज उसके आगे विवाह उसके जीवन का चरम लक्ष्य नहीं, जीवन का एक रहस्य है; ज़िन्दगी की एक अनूठी घड़ी नहीं, ज़िन्दगी के अनुभव की एक कड़ी है। आज उसकी निगाह में शौहर उसका सर्वस्व नहीं—सरपरस्त नहीं; उसके सुख-दुख का एक दर्दशरीक पार्टनर है। वह न उसे पति मानती है, न देवता। शौहर अपनी बीवी से उसी हद तक पाने का हक़दार है, जितना वह उसे ख़ुद देता है। आज स्त्री के

दृष्टि-पथ पर नया आसमान है—नई ज़मीन; उसके सामने घर नहीं, संसार है; सिंगार नहीं, अधिकार है; नज़ाकत नहीं, लयाक़त है; परम्परा की पाबन्दी नहीं, आत्मा की आज़ादी है। इसलिए वह ऊँची एँड़ी की जूती के तले तमाम अतीत को कुचलकर रंगीन भविष्य की ओर बढ़ रही है। वह आज आपके घर में, आपके दिल में जगह नहीं ढूँढ़ती। वह नई-नई आशाओं से भरी हुई, विश्व के समाज में—राष्ट्र में, अपनी जगह ढूँढ़ रही है। उसे न आपके सहयोग की परवा है, न विरोध का डर—चूँकि वह जानती है कि आज भी आप वही हैं, जो बराबर थे। और, जबतक आप ही के अखाड़े में आपकी पीठ में धूल नहीं लगती……"

"बस, मैं मान गया"—सुरेश ने ऊबकर बात का रुख़ बदल देना चाहा—"अब नारी की शक्ति मर्दानगी के अखाड़े में ताल ठोंकने चली है! हाँ, तो आँचल की पताका उड़नेवाली है, उड़े; वह भी दिलचस्प नज़ारा होगा! हमारी पगड़ियों की धज्जियाँ उड़ेंगी, उड़ें; यह भी एक क़यामत का तमाशा होगा! अब मर्द के हाथों पर चूड़ियों की बहार होगी—खूब! यह भी एक निराला मज़ा होगा! अब हमें पुलाव पकाने की बारीकियाँ हल करनी पड़ेंगी; वल्लाह! यह भी ज़िन्दगी का एक तजरबा होगा! आख़िर दुनिया का काम तो बन्द होगा नहीं। जब आप हमारे कार्यक्षेत्र में उतरना चाहती हैं, तो क़ुदरत के दरबार से हमें भी आपके सरहद के अन्दर जाने का पासपोर्ट मिलना चाहिये! आप हमारा भार लेती हैं, आपका भार हमें लेना होगा। मैं तो सबसे पहले माशूक़ों में नाम लिखवा लूँगा। मेरी मर्दानगी सर पर कफ़न बाँधे

तैयार बैठी है। मुझे तो शायरी की धारा पलटनी पड़ेगी। अबतक आपका शुमार क़ातिलों में था; अब आप कुश्तों में दाख़िल होंगी। अबतक आपकी जादू-नज़री के हम शिकार थे; अब हमारी सुर्मई निगाहें आपके दिल पर चोट करेंगी। ख़ूब हुआ! यही सही। हम मैदान छोड़ देने को तैयार हैं, आप शौक़ से मैदान लें।.....हाँ, तो बेला बाई! ज़रा मुझे आँख मटकाने—बिजली गिराने—सितम ढाने—की तालीम तो दें। मगर, वाह! एक बात तो भूल ही गया।..आख़िर आपकी लहराती साड़ियाँ क़ायम रहेंगी या कोट-बूट का मिलिटरी ठाट होगा?"

"वाह! कहीं कटे बाल पर साड़ियों का गुज़र हो सकता है?"

"हाँ, ठीक तो। कटे बाल तो चल ही चुके.....इटन क्रॉप। अब जूड़ा बाँधने का रेयाज़ तो हमें सीखना होगा। अगर धोती का एक पल्ला सर पर खींचना पड़ा....."

"बस, आप तो ज़नानपन में बेला बाई के कान तराश लेंगे!"

"वल्लाह! तो मैं बिस्मिल के दर से क़ातिल की मंज़िल पर चला—अब तो वे हमारे हाथ का तलवगार होंगी। मेरी पाँचों उँगलियाँ घी में रहीं! मैं उनका आशिक़ न रहा—न सही, माशूक़ तो रहूँगा!"

बेला और बिजली दोनों हँस पड़ीं। उस हँसी की हवा में तमाम तनातनी की बातें हवा हो गईं।

यकायक मोटर आने की आवाज़ कानों में पड़ी। सभी उठ पड़े।

बिजली तो दौड़कर नीचे उतर गई। कमरे में रह गये बेला और सुरेश।

सुरेश खिसककर बेला के निकट चला आया, और उसके कंधे पर हाथ रखकर अपनी ओर खींचना चाहा। वह नीची निगाह किये तनकर पत्थर हो गई—निश्चल और निश्चेष्ट। उसने न 'ना' किया, न 'हाँ'; पर अपनी जगह से हिली नहीं। शायद किसी कठोर कर्त्तव्य ने उसके तमाम अस्तित्व को सचेत कर दिया और वह बुत की तरह कठोर हो गई। मगर, हाँ, उस कठोरता में भीषण तिरस्कार की कुलिशता नहीं थी।

"बेला! चलो, हम-तुम कलकत्ता चले चलें और दोनों मिलकर अपना नया घरौंदा बनायें!

बेला चुप सोचती रही। उसकी आँखों के सामने न वह कमरा रहा, न सुरेश। वह उड़कर गोविन्दपुर पहुँच चुकी थी और उसके दृष्टि-पथ पर दो पद्म-पलाश लोचन खड़े थे। कानों में एक सुरीली काकली थी—"बेला! चलो, हम-तुम दोनों वहाँ चले चलें, जहाँ कोई भी हमारा अपना न हो!"

बेला की आँखों के कोने तर हो गये। न जाने किस आवेग से वह काँप उठी।

सुरेश ने उसके कानों में फिर कूककर कहा—"अजी सुनो भी बेला रानी, तुम्हीं से कहता हूँ न।"

"आप अपना धर्म, समाज, परिवार, संसार—सबकुछ तर्क करने पर तैयार हैं?"—बेला ने पूछा।

"हाँ, तैयार हूँ।"

"क्यों, किसके लिए ?"

"तुम्हारे लिए।"

"मेरे लिए ? एक कुलटा के लिए ! मुझमें क्या है ? नहीं-नहीं, आप कविता कर रहे हैं !"—बेला ने ज़रा हँसकर कहा।

"बेला, मेरे हृदय की क्षुधा तो तुमसे छिपी नहीं है !"

"आप अपनी देह की भूख को दिल की भूख समझ रहे हैं, यही तो भूल है !"

"मैं अपना कलेजा निकालकर रख दूँ, तब तुम्हें यक़ीन होगा ?"

यह कलेजा निकालनेवाली बात तो वह सैकड़ों बार मर्दों की ज़बान से सुन चुकी थी। इसमें न कोई नवीनता थी, न मधुरता। यही तो इस मायालोक की प्रचलित व्यवहार-भाषा थी। वह जानती थी कि बात-बात पर कलेजा निकालकर रखनेवाले कलेजा नहीं रखते।

ज़बान की फ़ैयाज़ी कुछ दिल की दौलत नहीं लुटाती। जिस ज़बान पर आठों पहर दिल की चर्चा छिड़ी रहती है, उस ज़बान तक दर्दे-दिल की कथा कभी पहुँच नहीं पाती।

वह ज़रा मुस्कुराती हुई बोली—"फिर वही कविता ! मेरे लिए तो यहाँ-वहाँ—दोनों बराबर है। वेश्या न रही, रखेली ही रही। मुझे पत्नी की मर्यादा तो मिलने की नहीं ! फिर इस आज़ादी को भी·····"

"क्यों नहीं मिलने की ? हिन्दूत्व में कुछ सुरख़ाब के पर नहीं लगे हैं ! मैं कलकत्ता में ब्रह्म-समाज के रू से·····"

"इधर मेरा राम भी छूटे, उधर कलङ्क का दाग़ भी न मिटे !"—

बेला के चेहरे पर गम्भीर उदासीनता की रेखा खिंच गई। उसका सर झुक गया।

"तुम भी अजब शक्की हो! आख़िर तुम चाहती क्या हो, साफ़ खुलती क्यों नहीं? प्रेम पहले है या विवाह?"

"हिन्दू-समाज में विवाह। लेकिन विवाह की बलिवेदी पर चढ़ने के लिए न अब मेरे पास शरीर है, न हृदय। एक दिन था, जब शायद मेरे पास दोनों थे; अब तो दोनों में एक भी न रहा। और, वेश्या को विवाह या प्रेम से मतलब?"

"तुम्हें न हो, मुझे तो है! तुम्हारे प्रेम में मैंने दर्ज़नों कविताएँ लिख डालीं, और तुम....."

"आप कविता लिख सकते हैं, मुझपर धन लुटा सकते हैं, और किसी झोंक पर जान तक भी निछावर कर सकते हैं; मगर मेरे हाथ को अपने हाथ में नहीं रख सकते। आप अपनी चादर के खूँट में मेरे आँचल को बाँध पूजा की वेदी पर क़दम नहीं रख सकते।"

"क्यों नहीं? प्रेम के बल पर मनुष्य क्या नहीं कर सकता?"

"सब कुछ कर सकता है। लेकिन, पुरुष और प्रेम! आप मज़ाक तो नहीं करते! उसे तो वह प्रेम चाहिये, जिसमें न बन्धन है, न दायित्व। माफ़ कीजिये, यह प्रेम है या उन्माद, इसे आप ख़ुद नहीं समझ पाते। शायद पुरुष को इस विभेद का पता भी नहीं होता।.....ख़ैर, उन्माद ही सही। मुझे तो वह भी नहीं है।"

सुरेश चुप हो गया। उसने दुबारा गिलास भरा, और सिगरेट

जलाई। बेला से धुआँ उड़ाने की इजाज़त ली।

"फिर पीने लगे?"—बेला ने ज़रा आहत स्वर से कहा।

"देखता हूँ, यह दिल की लौ पर हावी होती है या नहीं!"—सुरेश ने चुस्की लेते हुए कहा।

"दिल के पहलू तक तो यह जाती नहीं! यह कामना की लौ में आग लगा देगी। आपके लिए शराब और कबाब महज़ हराम ही नहीं, हलाल हैं।"

"बेला! तुम्हारी ज़बान से ऐसी बेतुकी बातें मेरी समझ में नहीं आतीं। तुम तो आचार का आगार होकर वेश्या के रोज़गार को अपना रही हो; फिर मैं ब्राह्मण होकर अगर दुनिया की न्यामतों का रस लेता हूँ, तो तुम्हीं कहो, मैंने किसकी जेब कतर ली? आख़िर खाने-पीने में रखा ही क्या है? जब दिल साफ़ है, तो फिर ज़बान पर दूध की मिठास हो या कबाब की तिताई, दोनों बराबर है!"

"मैं तो लाचार हूँ—चूँकि मैं स्त्री हूँ; आप लाचार नहीं हैं—चूँकि आप पुरुष हैं। हिन्दू समाज में स्त्री की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं! जो सत्ता है, वह पत्नी की है या माता की। फिर, जो न माता है, न पत्नी, वह कौड़ी की तीन है। अगर वह युवती है, फिर तो उसे और भी आफ़त है। उसे तो शरीर बेचने के सिवा पेट पालने का कोई दूसरा ज़रिया ही नहीं। जितने रोज़गार हैं, सभी पुरुषों के अधीन हैं और अगर हैं भी, तो ख़ासकर निपूती जवान बेवा के लिए वे ख़तरे से ख़ाली नहीं हैं। मेरा रोआँ-रोआँ इस संकट को जानता है। मैंने कई जगह

आँचल पसारा, चौका-बरतन करके भी रोटी तलाशने की कोशिश की; लेकिन कहीं भी पुरुषों की कामना की कमान से परित्राण न पा सकी। उनके मन की चाट उनके चेहरे पर साफ़ लिखी मिली। उनकी चितवन में लालसा की मशाल जलती न रहती, तो भूल होने की सम्भावना न होती। उनकी आत्मा की झलक उनकी दिखावटी हमदर्दी की आड़ से पूरी छिपती भी नहीं। जब हर हालत में हर जगह ऐसी युवती के शरीर का पानी उतरना ही है, तो कम-से-कम इस वेश्यागिरी में अपनी थोड़ी-सी ख़ुदसरी तो है! मैं शरीफ़ न सही, स्वाधीन तो हूँ! और, अगर शरीर बेचकर भी आत्मा की रक्षा कर सकी, तो हमारा नुक़सान ही क्या हुआ!"

"बेला! मगर मैं तो तुम्हें अपने दिल की रानी बनाने को तैयार हूँ!"

"ओ हो! दिल की रानी बनना कितना आसान है और चरणों की दासी बनाना कितना मुश्किल!"

सहसा बात रुक गई। जूतों की मचमचाहट नज़दीक आ गई। चुन्नीलाल और अज़ीम कमरे में दाख़िल हुए।

अज़ीम था अमीन का छोटा चचेरा भाई। उठती जवानी थी। बदन का रंग दूध के फेन की तरह साफ़। उभरे हुए गालों पर तन्दुरुस्ती का पहला आलम गुलाब-सा खिल रहा है।

विधाता ने उसके चेहरे पर रंग तो दिया था; पर सौन्दर्य की चुकनी नहीं डाली थी। इसीलिये मुख पर रंग तो था, पर रूप नहीं; जवानी

तो थी, पर पानी नहीं। न होठों के पुट में दाँत छिपते, न घनी मूछों के झुरमुट में चिपटी नाक। गोल-गोल चमकीली चुन्धी आँखों पर सुनहरी कमानी का चश्मा चढ़ा था।

टोपी नुकीली कटीली ज़रूर थी; पर उन्नत ललाट के अभाव के कारण चिलम सरपोश की शक्ल बनी थी। उसके पल्लों पर ज़री फूलों की तमाम नक्काशी—लट्टू की तरह गोल और संकीर्ण सर पर—कोई रंग न ला सकी।

मगर, फालसई फ़लैनेल के अलवर-कोट पर कत्थई मैक़मल के कॉलर और कफ़, और गर्दन से कमर तक के सुनहले इनैमेल बटन, उसके वैभव और बड़प्पन की सूचना ज़रूर दे रहे थे।

सबके पीछे बिजली आई—अमीन के कंधे पर थिरकती हुई। उसकी मस्तानी रफ़्तार में विलास की रेशमी चपलता थी! झीनी साड़ी का आँचल सर से सरककर अमीन की नेकटाई से उलझ रहा था। चुस्त जैकेट सीने के लहू के तूफ़ान से डावाँडोल था—उस रक्त चाञ्चल्य की बिजलियाँ अमीन की पसलियों में उन्माद भर रही थीं।

बिजली ने उसकी गर्दन में हाथ डालकर एक ही पल में उसके सीने से तमाम ग्लानि खींच ली। बीवी बिचारी गई तो गई; मगर माशूक़ा तो गले का हार हो गई! बिजली की जादूनज़री जब दिल में चुटकियाँ लेने लगी, तब अमीन की छाती की पोर-पोर में हसरतों की टीस भर गई।

सोफ़े पर लेटते-लेटते, बिजली की ठुड्डी पकड़कर, अमीन बोला—"देखो, पहले तो चटपट कुछ खिलाओ; आँतें कलामल्लाह पढ़ रही हैं!"

"पहले वे वज़ू तो कर लें; फिर शौक़ से कलामल्लाह पढ़ें!"—गिलास में ह्विस्की उँड़ेलकर बढ़ाते हुए सुरेश ने हँसते-हँसते कहा।

"वल्लाह! आप भी मौजूद हैं! शराब के रंग में शायरी की बू है!"—अमीन जाम थामते हुए बोला।

"इधर भी एक जाम इनायत हो!"—अज़ीम ने भी हाथ बढ़ा दिया।

बिजली ने बेला को खाना मँगवाने के लिए इशारा किया। बेला बाहर गई।

"बिजली! तबतक तुम कोई चुटीली चीज़ तो सुनाओ! यह जाम का रंग जमता नहीं। लिल्लाह! इस गुलाबी सुरूर में सुर का नूर भर दो!"—अमीन ने बिजली की ओर मुड़कर फ़रमाया।

"क्या बात है! मीने की मस्ती में आपके गले की मस्ती रूह फूँक देगी!"—सुरेश ने भी दाद दी।

"जो इरशाद"—कहकर बिजली ने हारमोनियम छेड़ा। उसने झूम-झूमकर गाना शुरू किया—

साक़ी भी है, चमन भी है, ठंढी हवा भी है;
टूटे जो आज तौबा तो ऐ दिल मज़ा भी है;
रग-रग फड़क रही है नया रंग देखकर;
क़ातिल भी है, छुरी भी है, मेरा गला भी है!
ज़ाहिद की तरह ख़ुश्क मुसलमाँ नहीं हूँ मैं;
इश्क़े-बुताँ भी दिल में है, यादे-ख़ुदा भी है।

गाना ख़त्म हुआ। प्याले ख़ाली हुए। शराब के रंग में गाने का रंग मिल गया था। सब-के-सब रंग में आ गये।

ख़ानसामा हज़िर हुआ। वहीं फ़र्श पर दस्तरख़ान बिछा। रिकाबियाँ सज गईं। ख़ानसामे ने बाज़ाब्ता खाने की चीज़ों को आनन-फ़ानन दस्तरख़ान पर चुनकर ऊपर से तश्तपोश डाल दिया।

नये युग के अनुकूल सब-के-सब हम-नेवाले हम-प्याले थे। वहाँ न तकल्लुफ़ था, न तअम्मुल।

बेला अलग से सब देखती-भालती गिलास भर देती, खाना तक परस देती; मगर ख़ुद खाती या पीती नहीं। कहती—"आपलोग खाना शुरू करें; मैं बाद में कुछ खा लूँगी। फिर, मैं तो एक वक़्त खाती हूँ—दिन में; रात में खाती नहीं।"

"बिस्मिल्लाह! शुरू कीजिये।"—कहकर अमीन बैठ गया। बग़ल में बिजली बैठी। और लोग भी चारों ओर क़रीने से बैठ गये।

बेला ने आकर तश्तपोश उठा दिया। तमाम कमरा केवड़े और केसर की गन्ध से मुअत्तर हो गया। कश्मीरी पुलाव और कलियों का फ़ैन्सी मेला है।

सुरेश को तो घर में कबाब और शराब नसीब न थी। यहाँ आकर वह छूटकर खाता-पीता रहा। मुर्ग़ और मुर्ग़ाबियों का वह मुरीद हो गया। मटन न मिले—न सही; पर शीशे की लाल परी हो और परिन्दों की लाल पेटी। यही उसके जीवन की दो नेमतें थीं। इसी रस की मदमस्ती तो उसे यहाँ खींच लाती। हाँ, ज़बान की

लगन के साथ-साथ दिल की लगन भी मिल गई। सोने में सुगन्ध! पोलाव भी, प्याला भी, प्यार भी—और ऐसे गुप-चुप कि किसी को कानो-कान खबर तक न हो।

बिजली ने सुरेश की ओर कनखियों से देखकर एक चुटकुला छोड़ा—"आख़िर वैष्णवों के शिकम तक मुर्ग़ियों का गुज़र हो ही गया!"

"जी हाँ, उन बिचारियों की क़िस्मत खुल गई! मंज़िले-मक़सूद तक पहुँच गईं! आप ही कहें, उनकी आत्मा की सद्गति और कहाँ होती!"

"मैं तो समझती हूँ, आप ही की क़िस्मत पहले खुली; वरना आप भी अपने बुज़ुर्गों की तरह चूड़ा-दही चाटते रह जाते, मुर्ग़ों की मुरग़्ग़न नेमतें कभी नसीब न होतीं!"

"ख़ैर, क़िस्मत खुली या न खुली, हमारी आँखें तो ज़रूर खुल गईं। हम समझ गये कि मुर्ग़ा का कबाब कोफ़्ता भी हलक़ के नीचे उतारकर हमारी ब्रह्मा की नस्ल का एक रोआँ भी न टूटा। न हमारी नाक ही कटी, न आँतें ही उचककर गले तक आईं; न हमारे ज़ुन्नार की धाक ही एक तिल घटी, न हमारे ललाट के रक्तचन्दन का तिलक ही किसी तरह फीका पड़ सका।"

"यहाँ न आप मुर्ग़-मुसल्लम पर टूटकर हाथ साफ़ कर रहे हैं; घर में तो इसकी बू तक भी मुमकिन नहीं!"—चुन्नीलाल ने हँसकर फ़रमाया।

"यह क्यों?"—अज़ीम ने ज़रा चौंककर पूछा।

"आप जानते नहीं, ब्राह्मणों के आँगन में मुरग़ा ने छलाँग भरी कि

घर पर आसमान थर्राकर फटा। उनके धर्म की मोरचे-बन्दी को चकनाचूर कर देने के लिए मियाँ के घर की मुर्ग़ी की एक टाँग काफ़ी है!"

"भाईजान!"—सुरेश ने जोश में आकर कहा—"उन औंधी खोपड़ियों का ज़िक्र छोड़ो। देख लेना, अब ब्राह्मणों के घर भी मुर्ग़ों की अठखेलियाँ बराबर होंगी। वह दिन क़रीब है, जब मुर्ग़ा का कोफ़्ता विश्रामघाट के पेड़े की जगह लेगा। मन्दिरों में चूज़ों का रस पञ्चामृत होगा—फ़ाउल की बिरियानी नैवेद्य की मिसरी होगी। वह 'छछिया-भर छाछ' पर नाचनेवाला साँस-भरे माछ पर—चूज़ों के कुलाँच पर—नाच न उठे, तो मेरे नाम पर कुत्ता पाल देना। मैं तो मधुसूदन से दुआ माँगता हूँ—

"वैष्णव बना के मुझको, मोहन मुरग़ खिला दे;
रसमय जगत हो जिससे, ह्विस्की सरस पिला दे।
अब दूध की, दही की, माखन-मलाइ-घी की—
जीवन से इन कलुष की छाया भी तू मिटा दे!"

"सुभानल्लाह! कमाल का कलाम है!"—बिजली ने हँसकर दाद दी। सुरेश और भी चंग पर चढ़ गया। ह्विस्की इस उठान में जोश भरने लगी। शायद जानीवाकर की मदद न होती, तो प्रतिभा की कोंपलें कहाँ तक खुलतीं, कहना मुश्किल है! शराब पीने से वाह-वाही की प्यास तेज़ हीं होती है, कुछ मिटती नहीं।

"अजी, और सुनिये—

"हरि का प्रसाद कटलेट, मोहन का भोग अमलेट;
पंडों के मुख में अंडे, भारत में तू चला दे!
गोकुल के कुंज-वन में, नन्दन महल चमन में;
तीरथ में मन्दिरों में, महिमा मुरग़ा जगा दे!"

"कविजी! आपने तो मुरग़ों को वह रुतबा दे रखा है, जो शायद आपके बुज़ुर्गों को भी नसीब न था!"—बिजली ने फिर चुटकुला छोड़ा।

सुरेश अपनी धुन में मस्त था। वह नशे में झूमता रहा और हाथ फेंक-फेंककर गाता गया—

"राधा के घर हो पाली, मंजुल मुरग़ा की अवली;
जमुना के तट प' बोली इसकी मधुर सुना दे!
चूज़ों का रस हो मुख में, कुक्कुट का पर मुकुट में;
ह्विस्की को पीते सुख में, मोहन मूरति दिखा दे!"

ज़ोरों के क़हक़हे पड़े। बेला ने भी हँसकर दाद दी। सुरेश की शायरी और कुशादादिली की तारीफ़ में नारे बुलन्द हुए। वह तो फूलकर कुप्पा हो गया, मानों सातवें आसमान पर उड़ा जा रहा हो। कोट के बटन टूट चले!

चतुर्थ परिच्छेद

बरसाती रात है। सन्नाटे का आलम। रात आधी से अधिक जा चुकी है। निशीथ का नील अंचल जुगनुओं के जलवे से लहालोट है। खुली हुई खिड़कियों से हुस्नहिना की लपटें कमरे में बिखर रही हैं। बूँदों की मधुर रिमझिम थम-थमकर झङ्कार देती है।

नैश गुलशन का जशन ख़त्म हो चुका है। मनचले आनेवाले हँस-खेलकर जा चुके हैं। तिलक-कामोद का अन्तिम सुर अभी तक दीवारों पर लड़खड़ा रहा है।

बिजली के सामने नोटों का एक छोटा-सा पुलिन्दा पड़ा है। अगल-बग़ल खुली बोतलें बेतरतीबी से लुढ़की हुई हैं। ह्विस्की की तीव्र बू अभी

तक हवा में लुटी नहीं है। गंगा-जमनी तश्तरी में चन्द पान की गिलौरियाँ बासी फूल की तरह मुरझाई पड़ी हैं। इधर-उधर बिखरे हुए इलायची के छिलके, सिगरेट के खुले हुए ख़ाली डिब्बे, जली हुई दियासलाइयों के टुकड़े, बेले के गजरे के टूटे हुए गुच्छे, फ़र्श के एक छोर पर छलके हुए शोरबे के ज़ाफ़रानी धब्बे तथा किवाड़ पर पान की पीक के दो-चार ताज़े छींटे—वग़ैरह-वग़ैरह—अभी पल-भर पहले मिटे हुए जल्से के जुलूस की निशानियाँ मौजूद हैं।

जो कमरा दस मिनट पहले राग और रंग की झङ्कार से मुखरित था, वह अब सुनसान उजड़े हुए फ़ैंसी मेले की तरह उदास बना है। उजले फ़र्श की सतह पर सैकड़ों शिकनें किसी लीला-चंचल विलास की रँग-रलियों की सूचना दे रही हैं।

बिजली के लोहित लोचनों में सूर्यास्त की अन्तिम लालिमा की म्लान आभा थी। वह बेला के कंधे पर सर रखकर शमादान की बुझती हुई लौ को निरख रही है और पैर की उँगलियों से लैम्प के इर्द-गिर्द जले हुए पतंगों के परों को बेवजह कुरेद रही है।

"बेला! देखती हो न, चिराग़ अपने दिल की सोज़िश से तिल-तिल जलता जा रहा है और उसके रूप की दमक पर परवाने आकर सोख़्त हो रहे हैं! दोनों ओर जलन है। सुबह होते-होते इधर बुझी हुई शमा होगी, उधर बादे-सबा में उड़ते हुए शहीद परवानों के पर होंगे। फ़र्राश आते ही बत्ती को उठा कर कोने में फेंक देगा और फ़र्श को झाड़कर साफ़ कर देगा। इस जाँनिसारी के तमाशे का यही पहलाम है।

"यही अंजाम है, बहन! इस जवानी के खेल का यही अंजाम है। यही कहानी तो फूल की पंखड़ियों पर हर सुबह को लिखी मिलती है। इससे तो किसी को नजात नहीं। एक दिन हमारी आँखों की रोशनी भी सुबह के चिराग़ की ठंडी लौ होगी!"

"बेला, मैंने बनारस आकर लाखों में मैदान लिया। सैकड़ों को फाँसा और लहू चूसा; मगर आज भी दिल की प्यास न मिटी—न मिटी!"

"लहू पीने से प्यास बुझती नहीं, तेज़ होती है! इस विलास के बवंडर से कहीं दिल का चिराग़ न बुझ जाय—यही अन्देशा है।"

"मैंने चुन-चुनकर ज़िन्दगी की सेज पर कलियाँ बिछाईं; मगर छाती की पंजरियों में न जाने कहाँ से काँटे चुभते ही रह गये! मुझे आज भी मालूम नहीं, मेरी आत्मा की तलाश क्या है—उसकी आरज़ू क्या है। इस ऐशो-इशरत के हुजूम में भी ज़िन्दगी का सूनापन न मिटा। मुझे क्या नहीं है? सब कुछ है; मगर सब हरा-भरा, रहकर भी किसी सुनसान का हाहाकार दिल के पहलू में अक्सर उठा करता है!"

"यह तुम्हारी आत्मा की आवाज़ है, जिसे तुम्हारे शरीर ने गला टीपकर दबा रखा है। आज तुम्हारे दिल के कान तक यह पहुँच सकी—यही बहुत है। अब भी तो तुम अपनेको पहचानो! तुम्हारा नारी-हृदय माता की ममता के लिए—पत्नी की जाँ-निसारी के लिए—तुम्हारी शान के कपाट पर सर पीट रहा है। यह उसी की दर्दनाक फ़रियाद है, जो तुम्हें चैन नहीं लेने देती। तुम जिस राह पर चल रही हो,

उसकी कोई मंज़िल नहीं ! तुम्हारी उम्मीदों का—हौसलों का—कोई आधार नहीं ! आजतक तुम्हारे हृदय का नैवेद्य—तुम्हारे अन्तर का अर्घ्य—प्रेम के चरणों के तले अर्पित नहीं हुआ। तुमने अपने-आपको न समर्पित किया, न किसी ने तुमको ग्रहण किया। तुम दूसरों के हाथों से की गई आरती लेती रही, अपने हाथों से किसी की आरती नहीं उतारी। स्त्री का संसार लेना नहीं, देना है। स्त्री के जीवन की सार्थकता भोग-विलास में नहीं, आत्मसमर्पण में है। जो बात तुम्हें भोग में नहीं मिली, वह तुम्हें त्याग में मिलेगी।"

"त्याग से तुम्हारा मतलब ?"—बिजली ने ज़रा तुर्श होकर प्रश्न-भरी दृष्टि से पूछा।

"प्रेम—विवाह !"

"शादी—ताबेदारी ! बेला ! जो कुछ हो, मुझसे किसी की ताबेदारी नहीं होगी, न मैं किसी मर्द की मुरीद ही हो सकती हूँ। मैं विवाह को ज़िन्दगी का रोज़गार नहीं बना सकती।"

"तो तुम इस दिल के आज़ार से भी कभी बच नहीं सकती। प्रेम ही तो नारी के जीवन-पथ का एकमात्र पाथेय है !"

"न बेला, पुरुषों ने अपने स्वार्थ के लिए ग़ुलामी का नाम बदलकर प्रेम रखा है। विवाह में मुझे इसी प्रेम का दम भरना होगा। मगर, मेरे हृदय की बीन पर यह सुर उठ नहीं सकता।"

"नारी की हृत्तंत्री पर दूसरा सुर तो उठता नहीं। तुमने आजतक उसे उठने नहीं दिया, शान से कुचलकर रखा; इसीलिए आज

तुम्हारी चेतना की एक-एक कणा उस सुर की झङ्कार के लिए विकल है। उसी असीम अभिसार के लिए तुम्हारे नारी-जीवन की सारी सत्ता कमर में आँचल लपेटे तड़पती खड़ी है। अगर हृदय की इस मार्मिक पुकार को तुम कान देकर सुनती नहीं, तो एक दिन जब जवानी के ज्वार का ज्वर उतर चलेगा, तब फिर खोये हुए अवसर की वेदना हृदय के टूटे तारों में हाहाकार करती फिरेगी। सुनो बहन, जबतक तुम पत्नी और माता नहीं, तबतक तुम्हारे जीवन का यह सूनापन कभी भरता नहीं।"

"बेला! तुम जानती नहीं, इस देश में बन्दी का नाम पत्नी है, क़ैद का नाम विवाह!"

"वही सही। इसी बन्धन में तुम्हारी मुक्ति है। आज की यह खोखली मुक्ति तुम्हारे नारीत्व की सूली है।"

"बेला! तुम्हीं सोचो, ख़ुदसरी के बाद बराबरी तो एक बात थी; लेकिन ताबेदारी तो मुझसे कभी मुमकिन नहीं।"

"बहन! नारी का क्षेत्र घर है, पुरुष का क्षेत्र संसार। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। यहाँ एक-दूसरे की ताबेदारी का सवाल नहीं; आपस की लेन-देन का इन्तज़ाम है। यह ताबेदारी का भूत तुम्हारी कोरी ख़ामख़याली है।"

"हरगिज़ नहीं। तुम एक मनमानी तसवीर खींच रही हो, और मैं दुनिया की असली नंगी सूरत देखती हूँ। मैं अपने घर में अपनी माता की दशा देख चुकी हूँ। उसके हाथों की हीरा-जड़ी कँगनी उसकी कलाई पर हथकड़ी हो गई थी! वह दर्दनाक तसवीर आठों पहर मेरी निगाह में

फिरती है। जबतक स्त्री रोटी-दाल के लिए पुरुष के आगे आँचल पसारती है—उसके आँचल का छोर पुरुष की चादर के खूँट में बँधा ही क्यों न हो, तबतक वह पुरुष के हाथ की कठपुतली—उसके पाँव-तले की चींटी—है। उसकी तमाम उम्र पापड़ बेलने में तबाह हो जायगी।"

"मगर, इस तूफ़ानी ख़ुदसरी से उसे ताबेदारी में भी तृप्ति मिलेगी; चूँकि स्त्री का हृदय सेवा का सुहाग ढूँढ़ता है। उसे विलासिता की तितली समझना उसकी लांछना है; उसके सर पर हुकूमत का ताज रखना उसका मज़ाक करना है। तमाम उम्र वह किसी का लहू पी-पीकर जीती नहीं रह सकती; मगर किसी के पाँव धो-धोकर पीती हुई ख़ुशी से ज़िन्दगी बसर कर लेगी—और ज़रूर कर लेगी।"

"मेरी समझ में नहीं आती कि तुम मुझे जिस बात की तालीम दे रही हो, उसपर ख़ुद क्यों नहीं अमल करती। सुरेश तो तुम पर जान देता है। तुम्हें सर और आँखों पर बिठाकर रखेगा; तुम्हें पत्नी और माता—दोनों का मर्तबा·····"

"सो तो मैं पत्नी और माता दोनों हो चुकी हूँ। लेकिन, सेहरा तो दुबारा सर पर नहीं बँधता। अब इस उजड़ी हुई माँग पर सिन्दूर की बहार तो कभी मुमकिन नहीं!"

"क्यों?"

"चूँकि मैं विधवा हूँ·····और·····"

"विधवा ही सही, औरत तो हो। यही न हुआ कि तुम नारी न तुम्हारी नसों का लहू ज़र्द हो गया! क्या कहीं भी विध—

तुम्हारी चेतना की एक-एक कणा उस सुर की झङ्कार के लिए विकल है। उसी असीम अभिसार के लिए तुम्हारे नारी-जीवन की सारी सत्ता कमर में आँचल लपेटे तड़पती खड़ी है। अगर हृदय की इस मार्मिक पुकार को तुम कान देकर सुनती नहीं, तो एक दिन जब जवानी के ज्वार का ज्वर उतर चलेगा, तब फिर खोये हुए अवसर की वेदना हृदय के टूटे तारों में हाहाकार करती फिरेगी। सुनो बहन, जबतक तुम पत्नी और माता नहीं, तबतक तुम्हारे जीवन का यह सूनापन कभी भरता नहीं।"

"बेला ! तुम जानती नहीं, इस देश में बन्दी का नाम पत्नी है, क़ैद का नाम विवाह !"

"वही सही। इसी बन्धन में तुम्हारी मुक्ति है। आज की यह खोखली मुक्ति तुम्हारे नारीत्व की सूली है।"

"बेला ! तुम्हीं सोचो, ख़ुदसरी के बाद बराबरी तो एक बात थी; लेकिन ताबेदारी तो मुझसे कभी मुमकिन नहीं।"

"बहन ! नारी का क्षेत्र घर है, पुरुष का क्षेत्र संसार। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र हैं। यहाँ एक-दूसरे की ताबेदारी का सवाल नहीं; आपस की लेन-देन का इन्तज़ाम है। यह ताबेदारी का भूत तुम्हारी कोरी ख़ामख़याली है।"

"हरगिज़ नहीं। तुम एक मनमानी तसवीर खींच रही हो, और मैं दुनिया की असली नंगी सूरत देखती हूँ। मैं अपने घर में अपनी माता की दशा देख चुकी हूँ। उसके हाथों की हीरा-जड़ी कँगनी उसकी कलाई पर हथकड़ी हो गई थी ! वह दर्दनाक तसवीर आठों पहर मेरी निगाह में

फिरती है। जबतक स्त्री रोटी-दाल के लिए पुरुष के आगे आँचल पसारती है—उसके आँचल का छोर पुरुष की चादर के खूँट में बँधा ही क्यों न हो, तबतक वह पुरुष के हाथ की कठपुतली—उसके पाँव-तले की चींटी—है। उसकी तमाम उम्र पापड़ बेलने में तबाह हो जायगी।"

"मगर, इस तूफ़ानी ख़ुदसरी से उसे ताबेदारी में भी तृप्ति मिलेगी; चूँकि स्त्री का हृदय सेवा का सुहाग ढूँढ़ता है। उसे विलासिता की तितली समझना उसकी लांछना है; उसके सर पर हुकूमत का ताज रखना उसका मज़ाक करना है। तमाम उम्र वह किसी का लहू पी-पीकर जीती नहीं रह सकती; मगर किसी के पाँव धो-धोकर पीती हुई ख़ुशी से ज़िन्दगी बसर कर लेगी—और ज़रूर कर लेगी।"

"मेरी समझ में नहीं आती कि तुम मुझे जिस बात की तालीम दे रही हो, उसपर ख़ुद क्यों नहीं अमल करती। सुरेश तो तुम पर जान देता है। तुम्हें सर और आँखों पर बिठाकर रखेगा; तुम्हें पत्नी और माता—दोनों का मर्तबा·····"

"सो तो मैं पत्नी और माता दोनों हो चुकी हूँ। लेकिन, सेहरा तो दुबारा सर पर नहीं बँधता। अब इस उजड़ी हुई माँग पर सिन्दूर की बहार तो कभी मुमकिन नहीं!"

"क्यों?"

"चूँकि मैं विधवा हूँ·····और·····"

"विधवा ही सही, औरत तो हो। यही न हुआ कि तुम नारी न रहीं, तुम्हारी नसों का लहू ज़र्द हो गया! क्या कहीं भी विधवा दुबारा शादी

नहीं करती ? सिन्दूर रखकर न हो, रूमाल बदलकर हो सकता है। यह तो महज़ एक ज़रिया है।"

"है ज़रिया; लेकिन हिन्दू-समाज में तो मुमकिन नहीं !"

"लानत भेजो इस बेदर्द समाज पर ! समाज इनसान के लिए है कि इनसान समाज के लिए ? तुम जीती-जागती रहोगी, तभी समाज है—संसार है। सुरेश तो किसी भी उदार समाज के रू से शादी करने को तैयार हो जायगा।"

"ऊँ-हूँ ! मुझसे शादी करना खेल नहीं है। मैं तो विधवा ही नहीं, पतिता भी हूँ। विधवा का विवाह तो होता नहीं, फिर जो गिर गई है, उसका कहाँ निर्वाह है !"

"पतिता नहीं—पीड़िता हो ! तुम्हें जो पतिता कहता है, वह ख़ुद पतित है। मैं जानती हूँ, तुम्हारे अन्धे समाज में पीड़िता और पतिता की एक ही गति है। दोनों को पतिता ही पुकारते हैं, क़सूर चाहे किसी का हो। मगर दुनिया में एक हिन्दू-समाज ही समाज नहीं !"

अरे भाई, "मुझसे कोई शादी करेगा ? किसका सर ऐसा भारी हुआ है ? यह सोचना ही फ़िज़ूल है।"—बेला ने ज़रा रूखी हँसी हँसकर कहा।

"काश, शादी की कोई सूरत निकल आए ! सुरेश ही कमर बाँधकर तैयार हो जाय !"

बेला चुप हो गई। पाँच मिनट तक फ़र्श पर निर्निमेष देखती रही। उसकी आँखें भर आई थीं। वह न जाने किस अतीत को कुरेदती रही।

आख़िर एक लम्बी साँस खींचकर धीमी आवाज़ से बोली—"बहन ! मैं तो मरघट की वह मुरझाई सूखी लता हूँ, जो फिर से पनप नहीं सकती। मेरी मुस्कान की दुनिया तो आँसुओं की धारा में डूब चुकी है। अब तुम्हीं कहो, इस दिल के वीराने में नई दुनिया बसाना कहाँ तक मुमकिन है !"

"बेला ! जबतक तुम उसे वीराना समझती हो, तभी तक वह उजाड़-सुनसान है। मगर, जहाँ तुम्हारे मन की हवा पलटी और गुलशन की लपटें लगीं, फिर देख लेना, तुम्हारे दिल की तमाम सिकुड़ी हुई कोंपलें उभरकर खुल पड़ेंगी। बस, केचुल बदलने की देर है। आख़िर तुम इनसान हो, फ़िरिश्ता नहीं। बेवा हो या वेश्या, तुम्हें भी हाड़-मांस-लहू बराबर है। फिर तुम्हारे कलेजे में जवानी का तक़ाज़ा न हो, उम्मीदें न हों, अरमानों की अठखेलियाँ न हों—कभी मुमकिन नहीं !"

"बहन !"—बेला ने उँगलियों में आँचल लपेटते हुए कहा—"मैंने तो अरमानों पर तुलसी-दल रख दिया है। वे भगवान् के चरणों में निछावर हैं।"

"क्या पागल की तरह बकती हो ? तुम भी यमुना-तट की बावरी गोपी हो गई हो क्या !"—बिजली ने ज़रा तिनककर कहा।

"यमुना-तट की नहीं, सरयू-तट की कहो। तुम्हारी आँखें भी उस श्याम-सलोने की झाँकी देखतीं, तो सच कहती हूँ, तुम भी सब कुछ उसपर निछावर कर देती। मैं तो, बस, उसी रूप की प्यासी हूँ—'रूप रिझावनहार वह, ये नैना रिझवार' !"

"तुम्हारी आँखें रिझवार होंगी, मेरी ऐसी नहीं। फिर तुमने काम की बातों में राम की चर्चा छेड़ी। अब वेश्या से भगतिन बनोगी! शादी करके शरीफ़ों के तबक़े में नहीं आओगी, वैतरणी से एकाएक उचककर मन्दाकिनी में डुबकी मारोगी! भरसक हिन्दुस्तान की तबाही तरक़्क़ी पर है—उसकी खोपड़ी के तमाम कील-काँटे ढीले पड़ गये हैं। हिन्दू-बेवा बाज़ार में कोठे पर बैठ सकती है या कंठी बाँधकर साधुओं के अखाड़े में रम सकती है; मगर शादी करके संसार नहीं बसा सकती! ख़ानगी होना मना नहीं, बीवी होना मना है! और, अभी घंटे-भर पत्नी की मर्यादा की गाथा सुनाकर मेरा मग़ज़ चाट गई!"

"मैंने तुम्हारे मर्ज़ का नुस्ख़ा बतलाया था। मेरा रोग तो असाध्य हो गया है!"—बेला ने हँसकर जवाब दिया।

"कौन कहता है, असाध्य हो गया है? जिस वैद्य ने इसे असाध्य कहा है, उसका स्वार्थ तुम्हें मुर्दा बनाकर रखना है। तुम ज़िन्दा हुई कि उसकी नानी मरी। माफ़ करना, तुम्हारे दिमाग़ में दक़ियानूसी कूड़ा कूट-कूटकर भरा है। पहले तुम्हारे दिमाग़ का इलाज ज़रूरी है! उसी का आबख़रा उड़कर तुम्हारे दिल पर छाया हुआ है। यही ख़ललदिमाग़ी तो हिन्दुस्तान की औरतों को खा गई! मुझे क्या हुआ है? तबीयत ही है। यहाँ ऊबती है, तो विलायत चली जाऊँगी; फिर ताज़गी आ जायगी!"

बेला को फिटकार बताकर बिजली उठ तो गई; मगर बेला की बात उसके दिल के पहलू में जगह ढूँढ़ने लगी। विलासिता की आज़ादी की

बवंडरी हो चुकी, अब परिवार-बन्धन की ज़िम्मेवारी सर पर ढोनी पड़ेगी! ···बिजली हँस पड़ी।

बेला उसकी नब्ज़ पर हाथ रखकर जो नुस्ख़ा तजवीज़ कर गई, वह पीने में लाख क़ातिल क्यों न हो; पर वह उसके मर्ज़ को गिरफ़्त कर सकेगी—यह धारणा बिजली के दिल में कुलाँच भरने लगी; मगर वह इस मर्ज़ की बुनियाद को या बेला के निदान को सर झुकाकर मान लेने को तैयार नहीं थी—चूँकि उसकी निगाह में शादी उसकी आज़ादियों की क़ुर्बानी थी। उसे ख़ुद पता न था कि तमाम विभूतियों के रहते हुए भी उसका हृदय भूत का डेरा क्यों बना था, और इस फ़िज़ाँ के गुलशन में श्मशान की गन्ध किस कोने से उपट रही थी!

इधर बिजली की बात पर बेला सिर धुन रही थी—

क्या वह फिर विवाह करेगी?···अब विवाह में उछाह तो दर-किनार रहे, निर्वाह भी नहीं है, सिर्फ़ आह-ही-आह है! पहले विवाह में कौन सुख मिला था? जवान होते-होते जान के लाले पड़ गये थे।···जो हो, वह धर्म का ब्याह तो था! और अब?···तिस पर सुरेश से शादी? मौत से क्यों नहीं? वह तो सोचती थी कि कुछ ही दिनों में उसके हाथ में इतना काफ़ी धन हो जायगा कि वह सरयू के तट पर एक आश्रम बनाकर अपने जीवन की गोधूली के दिन भगवद्भजन में बसर कर सकेगी। मगर, जबतक उसकी उम्र ढलती नहीं, तबतक तो किसी आश्रम का आश्रय भी निरापद नहीं। वहाँ भी पुरुष होंगे और उनकी आँखों में वहाँ भी लालसा की लपट होगी। गुरुवर ने भी एक

दिन शरण दी थी। कहाँ ऐसा तपोवन है, जहाँ माया-मृग की माया न हो! कहाँ ऐसा कमंडल है, जो किसी पनाले के जल में डूबा न हो! राम का नाम तो वह हरएक स्थिति में हर जगह ले सकती है—वेश्यालय में भी। इतमीनान चाहिये। यहाँ अपनी ख़ुशी रही; किसी और की दाल गल न सकी।

"अब इस आश्रम को छोड़कर वह परिवार के दायरे में क़दम रखेगी? रख सकती है वह क़दम? पतिता भी कहीं किसी की सहधर्मिणी बन सकी है? इस रंग के बाद तो कोई दूसरा रंग चढ़ नहीं सकता! कम-से-कम हिन्दू-समाज—राम के साये—में तो मुमकिन नहीं। वह किसी के गले का हार भले ही हो; लेकिन किसी के कुल का आधार तो हो नहीं सकती। वह किसी बच्चे की माँ भले ही हो सके; मगर किसी शरीफ़ की माँ तो हो नहीं सकती।···मगर, काश वह हो सकी तो फिर सुरेश से विवाह···नहीं-नहीं, वह उसके लिए दर-दर का भिखारी होगा? वह प्रेम कहाँ से बटोर लाएगी, जो उसे देकर उसकी त्रुटि की पूर्त्ति कर सकेगी! आख़िर कहाँ है उसके नारी-हृदय का प्रेम? —सीतावति राम के चरणों में लवलीन है या अभी तक किसी के अभिशाप को सर पर रखकर मूर्च्छित पड़ा है?'

बेला की आँखों के सामने एक गौर सुन्दर मुख, एक स्फीत वक्ष, दो ककुद् कंधे, दो पद्म-पलाश लोचन सहसा खड़े हो गये और उसके अस्तित्व का ज़र्रा-ज़र्रा—उसकी चेतना की एक-एक कणा किसी निर्विकल्प सिहरन से काँप उठी। वह एक क्षण उसी मायामय अमूर्त्त

रूप को देखती रही; फिर न जाने किस आवेग से विह्वल होकर नीचे आँगन में दौड़ गई और सयत्न-संचित राम की मूर्त्ति के आगे तिलमिलाती हुई पछाड़ खाकर गिर पड़ी—"नाथ! मैं कहाँ भटक रही हूँ! मुझे बल दो, बुद्धि दो, शान्ति दो। मैं निरी अबला हूँ। तुम्हारे ही लिए मैं यहाँ आई, अब मेरी लाज रखो!"

बेला घुटने टेककर उठ बैठी और अपने हृदय की धड़कन को शान्त करने की ग़रज़ से रुँधे कंठ से भजन गाने लगी—

"बिनती करत मरति हौं लाज।
या देहिया नखसिख लौं मेरी पापन केरि जहाज॥
आगे भये न पाछे ह्वैहैं, मैं पतितन-सिरताज।
भागे नरक नाम सुनि मेरो, पीट दई जमराज॥"

वह धीरे-धीरे गाने के प्रवाह में लीन हो गई, और उसकी आँखों से मन्दाकिनी उमड़कर आँचल पर टूट पड़ी।

पञ्चम परिच्छेद

सावनी झूलन का जशन। गोसाईं के वैष्णव-मन्दिर में बेला का मुजरा है। मन्दिर का प्राङ्गण इन्द्र का अखाड़ा बना है। आइने और शीशे, झाड़ और फ़ानूस से मन्दिर का प्रशस्त सायबान लक़दक़ है। दीवारों पर विविध दीवालगीर, चित्र-विचित्र तसवीरें और रंगीन रेशमी जंजीरें लटक रही हैं। मोहनभोग और मालपुए, मोतीचूर और मिहींदाने, लड्डू और ख़ुरमे, बादाम और मुनक्के, अख़रोट और पिस्ते, चाँदी के थालों में, क़रीने से सजे हैं। अगर-बत्तियों की सुरभि जूही और बेले के गजरों की गमक पर अपनी धाक जमा रही है। महन्तजी के दोनों कान के नरगिस के फाहे ख़ुशबू में बाज़ी ले जाते, अगर उनकी लपट की दौड़ कानों तक घिरे हुए रेशमी जोगिया साफ़े से सीमित न हो जाती।

काशी में गोसाईं मन्दिर के सावनी पूर्णिमा के उत्सव की छटा अपना सानी नहीं रखती। गोविन्द की न ऐसी कहीं मंजुल मूर्त्ति है, न मोर-मुकुट में कहीं ऐसी मरकत-मणि ही। कानों में मोतियों के कुंडल, गले में हीरे का हैकल, कमर में ज़रीं काछनी, पैरों में हेम-पैजनी—एक-से-एक मनोहारी हैं। राधा की सलमे-सितारे की चुनरी उनके अलङ्कारों की दीप्ति से सलामी लेती है।

मन्दिर की दिलपसन्द तड़क-भड़क और राधा-गोविन्द की युगल-छवि की नयनाभिराम चकमक तो दर्शकों की छाती के सोते में डोरी डालने के लिए यथेष्ट थी; मगर साथ-साथ महन्त जी के मिज़ाज की आजिज़ी और उनके भंडार की मशहूर फ़ैयाज़ी भी कुछ कम मददगार न थी। जब झूले के जल्से में घी और दूध की झड़ी बँधती—कारचोबी की चाँदनी के नीचे नृत्यशीला सुन्दरियों के लीलायित अंगों और आँखों की बिजलियाँ चमकतीं, तब रसिक भक्तों की मन-मयूरी इस सावनी मंज़र को पाकर लहू के जोश पर ठुमुक-ठुमुककर नाचती, और सारंगी की रिनझिन से गला मिलाकर घुँघरू की रुनझुन—करतालियों और तबले की थाप पर आकाश चूमती हुई—विश्वनाथ के धाम में 'कुँअर-कन्हैया' की डौंड़ी पीटती।

यह वैष्णव-मन्दिर के रंगीन रंग-ढंग और भोग-राग की महत्ता थी, जिसने यहाँ के अधिष्ठित देवता को जाग्रत और जनप्रिय बना रखा था; नहीं तो शिवपुरी में त्रिशूल के दबदबे के आगे चूटी छाननेवालों के दिल पर गोपाल की मधुर मुरली कभी हावी हो पाती?

क्या बात है कि हमारी गली के नुक्कड़वाले मन्दिर के शिव तो दूध और केसर के सोते में आठों पहर उब-चुब होते रहते हैं और हमारे मकान के मुत्तसिल शिवालय के बिचारे भोलेबाबा एक चुल्लू पानी के लिए टापते रह जाते हैं! एक के सैकड़ों रोमाञ्चप्रद चमत्कार की चर्चा मुहल्ले-भर की ज़बान पर चल रही है और दूसरे की कोई बात भी नहीं पूछता—यह क्यों? दोनों त्रिपुरारि हैं, दोनों औढरदानी; मगर एक के नन्दी का सींग सोने से मढ़ा चमक रहा है और दूसरे का सर से अलग हो ज़मीन पर लुढ़क रहा है! काशी में गली-गली शिवशंकर आसन मारे बैठे हैं, सभी भवानी-पति हैं—सभी विश्वनाथ; मगर यह क्या रहस्य है कि जिसके सर पर सोने का छत्र है, उसी की बुलन्द-इक़बाली निखिल विश्व में गूँज रही है? क्या यह सोने का प्रताप है या उस गली की मिट्टी का इक़बाल है? फिर, कितने ग़रीब बिचारे तो फटे कपड़े में आध पेट खाकर ही अपने आशुतोष और दिगम्बर नाम को सार्थक कर रहे हैं!

क्या देवताओं की यशो-रश्मि भी उनके मन्दिर की चूड़ा की दीप्ति पर निर्भर है? क्या हमारे गिरधरनागर की साँवली सलोनी मूर्त्ति महज़ बैजन्ती की माला और मोर-मुकुट की चन्द्रिका पर काफ़ी हृदयग्राही नहीं होती? क्या देवताओं को भी लोगों में श्रद्धा या दबदबा जताने के लिए कुछ टीमटाम रखना ज़रूरी है? जबतक वे लक़दक़ और रौनक़-अफ़रोज़ नहीं बन जाते, तबतक वे हमारी श्रद्धा और भक्ति के पात्र नहीं? हम जगन्नाथ के मन्दिर में लाखों का अटका भेंट कर आते हैं और अपने पड़ोस के भिखारी बाबा की कुटिया के भोले-भाले गिरिधर के आगे एक

बेला भी नहीं नज़र करते—इसकी वजह ? हमारी भक्ति वहाँ आसमान चूमती है, यहाँ छाती से उठती तक नहीं—इसका कारण ? क्या देवताओं को भी दिलचस्पी या चामचुम की तलाश है ? क्यों आज हम मन्दिरों को थिएटर बनाना चाहते हैं—भजन को ग़ज़ल के साँचे में उतारते हैं—सीधी-सादी स्तुतियों को ठुमरियों के पिशवाज़ पिन्हाते हैं ?

क्या बात है कि आजकल हमारी स्तुतियों में दादरों की धुन तो यथेष्ट है; पर हृदय की ध्वनि का कहीं पता नहीं चलता ?

हम उनमें वसन्त का राग न भरकर अगर अन्तर का राग भरते, तो शायद पत्थर के देवता में भी दिल डाल पाते। आज राम और सीता हमारे रोज़गार के लटके न होते, तो शायद मन्दिर को दूकान बनाने की ज़रूरत न पड़ती।

किया क्या जाय, यह विज्ञापन का युग है—फ़ैशन-परस्ती का ज़माना; जबतक मन्दिरों के द्वार पर शानो-शौक़त की नौबत नहीं झड़ती, तबतक न भक्ति का बाज़ार गर्म होता है, न धर्म का सौदा ही चलता है।

शायद जहाँ लक्ष्मी का वास नहीं, वहाँ लक्ष्मी-वल्लभ की तलाश ही हमारी भूल है। तो हमारे देवताओं पर भी ज़माने का रंग चढ़ गया है क्या ? जबतक हम उन्हें गंगा-जमनी थाल में तर माल नहीं चखाते, चरण-चौकी पर अशर्फ़ियों की डाली नहीं रखते तथा सैकड़ों घी की बत्तियों की आरती नहीं उतारते तबतक वे अपनी शक्ति और सत्ता सिकोड़े बुत बने बैठे रहते हैं। वे दरिद्रों और दलितों की फ़रियाद पर ख़्वाब से बेदार नहीं होते। शायद उन्हें जगाने के लिए

कनक-चित्तियों की काकली या कोकिल-कंठ की असावरी ज़रूरी है। तभी उनकी तूती बोलती है। ग़रीब बिचारे कहाँ से उनकी दिलचस्पी का सरंजाम मुहय्या करें? जिन्हें दुनिया में कहीं शरण नहीं, उन्हें क्या अशरण-शरण के चरणों की छाया भी मयस्सर नहीं?

क्या हम मन्दिरों में भी इन्द्रियों की ख़ूराक ही जुगाने की नीयत से जाते हैं—कुछ इन्द्रियों के नाग-पाश से दम-भर परित्राण पाने की ग़रज़ से नहीं? वहाँ भी हमको विलास-निकुंज की रमणीयता की ही तलाश है! वहाँ भी हमको रूप और रंग, रस और गंध के लवाज़मात ही चाहिये! तभी तो हम भक्ति का दम भरने के लिए तीर्थों और मन्दिरों की सैर पर क़दम उठाते हैं; नहीं तो आत्मा की कोरी शान्ति के लिए आलीशान देवालयों की मटरगश्ती किसे सूझती है? इसी लिए आज-मन्दिरों के वायुमंडल में हमको आत्मप्रसाद की नेमत मुश्किल से मिलती है। तो, क्या इसी लिए आत्मतीर्थ का यात्री, देवालय के भगवान् के बदले, जंगल के सुनसान को ढूँढ़ता है? नटनागर लीला-विहारी ने क्या इसी लिए मोर-मुकुट और गुंजों की माला उतारकर क़ीमती मोतियों का टायरा और नेकलेस धारण किया—वृन्दावन के तमाल-निकुंजों को उजाड़कर वहाँ के सोने और संगमरमर के लक़दक़ महलों में पत्थर की मूर्त्ति बनकर बैठ गये?

भगवान् के मन्दिर में भक्तों की भीड़ है। भीड़ यहाँ न होती, तो कहाँ होती? यहाँ क्या नहीं है? मादक ख़ुशबू की लपट है, ज़बान की लज्ज़त है, रूप की बहार है और मीठे गले की झङ्कार है। मगर

यह महज़ इन्हीं दिलफ़रेब सरंजामों की कशिश नहीं जो हमें यहाँ खींच लाती है। यहाँ के देवता के चमत्कारों की शुहरत भी आसमान चूमती है। इस मन्दिर के इक़बाल से हज़ारों की मनचाही मुरादें पूरी हुईं। यहाँ के फूल और प्रसाद के बल पर कितनों के हाथ की हथकड़ियाँ खुल पड़ीं, बहुतों की सूनी गोद हरी-भरी हुई, सैकड़ों के सर के सरकश भूत सर हुए, और हज़ारों ने दुराग्रही ग्रहों के दाँत तोड़ डाले।

यह बात ज़रूर है कि हमारे देवता के आशीर्वाद की एजेन्सी महन्तजी के हाथ है; और इन न्यामतों को वे बड़ी चातुरी और बड़ी माधुरी से पूरी क़ीमत पर वितरण करते हैं। जिसे कोई मुराद होती या जिसकी मुराद बर आती है, वह भगवान् की सेवा के लिए तन-मन-धन से, दसों नख जोड़े, एक पैर से खड़ा रहता है। और, दुनिया में न मुरादों की कमी है, न मुरादों की बाँदी भक्ति की। हमारे सहृदय भक्त जन मन्दिर के तमाम पुनीत जल्सों में बड़ी श्रद्धा से हाथ बँटाते हैं।

तो क्या भक्ति हमारे अन्तर की स्वतःप्रसूत निर्झरिणी नहीं है? यह भी हमारे स्वार्थ की चोटी से छूटी हुई प्रवृत्ति की धारा है, जो बाईं ओर गड्ढे में न जाकर दाहनी ओर मन्दिर की जानिब मुड़ गई है। यह जिस परिस्थिति की लपेट में पड़ी, उसी की होकर रही। जिस हवस के ज़ोर पर हम गाँठ कतरते हैं, उसी हवस की उत्तेजना पर हम भक्ति का दम भी भरते हैं। साधुओं के साथ चिलम का दम हो या लम्पटों की जमात में ठर्रे का जाम—यह एक ही नशाख़ोरी की हवस है, जो एक ओर झुक कर सर पर जटा बँधाती है या दूसरी

ओर सर को पनाले के प्रवाह में डुबो देती है।

हमारे ममत्व को खुल खेलने के लिए दुनिया में कोई एक मैदान ज़रूरी है। जिस मनोवृत्ति के ज़ोर पर एक सरकारी ख़िल्लत की कलँगी के लिए तूमार बाँधता है, शायद उसी प्रवृत्ति की प्रेरणा पर दूसरा राष्ट्रपति की पगड़ी के लिए लोहे के चने चबाता है। इधर एक दरबार की दौड़ लगाता है, उधर दूसरा जेल जाता है; इधर हज़ार मुश्किलों के भीतर बारीक ख़ुशामद का रेवाज़ है, उधर तलवार की धार पर चलने का रेयाज़। एक को हम भोग कहते हैं, दूसरे को त्याग। इधर शान-शौकत की तजल्ली है, उधर सादगी की बुलन्दी।

मगर, सूक्ष्म विश्लेषण के साथ यदि छान-बीन हो, तो अमूमन इन भोग और त्याग के पंरदों में एक ही बुत का जलवा नज़र आएगा—एक ही स्वार्थ का गोमुख, एक ही मान की आन मिलेगी। प्राणों की तड़प दोनों ओर बराबर होगी। इधर ख़िताब मारने में नाम है, उधर नाम मारने में नाम; इधर गवर्नमेंट हाउस का लञ्च है, उधर कांग्रेस का मञ्च; इधर ज़र है, उधर खद्दर। चन्द परिस्थितियों में पड़कर एक राजाबहादुर हो गया; चन्द परिस्थितियों में पड़कर दूसरा मुँहज़ोर लीडर हो गया। दोनों का उठान एक होकर भी मैदान दो हो जाने से दोनों दो निशाने पर चले गये। दोनों को सर पर तुर्रे की तलाश बराबर है—वह कफ़न बाँधकर मिले या ख़िताबी कलँगी बाँधकर। समान बड़ाई की प्यास इधर भी है, उधर भी। मुमकिन है, एक में रंग आया, दूसरे में पराग; एक को दुनिया ने आँखों पर बिठा कर रखा, दूसरा दुनिया की

आँखों पर ख़ुद चढ़ा रहा। पर, बीज एक—चीज़ एक।

एक ही बीज अलग-अलग तबक़े की मिट्टी में अलग-अलग रंग और बू पैदा करता है। प्रकृति नहीं बदलती, बदलता है पर। आज कितने राजाबहादुर बहादुरी के मैदान में जान पर खेलते और कितने जेल में धूनी रमानेवाले लीडर काँटों के ताज के बदले सितारों के ताज पहने दरबार में पर मारते रहते। प्रवृत्ति एक है; बस, परिस्थिति दो हो गई। एक ही सत्ता प्रवृत्ति के रूप में निखिल की लीला करती है और फिर निवृत्ति के रूप में निखिल का लय करती है। जो एक ओर से अकर्त्ता और निर्लिप्त है, वह दूसरी ओर सर्वकर्त्ता और सर्वभोक्ता भी है।

हम नाहक कामना को बदनाम करते हैं। इसी के बल पर तो हमारे कितने सद्गुणों की स्फूर्त्ति है। हमें यश की कामना न होती, तो न हमारा सर ऊँचा होता, न हाथ। दस का अहसान लेना न रहता, तो शायद दान देना भी हमसे पार न लगता। अगर रोटी-दाल का सवाल न रहता, तो इस ज़माने में हमारे पुरोहितजी के सर पर न इतनी बड़ी चुटिया होती, न हाथ में सुमिरनी। आज पूजापाठ और तिलक-फटाका हमारे व्यवसाय या सम्प्रदाय के इश्तहार की तख़्ती न होते, तो शायद दुनिया को राम के नाम के भी लाले पड़ जाते। अगर राम काम का दम न भरते, तो उनके चरणों की छाप सर पर ढोनेवाले आज कहाँ और कितने मिलते!

क्या देवताओं की स्थिति भी हमारे स्वार्थ की भित्ति पर है? जब दिल में किसी बात की हवस होती है, तभी हम पत्थर को देवता समझकर

उसके चरणों पर सर झुकाते हैं—नाक रगड़ते हैं। हम बेवजह घंटों बैठकर रुद्राक्ष के दाने गिनते या पौ फूटने के पहले उठकर कार्तिक-स्नान के जंजाल में पड़ते? बिना किसी आकांक्षा के ईश्वर की याचना भी बड़ी मुश्किल से होती है। आज हमारे तमाम धर्म का मर्म हमारा स्वार्थ है। हम जब नीरोग और निश्चिन्त बने रहते हैं, तब विज्ञान की कमान लेकर भगवान् के अस्तित्व पर भी निशानेबाज़ी से बाज़ नहीं आते। हम दुनिया के निखिल अंधविश्वास पर चुटकियाँ लेते हैं, पोपों की पोपबाज़ी पर फबतियाँ चुस्त कर अपने दिमाग़ का परिचय देते हैं; मगर जहाँ हम रोग या दुर्दिन की लपेट में गिरफ़्तार हुए, फिर तो साईं बाबा के मुँह के लुआबदार फूँकवाले पानी में भी हमें न जाने कहाँ का चमत्कार नज़र आता है और कोला कलवार की देवी के चौरे पर चुनरी चढ़ाने के लिए भू-परी जाने में भी कोई द्विधा नहीं होती। जो शेख़ी और अकड़ में ज़माने-भर के कान कतरता आया, उसे जब एक दिन राम का नाम लेकर अपना कान थामना पड़ता है, तभी शायद उसकी आँख और कान—दोनों खुलते हैं।

इस दुनिया में बग़ैर किसी मुद्दआ के कोई तुआ नहीं होती। हमारे ललाट का रक्तचन्दन हमारे हृदय के राग की बाहरी छाप है। हमारी भक्ति की तमाम आडम्बरी निष्ठा कामना की मरीचिका है। साधारणतः हमारी तमाम कर-जोड़ प्रार्थना हमारे स्वार्थ का स्वर है—याचना का सुर है। जब हम ग़रज़मन्द हैं, तभी तो हमें लोक की, परलोक की, आदमी की या दैवी मदद की ज़रूरत है। जब ग़रज़ नहीं, तो

किसी से ग़रज़ ?—आदमी हो या फ़िरिश्ता !

दुनिया के तमाम मज़हबों ने जिस बहिश्त का ख़ाका खींच रखा है, वह स्वर्ग तो बस, इन्द्रिय-लोलुपों का जहन्नुम है, वहाँ मधु की प्याली है, उर्वशी है, नन्दन-चमन है, अनन्त यौवन है। अगर यह दिलफ़रेब तसवीर न रहती, तो न चटोरों को स्वर्ग की चाट होती, न इस लोक में परलोक का सौदा चलता। यहाँ न तीर्थों में स्वर्ग की एजेन्सियाँ खुलतीं, न विज्ञापनों के शोर पर पुण्य की गर्मबाज़ारी होती। कठोर सत्य को लेकर इस दुनिया में कब किसका काम चला है ?

गँवारों में प्रचलित भूत-दूत की जिस ओझाई पर हम हँसते हैं, उस ओझाई से हम क्या बरी हैं ? हमारी प्रकृति-गत हौलदिली के ग़लबे में किसी-न-किसी तबक़े की निरन्तर ओझाई ज़रूरी है। भला, निर्विकार निर्गुण ब्रह्म का दामन थामकर सौ में निन्नाबे कभी दो दिन भी इस पृथ्वी पर तसल्ली से टिक सकते हैं ? उस निर्लिप्त निरंजन के साये में हमारे दिल को दिलासा मिलना कभी मुमकिन है ?

बात यह है कि हम दुनिया के तरद्दुदों से इस क़दर बेबस हैं कि बिना किसी सुगम दैवी सहारे के हमारे दम में दम नहीं पड़ता। जो हमें इस सहारे का विश्वास दिलाता है, वह फ़ौरन् हमारे दिल को थाम लेता है। हमें तो हर घड़ी एक दर्दमन्द रहमान की ज़रूरत है—वह देव हो या देवी, सोखा हो या बन्दी, ग़ाज़ी मियाँ या शहीद नबी; जिसे हम झाड़-फूँक, मन्तर-जन्तर, दुआ-तावीज़ के ज़रिये जब ढूँढ़ें, तब पा सकें। वह सत्ता मकान में हो या मज़ार में, आसमान में हो या पाताल में—

कहीं भी हो, कोई भी शक्ल रखती हो, या सब शक्लों में पैवस्त हो; पर हमारी फ़रियाद सुनती है, यही यथेष्ट है। उसी के सामने हम सर झुकाते हैं, सुख-दुख में उसे ही सबसे पहले पुकारते हैं, उसके हुज़ूर में अपनी अर्ज़-ग़ारज़ पेश करते हैं, उसके मुनीम की जेब गर्म करते हैं और उसके पसीने की जगह लहू बहाने को तैयार रहते हैं।

जब बच्चा रोता है, तब उसको चुप करने के लिए उसके सामने हम गुड़िया रखते हैं; और जब दुनिया की मुसीबतों में पड़ सयाना रोता है, तब उसको चुप करने के लिए उसके सामने हम मायाविनी मूर्त्तियाँ रखते हैं। बच्चा हो या सयाना, दोनों को बहलाने के लिए कोई एक मन-मोदक ज़रूरी है। हमें हर हालत में एक दिलफ़रेब सहारा—वह मूर्त्त हो या अमूर्त्त—अनिवार्य है, जिसके सामने हम रो-गा सकें, जिसके चरणों में हम अपनी आशा-आकांक्षा भेंट कर सकें, जिसका आसरा ढूँढ़ें और भरोसा रखें। हमारी हँसी-ख़ुशी में उसकी याद भले ही न हो; पर हमारे रोने के वक़्त तो एक ग़ैबी खिलौने का भुलौना ज़रूरी है।

जबतक हमारी अन्तर्दृष्टि नहीं खुलती और उसके सामने मुसकान और आँसू का विभेद नहीं मिटता, तबतक एक मायावी झुनझुने के बिना इस संसार में निभना टेढ़ी खीर है। हम रोगी हैं, तो डाक्टर का सहारा है; भूत का ग़लबा है, तो गुनी की तलाश है; ग्रहों का फेर है, तो शान्ति का उपचार है; मुक़द्दमे का चक्कर है, तो वकील का दिलासा है। मगर, हमारी हरएक चिन्ता में, हरएक आरज़ू में, इन सब मददों पर बाला एक चिन्ताहरण करुणा-निधान की शरण बराबर सामने रहती है।

मानव-प्रकृति तरद्दुदों के झमेले में कभी व्यवस्थित नहीं रह सकती। इसी लिए जबतक बाहर से सहारा ढूँढ़नेवाली हमारे अन्तर की ये स्वाभाविक कमज़ोरियाँ आत्म-ज्ञान की ललकार पर भाग खड़ी नहीं होतीं, तबतक न चमत्कारों पर से हमारा विश्वास उठता है और न मन्दिर या मसजिद का—देवघर या मज़ार का—रोज़गार ही बन्द होता है।

आज गोसाईं के मन्दिर में राधा-गोविन्द की अनोखी झाँकी है। आज सावनी उत्सव में बसन्ती शृंगार की रात है। कल बैगनी बहार थी, आज पीत की पारी है। हल्दी और रामरज, केसर और चन्दन छत से ज़मीन तक रंग ला रहे हैं। सर पर ज़र्द मखमल की ज़रीं फूलवाली चाँदनी है, ज़मीन पर ज़ाफ़रानी ज़ाज़िम। शहतीरों से शरबती झाड़ और क़न्दील, चम्पई रंग से पुती हुई दीवारों पर बसन्ती रेशमी परदे, पुजारियों की नारंजी धोती और चादर, कलावत्तू में पिरोये हुए पीले फूलों के तोरण और बन्दनवार आज सावन के मौसम में सरसों की सरसई बिखेर रहे हैं।

बेला के तन पर भी बसन्ती छटा है। उसे भी आज रसिक-शेखर के दरबार के दस्तूर को तसलीम करना पड़ा है। उसके तपे सोने-जैसे अंगों पर सुनहला लचका चढ़ी सर्दई साड़ी थी और उसी रंग की रेशमी चोली। वह महफ़िल के बीचोबीच हज़ारों चुटीली चितवनों की चोट सहती हुई सर झुकाये बैठी है। आँचल को वह सर पर सरकाती रहती और हारमोनियम पर गाती जाती। कभी-कभी सर उठाकर सामने की युगल-मूर्त्ति की छवि को आँखभर देखती और फिर न जाने किस

लिहाज़ से नीची कर लेती। उसकी चेष्टा पर न हाव-भाव की लहर है, न किसी की चटुल चितवन का असर। वह मजलिस की परी होकर भी मजलिस की आबोहवा से निराली है।

उसके भजन गाने की शुहरत थी। उसके आचार-विचार की चर्चा थी। इसी लिए धार्मिक महफ़िलों में उसकी तलाश एक आम बात थी। उसकी ईश्वरी देन पर सैकड़ों ईर्ष्या करते। कमला-सा रूप, कमल-सी आँखें, सुकोमल बोलचाल और कमाल का गला। उसकी क़िस्मत फूटी न रहती, तो आज ये विभूतियाँ उसे वसन्त की रानी बनातीं।

उसके गले में दर्द-भरा लोच है। जब गाती, एक-एक पद में रूह फूँक देती, गले में दिल डाल देती। आज वह 'मीरा' का मशहूर भजन गा रही है—

"मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।
जाके सिर मोर-मुकुट मेरो पति सोई!···मेरे तो०"

इस गाने को वह इस अन्दाज़ से अदा करती, मानों वह सचमुच अपने हृदय की मार्मिक वेदना जता रही हो! गले से आवाज़ क्या निकलती, गल-गलकर कलेजा निकल पड़ता। एक-एक तान में प्राणों की मूर्च्छना लहरा रही है। तमाम महफ़िल सन्नाटे का आलम हो रही है!

'मीरा' के इस भजन में उसने अपने हृदय का रहस्य—अपने जीवन का सुर—भर दिया। जभी तो उसके कंठ की ध्वनि उसके प्राणों की वाणी बन गई—

"तात-मात भ्रात-बन्धु आपनो न कोई।
छाँड़ि दई कुल की कानि होनी होय सो होई!···मेरे तो०"

उसने इस अन्तिम छेड़ को जिस बेबसी—जिस मिठास—जिस करुणा से गाया, उसका आनन्द तो उसी को नसीब हुआ, जिसने उसके मुख से यह पद सुना। ऐसा मालूम हुआ कि उसके सूने दिल की उसाँस कंठ तक आते-आते राग बनकर निकल गई। सूली की सेज पर गाती हुई 'मीरा' की तरह हृदय के आवेग से थर्राता हुआ—दिल के दर्द से भरा हुआ—उसके मुख का एक-एक शब्द मन्दिर की दरो-दीवार पर टकरा गया। उसके जीवन का सारा रुद्ध हाहाकार सुर के सुरूर में अन्तर को चीरता हुआ विश्व में बिखर पड़ा।

भजन ख़त्म हुआ। वाह-वाह की ध्वनि में उसके हृदय का वेदना-संगीत लीन हो गया। पाँच मिनट तक सन्नाटा रहा। फिर महन्तजी ने कोई राष्ट्रीय ग़ज़ल गाने की फ़रमाइश की।

बेला ने दम-भर साँस ली; फिर हारमोनियम छेड़ा और गाना शुरू किया—

क्या रंग ला रही हैं नैरँ गियाँ तुम्हारी ;
घर को जला-जला के अच्छी रही दिवाली !

महफ़िल गर्म हो उठी। गाने का रंग चढ़ गया। उसने गाने में रूह फूँक दी—

फ़ैशन तुम्हारा जीवन, लन्दन तुम्हारा नन्दन ;
नीले नयन की चितवन मिसरी-मिली कटारी !

सहसा उसने आँचल सर पर सरकाते वक़्त आँखें ऊपर उठाईं, तो देखा कि उसकी आँखों पर दो परिचित आँखें खड़ी हैं। उसका कलेजा

धक् से कर गया''''''भगवन्! मैं क्या देख रही हूँ! ये आँखें कहाँ से आ टपकीं?''ऐं! यह तो श्रीधर है!''''''

भगवान के झूले की रेशमी डोरी के निकट गले में चम्पई चादर डाले श्रीधर खड़ा-खड़ा एक टक बेला की ओर देख रहा है।

बेला का चेहरा ज़र्द पड़ गया। उसका गला रुँध आया; गाना रुक गया, आँखें झिप गईं। छिन-भर वह थर्राई और तिल-मिलाकर वहीं फ़र्श पर ढेर हो गई!

महफ़िल में कुहराम मच गया। श्रीधर ने दौड़कर उसे गोद में उठा लिया। बात-की-बात में भीड़ चीरता हुआ मन्दिर के पीछे अपनी कोठरी में ले चला, भूल गया कि वह क्या कर रहा है—किसे ले जा रहा है—देखनेवाले क्या कहेंगे! किसी ने उसे पहचाना तक नहीं। किसी ने उस घड़ी इस रहस्य को समझा भी नहीं।

महन्तजी ने उठकर लोगों को शान्त किया कि बेला बाई सहसा भीड़ और गर्मी से अस्वस्थ हो गईं। बात-की-बात में रासमंडली खड़ी कराई; पर महफ़िल का मज़ा किरकिरा हो गया। रासलीला का रंग जमना आसान न रहा।

उधर बेला चारपाई पर बेसुध पड़ी है। श्रीधर उसकी शुश्रूषा में व्यस्त है। ठंडे पानी के छींटे पाकर उसकी आँखें तो खुल गईं; मगर उसके अंगों की शिथिलता नहीं गई, न चेतना की बिजली ही दौड़ी। वह बार-बार थर्राकर काँप उठती है। कभी पलकें उठाकर श्रीधर को देखती, फिर बन्द कर लेती।

कुछ देर बाद श्रीधर ने उसके हाथों को उठाकर अपनी छाती पर रखा और उसके कानों में मीठे स्वर से पुकारा—"बेला ! बेलारानी !"

···क्या वह पड़ी-पड़ी उस माधुरी को पीती रही, उस स्पर्श के सुख को लूटती रही ? क्या वह सोचती है···मुद्दतों पर यह बेहोशी नसीब हुई है—मुद्दतों पर यह मसीहा मिला है ! दो-चार घंटे भी तो यह जड़ता छाई रहती ; कुछ और देर तक तो इस उपचार का सिलसिला चलता !···क्या सचमुच वह अतीत की कुएँवाली घटना की रात का स्वप्न देख रही है—वही रात, जो उसके जीवन की रात में एकमात्र दिन है ! कौन कहे, यह बेहोशी की जड़ता है या सुखावेश की शिथिलता !

मगर, जब श्रीधर ने अपने होठों को उसके कानों के आसपास से हटाकर कपोलों पर लाकर रखा, और वह मधुर ध्वनि निविड़ स्पर्श के रूप में परिणत हो गई, तब अचानक वह न जाने किस आवेग की ठोकर पर धड़फड़ उठ बैठी और चारपाई टेककर कोने में खड़ी हो गई। दीवालगीर की धुँधली लौ ने उसके चेहरे की तरफ़ इशारा किया। श्रीधर ने देखा कि सघन पल्लवांतराल के जाल से बेला के लोचन किसी अपरूप ज्योति की लौ पर काँप रहे हैं। कौन कहे, वह करुणा-भरी वेदना की ज्वाला है या किसी गंभीर प्रेम की शिखा !

बेला ने धीमी आवाज़ में कहा—"आज आप फिर अपनी स्थिति को भूल गये ! मेरी तो कुछ बिगड़ी-बिगड़ती नहीं ; बिगड़ी-बिगड़ती है आपकी। आप ही की किरकिरी होती है।"

"होती है, तो हो! तुम्हें गिरते देखकर मेरे हाथ से बाग छूट पड़ी। तुम्हीं क्यों गिरने गईं?"

"सो तो मैं ख़ुद नहीं जानती। भीड़ और गर्मी की शिद्दत से एक तो मैं यों ही परीशान हो चली थी, उसपर आपको अचानक देखकर मेरे पैरों-तले से ज़मीन निकल गई।"

"बेला, मैं क्या जानता था कि तुम्हें यहाँ देखूँगा! मुझे तो इस जीवन में तुम्हें फिर देखने की आशा तक नहीं थी। तुम्हारे एकाएक ग़ायब हो जाने के बाद मेरा रोआँ-रोआँ समझ गया कि तुम मेरे जीवन में क्या थी। तुम जिस पहलू को सूना कर गई, वही पहलू तो इन प्राणों का पहलू है। तुमने तो समझा, मेरी शादी करा दी—और बस, घर बस गया! मैं पूछता हूँ, दिल उजाड़कर कोई घर बसा पाया है? जब दिल ही वीरान हो गया, तब घर रहा या न रहा, दोनों बराबर है। 'सुधा' बिचारी इस वीराने में रस की फुहार देने से बाज़ न आई; मगर ऊसर उर में न वह हरियाली ला सकी, न सूखे डंठलों में कोंपल। और, इसी तमन्ना में वह·····"

श्रीधर का गला भर आया।

"सुधा उठ गई? हाय! यह क्या सुन रही हूँ मैं!"—बेला काँपती हुई बोली।

"अच्छा हुआ, चली गई! मरते दम तक भर-माँग सिन्दूर की तलाश रही। इससे ज़्यादा उसने कभी न माँगा—न पाया। हाँ, तड़पकर जी ठंढा कर लेने को एक गोद का बच्चा छोड़ गई!"

"सच ! लल्ला साथ आया है ?"—बेला ने बड़े आग्रह से पूछा।

"नहीं ! यहाँ कहाँ लाता !"

"तो आप यहाँ कैसे आये ?"

"गर्दिश खींच लाई, बेला ! मुझपर चार हज़ार की डिग्रियाँ हैं। गिरफ़्तारी का वारंट भी जारी है। रुपये के इन्तज़ाम में बाज़ार नापता फिरता हूँ। मगर, अभी तक किसी ने मेरी कमर नहीं पकड़ी। यहाँ भी दो-चार दोस्तों के दरवाज़े खटखटाये, कोई भर-मुँह बात नहीं करता। महन्तजी से ज़माने से परिचय है ; इसी से यहाँ ठहर गया।"

"मगर, आपको हाथ पसारने की ज़रूरत हुई, यही बात मेरी समझ में नहीं आती। आपका भरा घर....."

"आज सूना है ! अव्वल तो जो कुछ ज़ेवर और नक़द था, सब बाँध-बूँधकर चची दामाद के घर चली गईं !"

"सो कब ?"

"तुम्हारे चले आने के कुछ ही दिनों बाद। मैं तो घर पर था नहीं। चार साल तक इधर-उधर तुम्हारी तलाश में भटकता रहा। बिलकुल परवा नहीं थी कि कहाँ क्या लुटा जा रहा है। न अपने रोज़गार में दिल था, न जायदाद की देख-रेख से मतलब। सर पर जैसे वहशत सवार थी। फिर घर से दूर—शहर के चक्कर में जा पड़ा। बस, ऐयाशी में बेहोशी और अंगूरी में बेख़ुदी ढूँढ़ने लगा। मगर सब बेकार। दिल की लगी को शराब भी न बुझा सकी।"

बेला सन्न हो गई। काटो तो ख़ून नहीं ! उसका सिर चक्कर खाने

लगा—या भगवन्, क्या मैं ही इस अनर्थ का ज़िम्मेवार हूँ? मैंने तो श्रीधर के हित के लिए ही कलेजे पर पत्थर रखा था, और यह उलटा हो गया! मेरे भाग्य में इन्हें भी गुलफुल देखना नहीं लिखा है!

श्रीधर ने फिर कहना शुरू किया—"बेला, तुम्हें जयदेवजी की याद होगी—वही, चचाजी की निगरानी में घर का काम-धंधा देखा करते थे।"

बेला ने सर हिलाकर अपनी जानकारी जताई।

"वे ही मुझे पार साल कलकत्ता की सोनागाँछी से घर घसीट लाये। मेरी वह दोहरी देह विलायती बोतलों की गर्मी में बताशे-सी घुल गई थी। अब तो कहीं अच्छा हूँ। जिस मुश्किल से कलकत्ता में मेरे लटपटे दिन कटे, मैं ही जानता हूँ। अंधाधुंध क़र्ज़ लेता और पैमाने के पनाले में पानी की तरह बहाता गया। कुछ मायावी चितवनों की झावली में उड़ गया। अगर जयदेवजी उस दोज़ख़ी दुनिया से मुझे खींच न लाते, तो अबतक·····ख़ैर, जाने दो यह बात! मैं तुम्हें खोकर भी जीता रह गया, यही ताज्जुब है। घर पर आकर जब लल्ला को देखा, तो आँखों में दम पड़ा, दिल में एक दिलासे की सूरत नज़र आई और घर सँभालने की फ़िक्र पड़ी। मगर, रह-रहकर तुम्हारी याद काँटे की तरह चुभती रही। मैं न मरा, न ज़िन्दा ही हुआ। रोटी-दाल से ज़रूर खुश हूँ; मगर दो-चार महाजनों की डिग्रियाँ सर पर मँड़रा रही हैं, और अब बिजलियाँ बनकर टूटा ही चाहती हैं। आज तुम्हें देखकर मेरे अधभरे ज़ख़्म फिर ताज़ा हो गये। अब आगे क्या होगा, मैं ख़ुद नहीं जानता।"

"आपने फिर शादी नहीं की?"

"क्या ख़ूब ! शादी ! क्यों करता, बेला ! क्या एक स्त्री का लहू हाथ रँगने के लिए काफ़ी नहीं है—दोनों हाथों के लिए दो चाहिये ?"—श्रीधर ने पागल की तरह बतीसी दिखाकर कहा।

बेला क्या जवाब देती ! पशोपेश में पड़ी खड़ी रही।

"बेला, यहाँ आकर जब तुमने मोतियों से माँग भर ही डाली, तो उसे सिन्दूर से भरने से क्यों इनकार हुआ ? मैं तो तुम्हारे सर पर सिन्दूर रखने को तैयार ही था। मगर, शायद मैं भूलता हूँ, मोतियों के आब को सिन्दूर तो पा नहीं सकता ! सिन्दूर के ज़रिये तो सदा-सोहागिनों की शौक़त नहीं मिलती !"

"माफ़ कीजिये, आप भी इस सूनी माँग को मोतियों ही से भरते, कुछ सिन्दूर से नहीं। इतनी ताक़त आप की उँगलियों में न थी।"

"तो क्या मरने के लिए तुम्हें कोई दूसरा रास्ता नहीं था ?"

"आपका शाप जो मेरे सर पर था ! मैं जाती, तो कहाँ जाती ! और, मरने के लिए दूसरा ज़रिया ही क्या था ? कफ़न पहना या पेशवाज़, कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं।"

"सब कुछ पहनोगी, मगर चूड़ी और चुनरी नहीं—क्यों !"

"मैं तैयार हूँ। चलिये, इसी मन्दिर में भगवान् को साक्षी करके पहनाइये !"

बेला छन-भर चुप रही और श्रीधर के चेहरे का उतार-चढ़ाव देखती रही। श्रीधर पत्थर की मूर्ति-सा खड़ा-खड़ा सोचता रहा। फिर दबी ज़बान से बोला—"यहाँ एक क़िस्सा खड़ा करना चाहती हो ?"

"मैं चाहती हूँ! मुझे तो यह सौभाग्य मिलने का नहीं; फिर इस हिर्स से फ़ायदा? इसीलिए तो पहले भी मैंने आपको इस आग में कूदने से रोका था! आपको गले लगाकर मैं आपकी सेज की सहचरी होती सही, मगर आपकी पूजा की सहधर्मिणी नहीं। आपके बच्चों की माँ हो सकती थी; मगर आपके उत्तराधिकारी की माता नहीं। और, फिर आपको तो कामिनी की कमी नहीं थी, कमी थी गृहिणी की।"

"अब समझा! तुम्हें पत्नी की मर्यादा मयस्सर नहीं थी; इसीलिये तुमने इनकार कर दिया।"

"सो बात नहीं थी! मैं आपकी क्षति से हिचक गई, कुछ अपनी क्षति से नहीं। मेरी क्षति क्या थी? आप मेरा हाथ थामकर उठा तो सकते नहीं, ख़ुद ही गिर जाते। मैं जो थी, वही रह जाती और आप पाँक के पनाले में जा पड़ते। मेरी तो मुराद पूरी होती; मगर आपका घर-बार, धन-धर्म, मान-मर्यादा—सब-कुछ लुट जाती।"

"जैसे लुटने को कुछ बाकी रहा! जाने कहाँ से कहाँ लुढ़क पड़ा। जान के भी लाले पड़ गये। घर लुट गया, सुधा उठ गई। मैं आज बैसाखी ग़ुब्बार की तरह मारा-मारा फिर रहा हूँ—क्यों? चूँकि तुम्हें न पा सका!"

"यह कहिये कि मुझे पा गये होते, तो गर्द-ग़ुबार ही बने रहते। लोक, परलोक—दोनों छूट जाते।"

"हर्गिज़ नहीं। एक भी न छूटता। मैं ज़िन्दगी से नामुराद तो न होता। मैं तो समाज की आँखों में उँगलियाँ देकर दिखा देता कि

प्रेम के बल पर मनुष्य क्या कर सकता है। कठिनाइयों से सीना भिड़ाकर लड़ता। नस-नस में आशा और आकांक्षा खेलती रहती। दावे से कहता हूँ कि पहाड़ तोड़कर भी अपना रास्ता ज़रूर निकाल लेता।"

बेला सोच में पड़ गई। उसने क्या सोचा था, क्या हो गया! उसके मर्म के अन्तस्तल में वेदना की एक लहर उठी और वह इसी लहर में ऐंठ गई।

"आह! बेला, आज भी तुम मेरे सुख-दुख में शरीक हो जाती! ·····बस, तुम्हें 'हाँ' कह देना है। फिर तुम देख लेना, कैसे मेरी नस-नस फड़क उठती है और मैं पहाड़ से टक्कर लेता हूँ! तुम्हारे हाथ में मेरे नसीब की कुंजी है; खोलो या बन्द रखो!"

"मैं आपके पसीने की जगह लहू बहाने के लिए तैयार हूँ! कहिये, मुझे क्या करना होगा?"

"बस, चलो; हम-तुम बम्बई चले चलें। नहीं, मैं तुम्हें रखेली बनाकर नहीं रखूँगा, शादी कर लूँगा तुमसे, और हम दोनों मिलकर एक हो जायँगे। यक़ीन मानो, मैं कुछ दाव-पेंच की बातें नहीं करता। सच पूछो तो तुम्हारा विवाह कभी हुआ नहीं था। जो हुआ था, वह ढोंग था। तुम तो नादान बच्ची थी। मेरा विवाह भी विवाह नहीं था—विवाह का सब्ज़बाग़ था। मेरे दिल को कभी स्वीकार नहीं था। किसी चादर के छोर से एक आँचल का खूँट बाँध देना विवाह नहीं है। प्रेम के सूत्र से हृदय को हृदय से बाँधना विवाह है। यह रीति न हो—पर नीति तो यही है। समाज हामी न भरे, न्याय की वाणी तो यही है।"

"आप भूलते हैं। मैं विधवा ही नहीं, वेश्या भी हूँ!"

"बेला! क्या हृदय के विधान से बढ़कर शास्त्र का विधान है? मान लो, तुम पत्नी नहीं हो सकती; लेकिन मेरे जीवन की संगिनी तो बन सकोगी! एक ब्राह्मण को जीवन-दान दे सकोगी, यही क्या कम है? और, बेला! इतमीनान रखो, ऐसा विवाह भले ही लोकाचार के विरुद्ध हो, कुछ शास्त्र से असंगत नहीं है। जो इसे असंगत मानता है, वह ढोंगी है—आँख का अन्धा है। मेरी आँखें खुल गई हैं; मुझे कोई पट्टी नहीं पढ़ा सकता। शहरों में अब ऐसे विवाह दो-चार हर साल हो रहे हैं। आँखवालों के समाज में ऐसी कोई रुकावट नहीं। जो लकीर के फ़कीर हैं, वे तो सरासर कूप-मंडूक हैं; उन्हें विश्व के परिसर का पता नहीं, न मानवता की प्रगति का परिचय है। गाँववाले अपनी अलग डफली कबतक बजाते रहेंगे? वह दिन क़रीब है, जब ज़माने का रंग देखकर उन्हें भी अपना रंग बदलना पड़ेगा।"

"लेकिन इस समय तो गोविन्दपुर में उन्हीं का दौर-दौरा है!"

"हुआ करे। मुझे तो गोविन्दपुर में रहना नहीं है, रहेगा वहाँ लल्ला। सयाना होकर बाप-दादा का रोज़गार गुलज़ार करेगा। ज़्यादा नहीं, तो जबतक निभ सके। जयदेवजी जायदाद की देख-रेख कर लेंगे। मैं उन्हीं को सब सुपुर्द कर दूँगा। पुरानी रीतियों का दम भरनेवाले लाख लाम-काफ़ बकें; लेकिन वे मेरा एक बाल भी बाँका नहीं कर सकते। हम दोनों बम्बई चलकर अपना नया संसार बसा लेंगे। कहो बेला, तुम साथ दोगी? तुम्हारे 'हाँ-ना' पर मेरे जीने-मरने का

सवाल टँगा हुआ है !"

श्रीधर ने बेला के सामने घुटने टेक दिये, उसके हाथों को अपने हाथों में थाम लिया और उँगलियों से उसकी हथेलियों को सहलाने लगा।

बेला पशोपेश में पड़ी तड़पती रही। क्या जवाब दे! 'हाँ' कहती है, तो श्रीधर सब-कुछ तिलांजलि देकर पथ का भिखारी बन जाता है; 'ना' कहती है, तो उसके पागल प्रेमी का कलेजा टूक-टूक हो जाता है।

श्रीधर उसके दोनों हाथों को झकझोरता हुआ बोला—"बेला! कहो, क्या सोचती हो? तुम्हारी कौन-सी मुश्किल आसान नहीं होती?"

बेला अधीर हो उठी। श्रीधर की उँगलियों का निविड़ स्पर्श उसके लहू में बिजलियाँ छोड़ रहा था। श्रीधर की बड़ी-बड़ी आँखों के करुणा-प्रवण आवेदन ने उसके कलेजे की जड़ हिला दी। इस आँधी में संयम की कीलें उखड़ गईं।

बेला का कलेजा उछलकर उसके मुँह में आ गया और 'हाँ' बनकर ज़बान की सीमा तक पहुँचना ही चाहता था कि एकाएक दाहनी ओर किवाड़ पर खट-खट आवाज़ हुई। इस शब्द के धक्के से धक्का खाकर वह सतर्क हो गई और हाथ छुड़ाकर घबराई-सी बोली—"मुझे दो-चार दिन का वक़्त दीजिये। मैं फिर मिलूँगी, तब जवाब दूँगी।"

"मैं तो कल तड़के ही महन्तजी के साथ चुनार जा रहा हूँ। चौथे दिन लौटूँगा। कहो, तुम्हें कोई अड़चन है? कहीं बँध गई हो?"

"नहीं-नहीं; बँधने से क्या वास्ता?"—कहती हुई बेला बाईं ओर का किवाड़ खोलकर तीर की तरह निकल गई।

षष्ठ परिच्छेद

बेला कमरे से निकलकर कोई दस क़दम आगे बढ़ी होगी कि सुरेश और चुन्नीलाल सामने नज़र आये। सुरेश ने बेला को देखा, तो मुड़कर चुन्नीलाल से कहा—"यह लो, बेला आ रही है, बेला! भला, कौन इसे उठा ले जाता? कोई नहीं बची थोड़े ही है!"

सुरेश बेला के निकट चला आया और बड़े तपाक से बोला—"बेला, मैं तो बदहवास दौड़ा आ रहा हूँ! कहो, ख़ैरियत तो है? तुम्हारे दुश्मनों को ग़शी आ गई थी।"

"क्या कहूँ, ऐसी भीड़ और ऊमस थी कि अचानक सर चकरा गया। मैंने बहुत ज़ब्त किया—बहुत ज़ब्त किया; मगर सँभाल न सकी।"

"मैं तो तुम्हारे घर पर बैठा तुम्हारी बाट जोह रहा था, कि चुन्नीलाल दौड़ा हुआ पहुँचा। बोला कि बेला महफ़िल में बेहोश हो गई और उसे न जाने कौन उठा ले गया! मैं तो जानो हक्का-बक्का हो गया..... किसी तरह यहाँ दौड़ा चला आ रहा हूँ। सच मानो, तुम्हें यहाँ न पाता, तो तड़प-तड़पकर मेरा दम निकल जाता!"

"मैं बिलकुल चंगी हूँ। आपने फ़िज़ूल तकलीफ़ की। ख़ैर, अब तो आप लौट जाइये!"

"तो तुम फिर महफ़िल में जा रही हो क्या?"

"नहीं तो, मैं अब गा-बजा नहीं सकती। मेरा सर उड़ा जा रहा है, बदन थर्राता है।"

"चलो, तुम्हें घर पहुँचा दूँ। सवारी हाज़िर है।"

"ताँगे से चली जाऊँगी; कोई अन्देशा नहीं।"

"वाह! यह भी कोई बात है? ऐसी हालत में तुम्हें अकेली जाने दूँ? मेरी छाती पर हाथ रखकर देखो, अभी तक कैसी धड़कन है!"

सुरेश ने उसके हाथ को झट खींचकर अपनी छाती पर ला रखा। चुन्नीलाल से न रहा गया। उसने झटपट एक चुटकुला छोड़ा—"बेला बाई! आप रास्ते-भर तो 'हनुमान-चालीसा' का पाठ करते आये—इस क़दर घबरा गये थे!"

"अजब उल्लू हो! कील, कवच क्यों नहीं कहते?"—सुरेश ने हँसकर जवाब दिया।

बेला चुप बनी थी। उसने न कुछ सुना, न समझा। वह किसी

तरह घर वापस जाना चाहती है। जब वह मन्दिर के अहाते से निकल कर बाहर सड़क पर आई, तब देखा कि सुरेश की फ़िटन के सिवा वहाँ कोई दूसरी सवारी मौजूद नहीं। लोगों की कुतूहली दृष्टि उसे चारों ओर से काँटे की तरह चुभने लगी। उसे सुरेश के साथ बग़लगीर होकर जाना मंजूर न था; मगर वह परिस्थिति से मजबूर थी। आधी रात को वह अकेली किधर जाती? जो दो-एक आदमी उसके साथ आये भी थे, उनका पता न था; मन्दिर की चहल-पहल अलग उसका कलेजा दहला रही थी।

सुरेश सिर हो गया और बेला का सर चकर काट रहा था। आख़िर वह क्या करती? फ़िटन के एक कोने में सिटपिटा कर बैठ गई। सुरेश भी साथ ही अकड़कर बैठा। कोचवान ने टप चढ़ा दिया।

चुन्नीलाल ने साथ जाना मुनासिब न समझा। वह मुस्कुराता हुआ मन्दिर की ओर लौट चला। दो क़दम भी आगे न बढ़ा होगा कि सहसा उसकी आँखें सामने सुरेश के पिता पर पड़ीं। आप एक मोटा-सा सोंटा हाथ में लिये मन्दिर से झूमते हुए निकले आ रहे थे। चुन्नीलाल को देखा, तो रुक गये, और झल्लाकर पूछा—"क्यों चुन्नी! गाड़ी कहाँ गई?"

"सरकार, मुझे तो मालूम था नहीं कि आप अभी लौट रहे हैं। जानता, तो रोक रखता गाड़ी।"

"मैं तो अपने घोड़ों की टाप से ताड़ गया कि गाड़ी आ गई, इसी लिए उठ आया। आख़िर, गाड़ी गई कहाँ?"

"गाड़ी तो सुरेश को लेकर घर गई।"

"घर गई! मुझी से हवा बाँधते हो? मैंने कुछ धूप में बाल नहीं पकाये! सुरेश की माँ बेला बाई का आँचल लेने के लिए बाट जोह रही है?"

अब तो चुन्नीलाल के हाथ के तोते उड़ गये। उसका माथा ठनका—'हो-न-हो यह बुड्ढा यहीं कहीं आड़ में खड़ा-खड़ा सब देख रहा था!' उसकी ज़बान तालू में सट गई।

"सुनो, चुन्नी! मेरी आँखों में धूल झोंकने से कोई फ़ायदा नहीं। मैं सब-कुछ देखता हूँ और समझता हूँ। मैं भी जवानी में इस आग से खेल चुका हूँ। और, तारीफ़ यह कि कहीं लौ तक न लगी। सुरेश अभी कच्चा खिलाड़ी है। यह बेला को फ़िटन पर लेकर शहर में बारे-आम चौकड़ी भरना अपनी भद्द करना है। मैं जानता हूँ, यह शौक़-सिंगार का सिन है; मगर इसका यह मतलब नहीं कि दिलचस्पी के साथ-साथ दिल भी चस्पाँ हो जाय—कुल ही बह जाय। इश्क़बाज़ी भी एक हद तक, एक अन्दाज़ से, होनी चाहिये। अगर प्याले से बोतल पर गये, तो याद रखो, पनाले में पड़े। रंडी की सोहबत महज़ दो घड़ी की लज़्ज़त है, कुछ बराबर की बदशत नहीं। अगर तफ़रीह है, तो यह फ़रहत लाएगी; नहीं तो, तबाही धरी रखी है। वेश्या वेश्या ही है, वह ग़ज़ल गाये या भजन सुनाये—कंठा पहने या कंठी बाँधे। उसे कंठहार बनाया, तो गये! इस कूचे में तो आये; मगर यहाँ किधर की हवा है, इसकी ख़बर भी रखते हो? अजी, तुम्हारी बेला बाई का रुख़ किधर है,

इसका पता भी तुम्हें है ? मैं तो कहता हूँ, वह उसी छोकरे को चाहती है।"

"किसको, सरकार ?"

"अजी वही, जो आज उसे भरी महफ़िल से गोद उठा ले गया। मैं तो वहीं बैठा सब तमाशा देख रहा था। दोनों ने पहले आँखों-आँखों में सट्टी जमा ली—अपने-अपने पार्ट बाँट लिये; फिर बेहोशी का नाटक खेला गया। लोगों ने तो समझा कि बिचारी को तानों के उफान में चक्कर आ गया और वह उसी का कोई होशियार नौकर है, जो चटपट उसे डेरे में उठा ले गया !"

"मगर, हुज़ूर, वह है कौन शख़्स ?"

"महन्तजी का ही कोई दोस्त है और बेला बाई का जाँबाज़ आशिक़ ! तुम्हें ग़रज़ है, तो छान-बीन करो। इतना ज़रूर है कि तुम्हारी बेला कुछ दूध की धोई नहीं है। तुम देखकर भी कुछ देख नहीं सकते। तुम्हारी अक़्ल को तो पाला मार गया है। मैं तुम्हारी जगह पर होता, तो उसे दिल से दूध की मक्खी की तरह निकाल डालता, कुछ सर पर बिठाकर शहर की मटर-गश्ती नहीं करता !"

चुन्नीलाल जवाब क्या देता ? उसे चुप्पी साधनी पड़ी।

"ख़ैर, अब यहाँ खड़े होने से फ़ायदा ! चलो, घर चलें। सवारी तो कोई मिलती नहीं।"

"आप दस मिनट यहीं ठहरें। मैं अभी सवारी लाता हूँ। गली के नुक्कड़ पर और नहीं तो कोई पालकी-गाड़ी ज़रूर मिल जायगी।"

"रहने दो। पाँव-पयादे चलो। महज़ पाव-भर तो ज़मीन है। तुम-जैसे जवानों से मैं आज भी पंजा ले सकता हूँ! मेरे इस सिन में बिनौत के पैंतरे देखते, तो दंग रह जाते!"

चुन्नीलाल ने निगाह उठाकर देखा, बूढ़ा सचमुच जवानों का चचा है! उसकी चौड़ी छाती एक तिल भी कहीं से झुकी नहीं है; न अङ्गों में झोल है, न कमर में बल। उसके बाल सफ़ेद ज़रूर हैं और आँखों-तले झुर्रियाँ भी ज़रूर हैं; पर इससे उसके चेहरे के आबोताब में कोई कमी नहीं है। उसकी रँगीली तबीयत का चुलबुलापन मुख पर साफ़ लिखा है!

दोनों चल पड़े। चुन्नीलाल ने जेब से पान का डिब्बा निकाला और बूढ़े सरकार के सामने तपाक से पेश किया। सुरेश के पिता ने डिब्बे से दो खिल्लियाँ उठाईं और मुँह में दबा लीं।

"सुनो, चुन्नी! तुमसे एक ज़रूरी बात है। तुम सुरेश के दिली दोस्त हो; कुछ महज़ क़ुबबाज़ दोस्त नहीं। सुरेश के सिर पर न जाने कैसी सनक सवार है। शादी के नाम पर नाक-भौं सिकोड़ता है। माँ बिचारी दिन-रात सर धुनती है—मेरा घर भूत का डेरा बना है; न बहू है, न बच्चा। बिरादरी में कितनी ख़ासी लड़कियाँ हैं—रूप और गुण में एक-से-एक! उसे कोई पसन्द ही नहीं पड़ती! यह कैसी ख़ब्त है, तुम्हीं कहो।

"भाड़े की बीवियों से महज़ महफ़िल का चिराग़ जलता है, कुछ घर का चिराग़ नहीं जलता। घर के आँगन में कल्याण के लिए तुलसी

की लता रोपनी ज़रूरी है, बाहर चाहे तुम गमलों में ख़ुशबू और सजावट के लिए बेला और कामिनी लाख रखो। सिन्दूर से भरी माँग और है, मोतियों से भरी माँग और; एक घर की देवी है, दूसरी मजलिस की उर्वशी; एक से घर चलता है, दूसरी से दिल बहलता है; यह जीवन की सहचरी है, वह दो घड़ी की दिलचस्पी; इसे रखना ज़रूरी है, उसे रखना या न रखना तुम्हारी ख़ुशी पर है।

"याद रखो, जब तुम्हारी जेब में सच्चे मोतियों की माला होगी, तभी तुम्हारे गले में नक़ली मोतियों की लड़ी भी खुलेगी। उसके बग़ैर तुम्हारी कोई वक़त नहीं, और यह तो महज़ सुबीते और आसानी के लिए छन-भर की शोभा है। ख़याल रहे, भवन बनाकर ही चमन लगाया जाता है, पहले नहीं। अगर मकान ही ग़ायब है, तो फिर गुलशन रहा या न रहा—दोनों बराबर है।"

"सरकार, आप इतमीनान रखें, मैं सुरेश को रास्ते पर ज़रूर लाऊँगा। मैं खुद भी समझता हूँ, बेला की जगह घर के बाहर ही है, घर के भीतर नहीं।"

"वह देवकन्या ही क्यों न हो, आख़िर तो वह वेश्या है! उस पर भी तुर्रा यह कि बेवफ़ा! मगर, मैं सर खपाकर ही क्या करूँगा, तुम पर तो कोई असर नहीं! आँख तो रखते नहीं और आशिक़ी करने चले हो!"

"सरकार, मैं दस दिन में सुरेश के ख़यालात पलट दूँगा।"

"सच! तो देखो, चुन्नीलाल! मैं बूढ़ा हुआ और सुरेश अब सयाना है। मैं उस पर सोंटे तो फटकार नहीं सकता। मेरी बात टाल

देगा, तो मुझे सख़्त चोट पहुँचेगी। तुम्हें बेला को ही टरका देना ज़रूरी है। मैं तो समझता हूँ, वही किसी गौं से शादी के सवाल में रोड़े अँटका देती होगी। और सुनो, अगर तुमने मदद की और मेरा सूना घर भर गया, तो यक़ीन मानो, मैं भी तुम्हारा घर भर दूँगा। ज़्यादा क्या कहूँ·····'

चुन्नीलाल को ज़माने की रविश की पहचान थी। वह प्रत्येक परिस्थिति से परिचित था! वह ख़ूब समझता था कि बेला कभी सुरेश की नहीं हो सकती, न सुरेश ही कभी बेला का अपना हो सकता है। बेला तो महज़ दो घड़ी की ही मौज रहेगी।

आजतक जो छेड़-छाड़ चलती रही, उसका विधाता चुन्नीलाल ही था। अपना उल्लू सीधा करने की ग़रज़ से उसने सुरेश के काव्य-जनित उन्माद की आग को कुरेद-कुरेदकर जीवित रखा। अब वह दो दिन में धारा पलट देगा, और उसे पलट देने के लिए उसके हाथ में काफ़ी मसाला मिल गया!

सप्तम परिच्छेद

जब बेला तिलमिलाकर फ़र्श पर लम्बी हो गई और श्रीधर ने चट दौड़कर उसे गोद उठा लिया, तब कहीं जयदेव मिश्र को पता चला कि यह बेला कौन बला है। उसकी सूरत परिचित-सी तो ज़रूर मालूम होती थी; पर आठ वर्ष के बाद एक ही निगाह में उसे ताड़ लेना उनके जैसे बूढ़े के लिए दुश्वार था। मगर, श्रीधर की तड़प देखते ही उसके मानस-पट पर सारा अतीत बिजली की तरह तड़प गया और वे एकाएक कमर थामकर ज़मीन पर बैठ गये। दिमाग़ पर बिजली तो चमकी ज़रूर; पर उनकी आँखों-तले अँधेरा छा गया। वे क्या समझते थे कि बेला कफ़न फाड़कर फिर उठ खड़ी होगी!

भगवन्! क्या इतने दिनों की तमाम कोशिश मिट्टी में मिल गई!

यह पिशाचिनी फिर श्रीधर की छाती पर बैठ गई ! इन्हीं तिलस्मी चित-वनों के फेर में श्रीधर की दीन-दुनिया लुट चली थी। एँड़ी-चोटी का ज़ोर लगाकर तो वे किसी तरह उसे राह पर ला रहे थे। आज अचानक आसमान से बिजली टूट पड़ी ! क्या उनकी बोझी हुई नाव मँझधार में ही डूब जायगी !

जयदेव मिश्र परिवार के सच्चे भक्त थे। बूढ़े होकर भी जिस जाँ-फ़िसानी से गुरु-घराने की तिलमिलाती हुई धर्मध्वजा को अपने जर्जर कंधो से सँभाले खड़े थे, यह उनका दिल ही जानता था। श्रीधर को उन्होंने कञ्चन का कौर खिला-खिलाकर सयाना किया था। और, चूंकि श्रीधर बचपन से ही होनहार था, इसीलिए उनकी आशाओं का आधार भी था। उसके सर की वहशत उनसे कुछ छिपी न थी और उस वहशत का सर तोड़ने के लिए उन्होंने जी-जान से कोशिश भी की थी। थोड़ी-बहुत सफलता भी मिली थी।

वही ख़ब्त आज जब बेला से आँख मिलते ही क़ब्र तोड़कर उठ खड़ी हुई, तब जयदेव मिश्र बिचारे हाथ मलकर रह गये। वे दौड़कर महन्तजी के पास पहुँचे और टूटे-फूटे शब्दों में अपनी सारी आशंकाओं को जताकर उनसे बेड़ा पार लगाने की मदद माँगी।

जब उस राँड़ की आँखों का पानी ढल गया है, तब वह खुल्लमखुल्ला श्रीधर पर डोरे डालती फिरेगी और एक दिन साफ़ उड़ा ले जाकर मिश्र-वंश की तमाम मर्यादा मिट्टी में मिला देगी—यही आशंका उन्हें काँटे की तरह चुभने लगी। बेहोशी का ढोंग तो आज श्रीधर पर रंग जमाने

के लिए उसने रचा था—इस बात पर वे हाथ में जनेऊ लेकर शपथ खाने को तैयार थे।

उनके दिल में बेला के लिए कोई जगह नहीं थी। उसे रसातल पहुँचा देने के लिए वे अपने सर की भी बाज़ी लगा देने को बद्धपरिकर थे। उनकी निगाह में श्रीधर के अभी दूध के दाँत भी नहीं टूटे थे, और बेला दम-ख़म में खिलाड़ियों में खिलाड़ी थी। उन्होंने महन्तजी के सामने बेला को शैतान की ख़ाला क़रार देकर रूई के गाले की तरह तूम डाला।

महन्तजी को जयदेव मिश्र की बातों में बड़ी दिलचस्पी मिली। इस किसमिसी चटनी में कुत्सा का मिर्च भी था और रहस्य का पुदीना भी! फिर, मुँह में पानी भर आना ज़रूरी था। मगर उस पानी का उद्गम उनके हसद की जलन को बुझा न सका। उनके रेशमी जोगिया साफ़े की बहार पर—उनके कानों के हीरे के टाप पर—दिल न देकर बेला एक कलन्दर पर बेक़रार झुक पड़ेगी, यह उसका एक अक्षम्य अपराध था। वे नंगी तलवार की तरह चमक उठे और फ़ौरन् वार करने को तैयार हो गये।

इधर भरी महफ़िल में चपलनयना मानवती राधा के चरणों पर कृष्ण के लुंठित मुकुट का दिलफ़रेब मंज़र रंग ला रहा था, उधर महन्तजी अपनी दिव्य दृष्टि से मानवती बेला के चरणों पर झुके हुए श्रीधर की मूर्त्ति को देखकर जामे से बाहर हो गये। वे भगवान् के दरबार की पतवार चँवर-चालक पुजारियों को सुपुर्द कर मन्दिर के पिछवाड़े श्रीधर

की कोठरी की ओर बढ़े। किवाड़ खटखटाकर जब कमरे में दाख़िल हुए, तो मैदान ख़ाली पाया। बेला जा चुकी थी, और श्रीधर हुक्के की तरह मुँह बाये खड़ा था!

महन्तजी ने छूटते ही रंग बाँधा—क्योंजी! तुम्हें आज इस साँप के बिल में हाथ देने की यह क्या सूझी! तुम्हारे मुँह में कालिख जो लगी, वह तो लगी ही, मुझे तो यही डर है कि कहीं हल्दी-चूना न लगाना पड़े!"

"आख़िर कौन सी ग़लती हुई मुझसे?"

महन्तजी को देखते ही श्रीधर सिटपिटा गया था—वह आवेश का जोश बहुत-कुछ छँट चला।

"तुम्हें पता भी है, बेला सुरेशकुमार की दाश्ता है और सुरेश काशी का एक लखपती है! वह आज यहाँ के गुंडों को इशारा कर दे, तो हम दोनों महीनों खाट पर हल्दी-गुड़ पीते रहें!"

"बेला और दाश्ता! नहीं, यह मुमकिन नहीं महन्तजी!"

"सो क्यों?"—महन्तजी ने ज़रा तुर्श होकर पूछा।

"मैं उसे ज़माने से जानता हूँ, वह उस कमाश की औरत नहीं। पेट के लिए गाती-बजाती जो हो; मगर·····"

"तुम तो इस कूचे में कभी आये नहीं, न तुम्हें इसकी हवा ही लगी है। तुम उस माया-परी की चाल को क्या समझोगे! वह आचार का ढोंग रचती है—माला खटखटाती है, भजन गाती है और इसी पर तुम लट्टू हो रहे हो! यह स्वांग न भरती, तो फिर काशी में उसकी तूती

बोलती—पंडों और पंडितों की आँख की पुतली होती ! उसी की बदौलत मन्दिरों में जाम तक चल गया। उसने तो आते ही यहाँ की ख़िलकत की नब्ज़ पहचान ली, और तुम उसे आज भी न पहचान सके। तुम्हें खरे-खोटे की परख रहती, तो आज तुम्हारे सर पर ख़ाक उड़ती ? भाई, रंडी के हाथ की सुमिरनी और कायथ के गले की कंठी, दोनों एक ही चीज़ है—बस, वही बिल्ली की हज करनेवाली मशहूर बात है ! ख़ैरियत है कि तुम्हें यहाँ कोई जानता नहीं और मैं उस वक़्त वहाँ मौजूद था। नहीं तो, जनाब को आटा-दाल का भाव मालूम हो जाता ! सुरेश कोई ऐसा-वैसा रक़ीब नहीं है—हाँ !"

"भाई, मैंने तो किसी का कुछ बिगाड़ा नहीं ! कोई ख़्वाहमख़्वाह नाक-भौं चढ़ाये, तो मेरी ख़ता ? एक औरत बेहोश होकर गिर पड़ी, उसे भीड़ से अलग यहाँ दवा-दारू के लिये उठा लाया। आख़िर जिसके दिल में ज़रा भी आदमीयत की बू होगी, वह ऐसे मौक़े पर·····"

"बड़े दिलवाले बने हो ! और किसी के क्या दिल है ! भरी महफ़िल में टप-से लोक लिया ! सुरेश को पता चल गया, तो तुम पर जो बीतेगी, वह तो बीतेगी ही, मेरी भी मरम्मत अलग होगी—जौ के साथ घुन भी पिस जायगा !"

"वाह ! आपकी हानि क्यों होने लगी ?"

"अजी, हाथ से इतना बड़ा गाहक निकल जाय, और मेरी हानि नहीं ? हम दोनों हमपेशा हैं। यजमानों की दिलजोई हमारा रोज़गार है और इसी रोज़गार से साल में हज़ारों की आमदनी खड़ी हो जाती है।

वे दोनों बाप-बेटे इस वैष्णव-मन्दिर के स्तम्भ हैं। उनके यहाँ से नज़र-नयाज़ का सिलसिला चलता ही रहता है। आज के जशन में भी बूढ़ा यहाँ मौजूद था। देखता हूँ, तुम्हारी वजह से इस सनातन सम्बन्ध में खटाई पड़ जायगी!"

"सुरेश को जो रंज हो; मगर उसके बाप को·····"

"बाप की बिसात ही क्या है? सत्तर के पड़ोस में पहुँच चुका है। पके आम के टपक जाने में कहाँ तक देर होगी?"

"मगर, आपको यह कैसे पता चला कि सुरेश बेला पर जान देता है और बेला सुरेश पर मरती है?

"यह लो! शहर का बच्चा-बच्चा इस बात को जानता है। उसकी गर्दन में जो सतलरी तुमने देखी होगी, वह फूल-शय्या की रात की भेंट है। मुझे बात बनाने से फ़ायदा? अजी, बेला उसके पलँग की लौंड़ी है—लौंड़ी!"

श्रीधर के कलेजे में एक-एक बात गोली-सी लग रही थी। इस गोले-बारी से उसका मनोनीत माया-महल तिलमिलाकर टूट रहा था। महन्तजी की बात ग़लत हो सकती है; मुमकिन है झूठी अफ़वाह उड़ गई हो—क्षीण आशा का यही एक स्तम्भ अभी तक टिका था।

"ओफ्! फिर तो बेला मेरी नहीं हो सकती! मैं तो उसके साथ विवाह करने को भी तैयार था!"—श्रीधर के मुख से अचानक यह आह आवाज़ बनकर निकली।

"विवाह!"—महन्तजी ने तिनककर ज़मीन पर हाथ का डंडा मारा

और कहा—"पागल कहीं का! खोपड़ी औंधी हो गई है क्या? भला, रंडी से शादी! कलमा पढ़ने-पढ़ाने पर तैयार हो, तब इसे सोचना। जबतक तुम्हारे धड़ पर सर है और सर पर शिखा, तबतक तुम उस वेश्या की माँग में सिन्दूर नहीं भर सकते! तुम्हारी ही क़िस्मत में पंडित गिरिधारी लाल की गद्दी लिखी थी! उस कुल के गौरव को रंडी के उगालदान में ग़र्क करने के लिए ही तुम्हारा जन्म हुआ है! हूँ-हूँ! बेला अब मिश्रजी के आँगन में कुलवधू बनकर पालकी से उतरेगी! पहले गाँव के दामन पर तुम ज़िन्दा क़दम रख सकोगे? गाँववाले तुम्हें बोटी-बोटी न काट डालें, तो कहना! ऐसा ही दिल आ गया हो, तो यहीं पर रखेली बनाकर रख लो, किसी को उज्र नहीं। मगर, पहले सुरेश के मुँह का आहार छीन लेने की हिम्मत हो, तो शेर की माँद में हाथ डालना!"

श्रीधर की तो सिट्टी-पिट्टी गुम थी। बेला की बेवफ़ाई उसे पागल बना रही थी—"यही बात थी, तो उसने झूठ क्यों कहा कि 'नहीं-नहीं, बँधने से क्या वास्ता?' उसके चेहरे पर तो सदाक़त साफ़ लिखी थी। मेरी आँखों ने मुझे धोखा तो नहीं दिया! क्या उसकी आँखों की मूक वाणी वेश्या की तरह दुरंगी हो गई है? उसने इस दिल के उजड़े दयार में घर क्यों बनाया जब उसे यहाँ बसना मंज़ूर ही न था? क्या सचमुच वह चालबाज़ हो गई है?·····'चालबाज़ न होती तो वेश्या क्योंकर होती? पेट पालने के लिए क्या दूसरा ज़रिया न था?"—वह इसी हैस-वैस में डूब-उतरा रहा था।

"तुम्हें पता भी है कि वह कहाँ रहती है—किसके साथ? वह बिजली

के स्कूल में तालीम पा रही है !"

"बिजली कौन ?"

"वही, जिसकी तिलस्मी चितवनों ने शहर के कितने रईसों को भेड़ा बना रखा है ! जो बड़े दिल-दिमाग़वाले बनते थे, वे भी उसका लोहा मान गये !"

इतने में जयदेव मिश्र भी वहीं हाँपते हुए आ पहुँचे, और आते ही बम फेंका—"बेला तो अभी एक शौक़ीन जवान के साथ कहीं फ़िटन पर गई है।"

"हाँ हाँ, वही सुरेश है। चुन्नीलाल उसे दौड़कर बुला लाया होगा। वह खुद तो यहाँ आया नहीं, चूंकि उसके पिता यहाँ मौजूद थे। इस कायस्थ के छोकरे को गुपचुप तैनात कर रखा था। सुरेश तो कोई कच्ची गोलियाँ खेलता नहीं !"

"तो सचमुच, बेला उसकी तावेदारी में है ?"—श्रीधर ने फिर उसी तरह आह-भरी ज़बान से पूछा।

"उसके पास ज़र है; उसकी तावेदारी न करेगी, तो तुम्हारी करेगी ? तुम्हें यक़ीन न होता हो, तो चलो, तुम्हें दूर से एक झलक दिखा दूँगा।"

"मगर वे तो फ़िटन पर हवा हो गये !"

"चलो, तुम्हें मोटर से ले चलता हूँ। पहले नहीं, तो साथ-साथ ज़रूर पहुँच जाओगे।"

श्रीधर तो यह चाहता ही था। आँखों से हक़ीक़त देख लेता

तो उसे तस्कीन हो जाती।

महन्तजी ने तुरत मोटर निकलवाई। तीनों सवार हो गये। तीर की तरह गाड़ी चल पड़ी। श्रीधर के पेट में चूहे कूद रहे थे।

बिजली के मकान से कुछ दूर पर ही गली के मोड़ पर, मोटर रुक गई। तीनों उतरकर एक पेड़ की आड़ में खड़े हो गये।

थोड़ी देर बाद ही टन-टन करती हुई फ़िटन भी आ पहुँची और मकान के सामने रोशनी में खड़ी हो गई। साईस ने उतर कर दरवाजा खोल दिया।

पहले सुरेश उतरा, उसके पीछे लटपटाती हुई बेला ने पायदान पर क़दम रखा। सुरेश ने हाथ का काफ़ी सहारा देकर उसे ज़मीन पर उतारा। बेला बुत बनी थी।

श्रीधर की निगाह ने बेला के चेहरे की परीक्षा लेनी चाही; पर उसके सर का लम्बा आँचल अन्तराल बना रहा।

सुरेश ने फिर उसकी कमर थामकर सीढ़ियों पर चढ़ाना चाहा, तबतक बिजली लहराती हुई उतर पड़ी। कोट बूट में लैस अमीन भी आ धमका। बेला पर मिजाजपुर्सी और मुबारकबादी के मीठे अल्फ़ाज़ बरस पड़े। बिजली ने उसे छाती से लगाकर मुँह चूम लिया। क़हक़हे पड़े। लोगों ने कहा—'महज़ ऊमस की शिद्दत से ग़शी आ गई होगी, और कोई बात नहीं। चलकर लेट जाओ।'

सबके साथ सिटपिटाती हुई बेला ऊपर चली।

श्रीधर को तो जैसे काठ मार गया! उसकी आँखों के आगे कभी

अँधेरा छा जाता, कभी आँखों के तले लहू उतर आता। वह सिर से पैर तक थर-थर काँप उठा। जयदेवजी के कंधों पर हाथ रख दिया। वह भूल गया था कि बेला वेश्या है—और जो कुछ उसने देखा, वह एक साधारण परिचय पर भी सम्भव है।

जब लहू के जोश पर उन्मत्त झंझा उठती है, तब दिमाग़ की कीलें सबसे पहले उखड़ जाती हैं। जहाँ उत्तेजना की आँधी हहास बाँधती है, वहाँ विवेक का बाँध अनायास जगह छोड़ देता है।

इधर महन्तजी की बाँछें खिल रही थीं। उन्होंने व्यंग्य-भरे स्वर में पूछा—"क्यों, अब भी आँखें खुलीं आपकी? खुली हों, तो कान पकड़िये। जिस रूप के मोह पर आपने इतने दिनों तक अपनी मिट्टी पलीद की, उस रूप का असली रंग देख लिया न? भाई साहब! वेश्या की आँत में वफ़ा की तलाश साँप के दाँत में शहद की तलाश से कम नहीं।

श्रीधर क्षण-भर चुप रहा; फिर अस्पष्ट शब्दों में बोला—"सच कहता हूँ, मेरे साथ महज़ आँखों का ही नशा नहीं था।"

"आँखों का नशा हो या दिल का; मुझे तो उतार से ग़रज़ है!"

"इतमीनान रखिये, नशा उतर चला·····।"

श्रीधर ने ज़बान से कह तो दिया कि नशा उतर चला; मगर उतरने के बदले तो वह और भड़क उठा। वह एक झोंके के साथ बिजली के कोठे की ओर लपका। महन्तजी घबराये; आगे बढ़कर

उसका हाथ थाम लिया—"क्यों, चले कहाँ ?"—झटके देकर पूछा।

"अभी आता हूँ ! बस बेला से एक बात पूछनी है। उसने मुझसे झूठ क्यों कहा कि वह कहीं बँधी नहीं है।"

"तुम भी अजब उल्लू हो ! वह और कहती क्या ? कहीं वेश्या भी अपने दिल की बात ज़बान के पहलू पर लाती है ? आख़िर यही मीठी ऐयारी तो उसकी रोटी है ! वह सचाई का रोज़गार करती, तो सदा-सुहागिनों में नाम लिखाती। तुम्हारे पूछने पर वह फिर कोई बात बनाकर खड़ी कर देगी, और तुम उसे मान लोगे ! तुम समझते हो, तुम्हारी आँखों से भी सच्चा गवाह उसकी ज़बान है ? अब तुम्हारे देखने या समझने को बाक़ी ही क्या रहा ? फ़र्ज़ कर लो, वह बंधी न भी हो, तो इससे क्या हुआ ? वह तुम्हारी तो कभी हो नहीं सकती ! भला, इस वेश्या के तन से वह कभी पत्नी हो सकती है ? बहुत होगी, तो बस, दासता !"

"यह तो मैं समझता हूँ ; मगर एक इतमीनान....."

"तो वहाँ जाने से क्या ख़ास इतमीनान होगा ? बच्चू, और भी उलझ पड़ोगे ! घर चलो, दो दिन में आप ही भूत उतर पड़ेगा।"

बिजली के कोठे से एक सम्मिलित क़हक़हे की आवाज़ आई। फिर हारमोनियम की झङ्कार हुई और तबले की थाप ठनकी।

जेब से रूमाल निकालकर श्रीधर ने मुँह पोंछा, और चट मोटर पर सवार हो गया। फिर महन्तजी बैठे, जयदेवजी भी। गाड़ी जिधर से आई थी, उधर ही लौट चली।

उधर बेला की छाती की धड़कन तबले की ठनक में जगह ढूँढ़ रही थी; इधर श्रीधर के कलेजे की तड़पन मोटर के पहियों के घर्र-घर्र को चुनौती देने लगी।

अष्टम परिच्छेद

आकाश में उषा की लाली फैल चुकी है। चिड़ियों की चहक से दिशाएँ मुखरित हैं।

हसब-मामूल बेला पौ फटते तुलसी-घाट से स्नान कर लौट रही है। वह आँखें उठाकर दिग्वधू के सिन्दूर-मंडित सीमन्त को देखती है—किरणों के सुनहले आँचल की कोर कैसी फब रही है! उसी क्षण भोर के आकाश में वह शहनाई का मंगल सुर सुनती है। हैं! बात क्या है! क्या प्रकृति ने उषा की गद्दीनशीनी के उत्सव में नया रंग—नया राग—भर दिया है! आज ये परिन्दे किसके अभिनन्दन के लिए वन्दी-गण बनकर मंगलाचरण सुना रहे हैं! उषा की सवारी तो प्रतिदिन इसी वक्त आती है; लेकिन उसके आँचल के सुहाग-सञ्चरण में आज

यह अनोखी छटा कहाँ से खिंच आई! उसके नक़ीबों की आवाज़ में यह स्वर्गीय आनन्द की तान कहाँ से टूट पड़ी!

वह जन-विरल गलियों में सर झुकाये तेज़ी से चली जा रही है। उसके अन्तर की क्यारियों में गुलाब-कलियों की चिटख़ की ध्वनि है। उसके गले में आप-ही-आप किसी माया-मधुर मालकोश का सुर खेल रहा है। उसकी चितवन की कोर में सुहाग-चंचल नववधू की लज्जा-लोहित दृष्टि-सी एक लावण्य-लीला है और होठों के प्रान्त पर किसी अपरूप स्वप्नलोक की किरणों की रेखा।

आख़िर यह कहाँ की वासन्ती हवा है कि उसके अन्तर का कोना-कोना रसाल-मुकुलों की गंध से ओत-प्रोत है! कल आधी रात को बेहोश होकर मन्दिर के फ़र्श पर लुढ़क गई थी, और सिर्फ़ चन्द घंटों में ही वह कौन-सी ऐसी सञ्जीवनी सुधा पी गई कि एक-एक क़दम पर अब गुल कतर रही है।

गली के मोड़ पर आकर वह खड़ी हो गई। कहाँ वह ख़ुश—गुलफुल—लौट रही थी, यह एकाएक उसका चेहरा उतर क्यों गया? वह क्या सोचकर ख़ुश थी, फिर क्या सोचकर खिन्न हो गई? उसके चेहरे पर बारी-बारी एक रंग चढ़ रहा है, दूसरा उतर रहा है! अचानक अपनी दाहनी ओर किवाड़ खुलने की आवाज़ से वह चौंक पड़ी और धीरे-धीरे आगे बढ़ी।

वह अपने मकान के नज़दीक आ गई। सड़क पर काफ़ी चहल-पहल हो चली थी। उसने देखा, रामू हलवाई दूकान पर बैठा चिलम पर

आग फूँक रहा है और उसकी काली-कलूटी स्त्री कड़ाह पर जलेबियाँ छान रही है। अहा! जलेबियाँ कितनी मीठी होती हैं! सामने के शिव-मन्दिर का पट खुला है और किसी भक्त के गद्‌गद कंठ से निःसृत 'कर्पूरगौरं करुणावतारं' की छन्द-लहरी राह-चलतों के कानों में सुधा ढाल रही है। भगवान शिव की प्रार्थना कैसी हृदयग्राहिणी है! सामने बाईं ओर के मकान की छत पर दो ब्राह्मण बालक झूम-झूमकर ऊँची टीप से 'लघु-कौमुदी' के सूत्रों की आवृत्ति कर रहे हैं और उनकी माता सगर्व नेत्रों से बच्चों के ध्यान-मग्न मुख को निरख रही है। माता की आँखों में कैसी ममता झलक रही है! मोहन-बहू सोये हुए पति को जगाने के लिए पैर टीप रही है और अलसाए अंगों से अँगड़ाई लेती हुई मोहन के मुख से हँस-हँसकर दुपट्टा खींच रही है। बहू की चितवन में सोहाग की कैसी मीठी लज्जा है। उसी मकान के नीचे गुदड़ी में लिपटी हुई एक जर्जर-कलेवरा बुढ़िया—'भगवान् तुम्हारे मन की साध पूरी करें'—कहती हुई इधर-उधर चिथड़ों का आँचल पसार रही है! बिचारी के चेहरे पर करुणा की कैसी गंभीर छाया है!

बेला ने नज़दीक आकर बुढ़िया के फाँड़ में धीरे से एक रुपया फेंक दिया। बिचारी इस अप्रत्याशित दान से बिलकुल चौंक पड़ी। उसके चेहरे की झुर्रियों पर आनन्द का विद्युत-प्रवाह दौड़ गया। मगर, क़बल इसके कि उसके संयत गद्‌गद कंठ से 'बेटी, तू राज-रानी हो' निकल सके, बेला खुले दरवाज़े से अपने मकान के आँगन में दाख़िल हो गई।

उसने देखा कि आँगन की दीवार पर चढ़ी हुई मालती-लता

का गुच्छा गुलाबी धूप की गुलाबी रोशनी में जैसे फूटकर हँस रहा है। फूलों से शबनम के मोती लुट चुके थे, फिर भी मुस्कान के मोती निरन्तर झड़ रहे हैं। उषा ने जैसे किरणों के आँचल से उनके आँसुओं की शिशिर-कणा को पोंछ डाला है।

आँगन को पार कर वह आगे बढ़ी, और धीरे-से अपनी पूजा की कोठरी का दरवाज़ा खोला। नौकरानी ने आँगन को झाड़-बुहारकर साफ़ कर दिया था और चौखट के निकट केले के पत्ते पर धूप-दीप-नैवेद्य रख दिये थे।

उसने आँचल को गले बाँधा, और आँखें बन्द कर हाथ जोड़ मूक प्रार्थना में तन्मय हो गई। इतनी आवाज़ उसकी ज़बान से ज़रूर निकली—"भगवन्! तुम तो अन्तर्यामी हो, तुमसे न तो आँख का ही काजल चुरा सकती हूँ, न दिल का ही! आजतक तो इस हृदय की वेदना की विभूति में तुम्हारी अनुभूति रही, नाथ! अब क्या, वह सुहाग मुझ से छिन जाएगा?"

धीरे-धीरे उसके चेहरे पर एक गंभीर आवेग छा गया। वह राम की मूर्त्ति के सामने ढेर हो गई। अचानक पैताने किसी के पैर की परिचित आवाज़ पाकर वह झेंपती हुई उठकर खड़ी हो गई और अकस्मात् बिजली को देखकर चौंक पड़ी—कभी तो बिजली इस ओर झाँकती तक न थी, आज क्या है कि वह इतना सवेरे उठकर इधर आ पड़ी है!

"यह आँखें फाड़कर क्या देख रही हो, बेला!"—बिजली ने मुस्कुराकर पूछा।

"देखती हूँ, आज सूरज पश्चिम तो नहीं उगे हैं!"—बेला सर पर आँचल सरकाती हुई बोली।

"हाँ, बेला, ठीक पश्चिम ही उगे हैं! नहीं तो, बिजली कभी शादी के लिए तैयार होती!"

"शादी!"

"मैं कल रात ही तुमसे कहनेवाली थी; मगर तुम्हारी बदहवासी की हालत देखकर ज़ब्त कर गई। आज तो तुम बिलकुल गुलफुल नज़र आ रही हो! बात क्या है?"

"सच बहन! कब शादी होगी?"—बेला ने बात काटते हुए आनन्द-गद्-गद कंठ से पूछा—"वह कौन खुशनसीब है? मुझे तो भगवान के सामने घुँघरू बाँधकर नाचने का जी चाहता है!"

"वाह! मेरे पैरों में बेड़ियाँ पड़ने जा रही हैं और तुम्हें घुँघरू बाँधने की सूझी है! खूब!"—बिजली हँसती हुई बोली।

"इसी बन्धन में तुम्हारी मुक्ति है, बहन! इन्हीं बेड़ियों की झङ्कार से तो सुहाग का सुर उठेगा! मगर, हाँ, यह तुमने कहा नहीं कि वह कौन खुशक़िस्मत है!"

"तुम्हीं कहो!"

"सुरेश!"

"दुत्! सुरेश मुझसे शादी करेगा? मैं जीते-जी तुम्हारे घर में सेंध देने जाऊँगी? अच्छा, बेला! मेरी एक बिनती सुनोगी?" बिजली ने बेला का चिबुक थामकर कहा।

"एक नहीं, दो !"—बेला मुस्कारकर बोली।

"मज़ाक़ नहीं, पहले ज़बान दो !"

"भला, मैं तुम्हारी बात उठा दूँगी ?"

"तुम्हें एक भीख मुझे देनी होगी ! नहीं तो, मेरी शादी की तमाम ख़ुशी ख़ाक में मिल जायगी। मैंने तुम्हें एक बार मौत के मुँह से बचाया है। तुम्हें आँखों में पालती आई हूँ। आज तुम्हें बहन की एक मुराद पूरी करनी होगी !"

"तुम्हारी बात मेरे सिर पर है, मैं जीते-जी कभी टाल नहीं सकती।"

"देखो, सामने भगवान् हैं !"

"हाँ, भगवान् सामने हैं।"

"तो तुम्हें भी विवाह करना होगा, और·····"

"विवाह ?"

"हाँ, तुम्हें भी विवाह करना होगा !"

"अच्छा, मगर किसके साथ ?—यह तुम मुझपर ही छोड़ दो।"—बेला झेंपती हुई बोली।

बेला को भय हुआ कि कहीं बिजली ने सुरेश के साथ शादी करने के लिए ज़बान पकड़ ली, तो फिर सारा गुड़ गोबर हुआ। उसे मजबूर होकर बग़लें झाँकनी पड़ जायगी। इसी से वह हाथ से रास छूटने के पहले ही बात छीनकर बोल उठी।

"सो तो तुम्हारे दिल की बात है। मैं क्यों दख़ल दूँगी ! मगर,

हाँ, इतना ज़रूर कहूँगी कि 'मीरा' की तरह पत्थर के पुतले से न लिपटना !"—बिजली ने हँसकर कहा।

"नहीं-नहीं ; प्रान के पुतले से करूँगी। तुम इतमीनान रखो। मैं ज़बान हार चुकी।"—बेला कुछ लजाकर मुस्कुराती हुई बोली।

बेला को ऐसा लगा, मानों भगवान् ने बिजली की रसना पर आसीन होकर उसकी पशोपेशी का निबटारा कर दिया ; नहीं तो, ठीक उसी वक्त—जब वह अपने इष्टदेव से श्रीधर के सवाल का जवाब ढूँढ़ रही थी—बिजली बिजली की तरह टूट पड़ती और उससे शादी की ज़बान लेकर ही दम लेती ? इसी क्षण बिजली का एकाएक प्रकट होना और उसे भगवान् के सामने विवाह की बात पर वचन-बद्ध करा देना—कोई दैवी प्रेरणा के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

तबतक पास के मन्दिर से आरती की घंटा-ध्वनि गूँजती हुई आँगन में भर उठी। बेला के हृदय-प्राङ्गण में वह मंगलस्वर देवताओं की दुन्दुभी की आवाज़ बन गया। उसका मन एकबारगी हल्का हो गया। उसके सर का बोझ आप-ही-आप उतर गया।

पर, दूसरे ही क्षण, न जाने वह किस विरोधी आवेग में उदास हो गई और कैसी अनमनी-सी नख से ज़मीन कुरेदने लगी।

आख़िर वह इन्सान थी, फ़िरिश्ता नहीं। सहसा विवाह के नाम पर उसके कलेजे का लरज़ जाना स्वाभाविक है।

कफन फाड़कर उठती हुई कामना की झलक को देखकर वह तिलमिला-सी गई। निरन्तर पतझड़ की गर्म आह में पली हुई उसके

हृदय की वृत्तियाँ अकस्मात् मलयानिल की लपट पा खुलकर निखरने के बदले सकुच गईं।

जिस खँड़हर में आठों पहर झींगुर का स्वर गूँज रहा है, वहाँ अचानक यह वसन्त की कोयल की कूक कहाँ से आ गई? उसके हृदय के टूटे तारों पर एक अभिनव वेदना का सुर गूँज गया—'भगवन्! अब यह सुहाग का राग क्योंकर उठेगा?'

कल रात ही से वह सोच में पड़ी थी—

"एक तो वह विधवा, दूसरे—दुनिया की निगाह में कुलटा! किस पुरुष के जीवन में उसका गुज़र मंगलप्रद होगा? जब वह किसी के जीवन-पथ पर पुनीत शान्ति की छाया नहीं ला सकती, तो क्या वह एक कुलीन गुरु-कुल के दीपक की मान-मर्यादा की ज्योति को अपनी तमन्ना की आँधी में ठंढी होने देगी? क्यों? किस लिए?

"श्रीधर का घर छूटता है, पुत्र स्नेह से हाथ धोना पड़ता है; पिता-पितामह के आचार से परम्परा के रोज़गार से अलग होकर कहीं दूर झोपड़ी बाँधनी पड़ती है। ऐसी कड़ी सज़ा! उफ!

"·····एक दिन श्रीधर ही के ख़याल से उसने दिल की उमंगों पर बुद्धि का सिल रख दिया और उसकी समीपता के वायुमंडल से भागकर यहाँ चली आई। यहाँ आई मरने—तिल-तिल, पल-पल मरने। मगर इतनी संकट-साधना पर भी श्रीधर की हालत सुधरी नहीं, बद से बदतर ही होती गई! अगर आज वह अपनी प्रियतमा को निविड़ भाव से नहीं पाता है, तो वह किसी-न-किसी दिन पागलपन में गले में फाँसी

डालकर भूल जायगा !

"उफ़ ! नहीं ; अब तो जान देकर भी वह श्रीधर की जान बचायेगी । क़िस्मत की चित्ती चित पड़े या पट, चित्त की वृत्ति सत् हो या असत्, समाज आँख दिखाये या आँख मूँदे, शास्त्र रोड़े अँटकावे या पाँवड़े डाले, श्रीधर की ख़ातिर वह घुंघरू उतारकर पाज़ेब पहनेगी और उससे शादी करेगी ही—ज़रूर करेगी ! और यही तो दैवी आदेश भी है !

"श्रीधर भी तो विश्वास दिलाता है कि यह विवाह लोकाचार के विरुद्ध जो हो, कुछ शास्त्र से असंगत नहीं ! तो, क्या वह पत्नी की मर्यादा पा सकती है ? यह असम्भव भी सम्भव हो सकता है ?"

बेला का हृदय अप्रत्याशित आनन्द से भर उठा । उस रसप्लावन से विवेक का बाँध आप-ही-आप शिथिल हो गया । जो हृदय आठ वर्ष पहले विवेक के अंकुश के आगे हार मान चुका था, इतने दिनों के बाद आज उसी ने देवता की मदद पाकर मैदान मार लिया । मगर, बेला की प्रकृति ने जयमाल हृदय को न देकर विवेक ही के गले में डाली ; भोग का नाम न लेकर उसने त्याग ही का दम भरना चाहा । अपने-आपको उसने समझा लिया कि श्रीधर का सहवास वह कुछ सोहबत गर्म करने के लिए नहीं चाहती, वरञ्च उसकी मुसीबतों पर तरस खाकर अपना सत् और शरीर दोनों निछावर कर रही है । वह कुछ अवैध अरमानों के मोह में तो पड़ती नहीं ! बस, त्याग ही का पल्ला झुका हुआ है—उसी के सर सेहरा है ।

हमारे मन की गति कैसी विचित्र है ! वह जिधर चाहती है, उधर ही हमारी तमाम वृत्तियों का मुँह फेर देती है। बुद्धि बिचारी मनोऽनुकूल न चलती, तो सर पीटकर क्या करती !

शायद जब भोग ही त्याग का रूप धारण कर बेला की मानस-दृष्टि के सामने आया, तब वह धर्मप्राण विधवा उसे सर पर उठाने को तैयार हुई। जिस आत्मबलिदान की प्रेरणा पर उसने एक दिन वेश्या के जीवन को सर झुकाकर स्वीकार किया था, वही त्याग—वही आत्मोत्सर्ग की प्रेरणा आज उसे विवाह-वेदी पर भी ले जा रही है।

क्या इसी पहलू को उसके हृदय ने बुद्धि को समझाकर मंजूरी का दस्तख़त करा लिया ? क्या यह उसी त्याग की उत्तेजना है, जिसपर स्त्री हँसकर चिता पर सवार होती है ? या उसका तृषित नारीत्व आज अत्याचार के मरुमय प्रसार को चीरकर रसाल-नन्दन के मीठे रस के लिए सितारे तोड़ रहा है ?

क्षण-भर बिजली, बेला की आँखों पर आँख रखकर, न जाने क्या ढूँढ़ती रही। फिर बेला से लिपटकर उसके दोनों लज्जा-लोहित कपोलों को चूम लिया, और बोली—"सच कहो, किसके गले में जयमाल डालोगी—वह कोई देवता है या किन्नर ? तुम्हारे योग्य तो मुझे कोई हाड़-मांस का जीव नज़र नहीं आता !"

"मेरी बात पीछे होगी। पहले यह तो कहो कि तुम्हें यह शादी की क्योंकर सूझ गई ? तुम तो शादी के नाम पर पुट्ठे पर हाथ नहीं रखने देती थी !"

"जानती हो, कल शाम को जब तुम मन्दिर में गाने चली गई, तब जाने कैसे एकाएक मुझपर सिनेमा देखने की धुन सवार हो गई। इधर कई दिनों से मन में तूफान चल रहा था ; इसी लिए दिलबस्तगी की तलाश थी। वहाँ गहरी भीड़ थी। तिल रखने तक की जगह नहीं। महज़ दो-चार सीटें ख़ाली थीं और उनके एक दर्ज़न उम्मीदवार खड़े थे। मैंने चौगुना देकर सीट रिज़र्व कराना चाहा। ज़र के ज़रिये मैनेजर को गाँठ तो लिया ; मगर शहर के दो-एक शौक़ीनों ने भरे हॉल में वह कुहराम मचाया कि मैनेजर को कान थामना पड़ गया। एक ने कहा—'तुम रुपये की लालच पर टिकट की दर बढ़ाकर रंडियों को सीट दोगे और हम शरीफ़ों का गुज़र न होगा!' दूसरा बोला—'हम यहाँ पहले से हाथ में रुपये लिये खड़े हैं। अगर यहाँ इन्हीं की क़द्र है, तो कोई शरीफ़ यहाँ पेशाब करने भी नहीं आएगा।' मत पूछो, ख़ासी धमाचौकड़ी मच गई। कितने शरीफ़ज़ादे उठ खड़े हुए, दो-चार ने इधर-उधर की धमकियाँ भी दीं।

"मैनेजर दंगे के डर से सिटपिटा गया। उन लोगों ने सीटें दखल कर लीं। मुझे बुरी तरह मुँह की खानी पड़ी। मारे ग़ुस्से के आँखों से लहू उतर आया ; मगर करती क्या? मैं भी किसी की बीवी रहती, तो इस तरह कौड़ी के मोल मेरी इज्ज़त नहीं लुटती। सच मानो, उसी वक़्त मेरी आँखों का परदा उठ गया। ·····बेला! मैंने धन कमाया, ऐशो-इशरत का मज़ा चखा, राजाओं और रईसों की नाक का बाल बनी रही, अपनी शान में उफान लेती रही; मगर फिर भी मैं शरीफ़

न कहला सकी! वह शौक़त की तमाम तजल्ली आज ओस का मोती होकर उड़ गई।

"इतना ही नहीं, मैंने न बीवी के सुहाग का सुख पाया, न सन्तान का मुख देखा। इस नारी-जीवन से वंचित ही रह गई। अब तो मेरे उतार के दिन नज़दीक आ गये। मेरी निगाहों की धार मुड़ चली। मेरी मुस्कान के मोती झड़ चले। दो दिन में यह जुलूस की चाँदनी अँधेरी रात हो जायगी। मैं इस ज़िन्दगी में काफ़ी तूफ़ान उठा चुकी हूँ। अब मैं ऊब चली। मैं क्या जानती थी कि तूफ़ान के परदे में सुनसान भरा है—महफ़िल के पिछुवाड़े मरघट ने सेंध दे रखी है!

"लो, अब तो मेरी नाव किनारे की ओर मुड़ रही है। मैं अब समझ गई कि ज़र ही ज़िन्दगी में सब कुछ नहीं है; ज़र से बढ़कर इज्ज़त है। और, दुनिया में मुझे सब कुछ है; एक इज्ज़त नहीं। मैंने मर्दों के दिल और दौलत को मिट्टी के मोल ख़रीदा; मगर इस ख़ज़ाने से तो ज़िन्दगी का सूनापन भरा नहीं।

"बेला, आज मेरे नारीत्व का एक-एक ज़र्रा मान ढूँढ़ रहा है। और, मैं उसे पाऊँगी—वह राम के साये में मिले या रहीम के। मेरे लिए तो राम और रहीम दोनों बराबर हैं। मेरा उसूल तुम जानती हो। जिस काम में हाथ लगाती हूँ, उसे लगे हाथों निबटाकर ही दम लेती हूँ।"

"सो तो मुझे ख़ूब मालूम है, बहन! तुम्हारे साथ वह बखेड़ा नहीं कि देवताओं के विसर्जन का मन्त्र तो याद नहीं और इधर गणेश का

आवाहन कर दिया ! मगर, बहन ! आख़िर तुम कहाँ शादी करती हो ? सुरेश तो कोई ग़ैर नहीं !"

"मुझी से उड़ रही हो ? सुरेश कभी मेरे कूचे में आया नहीं, न आ सकता है। तुम्हें तो वह अपनाये ! यह दरिया-दिली हिन्दुओं में होती, तो उनकी जायदाद ग़ैर दख़ल करते ? क्या तुम दूध-पीती बच्ची हो, समझती नहीं ? मुझसे भला कोई हिन्दू शादी करेगा ?"

"क्यों नहीं ? अड़चन ही क्या है ? यहाँ सलीमवाली घटना का किसको पता है ? कभी शादी तो हुई नहीं, न तुमने कभी इस्लाम को ही तसलीम किया। फिर, हिन्दू के ज़ुमरे में खप जाना कोई....."

"तुम इतने दिनों तक राम को भजकर कौन पारस हो गई ?"—बिजली भवों पर बल देकर बात काटती हुई बोली—"तुम तो पहले खपो जो मुझे खपाने चली हो ! पहले तुम्हारा गुज़र तो हो जाय कि मैं तुम्हारे राम के मन्दिर में घी के दीये जलाऊँ ! इतने दिनों तक मर-जीकर उनकी सेवा करती आई, तुम पर तो वे प्रसन्न हों कि मैं उनका यश गाऊँ !"

"क्यों नाहक राम पर गर्म हो रही हो ? बाप-दादे का धर्म है न। तुम्हारी नसों में भी वही ऋषियों का रक्त है। इसी पर तुम्हारा परलोक....."

"बेला, पीछे मुड़कर बीती बात पर मैं हाथ नहीं मलती, न ज़िन्दगी के उस पार किसी बहिश्त की रंगीन तसवीर खींचने में वक़्त ज़ाया करती हूँ। मेरा जो कुछ है, वह मेरे सामने है। मेरा यह शरीर ही मेरा

सर्वस्व है; मेरा यह जीवन ही मेरा लक्ष्य है। जिस इन्तज़ाम से इस दुनिया में मुझे आराम और नाम मिले, वही मेरा काम है। मैं तुम्हारी तरह किसी परलोक की उम्मीद पर अपनी ज़िन्दगी को ना-मुराद करने को तैयार नहीं हूँ। मैं हिन्दू के घर पैदा हुई हूँ; हिन्दू की मुहर सर पर ढोने में मुझे कोई मुज़ायक़ा नहीं—बशर्ते कि उस मुहर से मेरा कोई ज़रर न हो। मगर कहीं मेरी तरक्क़ी की राह में वह रोड़े अँटकाता है, तो सच मानो, इसी जूते की नोक से उसकी ख़बर लेने में मुझे ज़रा भी पशोपेश नहीं है।

"मेरी ज़िन्दगी सब पर बाला है—इसके बाद समाज है या मज़हब, पड़ोस है या देश। मैं न ख़ुदा-रसूल के कलाम का भक्त हूँ, न बुद्ध के संन्यास का उपासक। न मैं तुम्हारी तरह हिन्दुओं के मायावी परलोक के घपले में आनेवाली हूँ, न आत्मा-परमात्मावाली धाँधली में पड़नेवाली हूँ, और न मैं क्राइस्ट की तरह क्षमा और त्याग का मुतक़िद हूँ। मुझे सब क़बूल है या कुछ भी क़बूल नहीं। मैं सत्य के आगे स्वप्न को नहीं अपना सकती; भोग के आगे त्याग को नहीं वरण कर सकती।

"अँगरेज़ों ने क्राइस्ट को महज़ चर्च में इबादत के लिए रखा है, कुछ दुनियवी कामों के लिए नहीं। उनका सर आसमान पर जो हो, कम-से-कम पैर तो ज़मीन पर ज़रूर है। तुम्हारी तरह वे सरापा बादलों में नहीं उड़ते फिरते। मैं राम के साये में रहूँ, रहीम के साये में रहूँ या क्राइस्ट के साये में रहूँ, मेरी ज़िन्दगी में यह सवाल कोई सवाल नहीं है। इसे मैं फ़िज़ूल का एक बखेड़ा समझती हूँ—चूँकि जो राम

है, वही रहीम है। देश-काल, आचार-विचार, ज़बान वगैरह के भेद से गँवार दुनिया इन्हें दो समझती रहे, मैंने कभी दो नहीं समझा, न आज समझूँगी।

"और, जबतक मैं इस रोज़गार में हूँ, मुझे किसी मज़हब की मुहर सर पर रखने की ज़रूरत नहीं। काश मुझे इस रोज़गार से अलग होकर संसार बसाना पड़ा, तो मेरे सामने हिन्दू-मुसलमान का सवाल महज़ इसी लिहाज़ से होगा कि कहाँ मैं शरीफ़ बनकर सुख से रह सकूँगी—कहाँ मुझे इज्ज़त और राहत मिलेगी—कहाँ मेरे पेट के बच्चे सर उठाकर और सीना तानकर चल सकेंगे।"

"तो क्या हिन्दू रहकर तुम्हें यह मर्यादा नहीं मिल सकती?"

"हरगिज़ नहीं। जीवन की सफलता मैं भोग में मानती हूँ। कहाँ तक मान और शान के साथ मैंने दुनिया का सुख उठाया, यही मेरी कसौटी है। और, शायद तुम जीवन की सफलता त्याग में ही मानती हो—कहाँ तक तुमने परलोक के लिए संसार को धता बताया!"

"बहन, तुमने अगर राम को पाया, तो फिर दुनियवी आराम न भी मिला, तो तुम्हारा....."

"सुनो बेला, मैं राम के लिए ज़िन्दगी के आराम को नहीं तर्क करूँगी। मैं राम के लिए तुम्हारी तरह कुलटा का नाम नहीं ढोती फिरूँगी। मैं राम का नाम लेकर मान नहीं पा सकती; मगर रहीम का नाम लेकर आज भी मान पा सकती हूँ। मैं बाप-दादा के मज़हब के लिए अपने भविष्य का गला नहीं घोट सकती, न एक पाखंड के लिए

अपनी आत्मा की हत्या करूँगी। मैं मैदान की हवा खा चुकी, मुझे अब मकान की हवा लेनी है; भुवन देख चुकी, अब भवन की तलाश है। बस, मैं अब पत्नी की मर्यादा और माता की महिमा ढूँढ़ती हूँ। अगर हिन्दू-समाज के तंग दायरे में मुझे यह मर्त्तबा नहीं मिल सकता, तो मैं बेखटके इस्लाम की चौड़ी छाती में शरण लूँगी।

"बेला, अब मैं रोती हूँ। मैं समझ गई कि बग़ैर सत के किसी की शान नहीं निभ सकती। आँखों का पानी जब ढलता है, तब चेहरे के पानी को भी बहा ले जाता है। अब हिन्दू होकर न मुझे सत मिलेगा न शान मिलेगी। मैं कौड़ी की तीन बनी रहूँगी। मुसलमान होकर मेरे लिए पत्नी का सत और पत्नी की शान दोनों मुमकिन हैं। तुम्हीं कहो, तुम्हारे राम पतित-पावन होकर क्या हुए, जब उनके साये में किसी पतिता का उद्धार नहीं? तुम्हारे धर्म के दरिया में अगर दरियादिली रहती, तो तुम आज पनाले में पड़ी रहती—तुम्हारा बेड़ा पार नहीं हो जाता? मैं फिर भी कहती हूँ, मैं परलोक की लपेट में आनेवाली नहीं। मुझे इस लोक से मतलब है। जब मेरा लोक ही नहीं बना, तो परलोक क्या ख़ाक बनेगा? मैं निश्चित को छोड़कर अनिश्चित के चक्कर में नहीं जा सकती। कोरे सेंटिमेंट के लिए मैं असलियत को नहीं तर्क करूँगी।

"और, मुझे तो अतीत को उस गहरे गर्त्त में डाल देना है, जहाँ फिर उसपर किसी की नज़र न पड़े। यह तुम्हारे मन्दिर में कहाँ मुमकिन है? मेरे पेट के दुलाल उस आँगन में कहाँ जगह पायँगे? मैं

गर्भवती हो चुकी हूँ, अब मेरे जीवन की गति पर सन्तान का भविष्य निर्भर है। मैं फ़ौरन् पत्नी नहीं बनती, तो मेरी भावी सन्तान की मिट्टी पलीद हो जाती है। मैं यह राज़ तुम्हीं से कह रही हूँ, किसी और पर ज़ाहिर नहीं है। इस सनातन समाज में जब तुम-जैसी धर्मात्मा का गुज़र नहीं, तो फिर मेरी क्या बिसात! मेरे लिए पोंगापंथी समाज-सुधारकों के आगे आँचल पसारना मुमकिन नहीं। जहाँ विधवा-विवाह वर्जित है, वहाँ मुझ-जैसी औरत की शादी किसी भी शरीफ़ के साथ कभी हो सकती है?"

"अगर हो सकी?"—बेला के कानों में श्रीधर का यह वाक्य गूँज रहा था कि 'ऐसा विवाह लोकाचार के विरुद्ध जो हो, कुछ शास्त्र से असंगत नहीं।'

"तुम स्वप्न देखती हो, मैं सत्य देखती हूँ।"

"बहन! समाज का डर जो हो, शास्त्र को तो कुछ इनकार नहीं!"

"अजी, यहाँ समाज का सवाल है। शास्त्रों में तो क्या नहीं लिखा है! वहाँ तो तारा और सती, मन्दोदरी और सीता का शायद बराबर ही रुतबा है! ख़ैर, शास्त्रों की तहरीर को ताक़ पर रखो, यही न देखो कि तुम्हारे समाज की क्या तक़रीर है! मैं तो समझती हूँ, इस बखेड़े में पड़कर दो दिन भी और देर करती हूँ, तो कहीं की नहीं रहूँगी।

"और सुनो, बेला, दुनिया में भूल-चूक किससे नहीं होती? जब यह मुँहज़ोर मन लगाम तुड़ाकर चौकड़ी भरता है, तब कौन ऐसा सवार है, जो लुढ़ककर पीठ नहीं खाता! मगर यह कहाँ का इन्साफ़ है कि

वह फिर हमेशा के लिए घुड़सवारी से ख़ारिज कर दिया जाय और घास छीलकर पेट पालने के लिए मजबूर किया जाय ?

"जो समाज मनुष्य की कमज़ोरियों पर नज़र रखकर अपना क़ानून नहीं बनाता, वह पत्थर का समाज इस ज़माने में दक़ियानूसी ही रह गया—समझो। फिर तुमसे तो कोई जान-बूझ कर भूल-चूक हुई भी नहीं; तब भी सती थी और आज भी हो। तुम्हारे लिए जब इस अंधे समाज के कलेजे में दिल नहीं है, तब मेरे लिए कहाँ तक दर्द होगा ? मैं तो घर में आग लगाकर निकल भागी थी—माँ-बाप के विश्वास की छाती में छुरी भोंक कर चम्पत हुई थी। मैं पतिता, तुम पीड़िता। मेरे लिए फाँसी की सज़ा हो तो हो, तुम्हारे लिए क्यों होगी ? अब तो जो बहादुर मुझे इस ज़िल्लत की तिकठी से उतारकर गले लगाता है, वही मेरा शौहर है। तुम्हीं समझो, बेला ! जब समाज के हाथों से तुम्हें क्षमा नहीं मिलती, तब मुझे क्योंकर मिलेगी ? मैं तो अपने को बोर ही चुकी थी ! अगर अब इस्लाम की शरण नहीं लेती हूँ, तो तुम्हारी ही तरह डूब जाऊँगी।"

बेला सर झुकाये तसवीर बनी खड़ी थी। उसकी आँखों में आँसू छलछला रहे थे।

"बेला, तुम्हारी आँखों में आँसू उतर रहे हैं, लहू नहीं उतरते; बस यही इस देश का अभाग है। तुम्हारा समाज घाव करना जानता है—घाव भरना नहीं। यह सतयुगी समाज इस ज़माने में पुराना हो गया। इञ्जील और इस्लाम इधर के बने हैं; इसी लिए वे युग के अनुकूल हैं।

उनमें मनुष्य की कमज़ोरियों को जगह दी गई है। तुम्हारे सनातनी समाज का संगठन उस वक्त हुआ था, जब उसे किसी मुँहज़ोर समाज से मुक़ाबला न था। उसमें एक ओर महान् त्याग है, दूसरी ओर मरघट की आग। तुम्हारे धर्म की भित्ति त्याग है, भोग नहीं; संन्यास है, संसार नहीं। वह भित्ति जाने कब दब गई, उसमें हज़ारों विधि-निषेधों का झाड़-झंखाड़ भर गया। वह झाड़-झंखाड़ ज़ोर पकड़ता ही गया; वक्त्-फ़वक्त् कभी काट-छाँट भी नहीं हुई। हाँ, यह बात है कि कुछ लोगों ने इधर जंगल काटकर उसमें नई ज़िन्दगी भरनी चाही; पर कट्टरता का बाँध इतना ज़बरदस्त है कि उनकी कोशिश कुछ कारगर न हो सकी! तुम उस दक़ियानूसी समाज का शिकार होकर भी उसके चंगुलों से नजात नहीं ढूँढ़ती। जिस वायुमंडल में पलकर तुम गुरु और गुरु-घंटालों की लम्बी-चौड़ी लन्तरानियों को सत्य समझती हो, उसी का यह असर है कि विचार रहते हुए भी तुम आचार के अत्याचार से पिस गई। तुम्हारे साथ शरीअत की पाबन्दी रही और मेरे साथ तबीयत की।"

"मगर, बहन, जिस समाज में और जिस धर्म में पलकर मैं सयानी हुई, वह बुरा हो या भला, उसके साथ भी तो मेरा कुछ कर्त्तव्य है!"

"ज़रूर है। मगर, पहला कर्त्तव्य तुम्हारा अपने जीवन के साथ है, उसके बाद समाज या धर्म के साथ।"

"तो क्या तुम किसी विधर्मी से सादी करोगी?"

"ज़रूर, चूँकि कोई स्वधर्मी तो मुझे धर्म-पत्नी नहीं बना सकता! सच पूछो, तो मेरे धर्म के रू से न कोई विधर्मी है, न काफ़िर। बस,

जिससे दिल मिले और जिससे दिन निभे—उसके सिर पर चुन्दी हो या चेहरे पर चुक्की, उसके हाथ में सुमिरनी हो या तसबीह—मुझे बहस नहीं। मैं दिल के इस पहलू में राम या रहीम को कभी टाँग अड़ाने नहीं दूँगी। मैं बाप-दादे के धर्म के लिए अपने जीवन को विफल होने न दूँगी।"

"धर्म बड़ा है या जीवन?"

"तुम क्या समझती हो?"

"हज़ार बार धर्म!"

"नहीं-नहीं, लाख बार जीवन। मैंने तय कर लिया है कि मैं अमीन से शादी करूँगी। कुछ इससे यह न समझो कि मैं इस्लाम का ग़ुलाम होने जा रही हूँ। मैं महज़ अपने सुबीते के मौक़े का ग़ुलाम हूँ। मैं इस वक़्त इस्लाम को ढूँढ़ती हूँ, चूँकि इसी ज़रिये मेरा बेड़ा पार होता है। ख़ुदा जाने, ख़ुदा मियाँ किस मर्ज़ की दवा हैं—इस दुनिया में उनकी कौन-सी सत्ता है। आज तक तो यह मसला हल नहीं हो सका कि ख़ुदा के दिमाग़ से आदमी निकला या आदमी के दिमाग़ से ख़ुदा; दोनों में कौन किसकी औलाद है, पता नहीं। उनके नाम पर जो देश-देश में पाखंड का रोज़गार चल रहा है और जिसे तुम धर्म पुकारती हो, वह मेरी निगाह में शैतान का मायाजाल है। उसमें आदमीयत की बू तो मिलती ही नहीं, देवत्व की बू ख़ाक मिलेगी! अगर सचमुच इस विश्व में कोई ईश्वरीय सत्ता है, तो वह ज़रूर उसके परे होगी—उससे अलग होगी; उसके अन्दर तो कभी मुमकिन नहीं।

यों तो, दुनिया के तमाम मज़हब लग़ावियात के ज़ख़ीरे हैं, मगर तुम्हारे धर्म और तुम्हारे विश्वास का क्या कहना !"

"तो आख़िर तुम्हारा धर्म, तुम्हारा विश्वास क्या है ?"

"मेरा ! पहले अपने-आपको देखो, फिर आँखें उठाकर उसको देखो, जिसे दुनिया में कोई देखनेवाला नहीं। यही युगधर्म है। मैं इस पर चल सकी या न चल सकी, यह बात अलग है। बेला, मेरी निगाह में जो सच्चा धर्म है, वह कुछ मन्दिर या मसजिद, आबे-ज़मज़म या गङ्गा-जल, तसबीह या सुमिरनी, नमाज़-रोज़ा या पाठ-पूजा नहीं हो सकता। भूखे के तन की तपन मिटाना मेरी क़ुरान की सुरा है; कङ्गाल के कङ्काल की आरती मेरी पूजा की पद्धति है। याद रखो, ग़रीब की अयादत से बढ़कर इस दुनिया में दूसरी इबादत नहीं। तुम्हारे दिल में मज़हबी जोश से बढ़कर आँसुओं का सञ्चित कोष है। ख़ैर, इन बातों को रखो; यह तो कहो, अज़ीम से शादी करोगी न ?"

"अज़ीम से !"

बेला लहू का घूँट पीकर रह गई। उसने सोचा—"बिजली क्या उसे भी अपनी तरह नकटी बनाना चाहती है ? वह अमीन से शादी करने चली है; तो क्या इसी लिए वह उसे अज़ीम के ज़िम्मे सौंप रही है ? पहले तो सुरेश की चादर में बाँधने की लल्लो-चप्पो चल रही थी, वह फिस हो गई। यही कारण है कि वह हिन्दू-समाज पर जरूरत से ज़्यादा लाल-पीली हो रही है और उसके छेदों में उँगलियाँ देकर बुरी तरह फाड़ रही है"

बेला बड़ी गम्भीरता से बोली—"बहन, तुमने मुझसे शादी की ज़बान चाही और मैंने ज़बान दी। इसका मतलब यह नहीं कि मैं एक मुसलमान से शादी करूँगी! मुझे दुनिया में सब कुछ क़बूल है; लेकिन मैं उस अशरण-शरण राम से नाता नहीं तोड़ सकती।"

"यह लो! यहाँ नाता तोड़ने का सवाल कहाँ है, पगली! और फिर, राम और रहीम दो हैं? वह तो एक है—और, सबका एक है। तुम मन्दिर की राह गई या मसजिद की, मंज़िल तो एक ही है; बल्कि मंज़िल ही एक नहीं, दोनों रास्ते भी एक ही तबक़े के हैं। जो सिलसिला मन्दिर के साये में चलता है, वही मसजिद के साये में भी जारी है।

"बेला, हर धर्म के स्टेज पर एक ही सब्ज़बाग़ का तमाशा है, वेश-भूषा या सीन-सीनरी जो अलग हो। ताक़ पर चिराग़ रखा या गाँठ-तले दीपक जलाया, पीर की क़ब्र पर चदरा रखा या देवी के चौरे पर चुनरी चढ़ाई, मसजिद में जाकर घुटना टेका या मन्दिर की चौखट पर सर पटका, मौलूद-शरीफ की जलेबियाँ चखीं या सत्यनारायण की पञ्जीरी पाई, तसबीह के मूँगे पर रहीम को पुकारा या सुमिरनी के मनके पर राम को गुहराया, एक महीने तक रोज़मर्रे रोज़ा रखा या साल-भर एकादशी का उपवास करता रहा; बात तो एक ही रही। मन्दिर के झटके का ख़स्सी चखा या क़ुरबानी की ज़बही खाई। एक फूल की पतीली में पका, दूसरा ताँबे के देग में बना; यह कटोरे में परसा गया—वह प्याले में पककर आया; लेकिन जब हलक़ के तबक़े में आया, तब दोनों का मज़ा एक रहा—असर एक रहा।

"तुम उसे राम कहकर भजो या रहमान कहकर सुमिरो, तुम्हारी ज़बान दो हुई; कुछ वह तो दो हुआ नहीं। तुम गीता के छन्दों में उसका यश गाओ या क़ुरान की आयतों में उसे याद करो, तुम्हारी किताब दो हुई; कुछ वह तो दो हुआ नहीं। तुम उसे जाँनमाज़ पर पुकारो या कुशासन पर बैठकर उसका ध्यान करो, तुम्हारे तरीक़े दो हुए; कुछ वह तो दो हुआ नहीं। तुमने सर पर चुटिया रखी या ठुड्डी पर दाढ़ी—और इस तरह चेहरे के ऊपर-नीचे पुछल्ला लगाकर एक क़िस्सा खड़ा किया, तुम्हारी नज़र दो हुई, उसकी नज़र तो दो हुई नहीं!

"बेला, ग़ौर करके देखो, जो राम है वही रहीम। हाँ, उसका मिलना न मिलना हमारे मन की लगन पर है, कुछ हिन्दू या मुसलमान की मुहर पर मौक़ूफ़ नहीं है। उसको यह तलाश नहीं कि तुम्हारे गले में हरी बद्धी है या तुलसी, तुम्हारी ज़बान अरबी है या हिन्दी, तुम्हारी कमर में लुंगी है या धोती। तुम फूल-चन्दन लेकर आओ—या वज़ू-नमाज़ के ज़रिये; मगर दिल से आओ—उसके सामने महज़ इसी क़दर सवाल है। यह काबा और काशी, दैर और हरम, चोटी और दाढ़ी तो यहाँ ईजाद हुई है; पट्टीदारी की पताकाएँ हैं। बस, बेला, तुम हिन्दूधर्म की राह चलो या इस्लाम की बाँह धरो, तुम्हारे सफ़र का रुख़ एक है, चूँकि तुम्हारा परलोक एक है।

"रह गया लोक। सो, तुम ख़ुद समझ सकती हो कि हिन्दू रहकर लोक को कौन कहे, तुम्हें एक बालिश्त भी शराफ़त की जगह नहीं मिल सकती। तुम लाख राम का नाम लो; मगर तुम्हारा 'पतिता' नाम कभी

छूटता नहीं। हाँ, रहीम का नाम लेते ही वह केंचुल की तरह खिसक सकता है।

"बेला, तुम्हारे समाज की न छाती चौड़ी है, न उसकी छाती में दिल है। जिस समाज की आँख में न पानी है, न शर्म—न मुरव्वत है, न क्षमा—वह इस दुनिया के दायरे से जहाँ तक जल्द मिट सके, इसी में सबका कल्याण है। तुम्हारा धर्म अगर तुम्हें दुनिया की निगाह में ऊँचा नहीं उठा सकता, तो वह धर्म धर्म नहीं, शर्म है।

"बेला, मेरे दामन के दाग़ अगर गंगाजल से धुल जाते, तो तुम्हीं कहो, मुझे ज़मज़म के छींटों की तलाश क्यों होती? मैं अगर गंगा में नहाकर पवित्र हो सकती, तो मैं भूलकर भी कभी मुहमदी दरिया का नाम लेती?—उसमें डुबकी देना तो दूर रहे!

"देखो, मैं इस्लाम के जादू पर ज़िन्दगी के तमाम गुनाहों को छू-फू कर कल एक घर की लक्ष्मी होऊँगी, बेगम साहबा पुकारी जाऊँगी, मेरे बच्चे शरीफ़-बच्चे कहलायँगे। और, तुम बे-गुनाह ज़िन्दगी-भर गंगा को पूज, राम को गुहरा, बहुत एँड़ी-चोटी का ज़ोर मारोगी, तो रंडी से रखेली हो सकोगी! राम का नाम भजकर जब राम-जनों की माता तक ही तुम्हारी मंज़िल है, तो फिर तुम इस्लाम के घर क्यों नहीं आती, जहाँ तुम राम-लक्ष्मण की माता बन सकती हो? बेला, माफ़ करना, अगर मेरी ज़बान की धार पैनी पड़ी हो।"

"सुनो बहन! तुम जो कुछ कहो, मुझे सब मंज़ूर है; मगर राम का भजन"—

"बेला !"—बिजली बात काटकर बोली—"तुम्हारा राम का भजना तो किसी हालत से छूटता नहीं। जिसे तुम संस्कृत ज़बान में राम कहती हो, उसे तुम अगर फ़ारसी ज़बान में रहमान कहोगी, तो इससे क्या वह राम हराम हो गया ? आख़िर दोनों में से कोई भी तुम्हारी अपनी ज़बान नहीं। जो तकरार ज़बान लेकर है, उसे जाहिल दुनिया ईमान लेकर—राम-रहमान लेकर मान बैठी है। तुम अपने बाप को बाबा न कहकर अब्बा कहोगी, तो इससे तुम्हारे बाप कोई दूसरे हो गये, उनका रुतबा घट गया या तुम उनके प्यार का हक़दार न रही ? मैं अगर काशी को बनारस पुकारती हूँ, तो इससे कोई नई ज़मीन—नया आसमान नहीं होता, न स्वर्ग को बहिश्त पुकारने से तुम्हारे परलोक की रंगीन तसवीर बदरंग हो जाती है। मैंने बराबर एक ही तत्त्व को कई पहलुओं से तुम्हें इसी लिए समझाया है कि बात तुम्हारे दिल में घर करे। मेरी यही विनती है कि तुम इस जहन्नुमी धर्म की आग में अपने दुर्लभ जीवन—अपनी अमूल्य आत्मा—की आहुति मत दो। बेला, मेरी एक-एक बात पर ग़ौर करो। मैं तुम्हें चकमे नहीं देती, तुम्हें गुमराह नहीं करती। मेरा स्वार्थ महज़ इतना ही है कि जब मैं बीवी होने जा रही हूँ, तब तुम्हारे सर पर भी सुहाग का सेहरा देखती। इतने दिनों तक दोनों साथ रहीं। यह साथ क़ब्र तक·····"

"बहन"—बेला ने एक लम्बी साँस खींचकर कहा—"मैं ख़ुद समझती हूँ, जबतक वेश्या से पत्नी नहीं होती, इस दुनिया में मेरी कोई गति नहीं। और, परलोक की साधना के साथ-साथ इस लोक की

साधना भी ज़रूरी है। धर्म और अर्थ, काम और मोक्ष—दोनों का अनुशीलन साथ-साथ चलना चाहिये। यह तो साफ़ बात है कि पत्नी के रुतबे को वेश्या लाख जन्म में नहीं पा सकती; लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि नारीत्व की चोटी पर पहुँचने के लिए मैं अपनी आत्मा की बोटी-बोटी काटकर स्वार्थ के हवाले कर दूँ!"

बेला क्षण-भर चुप रही। फिर बोली—"मैं यह जानती हूँ कि हिन्दू-समाज आज का नहीं, क़दीमी है। यह भी जानती हूँ कि इंजील और इस्लाम का वायुमंडल ज़माने की हवा रखता है। हिन्दुत्व की भित्ति त्याग है, उनकी भोग; इसका प्राण आत्मा है, उनका प्रकृति; इसका दृष्टि-कोण परलोक है, उनका लोक। मगर, यह महान् होते हुए भी अंध जल्लादों के हाथ में पड़कर लोहे की चक्की बन गया है। कितने होनहार जीवन-मुकुल इसकी क़ानूनी तपिश में पड़कर फूलने न पाये—झुलस गये। मुमकिन है, तुम्हारा कहना झूठ न हो कि आज यह समाज हृदयहीनता और अदूरदर्शिता में अपना सानी नहीं रखता—यहाँ तक कि अपने हाथों अपनी नाक तराश रहा है। मगर, इस बेदर्द समाज की भूल पर खीजकर मैं अपनी आत्मा की हत्या नहीं कर सकती। यह मुझे नई कोंपलों से पनपने नहीं देगा—मत दे। मैं इस रंजिश से अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ी नहीं मार सकती। शरीफ़ों में मेरा गुज़र न हो, न सही; मगर इस अनित्य संसारकी क्षण-भंगुर मान-मर्यादा की शबनमी चमक के लिए मैं सर्वस्व नहीं खो सकती। यही धर्म तो मेरा शेष संबल है, जिस पर नज़र रखकर मैं समाज की लाञ्छना को सर

झुका कर सहती चली आई—लहू के घूंट को शरबत की चुस्कियाँ-सी पीती रही। मुझे क्या मालूम नहीं कि वेश्या-जीवन नारीत्व का रौरव है? फिर अगर यह पूछो कि मैं वेश्या क्यों होने गई, तो एक तो लाचारी……"

"मगर, बेला!"—बिजली ने बात काटकर कहा—"तुम तो इस नरक में रहकर भी नाबदान में गिरने से अपना दामन बचाती चली आई!"

"जहाँ तक बच सका, बचाती रही। मगर, कहाँ तक बचा पाती? जो हो, कुछ अपनी खुशी से मैं इस कूचे में नहीं आई थी। और, तुम्हारे स्नेह के साये से मैं कभी भाग गई होती; मगर मेरे लिए तो मन्दिरों के साये में भी इसी गली की हवा थी। तो फिर, कम-से-कम इस बाज़ार के चकले में मुझे जीने-मरने की आज़ादी तो रही। यह रोज़गार हज़ार नागवार है, अपने पसीने की रोटी-दाल तो है! भगवद्भजन के लिए अवकाश तो मिल जाता है! बहन, एक तो यह शरीर नश्वर है, दूसरे इससे मेरा नाता भी चन्द दिनों के लिए ही है एक दिन मरने पर इसे जलना ही है। ऐसे जीते-जी ही यह जलता है, जले; लेकिन मेरा धर्म मेरा अभिन्न सहचर है, इस शरीर से कहीं ज़्यादा अपना है; जन्म-जन्मान्तरों से पुष्ट संचित होता चला आया। फिर मैं आज 'ओस का मोती' मान के मोह में पड़कर इसे त्याग दूँ, यह कभी संभव नहीं। देह बदलती जाती है, आत्मा नहीं बदलती। मेरी आत्मा चंगी है, तो मेरा एक बाल भी बाँका न होगा।"

बेला की ज़बान में अश्रुतपूर्व दृढता का आभास पाकर बिजली हाथ

मलकर रह गई। वह समझ गई कि बेला इस मर्म के मामले में टस-से-मस न होगी—यह चोली-दामन का साथ छूटना असम्भव है; बेला के हृतय-पटल पर बचपन ही से जो रंग जम चुका है, उसपर दूसरा रंग चढ़ाना नामुमकिन है।

बिजली निराश होकर बोली—"तो तुम विवाह नहीं करती, वेश्या ही रहोगी? मुझे अबतक सब्ज़बाग़ दिखा रही थी?"

"नहीं, मैं इस अभिशाप को काफ़ी धो चुकी। मैं समझती हूँ, मेरी मुक्ति की पुण्य-तिथि अब आ गई। मुझे सीतापति राम का भरोसा है। मुझे विश्वास है, वह मुझे पत्नी की शौक़त भी दें और अपने चरणों की रहमत से अलग भी न करें। मेरी ज़िन्दगी की मुराद उनके आशीर्वाद से पूरी हो सकेगी, यही उम्मीद है। नहीं तो बहन!....."

न जाने किस भावावेश से बेला का गला भर आया और ज़बान काँपकर रूक गई। शायद उसका हृदय उमड़ रहा था—गला रुँध रहा था।

"बेला, बोलो न, तुम्हारे धर्म की दुनिया में भी दर्द-दील का गुज़र है? पत्थर में भी रस का सञ्चार मुमकिन है? क्या तुम्हारी तरह दुखिया पर तुम्हारे देवता की पलकें पसीज सकेंगी? तुम्हारे विवाह पर उनकी रहमत की निगाह होगी? यह मैं सुन क्या रही हूँ? क्या विधवा के हाहाकार से क्षीर-शयन की निद्रा टूट गई? इन्द्रासन का तख्ता हिल गया? त्रिलोचन की आँखें खुल गईं? इस देश की मिट्टी भी अब पनपेगी? बेला, तुम्हारे समाज में वह कौन वीर अभिमन्यु है, जो परम्परा

के ब्यूह को चीरकर तुम्हारी सूनी माँग पर सिन्दूर रखने का साहस रखता है ! कहो, वह कौन है ! सुरे·····"

"नहीं; श्रीधर ! तुम उसे नहीं जानती। वह मेरे गुरु-कुल का एक कुलीन ब्राह्मण है।"

"कुलीन ब्राह्मण ! ऐसा; अचरज !"

"हाँ ! कल रात अचानक भेंट हो गई और पुराना भरता हुआ ज़ख्म फिर उभर पड़ा। तुम उसे देखती, तो कहती। लाख में एक है, बहन !"

बेला लजा गई। दिल की बात वालू में लटपटाकर रह गई। उसके हृदय के निभृत कोने की संचित निधि आज अचानक, न जाने किस आवेग के धक्के पर, शब्द बनकर बिखर गई !

"तो उसे तुम चाहती हो ? फिर मुझसे हिजाब ? तुमने आजतक जीवन के इस पहलू पर पर्दा डाल रखा था ! मैं तो तुम्हें हाड़-मांस की औरत नहीं समझती थी। आज जान गई, तुम्हारी नसों में भी गर्म लहू की दौड़ मौजूद है, और इस संन्यास की भस्म के नीचे नारीत्व की आग बुझी नहीं है। मगर बेला ! उस जवान ने तुम्हें क्या पिला दिया है कि बरसों गुज़र गये, वह नशा ज्यों-का-त्यों है। वह तुम्हारा न हो सका, न सही; पर अपना तो आज भी है। तुम भगतिन नहीं, अपने पिया की जोगिन बनी हो। मैं यह जानती, तो अज़ीम का नाम लेती ? मैं तो समझती थी, तुम्हें भी एक निमित्त चाहिये—जैसे मेरे लिए अमीन है; तुम्हें भी महज़ शराफ़त और राहत की तलाश होगी। मगर, मैं

देखती हूँ, तुम्हारी उलझन और तुम्हारी आरज़ू ही निराली है। तुम्हारे दिल में केवल आचार ही नहीं, मुहब्बत का आज़ार भी है। दुनिया में शायद मुहब्बत पहले है; मज़हब, इज़्ज़त या दौलत पीछे। तुम्हारे साथ मन है, मान नहीं। मेरे साथ मान है, मन नहीं। बस, तुम्हें अपनी पड़ी है, मुझे अपनी।"

बिजली ने बेला के दिल में दिल डालकर उसके दिल की लगी की तपिश देख ली। उसकी निगाहों ने दिल ढूँढ़कर बेला के मन के विजन कोन में छिपे हुए चोर को पकड़ लिया। मगर, बिजली ने जब चोर के कान उमेठने के बदले उसे गले से लगाकर गालों को चूम लिया, तब इस अप्रत्याशित स्नेह-निदर्शन से बेला बिलकुल घुल गई। दिल का काँटा निकल गया, और यह अन्तराल दूर होते ही बिजली बेला के दिल में घर कर गई।

बेला ने देखा कि बहन की विलास-प्रवण छाती के भीतर एक स्नेह-प्रवण दिल भी है, तो उसका हृदय विश्वास से भर उठा। उसे अपूर्व सान्त्वना मिली; डर छूटा, ढाढ़स बँधा। उसे प्रतीति हो गई कि बिजली के दिल में प्रगति के साथ-साथ अनुभूति भी है। अब वह अपनी बिखरी उलझनों को समेट सकेगी—कम-से-कम मुँह खोलकर उसाँस तो ले सकेगी। इस जीवन की विजनता में उसे एक सच्ची सजनी मिल गई।

इस झंखाड़ जगत् में सहृदय सुहृद एक अनमोल सम्पत्ति है। इस नेमत के सामने आसमान के तले दूसरी कोई नेमत नहीं। हमें जन्नत की पैग़म्बरी भी क़बूल नहीं, अगर वहाँ एक दर्दमन्द दिल न हो; हमें

विश्व की प्रभुता भी मंज़ूर नहीं, अगर वहाँ कोई स्नेह-प्रवण हृदय न हो।

बेला की निगाह शर्म से झुक गई थी। उसके कपोलों पर उषा की लालिमा रंग भर चली। वह नख से धरती कुरेदती और बे-वजह सर पर आँचल सरकाती जाती।

"क्यों, बेला! श्रीधर समाज को अँगूठा दिखाकर तुमसे विवाह करने को तैयार है?"

बेला शरमाते-शरमाते धीमे स्वर से बोली—"सिर हो रहे हैं, बहन! क्या बताऊँ, समझ में नहीं आता। ऐसे बरज़िद हैं कि तड़प कर जान दे देंगे। ख़ुद बड़े पंडित हैं। मुझे इतमीनान दिलाते हैं कि शास्त्र उनके साथ हैं। मैं तो ख़ुद समझती हूँ, यह विवाह नहीं, खेल है। मगर, उनके लिए मैं देह नापने को तैयार हूँ। जानती हूँ, उनके घर का समाज नंगी तलवार बन जायगा। आख़िर घर-बार छोड़कर बम्बई या कलकत्ता में उन्हें अपना नया संसार बसाना पड़ेगा।"

"तो हर्ज़ ही क्या है—गर्चे यह चाल ख़तरे से ख़ाली नहीं। शायद तुम्हें दुनिया की काफ़ी हवा नहीं लगी है। ख़ैर, जो हो, तुम्हारे नसीब तो जागे! तुम्हारे राम ने तुम्हें भर-नज़र देखा तो! श्रीधर तुम्हें बम्बई ले जाकर किसी तरीक़े से शादी तो करे! तुम्हारा शून्य जीवन, सोहाग और स्नेह—पति और पुत्र—दोनों बाजू से भर उठे, मेरी तो यही तमन्ना—यही दुआ है। तुम्हारा सच्चा रंग परिवार के ही मंडल में खुलकर निखरेगा। तुम्हारे लिए महफ़िल की हवा मरघट की लपट थी। तुम्हें घर की कल्याणी होनी है, चमन की रानी नहीं। डरो मत, तलवार

की धार पर चलना हो, तो भी प्रेम के बल पर कोई मुश्किल नहीं। अगर तुम दोनों की मुहब्बत का बाँध मज़बूत है, तो तूफ़ान के धक्के भी बेकार होंगे। तुम्हारे हृदय की तमाम व्यथा प्रेम के होठों के मधु में घुलकर प्याले की लाल परी बन जायगी। इसी शराब में तो ज़िन्दगी की रूह खिंच आती है!···"

"बहन, अभी इस बात को किसी पर ज़ाहिर न करना। मैं ख़ुद नहीं जानती, मुझे क्या करना चाहिये। मैं दुविधा में पड़ी बेबस हो रही हूँ। कौन कहे, कहीं यह मन का प्यार जीवन का भार न हो जाय!"

"भार नहीं—यह जीवन का आधार है, बेला! तुम बेखटक उनके साथ बम्बई चली चलो। मैं भी अमीन के साथ कल या परसों जा रही हूँ। वहीं मेरी शादी होगी। फिर हम दोनों विलायत के लिए रवाना होंगे। मैं अमीन से कहकर श्रीधर के लिए किसी रोज़गार का इन्तज़ाम करा दूँगी, अमीन के लिए यह बायें हाथ का खेल है। उसके कारबार का सिलसिला वहाँ भी धुआँधार है।"

"सब तो है; लेकिन मुझे डर है, मेरा नसीब क्या गुल खिलायेगा!"

"तुम गुलफुल रहोगी, तो नसीब आप-ही-आप खुलता रहेगा। तुम्हारी चिर दिन की संगिनी उसास आज भी तुम्हारे उल्लास की गर्दन थाम रही है। राम से नसीब माँगने के पहले अपनी आत्मा से बल माँगो। किसी देवता का आशीर्वाद ढूँढ़ने के पहले अपने दिल में दिमाग़ ढूँढ़ो। तुम्हारा सोया हुआ नारीत्व अगर प्रेम की ललकार पर

जग उठा, तो वह नसीब को ठोकर मारकर जगा देगा। तुम्हारे दिल में काम ने ज़ोर मारा, तो राम की रहमत छप्पर फाड़कर बरस पड़ेगी। इस क्षुब्ध जीवन को ख़ामख़याली की रस्सियों से बाँधकर व्यर्थ न करो।

"लो, बस उठो! नसीब-नसीब मत रटो। आसमान भी बुजदिलों को सताता है, मर्दों को नहीं। भारत की छाती में दाएँ-बाएँ दाँत गड़ाये दो पिशाच आठों पहर लहू चूस रहे हैं—दैव और परम्परा। इन दोनों ने देश को कङ्गाल बना डाला। फिर भी ये शैतान सीने से नहीं उतरते; लहू नहीं मिलता, तो हड्डियाँ चाट रहे हैं। तुम भी इन्हीं दोनों के फेर में पड़कर तबाह हो गई। मैंने इन्हें धता तो बताया; मगर ज़रूरत से ज्यादा उचककर विलास के गड्ढे में जा पड़ी। खैर, गिरी तो, गिरी; मगर अब दामन झाड़कर उठ खड़ी हूँ; चूंकि मैं समझती हूँ कि हमारी भूल-चूक महज़ हमारी चेतावनी है, हमारी बरबादी नहीं।

"मैं फिर भी कहती हूँ, तुम्हारे लिए राम से ज़्यादा ज़रूरी काम है। तुमने राम को लेकर काम को बिलकुल मार ही डालना चाहा था, यही तुम्हारी भूल है। तुम भूल गईं कि काम रावण का चचा है। राम के बाण भी इस लहू के शैतान पर मुड़ जाते हैं। मैंने काम को लेकर राम को धता बताया, शायद यही मेरी भूल थी। आज मैं समझ गई, जीवन में राम और काम—दोनों ज़रूरी हैं; तभी जीवन सफल होगा।"

बेला ने बिजली की ओर कुतूहल की दृष्टि से देखा। बिजली फिर

उसी साँस में बोलने लगी—"क्यों, मैं ग़लत कहती हूँ? मैं लाखों में पुकारकर कहूँगी कि तुम्हारे राम ने तुम्हें तबाह कर डाला। तुम राम के बदले अगर काम को अपनाती, तो तुम्हारी ज़िन्दगी तबाह न होती—न होती। क़ुदरत ने तुम्हें रूप दिया है, गला दिया है, दिल दिया है, मिज़ाज दिया है; अगर क़दरे-कलील तुम्हें हिम्मत और हौसले भी देती, ज़रा दिलेर-दबंग बनाती, तो बेला! तुम आज यहीं बैठे-बैठे आसमान से फ़रिश्ते उतार लेती। याद रखो, तुम्हारा ध्येय काम है, राम नहीं!"

"मुझे तो डर है कि इस काम के उद्गम से कहीं मेरे राम खीज पड़े, तो मैं कहीं की न रहूँगी। वही तो मेरे जीवन-सर्वस्व हैं!"

"अजब उल्लू हो!"—बिजली ने तुर्श होकर कहा—"जब तुमने सदा-सुहागिनों में नाम लिखाया, तब तो वे खीजे नहीं; और आज तुम सुहागिन होने चली, तब वे खीज जायँगे? आख़िर, तुम्हारे राम पत्थर ही हैं या उन्हें किसी क़दर दिल भी है? वे भी लकीर के फ़क़ीर हैं क्या—उनके न आँख है, न दिल? तुम उन्हें अंधा और बेदर्द समझो, मैं नहीं समझती! और अगर ऐसी बात है, तो फिर राम-रहीम कहाँ के रहे?"

"मैं विधवा हूँ न, दीदी! यही तो रह-रहकर खटक रहा है!"

"खटक तुम्हारे मिज़ाज की है। दिल से हौसले उठने नहीं पाते कि लाज और लिहाज़ उचककर गला टीप देते हैं। विधवा हो या जो हो, औरत तो हो! और विधवा तो जब थी, तब थी। आज

तो तुम दूसरे तबक़े मे आ गई हो ! लो, उठो; दिल बाँधो ! बस, सब तुम्हारे बस है। देखो, श्रीधर को थामकर रखना। पुरुषों का मन बरसाती झोंका है, पछवा पर पुरवा चलते देर नहीं होती। एक ब्राह्मण के लाड़ले के लिए समाज को हवा बताना ज़रा टेढ़ी खीर है। मैं चली मुँह-हाथ धोने। तुम भी ऊपर आओ। मुझे बाँध-बूँधकर तैयार हो जाना है। कल बनारस को आख़िरी सलाम है। हाँ, तुम कब बम्बई चलती हो ? बस—जहाज़ पर सवार होने के पहले—तुम्हारी फूल-शय्या की रात देख लेती—तुम्हें अपने हाथों से दुलहिन सँवारती !·····यह फिर तुमने मुंह बना लिया ! देखती नहीं, वह तुम्हारे राम किस तरह मुस्कुरा रहे हैं—उनकी आँखों से कैसा नेह बरस रहा है !"

बिजली ने उँगली उठाकर राम की मूर्त्ति की ओर इशारा किया और बेला ने आँखें उठाकर राम की मूर्त्ति पर रखीं।

वह पीतल की सुन्दर मूर्त्ति उषा की किरणों में जगमगा रही है। बेला ने देखा, मूर्त्ति के चेहरे पर आनन्द की झलक है। उसका हृदय उमड़ आया और आँखों से कृतज्ञता के आँसू छलक पड़े। उसके अन्तर की पुञ्जीभूत वेदना कंठ तक आते-आते प्रार्थना के छन्द बनकर प्रातःकालीन वायु में लहराने लगी—

"लगन मैं का सों लगाऊँ राम !"

नवम परिच्छेद

"बेला रानी! बिजली तो चली। जीने कि मरने, कौन जाने! रह गई उसकी चर्चा, रख गई एक कहानी। वह भी सुबह की हरी दूब पर उगी हुई शबनम की जवानी की तरह दो पल में मिट जायगी। बस।·····किसी की आँख में दो बूंद आँसू भी होंगे!···· ओफ! जाने कितने घरों को खंडहर कर चली।"

"और कितने वीरान को नन्दन बना डाला, यह क्यों भूलती हो! काशी सिसक-सिसककर तुम्हें याद करेगी!"

"ऐसा?"

"और क्या! तुम्हारी बात तुम्हारे साथ जायगी। तुमने अमीरों को जो लूटा हो, मगर ग़रीबों के लिए तुम्हारे दिल में आँख थी और आँख

में दिल था! आज कितने अनाथ बच्चे तुम्हारे हाथ की मैल पर पनप उठे।"

"पनपे होंगे, मगर मैंने कितने बेगुनाहों का खून चूस जो हाथ लाल किये, वह लहू तो आस्तीन से मिटनेवाला नहीं! सिर पर शैतान सवार था, और क्या कहूँ? माँ-बाप की याद, कितने कुश्तों की फ़रियाद, आज अंगारों की सेज बनी है। जिस मन के कोने में बुद्धि की कील न हो, उस पर जब हौसलों की—हसरतों की—आँधी उठती है, तब दिमाग़ के पुर्ज़े बग़ैर उखड़े कभी टिक नहीं सकते। ख़ैरियत हुई कि उस आँधी के तूफ़ान से दिल ही बुझ चला; नहीं तो, शायद न महफ़िल की हवस छूटती, न मंजिल की तलाश होती।···मगर, बेला! ऐसी तलाश भी क्या है! कहीं हवस भी किसी की मिटती है? न तन की तपन जाती है, न दिल की तड़पन। लो, आज बिलायत का सुर बँधा है। मुझे ज़िन्दा रखने के लिए रोज़ एक नई धुन ज़रूरी है। मजलिस की मौजों से ऊब भी गई हूँ, फिर भी उसी में डूबकर दिल की तरावट ढूँढ़ती हूँ। तो शायद इस ज़िन्दगी में अंजुमन की रौनक़ के भीतर ख़ँडहर की साँस जीती है और मरघट की ख़ाक के नीचे चमन की रूह जलती है!"

"बहन, आज ईद के दिन मुहर्रम का ज़िक्र छोड़ो। कल-परसों तुम्हारी शादी है, और·····"

"शादी! पेट में बच्चा लिये शादी! यहाँ क्या नई दुलहिन के ब्याह का उछाह है? इस उछाह में तो दिल की आह भी

पिरोई है। बेला, अब क्या इन आँखों में नव सुहाग की लज्जा होगी?—होगी इस ज़िन्दगी में पहली रात की फूल-शय्या? यही कहो कि बिजली एकाएक मातृत्व के बन्धन में गिरफ्त न होती, तो शायद ज़िन्दगी से लाख ऊबकर भी शादी की मंज़िल न ढूँढ़ती। वह तड़पकर मर जाती, मगर मर्द की जूतियाँ सर पर न ढोती। आजतक अमीन मेरा मुँह जोहता रहा। अब शायद मुझे उसका मुँह टटोलना होगा। यह क्या मेरे लिए मामूली मलाल है? तुम इस आज़ाद दिल की तड़प को क्या समझोगी। मैं यहाँ नर-मेध करके दिग्विजय करने चली थी और आज अपने ही वार से आप शिकार हो गई!'''''ओफ्! क़ुदरत ने मातृत्व के जहन्नुम में डालकर औरत को इस क़दर लाचार कर रखा है। उसी के मत्थे सृष्टि की गोटी लाल करनी है। वह माता न होती, तो अबला न होती।"

बिजली के मन की हवा ज़रा बदली हुई है। कल कुछ और थी, आज कुछ और है। बेला को हँसी-सी आ गई कि कल तो बिजली पत्नी की मर्य्यादा और माता की ममता के लिए घुटनों में सर दे रही थी, और आज उस मंजिल में क़दम रखने के वक्त यह क्या बात है कि क़दम रुक-रुककर उठ रहे हैं!

बिजली बहार की तितली थी, और आज उस महफ़िल से—जीवन के उस पहलू से—हमेशा के लिए जुदा हो रही है। फिर जुदाई की ऐन घड़ी पर हास से उसास का उलझना—ज़बान में दिल का सिसकना—कुछ अचरज नहीं।

बिजली के लिए सुहाग की चुनरी महज़ दुकूल पलटना नहीं, दिल पलटना भी है। उसे जीवन की गति को विरति की रेती में बहाना पड़ेगा; मैदान की हवा से मकान की उसासों में रखना होगा। उसकी प्रकृति कभी दायित्व के बन्धन में मुक्ति नहीं देख सकती थी। उसे इन्द्रियों की बागडोर थामने की आदत न थी। मगर नियति-नटी आज चमन की बुलबुल को मान के दाने पर लुभाकर सोने के पींजड़े में ले जा रही है!

यह मान का सवाल न उठता, तो बिजली कभी इस परिधि में पैर देती? सिनेमा-हाल में उस दिन उसके चेहरे का पानी न उतरता, तो वह अपनी आँखों से अपनी सूरत का असली रंग देख पाती? आज उसे पत्नी की मर्यादा की तलाश सूझी, और कल ही वह पत्नी की ताबेदारी की खिल्लियाँ उड़ा रही थी! समय जो न कराये! बचपन से ही उसे विलायत की सैर का शौक़ था, और इस शौक़ की कशिश आज उसके छोह और बिछोह के निःश्वास में भी उल्लास भर रही है।

बेला मुस्कुराती हुई बोली—"बहन, आज तुम इस चमन से अलग हो रही हो, इसी से तुम्हारी निगाहों में हसरत भरी है। कुछ दिनों बाद, जब घरनी बनकर लाल को गोद में लोगी, तब समझोगी माता के गौरव के आगे दुनिया की तमाम महफ़िलों की रौनक़ कानी चित्ती का मोल रखती है।"

"अलहमदोलिल्लाह"—बिजली ने हँसकर कहा, और चुप हो गई। फिर ठहरकर बोली—"बेला! अब तो मुझे भी भगवान् का

नाम लेना पड़ा। और, वह भी एक अनजान अरबी ज़बान में। आज हिन्दुओं की आँखें खुली रहतीं, तो हिन्दुस्तान में यह ग़ैर ज़बान चलती—राम के राज्य में रहीम की डौंड़ी पिटती? आख़िर, यह कैसी विडम्बना है! राम और रहीम एक होकर भी हमारे आपस की पट्टीदारी की लड़ाई से दो विरोधी देवत्व की सत्ता हो रहे हैं। शायद, मज़हब से बढ़कर आदमीयत की जड़ में कोई दूसरा घुन नहीं है।"

"ख़ैर, किसी ज़बान में सही, भगवान का नाम तो लो! शादी से इतना तो नफ़ा हो!"

"रहो भी! इस शादीवाली बेड़ी की पहली कड़ी तो यही है। 'मगर, तुम तो इस उसूल को तसलीम नहीं करती! तुम तो भगवान् से बढ़कर ज़बान को समझती हो—राम से बढ़कर नाम को मानती हो! नहीं तो, आज तुम बिजली का साथ न देती?"

"मैं तो, बहन! उस श्याम सलोने के रूप की दीवानी हूँ। मेरी आँखों में, मेरी आत्मा में वह मूर्त्ति खुद चुकी है। वही मेरा सनातन धर्म—मेरा मर्म—है।"

"मुझी से उड़ती हो, बेला! आज श्रीधर का सवाल न उठता, तो तुम श्याम सलोने की झाँकी भूल जाती और ज़ीनत की तलाश में इस्लाम और इंजील का दम भरती!"

"सुनो बहन, तुम इस लगन को नहीं जानती। श्रीधर मिले या न मिले, मैं राम की छाया छोड़ नहीं सकती। एक नहीं, हज़ार श्रीधर मुझे उसके चरणों से अलग नहीं कर सकते!"—बेला ने ज़ोर

देकर ताव से कहा।

"आज तुम अज़ीम को ब्याहती, तो मेरे साथ विलायत की सैर करती! ख़ैर, तुम यहीं फूलो-फलो, मेरी यही तमन्ना है।"

बिजली ने स्नेह से बेला के दोनों गुलाबी गालों में ठुनकियाँ दीं—उनकी सुर्ख़ी और घनी हो गई।

बिजली कल रात में ही सामान बाँधकर तैयार हो चुकी थी, ख़ानसामा ट्रंक वग़ैरह लेकर स्टेशन रवाना हो चुका था। बस, अमीन के आने की देर थी। आज तड़के ही वह अपनी कितनी चीज़ें लोगों को नज़र कर चुकी थी—किसी को जैकेट, किसी को साड़ी; किसी को कार्पेट, किसी को कुर्सी; किसी को टेबुल, किसी को आलमारी; किसी को प्लेट, किसी को रिकाबी—जिसने आकर हाथ फैलाया, वह ख़ाली हाथ न लौटा। नौकरों और बाँदियों की तो पाँचों उँगलियाँ घी में रहीं।

'बूँदी' सिल्क की एक रतनारी साड़ी पाकर पौ फटते मुहल्ले में दस बार झमक आई, और ज़री आँचल की बहार कितने मनचलों के दिल में एक हल्का तूफ़ान उठा गई। उस हलवाई के लौंडे की ओर आज उसने निगाह तक न उठाई। आज उस बिचारे में हिम्मत कहाँ की सिल्क की आबोताब के रू-ब-रू वह दो पैसे की रोज़मर्रेवाली टिकरी पेश करे या रेशमी घूँघट के साये में इतराती हुई आँखों से आँख मिलाये! आख़िर जब उसने बूँदी के आठवें चक्कर के वक्त पिता की आँख बचा कर बादाम की क़ीमती बर्फ़ियों का दोना आगे बढ़ाया, तब कहीं जाकर बूँदी राह पर आई। मगर, फिर भी उस नज़र को हसब-दस्तूर आँचल

के खूँट में न बाँध मुँह में भर लिया और आधी चितवन से मुस्कान का दान देती हुई तीर की तरह मकान के भीतर दाख़िल हो गई। आख़िर तो वह बिजली के साये में पली है। आज न वह तितली-सी इधर-उधर फुदक रही है, एक दिन जब वह बिजली बनकर बिजली गिरायेगी, तब मुहल्ला थर्रा जायगा!

बिजली की निगाह तीसरी बार रिस्ट-वाच पर पड़ी होगी कि अमीन आ धमका। वह उतावली-सी फ़ौरन् उठी और चुपचाप मोटर में जा बैठी। उसने एक बार हसरत-भरी नज़र दरोदीवार पर रखी; फिर, न जाने क्यों, एकाएक ठठाकर हँस पड़ी, और मोटर चलाने का ऑर्डर दिया।

अमीन ने प्रश्न-भरी दृष्टि से उसकी ओर देखा, तो उँगली से इशारा करती हुई बोली—"वह ऊपर बरामदे पर देखो! सब लोग तो नीचे हाथ बाँधे खड़े हैं, बूँदी मेरी कुर्सी पर किस शान से जा बैठी है! इसी सिन से उड़ने लगी है! शायद समझती है, वह मेरी जगह लेगी। दुनिया में कभी किसी की जगह ख़ाली रही है, अमीन!"

बेला बाक़ी असबाब के साथ दूसरी गाड़ी पर सवार हुई। और, अगर दस मिनट भी वह देर कर देती, तो उसे स्टेशन पर टका-सा मुँह लिये रह जाना पड़ता।

अमीन और बिजली के लिए फर्स्ट-क्लास का एक डब्बा रिजर्व था। स्टेशन पर कोई परिचित नहीं था, चूँकि बिजली ने इस प्रोग्राम को बेला के सिवा और किसी पर ज़ाहिर नहीं किया था।

कोट-बूट डाटे अमीन रिफ्रेशमेंट-रूम के सामने खड़ा होकर जानीवाकर का प्रसाद जामे-रुख़सत पी रहा था। बेला, बिजली के पास उसके डब्बे में बैठ गई। उसका दिल उमड़ आया। आज इतने दिनों का दिल व जिगर का साथ छूट रहा है!

बिजली चाहे कुछ भी हो, उसकी आँख में—ज़बान में—दिल न भी हो; मगर उसकी छाती में दिल ज़रूर है। मुमकिन है, कभी हौसले के बलवले पर उसके हाथ की तलवार बेगुनाह की गर्दन पर बहक पड़ी हो; मगर दीदा-दानिश्ता उसने किसी दुखिया के लहू से हाथ नहीं रँगे। वही अकेली तो बेला के संसार के खँडहर में एक टिमटिमाती दीपशिखा थी। और, जब वह भी तिरोहित हो जाती है, तब अँधेरे में उसे कौन पथ दिखायेगा!

बेला की आँखें तर हो गईं। बिजली ने बड़े स्नेह से अपने रेशमी रूमाल से उसके आँसू पोंछे, और उसकी ठुड्डी हिलाती हुई बोली—

"तुम कब आती हो बेला? भरसक आज ही रात को चल दो। दो दिन बम्बई में साथ रहेगा। गिरह बाँध रखो, आज सातवीं तारीख है, दस को मेरा जहाज़ खुल जाता है।"

"कहाँ ठहरोगी वहाँ?"

"ताज-महल होटल में। तार दे देना, मैं तुम्हें स्टेशन पर मिलूँगी। .....अच्छा, तुम फिर श्रीधर से मिल चुकी?"

"वे चुनार से आज लौट आये होंगे। अभी जाकर उनसे मिलती हूँ। आज नहीं, तो कल तक ज़रूर हम दोनों भी चल देंगे।"

"देखना, कहीं श्रीधर किसी की बातों में न पड़े। मुझे रह-रहकर डर उठता है कि कहीं तुम धूल में रस्सी न बटती हो! वह कुलीन ब्राह्मण होकर तुम्हें ब्याहता है, यह बात अबतक मेरे दिमाग़ में नहीं आती। कहीं यह सारा क़िस्सा पानी का बुलबुला न हो!"

"बहन, तुम जानती नहीं। वे तो हवा के घोड़े पर सवार हैं। बस, मुझे 'हाँ' कह देना है। सच कहती हूँ, मैं ही टालती रही हूँ। मेरा ही जी उठ-उठकर बैठ जाता है!"

"तुम इतने दिनों तक मेरे साथ रही, साथ गाया-बजाया, मगर कभी मैंने तुम्हारे चेहरे पर न आत्मा की झलक देखी, न यौवन का पुलक पाया। तुम आँसुओं को पी-पीकर हँसती न रहती, तो मैं इस हँसी में न आती। मुझसे भी चुराकर तुम उन आँसुओं के प्रवाह को दिल के पहलू में जमा करती आई। यही वजह है कि आज उछाह की राह में भी तुम्हारी वह संचित आह रोड़े अटका रही है।"

"क्या बताऊँ, बहन, दिल धड़क रहा है। जानती हो न, कामना की मदिरा से इस जीवन की प्याली कभी भरती नहीं!"

"दुर पगली! तो क्या वेदना के हलाहल से भरती है?"

"नहीं, राम-भक्ति की माधुरी से; और—'या गोविन्दरस-प्रमोद-मधुरा सा माधुरी माधुरी।' यह भक्ति की लौ कामना की चिता ही पर जलती है, यों नहीं।"

"न न, तुम भूलती हो। अरमानों के ईन्धन से तुम्हारी यह लौ और भी तेज़ होगी। जब तुम सुहाग से भरी बाल-बच्चेवाली हो जाओगी,

तब दिन-रात राम के दर पर सर तोड़ती रहोगी। जब ग़रज़ होती है, तभी राम के दरबार में अर्ज़ियाँ गुज़रती हैं, भक्ति उपटती है।"

"भला आज तक मुझे कौन-सी ग़रज़ रही?"

"यह तो तुम्हारे राम जानते होंगे, मुझे तुम क्यों जताती? अगर कोई ग़रज़ न थी, तो फिर तुम्हारी भक्ति रेती की सूखी धार रही होगी। कामना के कछार में तो वह बरसाती धार-सी बढ़ती है। ख़ैर, तुम्हारा जी भुरभुराया, यही राम का शुक्र है!"

गाड़ी छूटने का घंटा बजा। बिजली बेला से हँसती हुई लिपट गई। उसके गले में सोने का एक स्वस्तिका-लॉकेट डाल दिया, और बोली—"परसों फिर मिलोगी, तो मिलजुलकर बम्बई की सैर होगी!"

अमीन ने दौड़कर बाक़ायदा हाथ मिलाया, मुस्कुराकर बिदा माँगी, और गाड़ी में दाख़िल हो गया। घंटा पड़ा, सीटी बजी, भक्-भक् करती हुई गाड़ी चल पड़ी।

बेला प्लैटफ़ार्म पर तसवीर बन गई। उसकी आँखें डबडबा आईं। बिजली खिड़की पर झुककर रूमाल हिलाती गई, मगर उस रूमाल के छोर की पहुँच अब बेला के लोचनों के आँसू तक क्योंकर मुमकिन थी!

दशम परिच्छेद

बेला ने झिझककर आँचल से आँसू को पोंछ डाला। वह इस करुणा के क्षणिक उद्रेक पर हँस पड़ी। बिजली से तो फिर भेंट होगी; आज क्या आँसू बहाने का दिन है? आँसू के मोती सँजोने के दिन लद चुके, अब तो मुस्कान के मोती निखरने के दिन आये!

उधर गाड़ी दृष्टि से ओझल हुई, इधर वह चटपट मकान पर लौट आई। उसने सीतापति राम की मूर्त्ति के आगे हाथ जोड़कर श्रीधर के निकट जाने की इजाज़त माँगी! प्रभु के निःशब्द आदेश को श्रीधर तक पहुँचा देना ज़रूरी था।

उसने बड़ी श्रद्धा से प्रसाद के फूल को सर पर रखा, और फिर गुलफुल अपने कमरे में चली गई। झट हाथ-मुँह धोये, बाल सँवारा,

ज़री-किनारे की कासनी साड़ी पहनी, बन्द गले का जैकेट बदला, गले में वही स्वस्तिका-लॉकेट दिया, भवों के बीच पूजा की रोली जगाई, और ज़रा शरमाती हुई आइने के पास खड़ी होकर मालती की लहलहाती बेल-सी अपनी छवि देखने लगी।

उसका चेहरा गुलाब का फूल बना था। अङ्ग-अङ्ग से रंग निखर रहा था। चितवन में रस-भरी अंगूरी थी; चेहरे पर मुस्कान की माधुरी। आज वह मरने और जिलाने का समा बाँध सकती थी—'आँखों में हलाहल था, लबों पै मसीहाई।'

हाय री नारी! आख़िर तो नारी! तो क्या क़िस्मत के वार से तबीयत नहीं कटती? विपत्ति की वेदी पर प्रकृति नहीं चढ़ती? क्या दिल की आग से लहू नहीं जलता? सुहाग के अभाव से स्वभाव नहीं बदलता?

क्या आज बेला का तृषित नारीत्व—उसका वंचित सुहाग—आँसुओं के अन्तराल को ठेलकर किसी अभिसार के लिये उमड़ चला है? आज किस तिलस्म के तेवर पर वह बर्फ़ का सिल गलकर दिल बन गया है। इस कूचे में आकर भी जिस पर नया रंग न चढ़ा, न उमंग भरी, आज यहाँ से जाने के दिन एकाएक उसकी काया-पलट हो गई! अबतक यह मोहिनी माया कहाँ सोई थी? आज वह किस जादू की फूँक पर कफ़न फाड़कर उठ खड़ी हुई?

यही तो नारी-प्रकृति का चिरन्तन रहस्य है। इसका पता तो वही दे सकता है, जिसे जीवन में नारी-हृदय का एकान्त समर्पण नसीब हुआ

हो। आज त्याग की नहीं, सुहाग की चरम आत्माहुति के भीतर बेला अपने जीवन की सार्थकता ढूँढ़ने चली है। इसी आत्मनिवेदन में शायद नारी-जीवन का चूड़ान्त उत्कर्ष है; नहीं तो, आज उसके चेहरे पर यह अपरूप लावण्य कहाँ से टपक पड़ता—अरमानों की मुरझाई अमराई में यह मलय की लपट कहाँ से आती!

जब वह बिलकुल दुधमुँही थी, उसके धर्मप्राण पिता ने—परम्परा की पाबन्दी के ख़याल से—उसे एक दुबले-पतले अधेड़ कुलीन के निर्वाणप्राय जीवन के साये में बिठा दिया था, और जब वह उभरकर भरने पर आई, तब उसके सर से सुहाग का सिन्दूर धुल गया! शोख़ अरमान अभी सर भी न उठा पाये थे कि सर थामकर बैठ गये। फिर तो उसकी धर्मप्रवण आत्मा ने उसकी छाती पर कठोर शुचिता की कील गाड़ दी।

उसके यौवन की सूखती डाल पर सर रखकर पहले-पहल फ़सले-गुल का राग श्रीधर ने छेड़ा, पर विवेक ने अन्तराय होकर उस राग की ध्वनि को प्रतिध्वनित न होने दिया। आज शायद उसी संगीत-सुधा को छक-कर पीने के लिए उसके अंग-अंग में यौवन ने अँगड़ाइयाँ लीं।

उसने आँखें उठाकर ऊपर देखा, आकाश गान से चहचह है, गन्ध से महमह। जो रस-हिल्लोल बरामदे पर चढ़ी मालती-लता के वैभव पर—गली के मोड़ पर मदमाते अशोक और कचनार के पल्लव पर—सर के ऊपर नीलिमा के प्रसार पर—मुहल्ले के गहगह मकानों की दीवार पर तरंगित है, वही पुलक-प्लावन आज उसके अङ्ग-अङ्ग पर, कबरी के बंधन पर, कपोलों के शतदल पर तथा ज़री साड़ी के आँचल पर लहरा रहा है।

वह बन-सँवरकर अभिसार के लिए तैयार तो हो गई ; पर बनारस की—तीसरे पहर की—जनसंकुल गलीं कुछ तमाल-निकुंजों की अँधेरी वीथिका न हो सकी। वह कुतूहली निगाहों से बचकर कहाँ जाती !

जो हज़ारों में गला खोलकर गाती-बजाती रही, वही आज शर्म से घर के बाहर क़दम नहीं उठा सकती है। आज कामना के किलोल के साथ-साथ लज्जा का निविड़ अवगुंठन भी आया। आज का निखार वह रोज़मर्रे का मुजरेवाला शृङ्गार नहीं है। आज वेश्या के रूप के भीतर नारीत्व की आत्मा जग उठी है।

उसने आलमारी खोलकर एक बन्द लिफ़ाफ़ा निकाला। उसे इतमीनान से आँचल के खूँट में बाँध लिया। उसी वक्त बिजली की बाँदी, न जाने किधर से, टपक पड़ी और बेला के सिंगार-पटार की बहार देखकर आँखें फाड़ खड़ी हो गई।

"आज इस वक्त कहाँ, बेला दीदी !"—उसने ज़रा मुस्कुराकर पूछा।

शर्म से बेला जैसे छुई-मुई हो गई। झेंपती हुई बोली—"अभी आ रही हूँ। गोसाईं के मन्दिर जा रही हूँ !"

"फिर वहीं जाती हो ? अभी उसी दिन न जान जाने से बची !"

"वक्त है, बूँदी ! डरने की कोई बात नहीं।"—बेला ने हँसकर कहा—"अच्छा, एक बन्द गाड़ी तो मँगाना।"

"वह क्या नुक्कड़ पर खड़ी है, अभी पुकारती हूँ।"

बेला ऊपर से आँगन में उतर आई। मुहल्ले के एक वृद्ध ब्राह्मण को बुलाकर सायंकाल की पूजा का भार सौंपा। उनकी गोद में एक

छोटा बच्चा था। उसके हाथ में दो रुपये दिए। फिर सामनेवाली हलवाई की दूकान से एक थाल गुलाब-रेवड़ी मँगवाकर मुहल्ले-भर की छोटी-छोटी लड़कियों में वितरण कर दी। मन-ही-मन इष्टदेव के चरणों पर सर रखकर गाड़ी पर सवार हो गई।

चलती गाड़ी में उसकी आँखों के सामने बम्बई की झाँकी थी। उसके दिमाग़ में परिस्थिति जाल बुन रही थी—"आज नहीं तो कल तक यह विश्वनाथ का धाम छूटना ही है। श्रीधर के सर से डिग्री का बोझ उतार देना है। जयदेव मिश्र को सब समझाकर घर लौटा देना है। श्रीधर घर होते हुए भी किसी आगे के स्टेशन पर मिल सकते हैं। भगवान् के नियमित पूजन के लिए इस पूज्य ब्राह्मण को साथ लेना ज़रूरी होगा। यह जायगा कि नहीं?·····जायगा क्यों नहीं! यह बिचारा तो यहाँ किवाड़ तोड़-तोड़कर खा रहा है। वहाँ बिजली सनीचर तक मौजूद है ही। फिर तो भगवत् इच्छा! भर-हाथ चूड़ियाँ·····"

गाड़ी एकाएक रुक गई। मन्दिर का गगन-चुम्बी स्वर्ण-कलश आँखों में चमका। वह उतरी। किराया देकर गाड़ी लौटा दी।

गाड़ी से वह उतर तो पड़ी; पर मन्दिर की चहारदीवारी के साये में आते-आते उसके क़दम आप-ही-आप ठिठक गये। न जाने उसपर कहाँ का पहाड़ टूट पड़ा! चेहरा किसी अज्ञात आशङ्का से सूख गया; पेड़ की छाँह में उगी हुई जौ की पतली डंटी-सी वह पीली पड़ गई। मन्दिर के दरवाज़े पर ठिठककर खड़ी हो गई—'कौड़ी चित पड़ेगी या पट! ओफ्! यह क्या सूझी है मुझे।"

ख़ैरियत हुई, दरवाजा सूना था। न आँख, न कान। नहीं तो, वह पानी-पानी हो जाती।

तबतक एक बूढ़ा वैष्णव भिखारी गाता हुआ उस राह से आ पड़ा—"प्रेम की मुरली बजी कुंज में; दौड़ चलो, सखि, दौड़ चलो!"

कान देकर वह एक-एक शब्द को पीने लगी। कैसा मीठा गला है! कैसी मीठी पुकार!

सकुची हुई लालसा की बेल फिर लहलहा उठी। उसके पैर की बेड़ियाँ अकस्मात् खुल गईं। मन्दिर में वह दाख़िल हो गई। सामने ही जयदेव मिश्र पर नज़र पड़ी; उधर से वे निकले चले आ रहे थे।

बेला ने हाथ जोड़कर सर झुकाया। फिर ज़रा सिटपिटाती-सी आगे बढ़ी। जयदेवजी तो उसे देखते ही सन्न हो गये। उलटे पाँव महन्तजी के कमरे की ओर दौड़े।

बेला सर झुकाये बाईं ओर मुड़ गई। जयदेवजी के चाञ्चल्य से ज़रा भी हिचकी नहीं। मंदिर की प्रदक्षिणा करती हुई वह श्रीधर के कमरे के नज़दीक चली आई।

श्रीधर सायबान में चौकी पर करवटें बदल रहा था। पैरों की आहट पाकर ज़रा अँगड़ाई ली, और उठ बैठा। एक क्षण बेला को देखा, ज़रा चौंका, एक लम्बी साँस ली; फिर निगाह फेरकर कराहते हुए पूछा—"क्या है?"

बेला को जैसे काठ मार गया। क्या कहे कि क्या है! उसके देवता कूच कर गये। मुँह फीका पड़ गया। हाल के साये में उसाल चली

आई। चितवन की चाह में आह भर गई। श्रीधर पागल तो नहीं हो गया! आख़िर बात क्या है?

बेला ने दिल से बल तलब किया, और ज़रा हँसकर बोली—"आप ने बम्बई जाने की....."

लाज की बागडोर ने ज़बान को थाम लिया। वह रुक गई।

श्रीधर ने फिर आँखें उठाकर बेला पर रखीं। एक क्षण सन्नाटे का आलम रहा। उसके कान में किसी के पैर की आवाज़ पड़ी। अचानक ज़बान खुल गई—"ओहो! गले में जयमाल डालने आई हो? तुम्हारे हाथ तो सुरेश के मोतियों की लड़ी से बँधे पड़े हैं, फिर उठते हैं कैसे?"

महन्तजी बिलकुल क़रीब आ गये। श्रीधर ने फिर हँसकर नमक छिड़की—"भला रंडी किसकी जोरू, भड़ुआ किसका साला? कहीं वाराङ्गना भी कुलाङ्गना हो सकी है! मेरा दिल तो बोर ही चुकी, अब कुल भी बोरने पर तुली हो क्या? लोक तो छूट ही चुका, परलोक पर भी धावा है?"

श्रीधर के तीर क्षोभ और क्रोध के विष में बुझे थे।

दुनिया के आघात को जिस दीनता के साथ गूँगी बनकर पृथ्वी सह लेती है, उसकी तुलना विधवा का कलेजा ही होगा, दूसरा नहीं। पर, वही पृथ्वी एक दिन सीता को गोद में लेने के लिए फट भी पड़ी थी।

आज उसी पृथ्वी की ओर बेला एक टक देखती रह गई; मगर ज़मीन न काँपी, न फटी। उसके कलेजे से लहू उठकर आँखों में उतर

आया, मगर न भवें फड़कीं, न पलकें भीगीं। सिर्फ़ एक आह की टीस ने मधुर यौवन-स्वप्न के ताने-बाने को छिन्न-भिन्न कर डाला—'हाय! वह हृदय की क्षणिक मोहमयी उत्तेजना में पड़कर विवेक की तीती वाणी को अनसुनी न करती, तो आज उसकी ऐसी किरकिरी न होती।'

महन्तजी ने भी व्यंग्य-भरी चुटकी ली—"बीबीजान! मेरी शोख़ी माफ़ हो, श्रीधर कुछ बाज़ार का सौदा नहीं है! यह एक कुलीन कुल की आशा है। इसके हाथ सैकड़ों की सद्गति की पतवार हैं। इसके जीवन पर कितनों का दार-मदार है। आपके आँचल के साये में इसे निर्वाण-पद जो मिले, लेकिन इस दुनिया में इस बिचारे की क्या वक़त रहेगी—यह आपसे ज़्यादा कौन अन्दाज़ कर सकता है!"

आघात पर आघात। बेला भारत की नारी थी, भारत की नारी बनी रही।

उसी वक़्त जयदेवजी भी आ धमके। मौक़ा मौज़ूँ समझकर हाथ जोड़ते हुए गिड़गिड़ाकर बोले—"बेला—बेला! गुरु महाराज ने तुम्हें दूध पिलाकर आँखों में पाला था—उन दिनों, जब तुम्हें कहीं तिल-भर भी शरण नहीं थी। आज तुम छत्र पसारकर उसी घर के लाड़ले को डँसने चली हो! छिः! राम राम!!"

जयदेवजी की निगाह में श्रीधर की तमाम व्याधियों की बुनियाद बेला है, नारियों के प्रति हमारा वही चिरन्तन दृष्टि-कोण!

हमारे बच्चे के मुँह से तो दूध टपकता है, वह छल-छन्द क्या जाने! इसी जादूगरनी ने डोरे डालकर उसका मत मार लिया है—यही

सनातन दलील है !

भारत के कितने ज्ञानी-मानियों ने भी नरक की नाली नारी की मरम्मत जी खोलकर की है। हम अपनी प्रवृत्ति के थपेड़ों पर तो कुलाँच भरते हैं और इलज़ाम मढ़ते हैं नारी की चितवन की जादूनज़री के सर। हम अपने हाथों से दोज़ख का दरवाज़ा तोड़ते हैं; मगर 'नरकस्य द्वारं' नारी को ही बतलाते हैं। उसके दोनों हाथ में रज्जु बँधी है, हमारे दोनों हाथ में लड्डू धरा है !

इस वायुमंडल में बेला ख़ाक अपनी सफ़ाई पेश करती ? और वह भी किसके सामने ? यहाँ हाले-दिल सुनने के लिए दिल कहाँ था !

वह एक मिनट तक निश्चेष्ट खड़ी रही। हाथ का लिफ़ाफ़ा चौकी पर चू गया। तबतक महन्तजी का एक हाथ उसके कंधे पर फड़का। वह बिजली-सी तड़पकर दालान के बाहर निकल गई।

वह पाँव-प्यादे बड़ी तेजी से लौट चली। हाय ! वह चेहरे पर सुहाग के पानी की तलाश में आई थी, मगर जो पानी था भी—उसे बहा डाला !·····

···वह निगाह नीची किये, सर झुकाए, जा रही है। पर उसे लगता है, जैसे सड़क पर दो-तरफ़ी निगाहें उसकी लज्जा की धज्जियाँ उड़ा रही हैं — दोनों ओर से सैकड़ों गले की आवाज़ उसकी शर्म का नक्क़ारा बजा रही है—उसके चारों ओर विद्रूप के बादल छाये हुए हैं और हरएक की उँगली उसी पर उठ रही है।

मगर यह लज्जा की आँधी तो मन की ऊपरी तह पर है, मन के

अन्दर जो प्रलय का आँधी-पानी और श्मशान का शून्य हाहाकार बारी-बारी से गूँज रहा है, उसका शतांश आभास भी किसी पर सम्भव नहीं।

जब श्रीधर की जड़ता छूटी, तब उसकी निगाह सामने के लिफ़ाफ़े पर पड़ी। उसने चट उसे उठा लिया और फ़ौरन् एक झटके से खोल डाला। देखा, कई नोटों के साथ बेला के हाथ का लिखा एक रुक्का भी है! वह पुर्ज़े को पढ़ने लगा—"महाराज! मैं नहीं जानती कि यह छोटी-सी रक़म आपको डिग्रियों के सङ्कट में कहाँ तक मदद देगी। आख़िर मेरी बिसात ही क्या है? इतमीनान रखिये, यह जो कुछ है, मेरे पसीने की कमाई है, कुछ शरीर की कमाई नहीं। इसकी स्वीकृति मेरे लिए एक दया का दान होगी।"

पूरे तीन हज़ार हैं! श्रीधर को जैसे गाय मारने का पाप हुआ। उसने दिल-ही-दिल में कहा—"उफ़! मैंने यह क्या किया? चाँद पर थूकने चला था, चुल्लू-भर पानी में डूब क्यों न मरा?"

वह फ़ौरन् उठ खड़ा हुआ। उसका बैठा हुआ दिल बाँसों उछल गया। वह कंधे पर चादर रखकर आगे बढ़ना ही चाहता था कि सामने महन्तजी और जयदेव मिश्र आ गये।

"क्यों भैया, कहाँ चले!"—महन्तजी ने पूछा।

"कुछ न पूछो, भूल हो गई—भूल!"—श्रीधर नोट और रुक्का दिखाकर बोला—"बातों में पड़कर मैं ने नाहक उसका जी जलाया!"

"बातों में पड़कर?"—महन्तजी एक सरसरी निगाह नोट और रुक्के पर डालकर तमाम परिस्थिति ताड़ गये और बोले—"अजी, तुमने तो

खुद उस रात को वहाँ जाकर अपनी आँखों देखा था कि सुरेश से कैसी गहरी छनती है। बस, इन चन्द नोटों पर ही आ गये! इतनी रक़म तो आज उसके हाथ की मैल है। उसने बरसों तुम्हारी नमक खायी—तुम्हारी रोटियाँ तोड़ीं, आज सुरेश की बदौलत वह नमक अदा कर सकी है। मुमकिन है, चन्द दिनों तक वह तुम्हारे तलवे भी सहल दे। मगर, कबतक? कहीं वेश्या भी सूने घर में ठहरी है? तुम जो उसे गंगा में धुली पारिजात-पुष्पाञ्जलि समझ रहे थे, यही तुम्हारी भूल है। उसकी तहरीर की तदबीर पर गये, तो लुटे! मेरी जवानी इसी कूचे में कटी है, बाबू! उसके एक-एक रग-रेशे को पहचानता हूँ। कुछ तुम्हें पट्टी नहीं पढ़ाता। वह कुछ भी हो, तुम्हें तो उसे देखना नहीं है, देखना है अपने को। तुम उस दामन के साये में गये, तो कहीं के न रहोगे। महज़ तुम्हारी ही नाक नहीं कटती—तुम्हारी ही लुटिया नहीं डूबती; हमारा समाज भी रसातल चला जायगा!"

"सो तो ठीक है; मगर बेवजह जो मैंने उसका दिल दुखा दिया है, कम-से-कम उसे तो भर दूँ!"—श्रीधर ने आहत स्वर से कहा।

"यह भी एक ही रही। वह कुछ दिलखोई थोड़े बैठी है। देखा नहीं, किस शान से चौकड़ी भरती निकल गई।"

"जो हो भाई, एक बार चलकर देख तो लूँ!"

श्रीधर ने चट बेला के घर का रास्ता लिया। महन्तजी और जयदेवजी भी झख मारकर साथ हुए। महन्तजी तो—ख़ैर, जयदेव मिश्र तो दाँत पीस रहे थे। उनका जो वश चलता, तो बेला को पीसकर पी जाते!

एकादश परिच्छेद

जब बेला बदहवास मकान के पास पहुँची, तब गली के मोड़ पर सुरेश की फ़िटन देखकर ज़रा चौंक पड़ी। उसे सन्देह होने लगा—इसी के गुप्तचरों ने तो कहीं श्रीधर के कान नहीं फूँके—उसके मन में खटाई डालकर अपना रास्ता साफ़ करना चाहा! और क्या मतलब हो सकता है! यह भी मीठी छुरी निकला! इसकी चहचही चुहलबाज़ी के भीतर चालबाज़ी भरी है! या, मुमकिन है, चुन्नीलाल की कारसाज़ी होगी। चट्टे-बट्टे लड़ाने में वह एक ही उस्ताद है। मगर, श्रीधर भी तो बिना सोचे-विचारे—बिना पूछे-ताछे—इस चंग पर चढ़ गया! बिजली ने ठीक ही कहा था—पुरुषों के मिज़ाज का अन्दाज़ नहीं, पछवा

पर पुरवैया फिरते देर नहीं होती !·····मगर नहीं, श्रीधर·····।

बेला दरवाज़े पर आकर ठमक गई। आँगन में सुरेश की आवाज़ मिली। चुन्नीलाल तो सर पर आसमान उठाये था।

वह कनी कटाकर ऊपर कमरे में निकल जाना चाहती थी। इस वक्त वह किसी से क्या मिलती या सलीक़े की मिज़ाजपुर्सी करती! उसके दिल का धुआँ उठकर दिमाग़ पर छा चुका था; दिमाग़ उड़ा जा रहा था।

वह निर्जनता ढूँढ़ रही थी कि घड़ी-भर भगवान् के चरणों में रोकर दिल का बोझ हल्का करे और फ़ौरन् बनारस छोड़कर कहीं गुम हो जाय—दुनिया से दूर जाकर अलग कुटिया बाँधे।

कि हठात् उसके कान खड़े हो गये। सुरेश बूँदी की माँ से बातें कर रहा है—"सच! बिजली महारानी अन्तर्धान हो गईं। कहाँ—बम्बई? मुझे ख़बर तक नहीं! मैं तो उनके लिए आशीर्वादी फूल-नारियल लाया था। अब पूरब का सूर्य पश्चिम में उगेगा। क्या हुआ, काशी उजाड़कर बम्बई बसायेंगी। अभी रामू से सुना, आज बिजली देवी इस कूचे से कूच कर रही हैं—आते-आते रफ़ूचक्कर!"

"आज ही दोपहर को गई हैं, सरकार!"

"और बेला देवी कहाँ तशरीफ़ रखती हैं?"

"गुसाईं के मन्दिर में गई हैं।"

"वल्लाह! बेहोशी का रेयाज़ करने। रंग लाई है गिलहरी!"

"आप बड़े लट्टू हो रहे थे! आख़िर बेला बाई की पोल खुली न!"—यह चुन्नीलाल की आवाज़ थी।

"तुम भी मुझे ऐसा निखट्टू समझते हो! अजी, एक तफ़रीह थी—आँख का नशा; बस! कुछ भाँवरी तो देनी नहीं थी!"

"वह उस झावली में भी तो नहीं आई! ख़ैर, अब बैरँग वापस चलिये, चिड़िया उड़ गई!"

दोनों मुड़कर दरवाज़े तक आये ही थे कि सामने बेला नज़र आ गई। बेला तो चुपके से आँख बचाकर ऊपर सरक जाना चाहती थी; मगर सुरेश चट एक विनोदपूर्ण अङ्गभङ्गी के साथ वह नारियल का गोला बेला की ओर बढ़ाते हुए बोल उठा—"अहा! महामाया यहीं आ गईं! यह उपहार स्वीकृत हो—

"या देवी सर्वभूतेषु मायारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥"

सुरेश के मुख से निःसृत ह्विस्की-सुरभित स्तोत्र बेला के कानों में उपहास का अट्टहास बनकर पड़ा। वह लहू के घूँट पीती हुई किसी हालत से नारियल थामकर आगे बढ़ी, तो सुरेश ने फिर चुटकी ली—"आज आप मन्दिर से बहुत सवेरे लौट आईं! मैं तो समझता था कि विहाग और भैरवी वहीं होगी।"

बेला की खोपड़ी भन्ना उठी थी, सिर की शिराएँ फूल रही थीं, ललाट पर नसें उभरी हुई थीं। पर, वह लहू के इस उद्दाम आवेग को जी जाँतकर रोकती हुई सामने से सरककर सीढ़ियों की ओर मुड़ी। उसका दाहना पैर पहली सीढ़ी पर पड़ा होगा कि सुरेश ने दाँत दिखा, 'ज़रा एक नज़र इधर भी' कह, बेला के कंधे पर हाथ रखकर अपनी

छाती की ओर खींचा। व्यंग्य पर यह रंग; जले पर नमक!

आज शायद बेला की सयत्न-मंडित कबरी—उसकी खुली गर्दन पर स्वस्तिका-लॉकेट की दीप्ति—सुरेश की मायल आँखों में बेतरह चुभ गई।

कंधे पर सुरेश का हाथ पड़ना था कि बेला के हाथ से छूट कर वह नारियल का गोला सुरेश की कनपटी पर तड़ाक-से पड़ा। चश्मा चन्न-से चकनाचूर हो गया। शीशे के टुकड़े उड़कर बिचारे के पुटपुर में धँस गये। आँख बाल-बाल बची। कड़ाके की चोट थी। ख़ून का फ़व्वारा छूट पड़ा। बेला के आँचल का कोना भीग गया, सुरेश के कोट का कंधा तर हो गया। कुहराम मच गया।

चुन्नीलाल ने एक तेज़ चीख़ के साथ लपककर बेला का आँचल फाड़ डाला और उसकी पीठ पर ताबड़तोड़ दुलत्तियाँ झाड़कर दिल का बुख़ार निकाला। भीड़ जम गई। एक तमाशा हो गया। पुलिस आ धमकी। मुजरिम गिरफ़्तार कर ली गई।

बेला के सर पर तो आसमान फट पड़ा। वह तो बिलकुल सन्न हो गई। काटो तो ख़ून नहीं।

लोग उसकी ओर आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे हैं। वह पागल की तरह एक टक सुरेश के ख़ून की बौछार को देख रही है। घर के नौकर-चाकर तो हैरत में हैं ही, मुहल्लेवाले भी फ़क़ हैं।

जो पाँव-तले की चींटी का भी ख़याल रखती थी, जो लाख जल-भुनकर भी कभी उफ़ तक न करती थी, जो किसी मार्मिक आघात पर भी प्रतिघात देना नहीं जानती थी, वह बेवजह एक बेक़सूर ब्राह्मण के सर के

लहू से आँचल तर करेगी—यह अनहोनी बात क्योंकर हो गई !

दरवाज़े पर भीड़ देखकर मकान के सामने, गली के मोड़ पर, श्रीधर खड़ा है। वह भीड़ चीरकर घुस गया होता, अगर जयदेवजी और महन्तजी जोंक की तरह उसकी देह में चिपक न गये होते !

सहसा भीड़ छँटी; क़ाफ़ला चला। सिपाहियों के बीच में बेला, अगल-बग़ल सुरेश और चुन्नीलाल !

श्रीधर ने पहले लहू से तर-ब-तर सुरेश को देखा, बाद में लहू से रँगी बेला को। साड़ी वही है; पर चिथड़ों में फटी। सूरत वही है; पर ख़ाक में सिमटी !

वह हैरत में था—आख़िर यह हो क्या गया ? या भगवन् ! यह माजरा क्या है ! यह ख़ून ! बेला पुलिस में गिरफ़्त !

उसने लपककर एक बीड़ीवाले से पूछा—"भाई, बात क्या है ?"

"बात ! बात तो साफ़ है। बस, रंडी की यारी का अंजाम ! अबतक दोनों फूल की सेज पर गुँथते रहे, आज काँटों में गुँथ गये !"

बीड़ीवाले का पड़ोसी तम्बाकूवाला कब चुप रहता ! उसने भी एक फ़िकरा चुस्त किया—"वल्लाह ! ख़ूब हुआ ! हज़रत रोज़ जोड़ी दनदनाते आते थे ! घोड़ों की टाप से नाक में दम था। आज तमाम चौकड़ी भूल गई, हाँ !"

तीसरे ने कहा—"अजी ! बेला बाई को ख़ूब तर माल चखाता रहा। पा गया आज चखाने का फल !"

"मैं कहता हूँ, यहाँ ठहरना काल हो जायगा"—जयदेव मिश्र ने

श्रीधर से कहा और महन्तजी की ओर देखा।

"हाँ, भैया! चलो, निकल चलें। कहीं किसी बला में न फँस पड़ें!"—महन्तजी ने झुककर श्रीधर के कान में कहा, उसका हाथ पकड़ ज़रा घसीटते हुए धीरे से गुम हो गये।

इधर बेला का कारवाँ अपनी मंज़िल पर चला। मुहल्लेवाले खड़े तमाशा देखते रहे। दस मिनट तक गली में सनसनी-सी रही। फिर नुक्कड़ के मन्दिर में सन्ध्यारती का घंटा-घड़ियाल गूँजा। रामू हलवाई ने दूकान पर आकर कचौरी की लोई कड़ाही में छोड़ी, कल्लू ने बीड़ी जलाकर ठुमरी की तान छेड़ी, मोहन की बहू ने धुली धोती बदलकर तुलसी-तले घी का चिराग़ रखा और सर झुकाकर अक्षय्य सिन्दूर की दुआ माँगी। वही प्रतिदिनवाली गोधूलिलग्न की लीला गली में हर जगह जारी हो गई। केवल बूँदी की नई गुलेनार सिल्क-साड़ी का आँचल सूने मकान के बरामदे में उड़-उड़कर हलवाई के लौंडे के दिल में सोये हुये शैतान को जगाने लगा।

क्या नियति-नटी की यही नीयत है कि बेला का डोला जेल में चले? कहाँ प्रेम में लय हो जाने के लिए हृदय का वह मंगल आयोजन, और कहाँ यह नौ मास का एकान्त कठिन कारागार-जीवन! इतने दिनों तक तो उसके ललाट पर कलङ्क का कुंकुम रहा, आज उसपर दंड का मणि-मौर देकर विधि ने उसकी रौनक़ को दोबाला कर दिया! क्या उसकी लांछना की शृंखला में यही कड़ी बाक़ी थी—वह भी जुट गई? क्या उसकी वेदना के उठान में यही मुराद बाक़ी थी—वह भी पूरी हो गई?

उसके जीवन के नव अभिसार का क्षेत्र यही जेल-मन्दिर था ! वह कहाँ भटककर सुहाग-सेज की सत्यानाशी ज्वाला ढूँढ़ रही थी !

जीवन का पैमाना लबरेज़ हो गया। बेला ने इजलास पर खुशी से सर झुकाकर अपराध स्वीकार कर लिया। वह सज़ा न पाती, तो तड़पकर जान दे डालती। इस प्रायश्चित्त के बिना उसकी आत्मा को हरगिज़ तस्कीन न होती।

उधर बिजली अमीन की कमर में हाथ लपेटे लन्दन के रिटज़ होटल में इतराती हुई उतरी, इधर बेला जीवन के भार से झुकी हुई कमर पर हाथ रखे जेल के फाटक में दाखिल हुई।

जेल में जाकर बेला ने फिर सीतापति राम को रुँधे गले से पुकारा—"नाथ ! मैं तो मोहवश तुम्हारी ओर से मुँह मोड़ चुकी थी ; पर तुम्हीं ने करुणार्द्र होकर मुझे फिर जीवन के निर्दिष्ट पथ पर बरबस फेर दिया ; मेरी करुणा का चिर-परिचित संसार मुझे लौटा दिया। यह तुम्हारा ही काम था जो तुमने सर उठाते हुए काम पिशाच को मारकर हृदय-सिंहासन पर फिर से वेदना को—आत्मचिन्तन को—प्रतिष्ठित कर दिया, उसके सिर तिलक दे दिया। तुम्हारी मदद के बिना यह अभिषेक भला कहाँ सम्भव था ! मेरे आँसुओं से धुले हुए श्रद्धा के फूल आज नवीन व्यथा के पराग से रञ्जित तुम्हारे चरणों में अर्पित हैं !"

समाप्त

उपसंहार

गङ्गा का पुण्य प्रवाह शान्त है—किसी तपस्वी के अन्तर की तरह प्रसन्न। प्रवाह में न गति है, न कलकल-ध्वनि। झिर-झिर रेशमी समीर प्राणवायु की तरह गुपचुप चल रहा है। शाम की मीठी किरण गङ्गा की गोद में सुनहली चादर तानकर सो रही है। आज नदी की प्रशान्त आत्मा समाधि में लीन है। तो गंगा योगीश्वर के धाम में योग-साधन सीख रही है क्या ?

एक छोटी डोंगी मराल-गति से पश्चिम से आ रही है। डोंगी में दो स्त्रियाँ हैं। एक की गोद में एक नन्हा-सा बच्चा है, मानों बर्फ़ का टुकड़ा हो। दूसरी के कलेवर पर—जो आरामकुर्सी पर लेटी है—बड़ी भड़कीली साड़ी है ; आँचल का किनारा सायंकाल की गुलाबी को पीकर आसमान पर उड़ रहा है।

डोंगी जब राजघाट में लगी, तब वह आरामकुर्सीवाली ज़रा मुस्कुराकर बच्चेवाली से बोली—"क्यों, आया! देख ली बनारस की गंगा?"

आया जवाब में मुस्कुराकर कुछ कहना ही चाहती थी कि एक ओर से आती हुई एक दर्द-भरी संगीत-लहरी पर उसकी मालकिन के कान खड़े हो गये। इधर-उधर ताक-झाँक करने पर देखा, कोई सफ़ेदपोश औरत एक सुनसान झोपड़ी के सामने बैठी गा रही है—

'राम विश्व हैं, राम जीव हैं, रामहि जगदाधार!
रामहि चाकी, रामहि माटी, रामहि कुशल कुम्हार!'

वह दो मिनट तक अपनी डोंगी पर बुत की तरह खड़ी रही, मानों गानेवाली के सुर का जादू उसके सर चढ़कर बोल रहा हो! फिर वह तीर की तरह उस ओर बढ़ चली। झोपड़ी पर पहुँचते-पहुँचते वह छाती पर हाथ रखती हुई बोली—

"अरे! बेला!!"

"बहन!"

दोनों आपस में लिपट गईं। फिर बेला के सर पर हाथ फेरते हुए बिजली ने आश्चर्य-भरे स्वर में पूछा—"हाय, बेला! यह क्या देख रही हूँ मैं?....."

"जो कुछ सामने आये, वह देखना ही है, बहन! तुम तो सब..... सुन ही चुकी होगी!"

"याद है, कहा था न!.....खैर, जाने दो; अब ढंढी राख को कुरेदकर क्या होगा? अच्छा, रात कहाँ थी—आसमान के तले? तो हवा

फाँककर जी रही हो!"

बेला चुप रही। आया की गोद में फुदकते हुए बच्चे को वह देखने लगी। कलेजा उमड़ आया; आँखें भर आईं। उसे याद हो आया कि ऐसा ही गुलाब के फूल-सा हँसता उसे भी एक बच्चा था। नर्स ने उसे गोद में लेकर अस्पताल में खाट पर पड़ी बेला के रू-ब-रू पेश किया था। नर्स हँस रही थी; बच्चा इस ख़ौफ़नाक दुनिया की तसवीर देखकर रो रहा था। पर, कलेजे के टुकड़े को कलेजे से लगाना नसीब न हुआ! एक समाज के क़ानून से वह आँख का तारा आँख की किरकिरी बन गया था; दूसरे समाज के क़ानून से यह आँख का तारा आँख का नूर है।

बच्चे को पुकारती हुई बेला बोली—"चाँद का टुकड़ा है, बहन!"

"पेरिस में पैदा हुआ; शायद इसीलिए विलायती रंग आ गया है!"—बिजली ने सगर्व दृष्टि से बच्चे की ओर देखकर कहा—"आया! तुम बच्चे को लेकर ऊपर चलो। मोटर आती ही होगी। मैं अभी आती हूँ।"

बिजली एक क्षण बेला को एक टक देखती रही। उसकी आँखों में आँसू भर आये। बेला तो गंगा के प्रवाह की ओर, निगाह नीची किये, देख रही थी। उसकी आँखों में भी करुणा की छाया है।

पीपल के एक पेड़ के साये में बेला और बिजली खड़ी हैं। पल्लवों के अन्तराल से छनती हुई गोधूली की अपरूप रश्मिमा उनके ललाट-पटल पर सोने का रंग भर रही है।

बिजली ने एक सर्द आह खींची, और बोली—"बेला !"

बेला ने मुँह फेरकर आँख के आँसू चुराये और दर्द-भरी आवाज़ में कहा—"हाँ !"

"उस दिन के बाद तो आज ही तुम्हें देख रही हूँ ! वह उठती हुई गंगा की लहर अचानक बालू की रेती में गुम हो गई। मैं यह जानती, तो कभी विलायत का सफ़र करती ? बेला ! आख़िर तुम्हारे राम ने तुम्हें तबाह कर ही दम लिया। तुम्हें पत्थर में दिल ढूँढ़ने का नतीजा मिल गया ! भला, बुत से वफ़ा की उम्मीद ?"

बिजली छन-भर रुकने के बाद फिर बोली—"बेला ! आज तुम्हें देखकर मुझे ज़िन्दगी के तमाम पहलू नज़र आ रहे हैं। तुम पर्दे का शिकार थी, मैं बेपर्दगी का ; तुम समाज से मजबूर थी, मैं मिज़ाज से ; तुम्हारी चादर जल्लादों ने हाथ ऐंठकर उतार ली थी, मैंने अपनी चादर अपने हाथों से फेंक उसे चाक कर दिया था ; तुम्हारी गर्दन की बागडोर बिलकुल जकड़ी कड़ी थी और मैंने मुँह में लगाम लेना सीखा ही न था। आख़िर ठोकरें खाते एक दिन हम-तुम दोनों जहन्नुम के एक ही कूचे में जा पड़ीं। फिर दोनों ने उस दोज़ख़ी दुनिया से निकलने की कोशिश की। मुझे रास्ता मिल गया—तुम्हें रास्ता मिल न सका। तुम राम-राम रटते रसातल को चली गईं—मैं इस्लाम को छूकर पारस हो गई। तुम सर हिलाती हो ?—नहीं ! मैं फिर भी कहती हूँ—तुम हिन्दू रहकर डूब गईं, मैं मुस्लिम होकर उबर गई। तुम्हें दुनिया की ज़िल्लत मिली, मुझे ज़िन्दगी की लज़्ज़त।"

"बहन ! तुम दुनिया की लज्ज़त में डूबना उबरना समझती हो क्या ?"—बेला ने सूखी हँसी हँसकर पूछा।

"यह लो ! तो क्या दुनिया की मुसीबतों में डूबना उबरना समझूँ ?"

"नहीं, दोनों को एक समझना ही उबार है; न लज्ज़त में रस है, न ज़िल्लत में विष। मैंने तो इस जीवन में जो कुछ सँजोने योग्य पाया है, वह मुसीबत के हाथों ही पाया। हमारी मुसीबत की रात की अँधियारी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों सत्य का उजेला निकट होता चला आता है।"

"मैं बाज़ आई इस ख़ामख़याली से ! भरसक तुम्हारी यह दशा हो रही है ! तुम दुनिया में रूप और शील—मिज़ाज और दिल—जैसी बड़ी न्यामतें पाकर भी जीवन की बाजी हार गई, और वह भी महज़ एक समझ की कमी से। मैं तो समझती हूँ, दुनिया में भलाई और बुराई की छान-बीन से कहीं ज़्यादा ज़रूरी ज़िन्दगी में ज़रूरी और बेज़रूरी बातों की तमीज़ है। तुमने फ़िज़ूल एक मज़हबी झोंक में पड़कर अपनी ज़िन्दगी के अमृत को रेती में बहा दिया; एक बेदर्द दकियानूसी समाज के फेर में पड़कर दुनिया की ज़ीनत और लज्ज़त को जी मसोसकर ठुकरा दिया। आज तुम किसी की आँख की पुतली—बाल-बच्चेवाली—घर की देवी रहती। अज़ीम तुम्हें आँखों पर बिठाकर रखता। मगर तुमने तो एक न सुनी। राम-राम रटती रह गई; मगर राम तुम्हारा रहीम नहीं हुआ !"

"तो क्या राम और रहीम दो हैं ? तुम अपनी कही भूल गई ?"—

बेला ने मुस्कुराकर पूछा।

सो कौन कहता है कि दोनों दो हैं? यहाँ असलियत—तत्त्व का सवाल नहीं है, दुनिया का सवाल है। आदमी ने तो उन्हें दो कर दिया है! और, बुरा न मानना, बेला! आज वे दो न रहते, तो तुम्हारे चेहरे पर ख़ाक उड़ती···और मेरे चेहरे पर·····"

"कंचन बरसता! क्यों?"—बेला ने ज़रा हँसकर कहा।

"बात तो यही है, मगर मैं लिहाज से ज़बान पर नहीं लाती थी। क्या कहूँ, आज मैं तुम्हारे दुश्मनों के चेहरे पर ख़ाक देखती, मगर···"

"बहन! तुम जिसे ख़ाक समझती हो, वह ख़ाक नहीं, कञ्चन है!"

"सो कैसे?"

"चूँकि दोनों एक हैं—समझ के फेर से दो भले ही नज़र आयें। अगर तुम्हारी आँखें कञ्चन को ख़ाक समझें और ख़ाक को कञ्चन, तभी समझो, आँखों ने आँख पाई—दुनिया की हक़ीक़त समझी। उन आँखों में न फिर आँसू होंगे न हविस!"

यही कञ्चन को ख़ाक समझनेवाली आँख तो तुम्हारी आँख की फूली है। इसी समझ से तो तुम लुट गई। एक तो तुम्हारी निगाह में कञ्चन की दुनिया की वक़त ही नहीं; बस जो कुछ है, वह ख़्वाब की—परलोक की—है। परलोक के बराबर भी तुम इस लोक को समझती—इस ज़िन्दगी को मानती, तो यों बुरी तरह तबाह न होती। इसी त्याग और क्षमा के सिड़ीपन ने तो हिन्दुस्तान को ग़ारत किया! तुम त्याग लिये ढापती रहो, भीख की झोली गले में डालकर कंचन पर

थूकती रहो और संन्यास को सातवें तबक़ पर चढ़ाकर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनी रहो! तुम्हारे दिल और दिमाग़ की तारीफ़ तो हुई; मगर दाँत गड़ाकर चूसनेवालों ने तो बदन की एक-एक बूँद चूस डाली!"

"सच पूछो तो, इस ज़िन्दगी की ज़ीनत त्याग ही है, भोग नहीं! ·····ख़ुद ही देखो न·····"

"यह तो हमारी-तुम्हारी सूरत ही साफ़ बतला रही है कि कौन ज़ीनत है!"—बिजली ने झल्लाकर कहा—"बेला! विलायत जाकर मेरी आँखें खुल गईं। हमलोग यहाँ ख़ब्त के ढकोसलों पर किस क़दर लँगोट बाँधकर पिले पड़ते हैं; मगर जिन पर दुनिया में बनना और बिगड़ना निर्भर है, उन्हें ज़रूरी समझते ही नहीं। जब कमाल ने टर्की के आलमगीर धर्म को जीवन के हर पहलू से ढकेलकर एक अलग कोने में दे मारा, तब कहीं उस घर में लक्ष्मी, सरस्वती और शक्ति—तीनों आ सकीं। हमारे यहाँ जीवन के तमाम अंगों पर मज़हब छा गया है—वह भी, बाहरी अंगों पर; दिल पर नहीं! मज़हब ने हमारे घर में फूट और हमारे सर पर विलायती बूट तो लाद ही दिया; मगर फिर भी न हमारी आँखें खुलीं, न कान ही खड़े हुए। आज भी हमारी नसों में वह कूट-कूटकर भरा है।

"यहाँ इस्लाम में मज़हबी जनून जो हो, मज़हबी ख़ुराफ़ात तो वैसी ही है, जैसी दुनिया के तमाम मज़हबों में भरी है; मगर समाज की थोड़ी-बहुत उदारता ने उसके पैर ज़रूर थाम रखे हैं। इस भेद-भरी अंध-कट्टरता के मुल्क में इसी कुशादादिली से वह बुलन्दी पर आ गया।

नहीं तो, रोज़े-नमाज़ की ललकार या मुग़लों की तलवार—एक नहीं कारगर होती।

"हिन्दू बिचारे तो कहीं के न रहे! मज़हब ने उन्हें त्याग की शिक्षा दी है; समाज उनके घर को फोड़ता चला आया है। इधर वे 'सोल-फ़ोर्स' की गाथा गा रहे हैं, उधर उनकी आत्मा की तमाम शक्ति वैराग्य में ख़र्च हो रही है। ऐसी समाधि है कि दुनिया उनके कान तराशती है और उनके कान पर जूँ तक नहीं रेंगती। इधर मोक्ष की धुन सवार है, उधर मूँछ का एक-एक बाल चुना जा रहा है! कहीं तुम विलायत जाती, तो तुम्हें मालूम हो जाता कि दुनिया में आजकल धर्म की क्या वक़त है। इस धर्म की धाँधली में न हमें ईश्वर ही मिला, न दुनिया ही मिली!"

"तुम्हारी आँखें विलायत जाकर खुलीं, मेरी आँखें जेल जाकर खुली हैं। मैं तो समझती हूँ, दौलत की रँगरलियाँ इस ज़िन्दगी की शाख़ पर शबनम के मोती हैं। इस ओस चाटने से कभी जीवन की प्यास नहीं मिट सकती। यह विष-भरी मिठाई ज़बान पर लज्ज़त तो देगी, मगर सेहत नहीं। रूप और यौवन, धन और मान, परिवार और संसार—ये सब किसके होकर रहे हैं और किसके होकर रहेंगे? ये आग जगाने आते हैं, और आग लगाकर जाते हैं। तुम इनकी चमक देखकर इन्हें गले लगाती हो, लगाओ। मगर तुम यहाँ क्या करने आई हो और कर क्या रही हो—इस पर दो पल सोचो भी तो। बहन! त्याग ही जीवन का चरम सञ्चय है; विराग ही जीवन का अमिट पराग है। आज इस शून्यता के वैभव से मेरे हृदय का

कोना-कोना भर उठा है—मेरी आत्मा प्रसन्नता से नाच उठी है। आँखों में न मोह का स्वप्न-अंजन है, न मन में कामना का कुहुक-कूजन। मुझे अब न स्वर्ग की चाट है, न श्रीधर की तलाश। मुझे राम के प्रेम का मज़ा मिल गया—मैं असीम की पुकार सुनती हूँ—दिल में रस का दरिया उमड़ चला है।"

"बेला, तुम लाख कहो; मगर इस मन के लड्डू से किसी के पेट की—छाती की—भूख नहीं मिटती। सच मानो, यह तेरे अन्तर का हाहाकार है, कुछ असीम की पुकार नहीं। तुम उसे ग़लत सुन रही हो, चूँकि तुम ख़ुद अपनेको नहीं जानती। तुम तो ज़िन्दगी-भर आँसू पीती चली आई। वही बूँद-बूँद जमा होकर आज तुम्हारी छाती में दरिया-सा उमड़ पड़ा है। यह विष है—रस नहीं। विष भी पीते-पीते एक दिन रस हो जाता है। जब दर्द दिल के रेशे-रेशे में भर जाता है, तब वह दर्ददिल नहीं रहता—दिल हो जाता है। उसकी टीस भी मीठी पड़ जाती है—वह वेदना ही आख़िर तुम्हारी चेतना बन जाती है। बेला! तुम क्या कर रही हो, कहाँ बही जा रही हो; ज़रा मुड़कर ग़ौर तो करो! आख़िर तुम्हारी ज़िन्दगी कैसे निभेगी?"

"क्यों? राम की सेवा—लोक की सेवा। आज तो मेरी निगाह में जन और जनार्दन दो नहीं ठहरे!"

"दुर पगली! स्त्री के जीवन की किल्ली तो प्रेम है।"

"सच! तुम्हारी ज़बान पर भी प्रेम आया! भूलकर आया है या दिल से पूछकर?....."

"दिल की पुकार है, बेला ! मैं बँध गई, बुरी तरह बँध गई। जाने कहाँ-से-कहाँ आ गई !"

"घर आई हो, बहन ! और कहाँ·····वन से···ठोकरें खाकर···"

"वन की चिड़िया घर में पोस मानेगी ?"

"मान गई। तुम चिड़िया नहीं, आदमी हो। आदमी के लिए घर है—वन नहीं।"

"तो तुम क्यों वन में भटक रही हो ? तुम भी तो आदमी—हाड़-मांस का शरीर रखती हो !"

"नहीं ! हिन्दू की विधवा आदमी नहीं—आदमी से परे है ! उसे शरीर कहाँ ! वह तो आत्मा ठहरी ! मुझे तो जंगल ही में घर करना है। मैं काफ़ी भुगत-भटक चुकी। अब रास्ते पर आई हूँ।"

"तो इस मरु में तुम्हें प्रेम की बूँद तो मिलती नहीं। प्यासी मरोगी ?"

"राम के साये में कोई प्यासा मरा है, बहन ? तुम बूँद कहती हो, मुझे तो सोता मिल गया—मुझे तो प्रेम से भी बड़ा प्रेम मिल गया—सेवा। यह हृदय का उत्स एक के लिए क्यों हो—प्रत्येक के लिए क्यों नहीं ?"

"तो वह कहीं का न रहेगा ! जब वह एक पर नहीं ठहरा, तो प्रत्येक पर ख़ाक ठहरेगा ? जब तुम एक की नहीं रह सकती, तो फिर दुनिया की तुम कहाँ तक रहोगी ? मेरी समझ में तो·····"

"यह समझ की बात नहीं—दिल की बात है। यों तो प्रेम भी सेवा है ; सेवा भी प्रेम है। मगर, प्रेम में उपभोग की आग है—सेवा

में त्याग का सुहाग। प्रेम हृदय का अभिसार है—सेवा उसके सौरभ का प्रसार। प्रेम का दौर लोक है—सेवा का दौर लोक और परलोक। प्रेम मनुष्यत्व का प्राण है—सेवा अमरत्व का सोपान।"

"पहले तुम आदमी तो हुई नहीं, अब देवता बनने चली! लोक तो सँभाल न सकी, अब परलोक सँवारने उठी हो। लिल्लाह! पैर ज़मीन पर रखो—आसमान पर नहीं! मेरी निगाह में देवता होने से कहीं ज़्यादा ज़रूरी आदमी होना है। बेला! बोलो, तो तुम फिर दुनिया में नहीं पलटोगी?"

बेला दो मिनट चुप रही। फिर सर झुकाकर साँसी में बोली—"ईश्वर जो कुछ करता है, अच्छा ही करता है।"

"ईश्वर कुछ नहीं करता-कराता; सब हम करते हैं और ईश्वर के सर मढ़ते हैं। कहती न हूँ कि तुम यूरप जातीं, तो तुम्हें असलियत का पता मिलता। तुम्हें पता भी है कि वहाँ साइंस ने सत्य को प्रतिष्ठित कर संसार के कई क्षेत्रों से भाव और अभाव को मार भगाया, अन्धविश्वास के दाँत तोड़े और दैव का सर मूँड़कर जलावतन कर दिया!

"यूरप ने, जड़ की जड़ में जो जादू के ख़ज़ाने हैं, उनके दो-चार तिलस्मी चमत्कार दिखाकर तुम्हारी आँखों को चौंधिया दिया है; लेकिन सच पूछो तो, अभी चेतन के मृत्युंजयी प्रकाश का उसे पता नहीं चला है।"

"उसे पता नहीं चला है, तो तुम्हें पता चला है?"—बिजली तुर्श होकर बोली—"कहीं सिर मुँड़ाकर ललाट रँग लिया और बस, पता पा

लिया ! माला फेरने से कहीं दिल फिरता है—कौपीन बाँधने से किसी का मन बँधा है ? दिल के पहलू से अरमानों को उलीचना इन हाँथों से समुद्र उलीचना है बेला ! और, तुमने समझ लिया कि महासागर तुम्हारे कमंडल में आ गया ! तुम्हारे गुरु ने चेतन की तजल्ली देखी थी जो तुम देखने चली हो ?"

"बहन, तुम नाहक लाल-पीली होती हो ! सुनो, बूँद-बूँद तालाब भरता है। आज तक तुम शरीर की पुकार सुनती चली आई; आत्मा की पुकार कभी सुनी नहीं। तुम्हारी देह जगी रही—आत्मा सोई चली आई। जब वह उठ खड़ी होती है, तो फिर शरीर की माँग आप ही दब जाती है। जब तुम इस रंग में आओगी, तभी तुम्हें....."

"लिल्लाह ! रहो भी !"—बिजली ऊबकर बात तराशती हुई बोली—"तुम्हारी यह दुर्गति न होती, तो कभी तुम्हारी यह मति भी न होती। ऐसी गर्दिशों में पड़कर आदमी का दिमाग़ ख़ब्त हो जाना कोई ताज्जुब नहीं। फ़र्क़ इतना ही है कि धार्मिक छींटों की ज़्यादती से तुम्हारे पागलपन में भी एक निराला ढंग है ! तुम्हारी दसों दिशाएँ सूनी न होतीं, तो कभी तुम्हें सुनसान में भगवान् न सूझता। आख़िर जीने के लिए कोई तो रंग चाहिये ! अब और कोई राग-रंग तो तुम्हें नसीब नहीं, तो तुम्हारे मन ने दिल बहलाने को इस सुनसान में एक मायावी परलोक का झुनझुना दे दिया ! बस, त्याग का राग अलापती रहो; इसी धुन में सुबह की शाम करो ! और किसी को यह ख़ब्त क्यों सवार होगी ? मैं बाज़ आई इस विराग के सुहाग से—इस मुफ़लिसी के

जुलूस से। अगर हिन्दू-जीवन की सार्थकता यही त्याग की महत्ता है, तो अल्लाह का शुक्र है, मैं इस अज़ाब से बच गई!"

बेला ने हँस दिया। भगवान् जाने, उस हँसी का क्या मर्म है! क्या ऐसी ही हँसी हँसकर विधवा चिता की चिनगियों को गले लगाती है? क्या ऐसी ही हँसी हँसकर योगी जंगल में मंगल-राग छेड़ता है? बुझते हुए दिल का यह धुआँ उठकर होठों को हिला गया—या अन्तर की प्रसन्नता की एक झलक चेहरे पर उठ आई? यह बेबसी-मायूसी की रेखा है—किसी भ्रम की मुसकान—या मन की महज़ एक स्पर्द्धा की लहर है? कौन कहे, इसमें वेदना का विष है या चेतना का पीयूष? क्या है—क्या नहीं, इसे बेला ही जानती होगी या उसका अन्तर्यामी।

"ख़ैर, तुम्हारे बुझते हुए दिल को एक लौ तो मिली। बेशग़ली का शग़ल अक्सर परलोक की ख़ब्त है—यही सही! मगर बुढ़ापे के बदले तुम्हें जवानी में यह शौक़ चर्राया, यही आफ़त है!"

"शौक़ नहीं, यह शौक़ की समाधि है बहन!"

"वाह री समाधि!"—बिजली की कुञ्चित नासिका पर एक और रेखा खिंच गई—"इस पर तो आसमान से फ़िरिश्ते आयेंगे फूल चढ़ाने! क्यों ग़ज़ब करती हो, बेला! तमाम जीवन की प्यास बटोरे अब चली हो परलोक का जामे-कौसर पीने! उस चश्मे पर यह प्यास बुझती है!···मैं तो समझती हूँ, यह कफ़न में भी लिपटी रहती है—चिता पर भी नहीं बुझती—साथ जाती है!"

"बहन! यहाँ प्यास ही नहीं रही जो बुझने का सवाल उठे।"

बिजली स्तम्भित हो गई। फिर बोली—"क्यों, इस प्यास को पी गई? या तुम्हारी रगों में लहू नहीं—पानी है जो प्यास ही नहीं उठती! सच कहो, तुम आदमी हो या देवता? जेल क्या था, तपोवन था! तुम्हारी काया पलट गई!"

बेला के होठों पर फिर वही रहस्यपूर्ण रेखा की झलक है; फिर वही तर्ज़, वही अन्दाज़! बिजली कुछ और कहा चाहती थी कि मोटर की पों-पों सुन पड़ी।

घाट के ऊपर, सड़क के किनारे, एक कत्थई रंग की प्रकांड मोटर आकर खड़ी हो गई। अमीन ने गाड़ी की खिड़की से सर निकालकर पुकारा—"बिजली! टेनिस का वक़्त टला जा रहा है। क्लब में तुम्हारी इन्तज़ारी है।"

"तुम्हीं ने तो देर की—अब आते हो!"—बिजली ज़रा बुलन्द आवाज़ से बोली।

"मैं क्या समझता था कि तुम यहाँ मिलोगी? कभी का चक्कर काट रहा था!"

"अच्छा, ठहरो; आती हूँ!"

बिजली की कंठध्वनि में एक क्षीण प्रभुता की रेखा है। वह बेला की ओर मुड़ी—"बेला! तो मैं चली! कही-सुनी माफ़ करना।"

"बहन! तुम्हीं समझो, मुझे अब करुणामय की शरण छोड़कर इस जगत् में कहाँ शान्ति मिल सकती है!"

"ख़ैर, दिल सताती हो, तो सताओ; मगर दिल का बुख़ार देह पर

मत निकालो।.....लो, इसे रखो।"

बिजली बेला के हाथ में कुछ रुपये देने लगी; मगर बेला—"नहीं बहन, मुझे ज़रूरत नहीं"—कहती हुई अलग सरक गई।

बिजली ने रुपये वहीं ज़मीन पर फेंक दिये, और झल्लाती हुई खट खट ऊपर चढ़ गई। उसने नज़दीक जाकर अमीन के कंधे पर हाथ रखा, और एक लीलायित भंगी से उचककर मोटर में सवार हो गई। पुलकित अमीन ने बग़ल में बैठकर दरवाजा बन्द कर दिया। बच्चे को गोद में लिये आया ड्राइवर के साथ बैठी। ड्राइवर ने स्टार्टर पर हाथ रखा। मोटर बौखलाई और बात-की-बात में आँखों से ओझल हो गई।

काशी के घाट पर अन्धे और अपाहिज, लूले और लँगड़े भिखमंगों की कमी नहीं। रुपये की ठनक कान में पड़ी और चट टूट पड़े।

बेला उनकी चटोरी चेष्टा देख हँसकर बोली—"भाई, तुम तो मुझसे भी गये-गुज़रे हो! मुझे तो बहुत-कुछ है—चारों ओर प्राण और गान से भरा आकाश है, सूरज की मीठी रोशनी है, चन्द्र की किरण है, तारों की झिलमिल है, वायु की किलोल है, सामने गंगा का कल-कल है। प्रकृति की तमाम न्यामतें हाथ बाँधे खड़ी हैं। मैं मुक्त हूँ—स्वच्छन्द विचरती हूँ; तुम तो बिलकुल मजबूर—बँधे पड़े—हो! तुम्हारा जीवन तुम्हें भार होगा, तुम्हीं इन रुपयों को उठा लो!"

'रंकन रतन-रासि जनु लूटी!'—सब-के-सब टूट पड़े चाँदी के चन्द टुकड़ों पर! खूब छीना-झपटी चली।

बेला एक क्षण इस तमाशे को देखती रही। फिर राम का गाती हुई गंगा के किनारे पर जा बैठी। उसके मीठे गले की आवाज़ ने आसन्न सन्ध्या की मौन माया में माधुरी बिखेर दी। उसका सौरभ विश्व में भर गया। प्राणों के आवेग से काँपती हुई वह ध्वनि ज़र्रे-ज़र्रे पर प्रतिध्वनित हो चली--

राम जानकी, रामहि रावण, रामहि पवनकुमार।
राम राधिका, रामहि मुरली, रामहि नन्ददुलार॥
राम खेवैया, रामहि नैया, रामहि पारावार।
राम बजैया, रामहि बाजा, रामहि सुर-संचार॥

राम रहीम